श्रीविद्या-वार्ता

अमृतमहोत्सव-विशेषाङ्क

श्रीविद्यादेशिकप्रवर पूज्य गुरुवर्य आचार्य

श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी महाराज

के ८० वर्षपूर्ति के उपलक्ष्य में प्रकाशित विशेषाङ्क



श्रीविद्या साधना पीठ

वाराणसी

5.2 .V.H.P

श्रीविद्या-वार्ता
अमृतमहोत्सव-विशेषाङ्क

श्रीविद्यादेशिकप्रवर पूज्य गुरुवर्य आचार्य

श्रीदत्तात्रेयानन्द जी महाराज

के ८० वर्षपूर्ति

के उपलक्ष्य में प्रकाशित

विशेषाङ्क

सम्पादकमण्डल

प्रो० युगलकिशोर मिश्र
अध्यक्ष-वेदविभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी

प्रो० श्रीकिशोर मिश्र
अध्यक्ष-संस्कृत विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः

श्रीविद्या साधना पीठ,

वाराणसी (उ० प्र०)

श्रीविद्यावार्ता-अमृतमहोत्सव-विशेषाङ्क
(श्रीविद्यासाधनापीठ, स्मारिका सन् २००२-२००७)

शिवसदन, नगवा, वाराणसी (उ० प्र०)
दूरभाष : ०५४२-२३६६६२२

सम्पादकमण्डल
प्रो० युगलकिशोर मिश्र
प्रो० श्रीकिशोर मिश्र

प्रकाशनवर्ष :
२००७ ईशवीयाब्द
२०६४ वैक्रमाब्द

मूल्य :
१२१.०० रू०

मुद्रक :
साधनाप्रेस,
वाराणसी-२
फोन : ०५४२-३२९८०४४, मो० : ०९३३६९१२५४७

॥ श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दरी ॥



अरुणां करुणातरङ्गिताक्षीं धृतपाशाङ्कुशपुष्पबाणचापां।
अणिमादिभिरावृतां मयूखैरहमित्येव विभावये भवानीम्॥

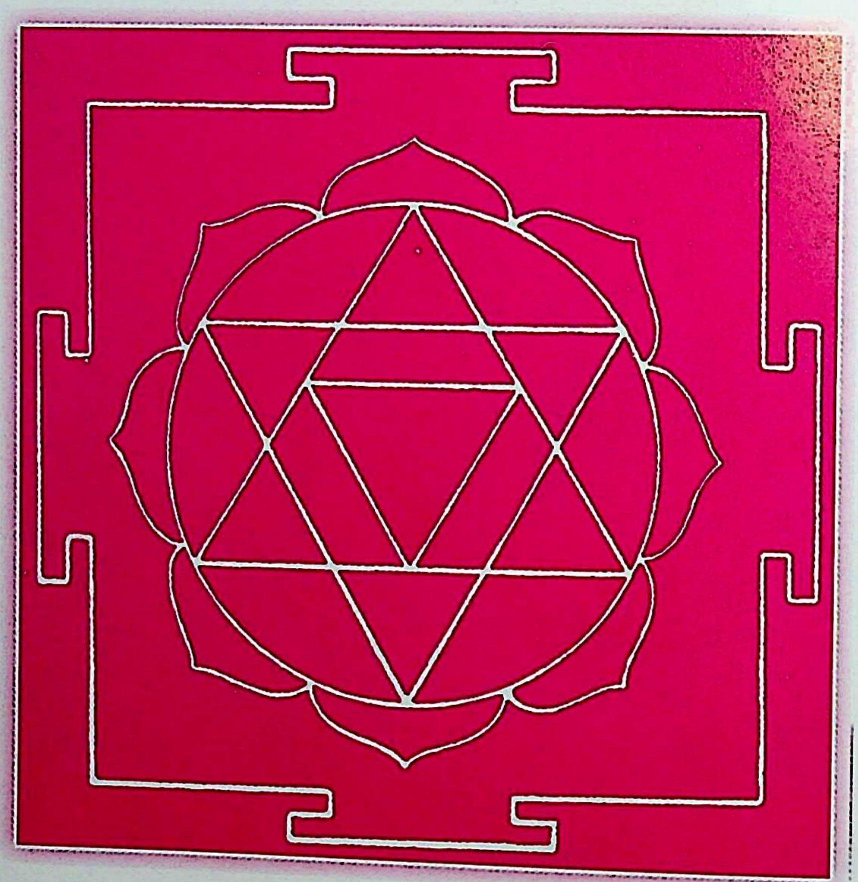


श्रीयन्त्रम्

॥ सिद्धलक्ष्मीसहित श्रीमहागणपतिः ॥



बीजापूरगदेक्षुकार्मकरुजा चक्राब्जपाशोत्पलव्रीह्यग्रस्वविषाणरत्नकलशप्रोद्यत्कराम्भोरुहः ।
ध्येयो वल्लभया सपद्मकरयाश्लिष्टोज्ज्वलद्भूषया विश्वोत्पत्तिविपत्तिसंस्थितिकरो विघ्ननेश इष्टार्थदः ॥

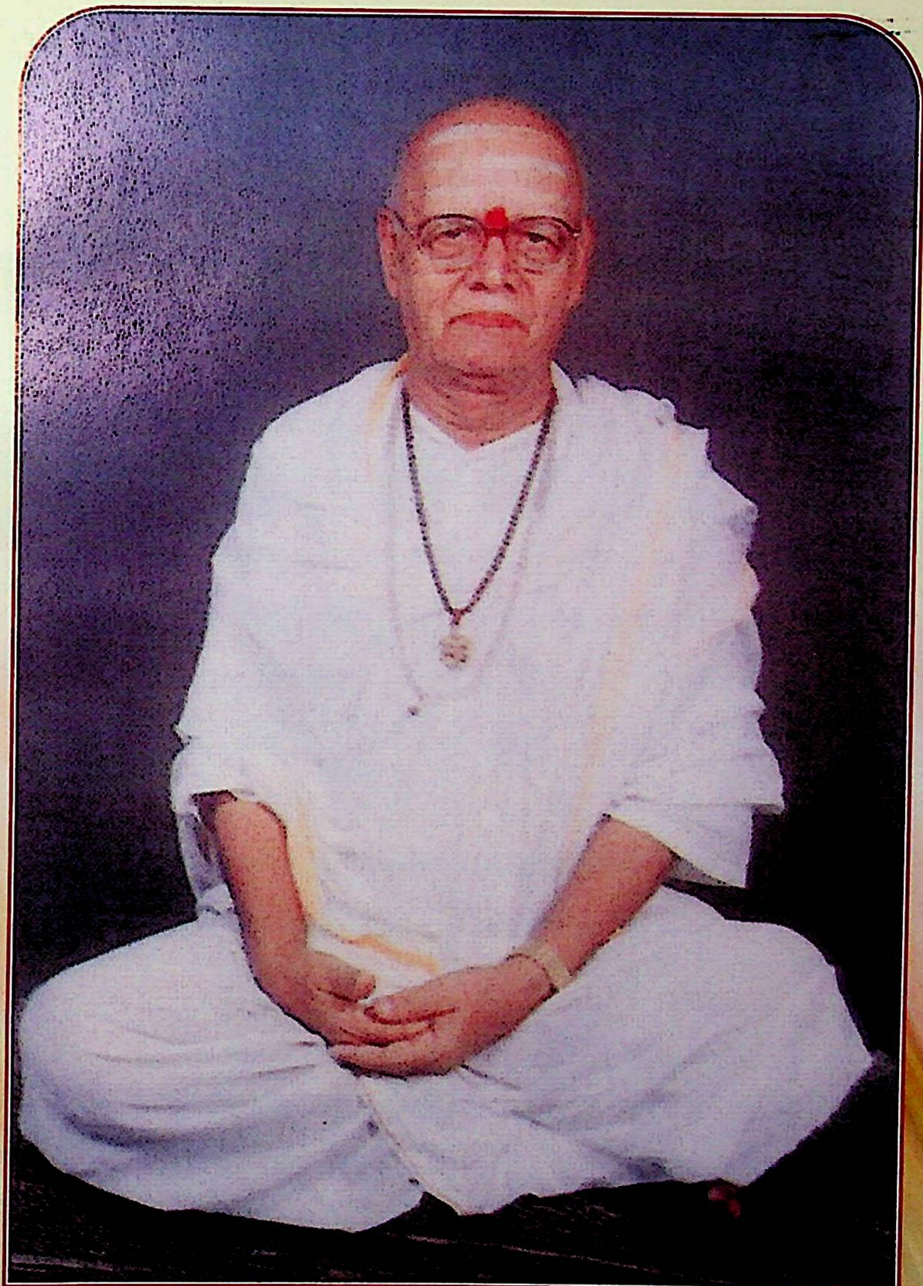


श्रीमहागणपति यन्त्रम्

शिवत्वङ्गताः श्रीकरपात्रस्वामिचरणाः



शिवत्वङ्गता-समस्तशास्त्रपारावारपारदृश्वानः अनन्तश्रीविभूषिताः
श्रीहरिहरानन्दसरस्वतिस्वामिनः (दीक्षानाम-श्रीषोडशानन्दनाथः)



श्रीविद्यादशिकप्रवर
पूज्य गुरुजी श्री दत्तात्रेयानन्द नाथ जी महाराज

सम्पादकीय

—युगल किशोर मिश्र

श्रीविद्यादेशिकप्रवर परमश्रद्धेय दिव्यात्मा पूज्यश्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी (श्री सीताराम कविराज जी) महाराज श्रीविद्योपासना के महनीय आचार्य हैं। धर्मसम्राट् स्वामी करपात्री जी महाराज के कृपापात्र श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ महाराजश्री ने इस साधना-सम्प्रदाय को प्रचारित करने हेतु लौकिक व्यवहार का परित्याग कर कोलकाता से काशी पधारे तथा श्रीविद्योपासनाहेतु अपना जीवन समर्पित किया। न केवल काशी में अपितु समग्र भारतवर्ष में श्रीविद्योपासना का पुनर्जागरण पूज्यचरण गुरुवर्य के लोकोपकारी अनुग्रह का प्रसाद है। आप से दीक्षित होकर अपने जीवन को धन्य बनाने वालों की एक लम्बी परम्परा है जिसमें प्रमुख हैं—श्री पद्मभूषण पं० विद्यानिवास मिश्र, प्रो० जी० सी० पाण्डेय, श्रीविनोद दूबे (पूर्व अधिकारी, विश्व बैंक, अमेरिका) डॉ० रीता कुमार (अमेरिका), श्री गोपाल सुब्रह्मण्यम् (प्रख्यात अधिवक्ता-सर्वोच्च न्यायालय, नई दिल्ली) श्री प्रताप शंकर पण्ड्या (प्रसिद्ध उद्योगपति, मुम्बई) श्री हिमाशु कुमार आई०ए०एस०, प्रो० आद्या प्रसाद मिश्र (पूर्व कुलपति), प्रो० कमलेश दत्त त्रिपाठी, प्रो० रमेश चन्द्र नाग, प्रो० श्याम सुन्दर शुक्ल, विजय कुमार सिंह (इन्जीनियर साहब) श्री प्रकाश शर्मा (कोलकाता) प्रभृति।

विगत नवरात्र (विक्रम संवत २०६१) में हमारे विद्योपासना-परिवार के वरिष्ठ एवं प्रमुख आदरणीय श्री विनोद दूबे जी अमेरिका से आये तथा उन्होंने यह प्रस्ताव रखा कि पूज्य गुरुवर्य का ८० वाँ जन्म दिवस 8 मार्च, २००६ (तद्नुसार फाल्गुल शुक्ल नवमी २०६२ वि०) को आ रहा है, अतः इस महनीय 'अमृत-महोत्सव' रूपी पुण्य अवसर का लाभ हम सभी शिष्यवृन्दों को उठाना चाहिये। उनके प्रस्ताव का सभी शिष्यों ने सोल्लास समर्थन किया किन्तु पूज्य गुरुवर्य ने इसके लिये सामान्यतया सहमति नहीं दी। हम शिष्यों के बहुत आग्रह करने पर उन्होंने श्रीपराम्बा महात्रिपुरसुन्दरी के श्रीललिताकोट्यर्चन सत्रयाग समाराधन के लिए सहमति दी। साथ ही यह भी इच्छा व्यक्त की कि इस सत्रयाग में प्रातःकाल प्रतिदिन भगवती का अर्चन एवं सांयकाल विभिन्न शास्त्रों में काशी के विद्वानों की गोष्ठी एवं सारगर्भित प्रवचन होने चाहिये। इसी के मध्य एक दिन 'संस्कृत विदुषी सम्मेलन' 'संस्कृत कवि सम्मेलन' एवं उपलब्ध सभी वेदशाखाओं के स्वाध्यायी विद्वानों द्वारा 'वसन्त पूजा' का आयोजन भी होना चाहिये। हमारे पूज्य अग्रज एवं श्रीविद्योपासना परिवार के वरिष्ठ श्री बिनोद दूबे जी ने इसे सहर्ष स्वीकार किया तथा भगवती के अनुग्रह से फाल्गुन शु० चतुर्थी २०६२ वि० शुक्रवार से फाल्गुन शु० १४ सोमवार (दि० ३ मार्च से १३ मार्च, २००६) यह यागानुष्ठान, विद्वत्सपर्या, संस्कृत कवि-सम्मेलन, विदुषी-सम्मेलन कार्यक्रम के साथ सोल्लास सम्पन्न हुआ। मध्य में दिनांक ७ मार्च, २००६ को वाराणसी के प्रसिद्ध संकटमोचन हनुमान मन्दिर में आतंकवादियों द्वारा बम विस्फोट की हृदयविदारक दुर्भाग्यपूर्ण घटना घटित हुई जिसमें अनेक व्यक्ति कालकवलित हुए। इस घटना से व्यथित होकर पूज्य गुरुवर्य ने इसे सादगीपूर्ण ढंग से 'सद्बुद्धिप्रेरक-अनुष्ठान' के रूप में मनाने की आज्ञा दी। तदनुसार यह सत्रयाग श्रीजगदम्बिका के अनुग्रह से गरिमामय ढंग से सम्पन्न हुआ।

इस एकादशदिवसीय श्री ललिता कोट्यर्चन सत्रयाग सहित अमृत-महोत्सव अनुष्ठान में काशी के मूर्धन्य विद्वानों द्वारा तत्तत् शास्त्रों पर सारगर्भित व्याख्यान दिये गये जिसे इस स्मारिका में लेखबद्ध कर प्रकाशित किया जा रहा है। ये शास्त्रीय लेख हमारे चिन्तन की धरोहर हैं।

आदरणीय गुरुवर्य के शिवसंकल्प से वाराणसी में प्रतिष्ठापित श्रीविद्यासाधनापीठ में निरन्तर जिज्ञासुओं को निर्देश तथा साधकों को उपदेश के माध्यम से पूज्य गुरुवर्य की सहज कृपा प्राप्त होती है। श्रीविद्यासाधना पीठ के ज्ञानवैभव का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि आधुनिकतावादी नवयुवक-वर्ग भी पूज्य गुरुवर्य के प्रभाव से श्रीविद्यासाधना में प्रवृत्त होकर आध्यात्मिक चेतना के पथ पर अग्रसर हो रहा है। यह भारतीय समाज एवं विश्व मानवता के लिए एक कल्याणकारी नवोन्मेष है।

इस अवसर पर पूज्य गुरुवर्य ने दो महनीय पुरस्कारों के स्थापना की घोषणा की। एक पुरस्कार धर्मसम्राट् स्वामी करपात्री स्मृति पुरस्कार तथा दूसरा श्रीविद्या साधना पुरस्कार। इन दोनों पुरस्कारों के प्रवर्तन से भारतीय समाज में आध्यात्म चिन्तन एवं श्रीविद्योपासना का अभिनव जागरण होगा।

यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि तपःपूत देशिकप्रवर पूज्यश्री दत्तात्रेयानन्द नाथ गुरुवर्य के अमृत-महोत्सव पर कर्णाटक प्रदेश के महामहिम राज्यपाल श्री त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी, ब्रिटेन में भारत के पूर्व उच्चायुक्त देश के अग्रणी विधिवेत्ता श्री लक्ष्मी सिंघवी जी (सांसद-राज्यसभा), न्यायमूर्ति श्री पलोक वसु (राज्य उपभोक्ता विवाद प्रतितोष आयोग, उ० प्र०), माननीय प्रो० सुरेन्द्र सिंह (कुलपति महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ) प्रभृति महनीय व्यक्तित्व पधारे तथा महोत्सवानुष्ठान को गौरवान्वित किया।

काशी के मूर्धन्य विद्वानों, मनीषियों ने इस उपक्रम में महनीय योगदान किया। मुझे इन लेखों के संकलन से बड़ी तृप्ति मिली है तथा विश्वास है कि यह सम्पूर्ण स्मारिका का उपक्रम एक ऐतिहासिक भूमिका निभायेगा।

पूज्यचरण गुरुवर्य श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी के चरण-कमलों में असीम श्रद्धा का निवेदन करता हुआ इस अमृत-महोत्सव स्मारिका में सहयोग देने वाले विद्वानों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। श्रीविद्यासाधना पीठ परिवार के सभी श्रीविद्योपासक भाई-बहनों को मेरा सादर नमन है। मैं श्रीविद्योपासना परिवार के वरिष्ठ एवं श्रेष्ठ गुरुचरणानुरागी श्री विनोद दूबे जी का विशेष अधमर्ण हूँ कि उनके सर्वविध सहयोग से न केवल अमृत-महोत्सव एवं श्रीललिताकोट्यर्चन सत्रयाग का कार्यक्रम गरिमापूर्ण ढंग से सम्पन्न हुआ अपितु स्मारिका का प्रकाशन भी सम्भव हो सका। मेरे अनुज प्रोफेसर डॉ० श्रीकिशोर मिश्र ने जिस उत्साह एवं मनोयोग से सभी कार्यक्रमों को संचालित किया तथा स्मारिका प्रकाशन में सहयोग दिया, उसके लिए वे नितान्त साधुवाद के पात्र हैं। अमृत-महोत्सव की सफलता एवं स्मारिका के प्रकाशन में डॉ० मिश्र का अक्लान्त परिश्रम स्मरणीय है।

सभी श्रीविद्योपासक-बन्धुओं पर सद्गुरुदेव के अनुग्रह की वर्षा हो तथा पराम्बा भगवती महात्रिपुरसुन्दरी की कृपा हो यह कामना है।

✿✿✿

॥ श्रीः ॥

श्रीविद्या विजयतेतराम्

निषक्तमणिपादुकानियमितौघकोलाहलं ,
स्फुरत् किसलयारुणं नखसमुल्लसच्चन्द्रकम् ।
परामृत-सरोवरोदित-सरोज-सद्रोचिषं ,
भजामि शिरसि स्थितं गुरुपदारविन्दद्वयम्॥

श्रीविद्यासाधक नित्य सपर्याक्रम निवृत्तिपूर्वक अभिलषित कामना की याचना करता हुआ कहता है कि—

नन्दन्तु साधक-कुलान्यणिमादि-सिद्धाः ।
शापाः पतन्तु समयद्विषि योगिनीनाम्।
सा शाम्भवी स्फुरतु कापि ममाप्यवस्था,
यस्यां गुरोश्चरणपङ्कजमेव लभ्यम्॥

अणिमादि दश सिद्धियाँ प्राप्तसिद्धमण्डल साधकसमुदाय को आनन्दोल्लास प्रदान करें एवं समयाचारद्वेषी साधकनिन्दक योगिनियों के शाप से अभिशप्त हों! उस शाम्भवी अवस्था की मुझे प्राप्ति हो जिसमें श्रीगुरुचरणपङ्कज ही एकमात्र लभ्य है।

श्रीविद्यासाधना की परिसमाप्ति में गुरुचरणपङ्कज प्राप्ति ही परम सिद्धि है। गुरुतत्त्व का ज्ञान ही साधना का चरम लक्ष्य है।

श्रीविद्यासम्प्रदाय के देशिकप्रवर अभिनवशङ्कर श्रीस्वामी करपात्री जी महाराज ने स्वकीय अप्रमेय वैदुष्य एवं तपोबल से सम्प्राप्त अलौकिक प्रतिभा, इच्छाशक्ति एवं क्रियाशक्ति से जो लोकोपकार किया उसके प्रत्युपकार के लिये श्रीमद्भागवतोक्त पृथु राजा के वचन ही संग्राह्य है—

तुष्यन्त्वदभ्रकरुणाः स्वकृतेन नित्यम्,
को नाम तत् प्रतिकरोति विनोदपात्रम्॥

अर्थात्—अदभ्रकरुणावरुणालय सन्त-महात्मा स्वकृत कर्म से सन्तुष्ट हों, कौन ऐसा है जो प्रणामाञ्जलि के विना उनका प्रत्युपकार करने में समर्थ है। अतः **एकैकस्योपकाराय भवाम ऋणिनो वयं** उनके कृत उपकार से हम सदा ऋणी ही रहेंगे। अतः प्रातःस्मरणीयचरण सद्गुरु स्वामी करपात्री जी महाराज के चरणों में प्रणमाञ्जलि समर्पित है—

तस्यै दिशे सततमञ्जलिरेष पौष्पः,
प्रक्षिप्यते मुखरितो भ्रमितद्विरेफैः।
जागर्ति यत्र भगवान् गुरुचक्रवर्ती,
विश्वोदय - प्रलय - नाटक - नित्यसाक्षी॥

श्रीविद्या साधनापीठ के श्रीविद्या-परिवार ने मेरे अशीति वर्षिय वर्धापन के उपलक्ष्य में अमृत महोत्सव का आयोजन किया, उसमें मेरा अभिनन्दन किया, एतदर्थ सर्वप्रथम श्रीगुरुचरणों में प्रणतितति समर्पित करता हूँ, जिन्होंने मुझे एस योग्य बनाया।

समस्त विद्याओं की राजधानी विश्वनाथनगरी श्रीकाशी की पण्डित परम्परा सदैव अनुपमेय रही है। अमृत महोत्सव की विद्वद्गोष्ठियों में सम्मिलित हो कर तत्तत् शास्त्रों के पारङ्गत विद्वानों ने अपने वाग्वैभव से समारोह को सुशोभित किया। उन विविध विद्याओं से विद्योतित काशी की जाज्वल्यमान मणिमाला के दिव्य रत्नभूत विद्वन्मण्डल का आभारी हूँ जिन्होंने अपने अगाध पाण्डित्य-प्रकाश से महोत्सव को सुशोभित किया। एतदर्थ श्रीभर्तृहरि का वचन ही स्मृतिपथ में उदित है—

अधिगत-परमार्थान् पण्डितान् मावमंस्थाः,
तृणमिव लघुलक्ष्मी नैव तान् संरुणद्धि।
अभिनवमदलेखाश्याम-गण्डस्थलानां ,
न भवति बिसतन्तु र्वारणं वारणानाम्॥

इसी प्रकार महोत्सव के विदुषीसम्मेलन में समवेत विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालयों की संस्कृतशिक्षा विभाग की अध्यक्षा-उपाध्याक्षाओं के वक्तृत्व, वादित, लेखत्व, कवित्व के चतुर्विध पाण्डित्य एवं वाक्पटुता से अभूतपूर्व समारोह की श्रीवृद्धि हुई। अतः उन सुरभारती-स्वरूपा समस्त शक्तिवृन्द के चरणारविदों में अभिनन्दनवन्दनमाला समर्पित करता हुआ—

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः! स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु॥

इस आयोजन के सूत्रधार प्रिय दूबेजी (डॉ विनोद दूबे) ने भावमय उदारता से उस महोत्सव का आयोजन सम्पन्न किया, इसके लिये पराम्बा से प्रार्थना करता हूँ कि वे चरमलक्ष्य को प्राप्त करें।

श्रीविद्यासाधनापीठ के निमार्ण एवं सञ्चालन में जिनका प्रशंसनीय योगदान रहा है, भविष्य में भी यह श्रीविद्या के प्रचार-प्रसार से लोकोपकार करने में समर्थ हों हम इसके लिये सर्वदा प्रयासरत हैं। ऐसे सत्शिष्य की प्राप्ति भी गुरु की सिद्धि है।

श्रीविद्या-परिवार का तो मैं अनुग्रह मानता हूँ। यही अपनी प्रजा से राजा पृथु ने कहा—

अहो ममामी वितरन्त्यनुग्रहं हरिं गुरुं यज्ञभुजामधीश्वरम्।
स्वधर्मयोगेन भजन्ति मामका निरन्तरं क्षोणितले दृढव्रता॥

(श्रीमद्भागवत, ४/२१)

राजा पृथु ने भी प्रजा से यही कहा था—आप लोग धर्मपरायण होंगे तो मैं आपका अनुग्रह मानूंगा।

अतः श्रीविद्या-साधना स्वीकार करके मेरे लक्ष्य की प्राप्ति में सहयोगी बनें एतदर्थ पराम्बा से प्रार्थना है कि वे श्रेय-प्रेय को प्राप्त कर **वसुधैवं कुटुम्बकम्** की भावना से सदापरोपकार-परायण हों।

शेष में आचार्य युगलकिशोर मिश्र एवं श्रीकिशोर मिश्र यामलश्री ने अमृतमहोत्सव को निपुणता एवं दक्षता से सम्पन्न करके कार्यकुशलता का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया, महोत्सव के दीर्घकालव्यापी होने से क्लेशाधिक्य से भी अक्लान्त भाव से पीठ की निःस्वार्थ सेवा करके स्वयं ही जय-विजयश्री से शोभायमान हैं, तथापि शत-शत साधुवाद से सभाजित करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

परिसमाप्ति में प्रत्यक्चैतन्याभिन्न चितिरूपा पञ्चकृत्यपरायणा पराम्बा भगवती भवनाटकनिपुणा के पादारविन्द में भावाञ्जलि की कल्पना करता हूँ, जिसके उन्मेष निमेष से विश्व का प्रभव, प्रलय होता है।

दत्तात्रेयानन्दनाथ

दत्तात्रेयानन्दनाथ

(सीताराम कविराज)

अमृतमहोत्सवः
अभिनन्दनसपर्यादलम्

॥ श्रीः ॥

गाढालक्तकरागरञ्जितमहो यद्वामपादाम्बुजं मञ्जीरोऽपि स तत्र शिञ्जितधनो यो राजहंसायते।
वक्षोजैकघटोऽपि कञ्चुकपटः प्रेमाब्धिमग्नाकृतिः कौशेयार्धवृतो रतिं वितनुतां देवोऽर्धनारीश्वरः ॥

श्रीश्रीमतामत्रभवतामत्रभवतां भवताम् सकलश्रुतिसमुदयसिद्धसुधाऽऽसारसारसारस्वतरसरसिक-सनकशुकादिसूरिसमुद्भावितसमधिरूढमहाभावप्रभावप्रभूतप्रभावितसन्ततसन्तन्यमानसमयाचारोपस्कृतकौला-चारवामाचारदक्षिणाचाराद्याचरणाचार्यवर्याणाम्,

अनन्यवदान्यमूर्धन्यधन्यभूरिसूरिसन्ततिनिर्दोषदोषज्ञनिकुरम्बाहमहमिकासञ्जेगीय्यमानकीर्तिपौर्णमासी-चन्द्रिकामरीचिचर्चामचर्चिकाच्यवत्पीयूषयूषपेपीयमानचकोरीभूतभूतलतलातलवितलसुतलरसातल - पातालादिविष्टपकुहराणाम् अमन्दानन्दसन्दोहासन्देहशास्त्रवृन्दारविन्दस्यन्दमानमकरन्दबिन्दुविन्दु - वन्दिरपादारविन्दद्वन्द्वनिखिलदण्डिमण्डलदिग्दन्तावलवलयबृंहितप्रतिस्पर्धिव्याख्यानविख्यातधर्मसम्राट् - श्रीश्रीकरपात्राख्यश्रीश्रीहरिहरानन्दसरस्वतीचरणमञ्जुलकिञ्जल्कपुञ्जपिञ्जरितचरणकञ्जकुञ्जपरीरम्भारम्भामोमुह्य-मानरंरम्यमाणबम्भ्रम्यमाणभ्रमरायमाणनिर्भ्रमचेतोऽभिरामपवित्रचरित्राणाम्

शक्तिभक्तिव्यक्तिसक्तिरक्तिमतिततिव्रततिव्रततिसमुद्बोभूयमानसुमनःसुमनःसुमनःसुमनोमनोज्ञमनो-मानसमरालानाम् कन्दकलिकाकुन्दकोरकबकुलकुलकर्ककेशकाशकुसुमकम्बुकुवलयकोशकाष्ठाकर-टिकरटकैलाशकूटकूटकोटिकिसलयकुलकुमुदकादम्बकदम्बकलहंससकलकलाकलापकलाधरकरकला-कर्पासकशेरुकार्तस्वरकलशातिशायिकीर्तिकलिकामालिकामतल्लिकाचन्दचन्दनविन्दुसुन्दरवदनारविन्दरसान्द्र-सिन्दूरदेदीव्यमानदेदीप्यमानसीमन्तसीमान्तदिग्विदिक्सीमन्तिनीसमुदयसमुदयकरकमलदेध्रीयमाणसन्देध्मीय-मानकुचकलशसौन्दर्यप्रतिस्पर्धिशङ्खशङ्खदन्धन्यमानविश्वविजयमहाध्वरदीक्षाशिक्षाधुरन्धरधनुर्धराणाम् महीधरेन्द्रमहेन्द्रमालयमलयनसह्यसह्यऋक्षाप्रकाशऋक्षावत्सदुक्तिमद्शुक्तिमदवेध्यविन्ध्यापारयात्र - पारियात्ररूपससकुलाऽचलकुलाऽचलाऽचलानितम्बिनीहृदयाचलहाराभिरामक्षीरोदधिक्षारोदधीक्षूदधिदधिमण्डो-दधिसुरोदधिघृतोदधिपयउदधिरूपससोत्रिद्रसमुद्रमुद्रामहामालालालितवसुन्धराधराढ्याभ्रमूक्तैरावतकपिला-ऽऽकुलपुण्डरीकपिङ्गलालिङ्गितवामनाऽनुपमाऽनुपमकुमुदताम्रकर्ण्याकर्णिताञ्जनशुभ्रदन्तीदान्तपुष्पदन्ताङ्ग-नाङ्गसङ्गसङ्गममङ्गलसार्वभौमाऽञ्जनावतीशिञ्जितसुप्रतीकरूपाष्टकाष्ठोपकाष्ठाप्रतिष्ठदिङ्महान्तिदन्तावलरूपाभि-रूपमहोपबृंहितबृंहितसब्रह्मचारिद्वेषाहर्षप्रकर्षोत्कर्षगरुडाग्रजसारथ्यसनाथमाठरपिङ्गलदण्डादिपारिपार्श्विक-मण्डलमण्डितसप्ताश्वसप्ताश्वखुरमुखशिखाशूकखचितरत्नसानुमहासानुगुहास्रवदलकनन्दाऽऽनन्दाऽमन्दसन्दोह-कन्दलोलकल्लोलधौतकुचकुम्भकुङ्कुमपङ्करागरम्भोर्वशीमेनकादिदिव्याङ्गनाङ्गणोद्गीर्णस्तवनध्वनिधन्यजीवनानाम्

श्रीश्रीद्श्रीविद्यामहामन्त्राधिष्ठानमहात्रिपुरसुन्दरीराजराजेश्वरीललिताम्बाविमलकमलकोमलदल-

पतत्परागरागलोलुभ्यमानहंसकम्रहंसकम्रदिमझणज्झणज्झङ्कारझंकृतिझणझणायमानझणत्कारटणत्कार-फणत्कारभणत्कारचमत्काराविष्कारोपस्कारप्रकारोपकारकारसाधनाप्रचारव्रतानाम् पारेवाराणसि अधि-पञ्चक्रोशम् अनुगङ्गम् उपासि श्रीश्रीविद्यासाधनापीठसंस्थापकाध्यक्षाणाम् प्रत्यूषस्तमांसास्मर्यमाणार्हणी-याङ्घ्रिप्सुजात-सुजातानाम्राष्ट्रपतिमहोदयपुरश्श्रेक्रीतपण्डितश्रीसीतारामकविराजापरसमाख्या -समाख्यातानाम्

श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथमहानुभावानां

करपुष्करपुटकुटीकोटरक्रोड आकल्पमनल्पं भ्रमद्भ्रमरायतामेष नन्दनचन्दनस्यन्दनाभिनन्दन-स्तवस्तबकप्राञ्जलप्राञ्जलिः—

एतत्सुन्दरहेमकोकनदभाभास्वत्प्रभाभास्वरं किं वा नन्दनरक्तचन्दनगलद्धारारुणप्राञ्जलम्।
आहो, पल्लवतल्लजालिदललालित्यैकलीलागृहं देव्याः पादपयोरुहं मम ददात्वानन्दमेवानिशम्॥ १॥
रिङ्गुत्तुङ्गतरङ्गरिङ्गणगणव्यासङ्गगङ्गाङ्गनाऽपाङ्गोत्सङ्गशुभाङ्गमङ्गलगलत्सत्प्राङ्गणालिङ्गना ।
काशी नाम पुरीश्वरीश्वरपुरी नर्नर्ति मुक्त्यङ्गना यत्रैव स्वजनुर्लसन्ति सततं सर्वाश्च देवाङ्गनाः॥ २॥
तत्रासीद् निगमागमोक्तिसुमनोवल्लीमतल्लीस्रवद्माध्वीकद्रवमाधुरीमिलदनल्पप्राज्ञभृङ्गोत्सवः।
नानादिग्गतशिष्यषट्पदलसत्पादद्वयाम्भोरुहो विख्यातो धरणीतले हरिहरानन्दाभिधानो यतिः॥ ३॥
तत्पाण्यम्बुरुहाभिषेकविगलत्पीयूषयूषोल्लसद्श्रीविद्याविलसद्मनूत्तममहाचैतन्यधन्यात्मवान् ।
तत्त्वाम्भोनिधिमन्थनोदितसुधामत्रैकपात्रं सदा दत्तात्रेयसमाढ्यनाथपदभृत् राराज्यतेऽहर्निशम्॥ ४॥
श्रीद्वैपायनशङ्करादिकमहाचार्यावलीप्रोद्भवत्सत्तन्त्रागमतत्षडध्वमुखरीभूतप्रभूतामृता ।
काशीयं भुवि भातिरूपमखिलैः श्रीसाधनाधीधनैः दत्तात्रेयसुधीश्चकास्ति नितरामेतेषु सर्वाग्रणीः॥ ५॥
देवीपादपयोरुहोद्गतमहाकारुण्यतारुण्यभृत् तन्त्रप्रास्तरहस्यगर्भविषयाऽऽसारामृतैकास्पदम्।
सीतारामसमाख्ययाऽभवदहो ख्यातः पुरो यः क्षितौ दत्तात्रेय इति प्रसिद्ध इह यो धन्योऽस्त्यहो साम्प्रतम्॥ ६॥
योऽभूद् यज्ञयुगप्रवर्तकसमाख्यामालिकालालितश्रीश्रीमत्करपात्रभृद्हरिहरानन्दाख्यदण्डीश्वरः ।
तत्पादाब्जयुगस्रवन्मधुमधुव्रातप्रधानोऽनिशं सीतारामसुधीस्तु सम्प्रतितरां भात्येष सर्वक्षितौ॥ ७॥

अस्मिन्नथामृतमहोत्सवहर्षकाले कृत्वा सभागतसभाजनभाजनाढ्यम्।
मोदान्विता भवति सा सततं भवन्तं वाराणसीनगरनागरसागरश्रीः॥

इति निवेदयति

अधिकाशि
फाल्गुनीशौक्लीनवमी; स्तनरसमण्डलयुगलविक्रमाब्दः।
औषधीशपुत्रवासरः; (८ मार्च २००६)।

श्रीमद्गुरुमूर्तिश्रीललिताराधनव्यासङ्गसङ्गः
श्रीगुरुचरणारविन्दभृङ्गः शिष्यवृन्दम्।

अमृत महोत्सव
पृष्ठभूमि एवं विवरण

—डॉ० चन्द्रकान्ता राय
संस्कृत विभागाध्यक्ष,
आर्य महिला महाविद्यालय, वाराणसी

धर्मसम्राट् अनन्तश्रीविभूषित स्वामी करपात्रीजी महाराज के प्रमुख शिष्य श्रीविद्यादेशिकप्रवर श्री दत्तात्रेयानन्दनाथजी महाराज (गुरुवर्य आचार्य पं० सीताराम कविराजजी) के ८०वें जन्मदिवस के महनीय उपलक्ष्य में अमृतमहोत्सव मनाने के सत्सङ्कल्प की प्रेरणा श्रीविद्यासाधनापीठ के वरिष्ठ साधक एवं विश्व बैंक अमेरिका के सेवानिवृत्त अधिकारी श्री विनोद दूबे जी ने आश्विन नवरात्र (वि० संवत् २०६२) पर दी। सभी शिष्यवृन्दों ने पूज्य गुरुदेव के समर्चा-आयोजन का सोत्साह समर्थन किया, तथा श्रीविद्यान्यास मण्डल की बैठक में यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। तदनुसार यह आयोजन फाल्गुन शुक्ल चतुर्थी शुक्रवार से फाल्गुन शुक्ल चतुर्दशी सोमवार (वि० सं० २०६२) पर्यन्त दिनांक ३ मार्च से १३ मार्च, २००६ सम्पन्न करने का निश्चय किया गया। इस अवसर पर अधोलिखित कार्यक्रम आयोजित करने का निर्णय लिया गया—

१. शताधिकदीक्षित साधकसाधिकाओं के सहयोग से एकादशदिवसीय श्रीललिताकोट्यर्चन सत्र-याग।

२. श्री महागणपति-अर्चा।

३. सुभाषिनी कुमारी एवं बटुकों का पूजन।

४. पूज्यगुरुदेव की अभिनन्दनसपर्या।

५. प्रतिदिन सायंकाल ब्रह्मोद्यपर्व का सम्पादन तथा तदन्तर्गत काशी के सभी शास्त्रों के मूर्धन्य विद्वानों की शास्त्रचर्चा एवं पूज्य गुरुदेव के प्रवचन की योजना।

६. संस्कृतविदुषीसम्मेलन, तदन्तर्गत काशी की संस्कृतविदुषियों का सम्मान एवं उनके व्याख्यान।

७. संस्कृतकविसम्मेलन।

८. भक्तिसङ्गीत एवं विविध सांस्कृतिक कार्यक्रम।

९. काशी में उपलब्ध सभी वेदशाखाओं का पारायण एवं वैदिक विद्वानों का सम्मान।

उपर्युक्त एकादशदिवसीय अमृत-महोत्सव के लिए मुख्य अतिथि के रूप में कर्नाटक प्रदेश के महामहिम राज्यपाल श्री त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी एवं विशिष्ट अतिथि के रूप में ब्रिटेन में भारत के पूर्वराजदूत, प्रख्यात विधिविशेषज्ञ एवं राज्यसभा के सांसद सदस्य श्री एल० एम० सिंघवी जी को आमंत्रित करने का निश्चय हुआ। इन दोनों महानुभावों ने श्रीविद्या साधनापीठ न्यास के आमंत्रण को

सहर्ष स्वीकार करते हुए अमृत महोत्सव में भाग लेने की स्वीकृति प्रदान कर दी। उपर्युक्त कार्यक्रम में पूज्यगुरुदेव ने यह निर्देश दिया कि सम्प्रति कोट्यर्चन के स्थान पर श्रीललितालक्ष्यार्चन का कार्यक्रम रखा जाय, तथा श्रीललिताकोट्यर्चन सत्रयाग का आयोजन ग्रीष्मकालीन नवरात्र में रखा जाय।

उपर्युक्त योजना के अनुसार दिनांक ०२ मार्च शुक्रवार को प्रातः ६ बजे से सहस्रमोदकार्चनपूर्वक श्रीमहागणपतियाग से महोत्सव का सोल्लास शुभारम्भ हुआ। इसके अनन्तर श्रीयंत्र की नवावरण महापूजापूर्वक श्रीललितासहस्रनाम मंत्रों से भगवती महात्रिपुरसुन्दरी का लक्षार्चन प्रारम्भ हुआ। इस दिन सायंकाल चार बजे ब्रह्मोद्यपर्व का शुभारम्भ हुआ, इसके मुख्य अतिथि प्रो० सुरेन्द्र सिंह, कुलपति महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ थे, तथा सारस्वत अतिथि प्रो० आद्या प्रसाद मिश्र, पूर्व कुलपति महर्षि महेश योगी वैदिक विश्वविद्यालय, जबलपुर थे। उद्घाटन समारोह के इस सत्र में बड़ी संख्या में काशी के मनीषी, साहित्यकार, गणमान्य नागरिक तथा श्रीविद्या साधक-साधिकायें उपस्थित थीं। कार्यक्रम का संचालन प्रो० युगलकिशोर मिश्र वेदविभागाध्यक्ष एवं पूर्वप्रतिकुलपति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय ने किया।

अमृतमहोत्सव के द्वितीय दिवस दिनांक ४ मार्च, को प्रात्यहिक कोट्यर्चन सत्रयाग, ब्रह्मोद्यपर्व तथा गुरुपदवन्दनपूर्वक विद्वत्सपर्या-अनुष्ठान के अनन्तर सायंकाल पदार्थज्ञान के करणभूत तथा वेदाङ्गों में मुखरूप से मुख्यता को प्राप्त 'व्याकरणशास्त्र' विषय को आधार बनाकर विद्वानों की शास्त्रार्थ सभा सञ्चालित की गयी जिसका संयोजन डॉ० गोपबन्धु मिश्र, रीडर, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने किया। इस अवसर पर मुख्य अतिथि के रूप में प्रो० जयशङ्कर लाल त्रिपाठी, पूर्व अध्यक्ष—संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा सारस्वत अतिथि के रूप में आचार्य सीताराम शास्त्री ने सभा को अपने वैदुष्य से समलङ्कृत किया। श्रीविद्यामठ परिसर में श्रीविद्यासमुपासकों के मध्य अपने विद्या-प्रकर्ष की ज्ञानवाहिनी को गुरुपदप्रणयतरंगिणी बनाकर श्रद्धालुवर्ग को अभिभूत कर रहे आयोजन समिति के सचिव प्रो० युगल किशोर मिश्र तथा सहसंयोजक प्रो० श्रीकिशोर मिश्र, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय अपने वैदुष्य एवं प्रश्रयभाव से सभा को अभिषिक्त करते रहे। इस अवसर पर पं० शिवजी उपाध्याय, पूर्व अध्यक्ष, साहित्य विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय ने वेदाङ्गों में परिगणित होने पर भी अङ्गीरूप से व्याकरणशास्त्र के महत्त्व को प्रख्यापित किया। प्रो० श्रीकान्त पाण्डेय ने प्राचीन-नव्य व्याकरण के सिद्धान्तों में साम्य तथा वैषम्य का प्रकाशन करते हुए अपने अभिप्राय को प्रकट किया। प्रो० गङ्गाधरपण्डा, अध्यक्ष पुराणेतिहास विभाग, सं० सं० वि० वि० ने पुराणेषु व्याकरणम् शीर्षक से अपना व्याख्यान प्रस्तुत करते हुए पुराणों में पाणिनिसम्मत प्रयोगों पर प्रकाश डाला। पं० मनुदेव भट्टाचार्य, उपाचार्य, व्याकरण विभाग, सं०सं०वि०वि०, पं० द्वारिकादास द्विवेदी, पं० रामाधीन चतुर्वेदी ने व्याकरणशास्त्र के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक उपयोग और उसके अखण्ड महत्त्व को दृष्टि में रखते हुए गम्भीरतापूर्वक तथ्यों का प्रकाशन किया। कातन्त्र व्याकरण के वैशिष्ट्य को लक्ष्य कर पं० जानकीप्रसाद द्विवेदी ने पाणिनि से अतिरिक्त व्याकरण ग्रन्थों के पठन-पाठन तथा स्वीकरण के पक्ष में युक्तिपूर्वक अपने मन्तव्य का प्रख्यापन किया। पं० प्रभाकर मिश्र द्वारा नव्य व्याकरण के उदात्तस्वरूप का

प्रदर्शन किया गया तथा इस अवसर पर विशिष्ट रूप से आमन्त्रित पं० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी, निदेशक, प्रकाशन-संस्थान, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय ने व्याकरणशास्त्र अधिकरणत्व को उपपत्तिपूर्वक प्रतिपादित किया। शास्त्रार्थसभा के सारस्वत अतिथि पं० सीताराम शास्त्री ने शक्तितत्त्वमीमांसा का तात्त्विक निरूपण करते हुए तत्सम्बद्ध प्रश्नों का युक्तिपूर्वक समाधान किया।

दिनांक 5 मार्च को प्रात्यंहिक अनुष्ठान सम्पन्न होने के अनन्तर दो सत्रों में विद्वत्सभायें आयोजित की गयीं। प्रथम विद्वत्सत्र न्यायवैशेषिक तथा द्वितीय सत्र सांख्ययोग विषय पर केन्द्रित रहा। पं० वशिष्ठ त्रिपाठी, आ० सुधाकर दीक्षित, प्रो० कृष्णकान्त शर्मा, प्रो० श्रीनारायणमिश्र, पं० आञ्जनेय शास्त्री, पं० जगन्नाथ शास्त्री तैलंग, प्रो० रामपूजन पाण्डेय, डॉ० राजाराम शुक्ल, डॉ० जयप्रकाश नारायण त्रिपाठी, डॉ० सच्चिदानन्द मिश्र आदि विद्वानों ने शास्त्रचर्चा में अपने पारगामी वैशिष्ट्य को प्रमाणित किया। प्रथम सत्र में सारस्वत अतिथि के रूप में आमन्त्रित आचार्य श्रीरामपाण्डेय का व्याख्यान गम्भीर तथा सारगर्भित रहा। इस सत्र का संयोजन पं० शिवराम गंगोपाध्याय, न्यायविभागाध्यक्ष, रामानन्द संस्कृत विद्यालय ने किया। द्वितीय सत्र में प्रो० वशिष्ठ त्रिपाठी का सारस्वत आतिथ्य प्रभावपूर्ण रहा। संयोजन का दायित्व प्रो० श्रीकिशोर मिश्र ने सम्पन्न किया।

6 मार्च को पूर्वाह्ण के समर्थन के पश्चात् अपराह्ण में विद्वत्सपर्या का यह चरण अपने आप में अद्‌भुत तथा अभूतपूर्व रहा। आचार्य श्री के चरणों के प्रति कोटिशः प्रणामनिवेदन के पश्चात् पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा से सम्बद्ध सत्र प्रारम्भ हुआ जिसका संयोजन डॉ० राजेन्द्र प्रसाद शर्मा, अध्यक्ष दर्शनविभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ने किया।

सत्र के सारस्वत अतिथि स्वनामधन्य आचार्यप्रवर पण्डित रामयत्नशुक्ल की सदय उपस्थिति से सम्पूर्ण सत्र सुतरां प्रभावित था। इस सत्र में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत, आचिन्त्यभेदाभेद— इन सभी पक्षों पर व्याख्यान एवं शास्त्रार्थ का गुञ्जायमान वातावरण में नगर के विविधशास्त्रवित् विद्वद्गण एवं छात्रसमूह के अतिरिक्त गणमान्य व्यक्तियों का साहचर्य प्राप्त हुआ।

पण्डित हृदयरञ्जन शर्मा ने वैदिक विधियों के अदृष्ट फलों की प्रामाणिकता प्रतिपादित करते हुए उनकी आनुश्रविकवत् दृष्ट मानसिक पीडादिनिवृत्तिनिमित्तकता सिद्ध की। पण्डित रामकिशोर त्रिपाठी ने शुद्धाद्वैत सिद्धान्त की सर्वतः प्रामाणिकता दर्शायी। मीमांसाशास्त्र के महत्त्व को दर्शाते हुए पण्डित कमलाकान्त त्रिपाठी ने "अर्थस्य तन्निमित्तत्वात्" शीर्षक पर अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया। पण्डित शम्भुनाथ शुक्ल ने "रामानन्दवेदान्तदृष्ट्या उपास्यस्यस्वरूपम्" शीर्षक शोधपत्र में तदुपासकसापेक्ष उपास्यस्वरूपता के सन्दर्भ में श्रीरामानन्दाचार्य की दृष्टि की उपस्थापना की। संगोष्ठी में पण्डित सुधाकर मिश्र तथा धनञ्जय पाण्डेय ने उत्तरमीमांसासम्बद्ध अपना मत प्रस्तुत किया। पण्डित रामचन्द्र त्रिपाठी ने विशिष्टाद्वैतदर्शन की सिद्धि दर्शाते हुए शुद्धाद्वैतादि इतर भेदों से उसकी विशिष्टता स्पष्ट की। प्रख्यात प्राच्यतत्त्ववित् पण्डित पारसनाथ द्विवेदी ने अपने सारगर्भ शोधनिष्ठ भाषण में प्राच्य आचार्यों द्वारा स्थापित

मान्यताओं की अनवद्यता दर्शाते हुए उनकी संपुष्टि की। ''उत्तरमीमांसा'' विषयक सत्र का संयोजन डॉ० करुणानन्द मुखोपाध्याय, अध्यापक, संस्कृतविभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने किया।

दिनांक 6 मार्च को ''तन्त्रागम'' विषय पर विद्वत्सभा आयोजित की गयी। पं० एन० एस० दक्षिणामूर्ति सारस्वत अतिथि के पद पर अधिष्ठित हुए। डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी, डॉ० राजनाथ त्रिपाठी, डॉ० यदुनाथ दूबे इत्यादि ने इस सत्र में अपने व्याख्यान प्रस्तुत किये।

आयोजन समिति की ओर से पूज्य गुरु जी महाराज का अभिनन्दन एवं वर्धापन का अनुष्ठान समायोजित किया गया। इस अवसर पर समिति के सचिव प्रो० युगल किशोर मिश्र ने गुरुजी को अभिनन्दन पत्र समर्पित किया तथा श्रीमान् विनोद दूबे, उपाध्यक्ष आयोजन समिति ने उत्तरीय प्रदान कर गुरुजी की वर्धापन-समर्चा की। इस अवसर पर डॉ० राजेन्द्र प्रसार शर्मा, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, राजस्थान वि०वि० जयपुर, राष्ट्रपतिसम्मानप्राप्त विद्वद्द्वय आचार्य शिवजी उपाध्याय तथा आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी, डॉ० मनुदेव भट्टाचार्य आदि विद्वान् उपस्थित थे। सञ्चालन का दायित्वनिर्वहण समिति के सहसंयोजक प्रो० श्रीकिशोर मिश्र ने सम्पन्न किया।

७ मार्च को सांयकाल काशी के प्रसिद्ध संकटमोचन मन्दिर में दुर्भाग्यपूर्ण आतङ्कवादी बमकाण्ड के कारण नगर की स्थिति असामान्य हो गयी तथा जनमानस उद्वेलित हो उठा। पूज्य गुरुदेव के निर्देशानुसार यह संकल्प किया गया कि अब इस कार्यक्रम को राष्ट्रहित में शान्ति की स्थापना तथा राष्ट्र की मुख्यधारा से भटके हुए लोगों को सद्बुद्धि प्रदान करने के उद्देश्य के साथ-साथ मृत लोगों की आत्मा को शाश्वत शान्ति प्रदान करने हेतु माँ भगवती की उपासना के रूप में सादगीपूर्वक सञ्चालित किया जाय। तदनुसार ८ मार्च को प्रात्यहिक कोट्यर्चनविधि शान्तिपूर्ण वातावरण में सम्पन्न की गयी।

९ मार्च को पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम के अनुसार पूजन एवं विद्वत्सभाजन कार्यक्रम के अनन्तर प्रो० कमलेश दत्त त्रिपाठी निदेशक, कालिदास अकादमी उज्जैन के मुख्य आतिथ्य तथा डॉ० राममूर्ति चतुर्वेदी, रीडर-संस्कृत विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ के संयोजकत्व में पुराण एवं धर्मशास्त्र विषयक विद्वत्सभा का समारम्भ हुआ जिसमें प्रो० प्रभुनाथ द्विवेदी, संस्कृत विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, डॉ० राजेन्द्र पाण्डेय, वेद विभागाध्यक्ष, संन्यासी संस्कृत महाविद्यालय, पं० मणिलाल शर्मोपाध्याय, प्राचार्य, नन्दलाल बाजोरिया संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी, डॉ० हरिवंशकुमारपाण्डेय, शोधक, प्रकाशन संस्थान, सं० सं० वि० वि०, डॉ० ददन उपाध्याय, सहायक सम्पादक, प्रकाशन संस्थान, सं० सं० वि० वि० ने अपने शोधपूर्ण व्याख्यान प्रस्तुत किये। इस अवसर पर सारस्वत अतिथि के रूप में विराजमान पं० विश्वनाथ शास्त्री दातार ने धर्मशास्त्र के अनुसार आचारपद्धति के अनुसरण की फलश्रुति तथा उसके विशेष महत्त्व को प्रतिपादित किया। प्रो० कमलेशदत्त त्रिपाठी ने पुराण के व्यापक आयाम पर विस्तारपूर्वक दृष्टि डालते हुए पुराण के सार्वकालिक, सार्वभौमिक अभिप्राय का सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रकाशन किया। 'पुराण और धर्मशास्त्र' पर विचारमन्थन के पश्चात् 'ज्योतिष एवं आयुर्वेद' विषय पर विद्वत्मण्डल द्वारा विमर्श वक्तव्य का क्रम प्रारम्भ हुआ। इस सभा में प्रो० रामचन्द्र पाण्डेय, पूर्व संकाय

प्रमुख, सं० विद्या धर्म विज्ञान संकाय, का० हि० वि० वि० ने सारस्वत अतिथि का पदभार सम्भाला तथा डॉ० अरुण कुमार पाण्डेय, प्राध्यापक, ज्योतिष विभाग, सं० सं० वि० वि० ने संयोजन का कार्य किया। पं० श्यामसुन्दर शुक्ल, पं० रामसुख त्रिपाठी वैद्य, डॉ० महेन्द्र पाण्डेय, इत्यादि ने अपने वक्तव्य में निर्दिष्ट विषय पर गम्भीर शोधदृष्टि का परिचय दिया।

दिनांक १० मार्च, शुक्रवार को प्रातः के पूजन एवं सत्रयाग सम्पादन के अनन्तर अपराह्न ३.०० बजे से डॉ० गोपाल प्रसाद शर्मा, प्राध्यापक, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ के संयोजकत्व में पूर्वनियत सर्ववेदशाखास्वाध्यात्मक वैदिक वसन्तपूजा का अनुष्ठान काशी के मूर्द्धन्य वैदिकों के द्वारा सम्पादित किया गया। इस अवसर पर श्रीपट्टाभिरामशास्त्रिवेदमीमांसा-अनुसन्धान केन्द्र हनुमानघाट, वाराणसी तथा आचार्य गोपाल चन्द्र मिश्र उन्नयन संस्थान, ब्रह्मनाल, वाराणसी के ब्रह्मचारी वटुओं ने भी ऋग्वेद, सामवेद, शुक्लयजुर्वेद माध्यन्दिन एवं काण्व शाखाओं, कृष्ण यजुर्वेद सामवेद की कौथुमीय तथा गोवर्धनीपद्धत्यनुसारी तथा अथर्ववेद का सस्वर मन्त्र परायण प्रस्तुत किया। तदनन्तर ब्रह्मोद्य पर्व के रूप में डॉ० मनुलता शर्मा, रीडर संस्कृत विभाग, का० हि० वि० वि० के संयोजकत्व में संस्कृत विदुषी सम्मेलन एवं विदुषी सभाजन का कार्य विशेष प्रकल्प के रूप में प्रारम्भ हुआ। इस अवसर पर प्रो० विमला कर्णाटक, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने सारस्वत अतिथि के रूप में अपना वैदुष्यपूर्ण व्याख्यान प्रस्तुत किया। अमेरिका से समागत डॉ० रीताकुमारी ने श्रीविद्या-समुपासना के प्रसङ्ग पर भावपूर्ण विचार व्यक्त करते हुए गुरुदेव के प्रति अपने श्रद्धाभाव व्यक्त किये। डॉ० उमा जोशी, डॉ० उषा शर्मा, डॉ० मनुलता शर्मा (सभी रीडर संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) ने संस्कृत वाङ्मय के दर्शन, वेद तथा साहित्य के विशिष्ट विषयों पर समागत विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। डॉ० कमला पाण्डेय, डॉ० स्वरवन्दना शर्मा, डॉ० शान्ता चटर्जी (सभी रीडर वसन्त कन्या महाविद्यालय, का० हि० वि० वि०) ने क्रमशः छन्द, स्तोत्र तथा वैदिक दर्शन के तत्त्वार्थ का उद्घाटन किया। प्रो० उमारानी त्रिपाठी, संस्कृत विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, डॉ० विभा दूबे, रीडर महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, डॉ० इरावती रीडर, वसन्त कॉलेज राजघाट, का० हि० वि० वि० डॉ० समता मिश्रा, डॉ० पुष्पा त्रिपाठी, डॉ० सुनीता शास्त्री (अयोध्या), डॉ० सीमा पोद्दार (मुम्बई), डॉ० चन्द्रकान्ता राय, डॉ० जया मिश्रा, प्रवक्ता आर्य महिला डिग्री कॉलेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने वेद, दर्शन एवं साहित्य के विभिन्न पक्षों पर अपने अध्यवसाय एवं चिंतन-क्षेत्र में विचारवैशद्य को प्रकाशित किया।

अमृत महोत्सव के अनुष्ठान के अन्तर्गत **दिनांक ११ मार्च** को काव्यशास्त्र एवं छन्दोलंकार शास्त्र विषय पर विद्वत्सभा संचालित हुई। अध्यक्षपीठ पर स्वयं दत्तात्रेयानन्दनाथ जी महाराज को प्रतिष्ठापित किया गया तथा राष्ट्रपतिसम्मानप्राप्त आचार्य कैलासपति त्रिपाठी जी ने सारस्वत अतिथि पद का दायित्व-निर्वहण किया। इस अवसर पर संन्यासी महाविद्यालय में साहित्य विभागाध्यक्ष पं० श्री गोविन्द सप्तर्षि ने 'भक्तिरसविमर्श' विषय पर का० हि० वि० वि० संस्कृत विभाग में रीडर डॉ० सदाशिव कुमार द्विवेदी ने 'रसतत्त्वविमर्श' विषय पर तथा संगीत एवं ललित कला संकाय, का० हि० वि० वि० में प्राध्यापक डॉ०

शिवराम शर्मा ने ध्वन्यर्थविचार पर अपने शाोधपत्र प्रस्तुत किये। संस्कृत विद्या धर्मविज्ञान संकाय के अध्यक्ष (प्रमुख) प्रो० कृष्णकान्त शर्मा ने योगदर्शन के प्रतिपाद्य तथा जीवन के चरम लक्ष्य 'योग' की स्थिति का विशद विश्लेषण प्रस्तुत किया। काव्य के स्वरूप पर व्याख्यान देते हुए संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय में साहित्य विभागाध्यक्ष डॉ० चन्द्रमौलि द्विवेदी तथा उपाचार्यद्वय डॉ० उपेन्द्र पाण्डेय और डॉ० कौशलेन्द्र पाण्डेय ने इस विषय पर सञ्चालित गम्भीर चर्चा में अपना वैचारिक योगदान किया। डॉ० शरदिन्दु कुमार तिवारी के शोधपत्र का विषय 'बिल्हणकवेः विक्रमाङ्कदेवचरितम्' तथा डॉ० भालचन्द्र पाण्डेय, पूर्व प्राचार्य श्रीनन्दलाल बाजोरिया संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी का 'क्षेमेन्द्र का औचित्यवाद' रहा।

इस अवसर पर साहित्यशास्त्र के आत्मतत्त्व तथा उसके अलंकार एवं सौन्दर्यपक्ष पर हुई गम्भीर चर्चा में राष्ट्रपतिसम्मान प्राप्त आचार्य वायुनन्दन पाण्डेय, आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी तथा पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग म० गां० काशी विद्यापीठ आचार्य अमरनाथ पाण्डेय ने अपना-अपना मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया। अमृत महोत्सव के सचिव महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेद विद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन के पूर्वसचिव, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्व प्रतिकुलपति तथा वेद विभाग के अध्यक्ष पद पर अधिष्ठित प्रो० युगल किशोर मिश्र ने संस्कृत वाङ्मय में याज्ञिक परम्परा के वर्णित स्वरूप पर अपने विचार व्यक्त करते हुए उसकी सार्वभौम उपादेयता पर प्रकाश डाला। महोत्सव के संयोजक का० हि० वि० वि० में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष प्रो० श्रीकिशोर मिश्र ने वैदिक तथा वैदिकोत्तर संस्कृत वाङ्मय में छन्दःशास्त्र के उद्भव और उसके विस्तृत स्वरूप पर व्यापक रूप से विश्लेषण प्रस्तुत किया। सारस्वत अतिथि आचार्य कैलासपति त्रिपाठी ने साहित्य के सौन्दर्य तथा उसके मूल तत्त्वों पर गम्भीर प्रकाश डाला। अन्त में स्वामी दत्तत्रेयानन्द नाथ जी ने सम्पूर्ण साहित्य साधना के सारतत्त्वभूत शाश्वत आनन्द की एकान्तप्रतिष्ठा के लक्ष्य का ख्यापन किया।

अमृत महोत्सव आयोजन समिति के सचिव प्रो० युगलकिशोर मिश्र ने धन्यवाद प्रकाशन का कार्य सम्पन्न किया। व्याख्यान सत्र का सञ्चालन डॉ० उपेन्द्र पाण्डेय ने किया।

दिनांक ११ मार्च को सायं सत्र में ५.०० बजे से संस्कृत कविगोष्ठी का आयोजन किया गया जिसका संचालन पं० मनुदेव भट्टाचार्य, उपाचार्य, व्याकरण विभाग, सं० सं० वि० वि० ने किया। इस अवसर पर स्वामी दत्तात्रेयानन्दनाथ के दीर्घायुष्य की कामना तथा श्रीविद्यासाधना में उनकी अप्रतिहत एकनिष्ठा को लक्ष्य करके राष्ट्रपतिसम्मानप्राप्त पं० शिवजी उपाध्याय पं० वायुनन्दन पाण्डेय तथा आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत काव्य की त्रिवेणी प्रवाहित की। संस्कृत वाग्वैभव तथा राष्ट्रोत्कर्ष इत्यादि विषयों को आधार बनाकर संस्कृत कवियों ने ओजस्वी स्वर में अपने भाव व्यक्त किये। इस अवसर पर प्रो० कृष्णकान्त शर्मा, डॉ० उपेन्द्र पाण्डेय, डॉ० कौशलेन्द्र पाण्डेय, डॉ० मनुलता शर्मा (रीडर संस्कृत विभाग, का० हि० वि० वि०), डॉ० चन्द्रकान्ता राय, रीडर एवं अध्यक्ष संस्कृत विभाग, आर्य महिला डिग्री कॉलेज, डॉ० सदाशिव कुमार द्विवेदी, पं० रामलखन पाठक, प्राचार्य, संन्यासी संस्कृत महाविद्यालय, डॉ०

कमलकान्त त्रिपाठी, प्राध्यापक, मीमांसा विभाग सं० सं० वि० वि०, डॉ० मनुदेवभट्टाचार्य, डॉ० शरदिन्दु कुमार त्रिपाठी इत्यादि ने संस्कृत कविताओं का सस्वर पाठ किया। स्वामी सीताराम कविराज जी ने इस अवसर पर आशीर्वादात्मक व्याख्यान दियां। आयोजन समिति के सहसंयोजक प्रो० श्री किशोर मिश्र ने अभ्यागतों के प्रति कृतज्ञताप्रकाशन का दायित्व निर्वहण किया। कविसमवाय का संयोजन शाब्दिक महाकवि पं० मनुदेव भट्टाचार्य ने किया।

दिनांक १२ मार्च को कोट्यर्चन की अनुष्ठान विधि के अन्तर्गत अर्चन संख्या पूर्ण हुई तथा समस्त सारस्वत सत्र वरेण्य विद्वानों की महनीय उपस्थिति में सोल्लास सम्पन्न हुए। तदनन्तर दिनांक, १२ मार्च, २००६ को सत्रयाग के उत्तराङ्ग के रूप में प्रातः सर्वतोभद्रमण्डल पूजन, कलशस्थापनपूर्वक महापूजा अष्ट वाग्देवताओं के स्वर्णरजत पुष्पार्चन तथा रात्रि में भक्तिसंगीत द्वारा रात्रिजागरण एवं हवन की विधियाँ अनुष्ठित की गयी।

दिनांक १३ मार्च को प्रातः सुवासिनी, कुमारी बटुकपूजन के अनन्तर समस्त साधकों का सम्मान किया गया तथा श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी भगवती के प्रसाद-ग्रहण के अनन्तर पूज्य गुरुवर्य श्री दत्तात्रेयानन्द-नाथ महाराज जी के आशीर्वचनों के साथ अमृतमहोत्सव का एकादशदिवसीय आयोजन सम्पन्न हुआ।

✿✿✿

अमृतमहोत्सव के आयोजन में विद्वद्गोष्ठी का दृश्य





श्री ललिताकोट्यर्चन में साधक-भक्तवृन्द द्वारा श्रीयन्त्र की अर्चना का दृश्य

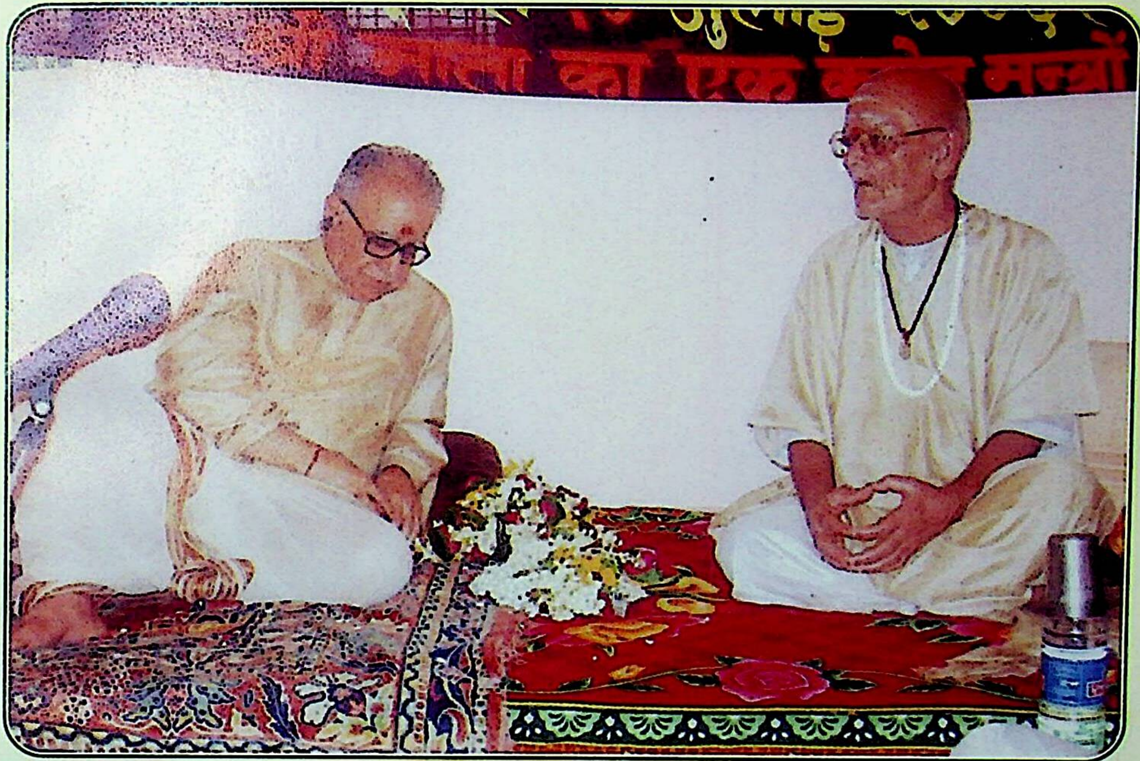
महामहिम श्री त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी जी (राज्यपाल, कर्णाटक प्रदेश) के अभिनन्दन समारोह में मङ्गलाचरण का दृश्य





संस्कृतविदुषी सम्मेलन में आशीर्वचन प्रदान करते हुए पूज्य गुरुजी

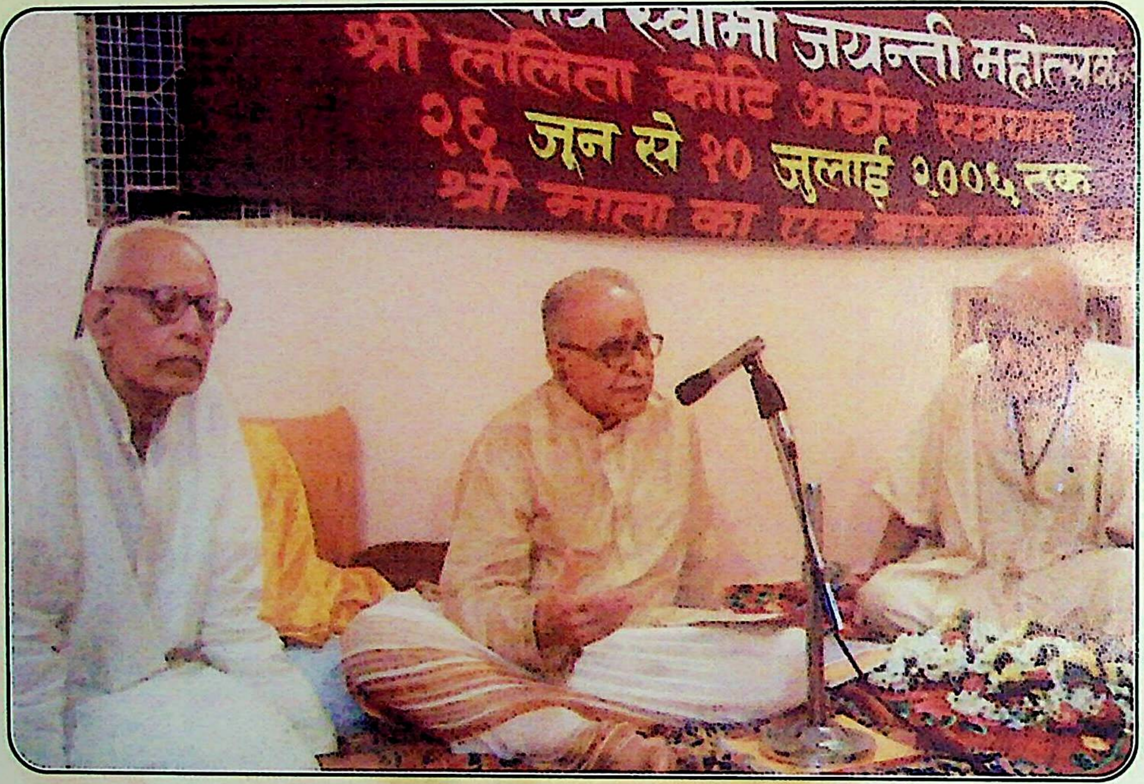
महामहिम डॉ. त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी जी (राज्यपाल, कर्णाटक प्रदेश) के साथ पूज्य गुरुजी

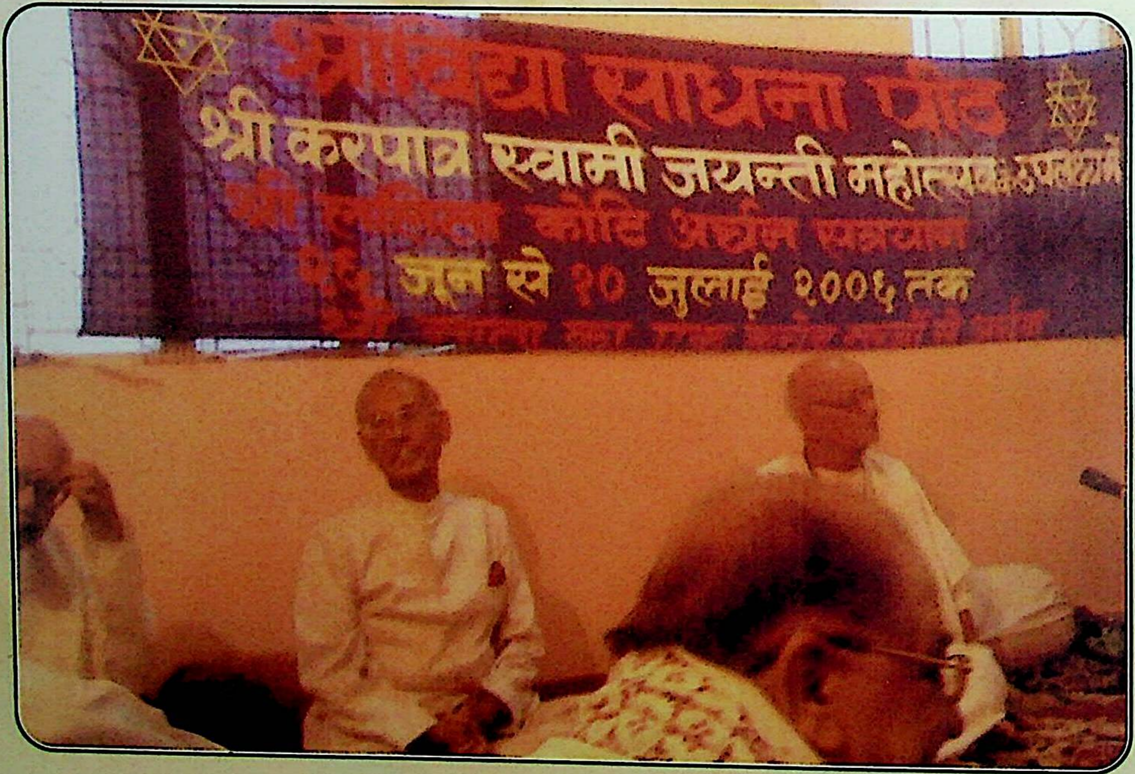




श्रीविद्या साधना पीठ के उपाध्यक्ष श्री विनोद दूबे जी (पूर्वनिदेशक - विश्वबैंक)

महामहिम डॉ. त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी जी (राज्यपाल – कर्णाटक) एवं श्री विनोद दूबे जी – पूज्य गुरुजी के सान्निध्य में





पूज्य गुरुजी के सान्निध्य में श्री लक्ष्मीमल्ल सिंघवी जी

॥ श्रीः ॥

॥ 卐 ॥ श्रीश्रीमद्भारतराष्ट्रमहालक्ष्म्यै नमस्तराम् ॥ 卐 ॥

आलोहितार्कनवमण्डलरश्मिभिन्नसम्वर्तिकाऽनुपमकोकनदातिशायी।
संसिद्धभक्तगणमानसराजहंसो भूयस्तरां गिरिसुताचरणश्चकास्ति ॥ १ ॥

श्रीश्रीमतामत्रभवतामत्रभवताम्भवताम्, आदित्य-विश्ववसु-तुषिताऽऽभास्वरा-ऽनिल-महाराजिक -
साध्य-रुद्र-रूपगणदेवतागणगण्य-विद्याधरोऽप्सरो-यक्ष-रक्षो-गन्धर्व-किन्नर-पिशाच-गुह्यक-सिद्ध -
भूतरूपदेव-योनि-सनाथ-द्वादशादित्यैकादशरुद्राष्टवसुदस्रद्वयात्मकत्रय-स्त्रिंशत्कोटिदेवता-विलासैक -
वासपौलोमीयौवनप्रतिस्पर्धि-सुधर्मप्रमुखसकलदिक्पाललोकपालमहासभासम्पद्यमानधृताचीमञ्जु -
घोषादिदिव्याङ्गनागणमृदङ्गायमानकलहंसकलकलसब्रह्मचारिमहाशिञ्जितसम्पूरितसकलभुवनाधारस्तम्भ-
दिक्चक्रचक्रवालमातङ्गमण्डल-श्रोत्रकुहरकण्डूतिखण्डनकरकीर्तिपताकाख्यापितगौरवाणाम् क्षारोदधि-
पुण्ड्रेक्षूदधि-सुरोदधि-घृतो-दधिदधिमण्डोदधिदुग्धोदधिजलोदधिरूपससोन्निद्रसमुद्रनिकुरम्बनिखिल -
दिग्गजमहाबृंहितसोदरमहाघोषातिक्रमणमहाशौर्यसमतिक्रमणचणराजनीतिराजरमणीगाढालिङ्गनैकधन्या-
नाम्; दाक्षिण्यदीक्षीदीक्षाक्षमराजाधिराजपरमेश्वरपूर्वपश्चिमदक्षिणसमुद्राधीश्वरवीरबुक्कभूपालसाम्राज्य-
धुरन्धरधनुर्धरधौरेयमाधवसायणार्योपज्ञवेदार्थप्रकाशमहाव्याख्याख्यापितसकलवेदराशिसमुज्ज्वलकर्णाटक-
राज्यप्राज्यराज्यपालमहोदयानाम्, महाभयाऽन्वितानामपि निर्भयाणाम् विदग्धानामपि स्निग्धानाम् ब्रह्म-
पुत्राणामपि अब्रह्मपुत्राणाम् वडवात्मजानामपि अवाडवानाम् सत्कार्यवादिनामपि ब्रह्मसिद्धान्त-
निष्णातानाम् नीत्युत्सवानामपि अनीतिसमुद्भासितशासनानाम् चतुराननामपि अनष्टभुजानाम् महिमालय-
हिमालयमालयमालासम्परिलालितमहाभारतमहाभारतपारम्परीपरीतहृदयकमलानाम्, इन्द्रसाम्राज्य-
पौरोहित्यसाहित्यसौहित्यशान्तत्यसान्तत्यषाड्गुण्यसाद्गुण्यगौरवसमेधानपुण्यराशिराजिराजितश्रीश्रीमत्सौभाग्यवती-
शिरोमणिमालामहारत्नमातृश्रीविद्यावतीदेवीसकलविद्वद्वंशावतंसहंसविद्याकमलानाथपण्डितश्रीकमलानाथचतुर्वेद-
क्रोडकुवलयानाम्, इन्द्राणीपौख्यसमाख्याख्यापितपातिव्रत्यतेजोनिदाननिधानश्रीश्रीमतीमणिमालासुमेरू-
पमानुपमभाग्य-श्रीश्रीप्रकाशवतीदेवीहृदयैकसाम्राज्याधिष्ठितानाम्, 'यत्र विश्वं भवत्येकनीडं समस्तम्'
इत्याम्नायोक्तीरनुसृत्य अर्जेण्टेनिया-संयुक्तराज्य-कनाडा-ग्रेटबिटेन-सोवियत-भूमि-तुरुष्क-फिनलैण्ड
-बुलगारिया-अल्बानिया-रोमानिया-लेबनान-ईजिप्ट-केनिया-जापान-कोरिया-चीन-हांगकांग -
इण्डोनेशिया-मलयेशिया-सिंहपुर-फिलिपीन्स-अष्ट्रेलिया-न्यूजीलैण्ड-मैक्सिको-पेरु-ब्राजील -
लिथुआनिया-वांगलादेश-फ्रान्स-जर्मनीप्रभृतिदेशान् भ्रामं -भ्रामंनिर्भ्रमं भारतीयसिद्धान्तामृतमृतं प्रचार्य
'वसुधैव कुटुम्वकम्' इति राद्धान्तप्रतिष्ठा-प्रतिष्ठापनपरमाचार्याणाम्, अनेकसंस्था-संस्थान-प्रतिष्ठान-
परिषत्-समज्या-गोष्ठी-सम्मेलन-सभा-समिति-स्थापन-सभापति-सञ्चालक-सचिवादिनिर्णायकपद-
कमलमलमलंकृत्यवैयाकरणत्वादेव-कृतकृत्यानाम् प्रथममध्यमोत्तमपुरुष-व्यवस्थापकानाञ्च नैयायिक-
त्वादेव प्रमाणपरतन्त्रप्रमेयवस्तूनां पदार्थनिष्णातानाञ्च, वैशेषिककत्वादेव अन्विष्टसृष्टिरहस्यानां

प्रत्यक्षानुगतानुमानानाञ्च, साङ्ख्यानामिव सत्प्रकृतिकानां विशिष्टपुरुषाणाञ्च, मीमांसकत्वादेव विधि-प्रतिपादकानां श्रुत्यर्थसर्वस्वानाञ्च, वेदान्तिनामिव परब्रह्मचिन्तकानां प्रकटितमायामोहविभवानाञ्च, योगिनामिव अस्पृष्टक्लेश-कर्मविपाकानाम् विशेषपुरुषस्वरूपाणामिति सर्वशास्त्रमयस्वरूपाणाम्, विलक्षणानामपि सुलक्षणानाम् महामाननीयकर्णाटक-प्रदेशराज्यपालमहोदयानाम् पण्डितश्रीश्रीत्रिलोकी-नाथचतुर्वेदमहाशयानां मञ्जुलकिञ्जल्कपुञ्जपिञ्जरितमञ्जुकरेकुञ्जे भूयोभ्रमद्भ्रमरायतामेष नन्दनचन्दन-स्यन्दनवन्दनाभिनन्दनपुष्पस्तवस्तबकप्राञ्जलप्राञ्जलिः—

प्रत्यूषेऽपि प्रदोषे निखिलभुवनजन्मस्थितिह्रासशीलः
सप्ताश्वप्रत्यहं ध्यानमहिमवशतोऽत्येषतद्वर्णपूर्णः।
शश्वद्भृङ्गायामाणत्रिदिवपुरपतिस्तूयमाना समन्ताद्,
देव्या वोऽव्यात् सदासावहमहमिकया पादपद्मद्वयश्रीः॥ २॥

उद्यत्तुङ्गहिमालयावलिलता भात्युत्तरस्यां दिशि
दीपद्वीपमनोहरा विजयते यस्याश्च दिग्दक्षिणा।
कृष्णासिन्धुसरस्वतीत्रिपथगाकावेरिकानर्मदा -
स्रोतःक्षालितविग्रहा विजयते श्रीभारताख्यावनी॥ ३॥

देवाधीश्वरमौलिरत्नविसरप्रोद्भूतचारुस्फुरद् -
द्योतद्योतितभूधरेन्द्रतनयाविश्वेशपादाम्बुजम् ।
यत्रैतत्तु निरन्तरालविभवं सम्भातिरूपं मुहुः
सा काशी भुवि राजतेऽनवरतं मुक्तिर्हि यत्किङ्करी॥ ४॥

पुण्याहं महदद्य काशिविदुषां नूनं पुरो धावति
किं वा भाग्यदयोदयोऽप्यतितरां वाऽप्येष नृत्यत्यहो।
श्रीकर्णाटकराज्यपालपदभृत् विद्यावदातश्रमो
रराजीति मुदा समस्तविदुषाम्मध्ये महामानवः ॥५॥

समुद्यत्तेजोन्यक्कृतनिखिलवैरिप्रचयधीः ,
सदा सत्सिद्धान्तोदितनियमनिष्णातकृतिकृत्।
मुहुः शास्त्रव्रातव्रतविबुधसन्दोहलसितः
त्रिलोकीनाथाख्यः स्फुरतु हृदि मे कोऽपि पुरुषः ॥६॥

अनेकब्रह्माण्डप्रसृमरयशोगीतचरितः
तथा श्रौतस्मार्तोदितविमलमार्गैकपथिकः।
चतुर्वेदप्रख्यप्रयतपदवीभूषितकुलः
त्रिलोकीनाथोऽसौ सकलभुवने भाति सुचिरम् ॥ ७ ॥

दिङ्नागेन्द्रास्समे बृंहितवचनधना हर्षिता हन्त सद्यो
मोदं प्राप्ता प्रकामं द्रुहिणकृतिमयी भूर्भुवःस्वस्त्रिलोकी।
वाराणस्यां यदेषा प्रचलतकि सदा सा सपर्या त्रिलोकी-
नाथस्यास्याद्य यस्यास्यकमलमधुरोद्गीर्णपूर्णा तु सृष्टिः ॥ ८ ॥

एतस्मिन् शुभवासरे वयममी मोमुह्यमाना भृशं
श्रीमत्पादपयोरुहद्वयलसद्रेणूत्सवाकर्षिताः ।
विद्वन्मान्य कया गिरा कथमहो किं कुर्महे साम्प्रतं
स्वीकुर्वन्तु मुदाऽभिनन्दनदलं यच्छ्रद्धयैवार्पितम् ॥ ९ ॥

तिथिः आषाढ़शुक्लत्रयोदशी
दिनम् : रविवार
दिनांक : ९ जुलाई २००६
श्रीविद्यासाधनापीठम्
वाराणसी

इति निवेदयति

श्रीश्रीदत्तात्रेयानन्दनाथदेशिकप्रवरपदभृङ्गः
श्रीविद्यासाधनापीठशिष्यसङ्घः।

श्रीविद्या विजयतेराम्

✿ विद्यावतां सकलमेव गिरां दवीयः ✿

अथ विविध-विधिविद्या-विशारदाय वशंवदीकृतशारदाय
सरस-साहित्य-सौहित्य-सौरभाञ्चित-चारु-चेतसे, न्यायादि-
कर्कश-तर्कवितर्क-वेधसे विदेश-देशवर्ति-विश्व-
विद्यालय-विश्वविद्या-व्याख्यान-विख्यात-मेधसे
दृश्यश्रव्य-भव्यनव्य-काव्यावदात-मनसे, नीति-
नृपनीति-देशविदेशनीति-नव-नीतचारुविचार
नवनीत-सौकुमार्य्य-महसे, वाचस्पति-मूर्त्तये
विश्ववन्द्य-विपश्चिदपश्चिमाय डॉ० लक्ष्मीमल्ल-सिंघवी-महोदयाय
सश्रद्धातिशय-सुमनोभरं विश्राणितः

॥卐॥ सद्भाव-कुसुमाञ्जलिः ॥卐॥

जटाजालोद्दीप्यद्-बकुलकुलमालोल्लसित-सन्- महाभालो गङ्गा-तरलित-तरङ्गाञ्चित-शिराः।
भुजङ्गैर्भीमाङ्गो धवल-शशिलेखा-सुललितः सदाऽव्याद् विश्वेशो जगति कविमल्लं रसमयम्॥ १॥

देश-प्रदेश-हित-चिन्तनकृन्निबन्धान् भावावलीललित-काव्यकला-प्रबन्धान्।
सद्-राजनीति-नवनीत-विचार-बन्धाँश्चैकस्त्वमेव तनुषे, मनुषे च मान्यान्॥ २॥

श्रीरायमोहन-विवेक-महात्मगान्धि-प्रख्यात-वृत्तचय-सञ्चयन-प्रवीणम्।
'वाचस्पति'-प्रभृति-नैक-पदोच्चमानं मानं महार्ह-महसां कविमल्लमीडे॥ ३॥

साहित्यसिन्धुतल-मन्थन-मन्दराभं- प्रौढप्रबन्ध-मृदुकाव्यक-सुन्दराभम्।
न्यायाम्बुधिं विधिमहाब्धि-तरङ्गपूतं त्वां न्यायमूर्तिमथ नौमि विपश्चिदेकम्॥ ४॥

राजस्थानग-भा.ज.पा.-दिनकरं सम्पूर्ण-भू-यात्रिणं संस्थानां नव-नाट्य-शिक्षणवतां संस्थापनायोद्यतम्।
विद्याधामसु विश्ववर्तिषु महानन्दप्रदैर्भाषणै- र्विख्यातं कवि-नाट्यकारमनघं मल्लं नुमः सादरम्॥ ५॥

श्रीविद्यासाधनापीठे
नगवा-वाराणस्याम्
आषाढ़शुक्लद्वादश्याम् २०६३ ई०
(श्रीश्रीदत्तात्रेयानन्दनाथधाम्नि)
०९.०७.२००६ ई०

वयं स्मो भवदभिनन्दनोत्कायमानाः
श्रीविद्यासाधना-पीठसदस्याः
'कोट्यर्चन'-संयोजकाः
धर्मसम्राट्करपात्र-जयन्ती-सूत्रधाराश्च।

श्रद्धेयचरणानां श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथस्वामिनां वर्धापनानि

रेवाप्रसादो द्विवेदी
पूर्वसाहित्याविभागाध्यक्षः
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकायः
का० हि० वि० वि०, वाराणसी

श्रीश्रीमत्करपात्रयोगिधिषणामाविश्य सिन्धूपमां।
यैस्तन्त्राण्युपदीकृतानि कविभिर्वात्सल्यभाग्भिर्मुदा।
सीताराममहेश्वरानिह महामाहेश्वराग्र्यानिमां-
स्तन्वन्तः प्रणतीर्भवन्ति कृतिनः श्रद्धालवोऽस्मादृशाः॥ १॥

श्रीविद्यायन्त्रराजे विलसति नवमो विन्दुरेकस्तदीया
ज्योत्स्ना कोणान् प्रसूते ननु दिशि दिशि याँस्तेषु नित्यायते चित्।
ऊर्ध्वे कोणे सहस्त्रं विलसति नितरां स्वर्णशैलस्ततोऽधः-
कोणे श्रीधाम्नि धावन्त्यतनुतनुलताः कामधेनूत्तमाश्च॥ २॥

छायामेतस्य यै वै विपुलसुकृतिनः संश्रयन्ते किमेषा-
मक्ष्णोः राजेत काचित् कलुषतनुरुचिर्हन्त कार्पण्यलेखा।
गीर्वाणास्तेषु गीतिं कलयितुमखिलाश्छिद्रभावं भजन्ते
छिद्रैर्नैकैः समेताः स्फुरति खलु यतः कापि वाग्देवतैव॥ ३॥

श्रीसीतारामनामा जयति भगवति ब्रह्मणि श्रान्तिमाप्त-
स्तच्चाप्यस्मै पराम्बायति विपुलपयोराशिकादम्बिनीत्वात्।
अस्मिन् वात्सल्ययागे क इव न महेन्द्रादिकानां वदान्य-
मान्यानां मुक्तहस्तं विसृजति चतुरो नो पुमर्थान् स्मितास्यः॥ ४॥

एतस्मिन् कविराज इत्यभिहिते दत्तावतारे दिशः
सर्वा एव भवन्ति वै स्नुतसुधाधाराः स्वयं वत्सलाः।
पार्श्वे येन वसत्स्वपि प्रतिभया संसेवमानेष्वमुं
किं वा दुर्लभमस्ति वस्तु सततं सुस्थात्मसु स्वैरिषु॥ ५॥

एषां सन्ति मठेऽत्र केचन समेशाना गणेशास्त्रयो
मन्दारप्रभवा सिताऽसिततया विभ्राजमानाङ्गकाः।

एकस्यापि ततो यदि ध्वनति वै शुण्डा तदाशृण्वतां
तच्छब्दान् प्रसरन्ति वै सुकवितास्त्रोतांसि शासैः समम्॥ ६॥

त्रीनेताँस्तनयान् स्मितेन सततं संलापयन्ती सुता
शैलानामधिपस्य यत्र वसति स्वैरं पितुर्धामवत्।
तां नित्यं स्तुतिपाठिभिः कविवैरः स्मेराननां तन्वता-
मग्रण्याः शरदां शतानि ससुखं तिष्ठन्तु योगीधराः॥ ७॥

आषाढशुक्लनवमी, संवत् २०६२ कालिदाससंस्थानम्,

८ मार्च, २००६ २८ महामनापुरी, वाराणसी

यस्य स्मरणमात्रेण जगज्जालं विनश्यति।
पुराणपुरुषं नित्यं तं नुमः परमेश्वरम्॥
यथा रत्नं खनेः प्राप्तं शाणोल्लीढं सुभास्वरम्।
तथा संस्कारसम्पन्नो नरो लोके महीयते।
तपःसाधनया पूतः सदाचारप्रतिष्ठितः।
सीतारामः सुविख्यातः कविराजो महीतले॥
श्रीविद्यादेशिकप्रवरो वन्द्यो यो विश्ववैभवः।
आनन्दस्य च नाथो यो दत्तात्रेयपुरस्सरः॥
समवेता वयं धन्या यस्यामृतमहोत्सवे।
तस्मै श्रीललिता लातु प्रीतिकीर्तिपरं वयः।
दीर्घायुश्च हितायुश्च सुखायुश्च शुभावहम्।
प्राप्नुयात्कविराजोऽयं तेजोलसद्विभूतये॥

✿

प्रो० प्रभुनाथ द्विवेदी
म० गा० काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

ईहेऽहम्

डॉ० कौशलेन्द्र पाण्डेयः
उपाचार्यः, साहित्य विभागे,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी

न प्राज्यं नैव वा राज्यं न च ज्ञानं न विज्ञानम्।
न चैश्वर्यं परं स्थानं गुरोः सान्निध्यमीहेऽहम्॥

प्रगीताः भूरिशो वेदाः प्रतानैर्वर्णकैः कैश्चित्।
सदा धर्मस्य लोकेऽस्मिन् जयं नित्यं समीहेऽहम्॥

कलौ पापावतारः जायतेऽनायासमेवाद्य।
गुरोर्वान्यं प्रमाणं स्यादधर्मध्वंसमीहेऽहम्॥

तदेकं प्राणिनां मध्येऽस्ति सद्भावोऽस्तु जीवानाम्।
समत्वं भावसञ्जातं रसानन्दं समीहेऽहम्॥

इदं विश्वं विभोः रूपं शिवः प्रत्यक्षकल्याणम्।
अतोऽद्वैतं भजन्तं योगिनं स्तोतुं समीहेऽहम्॥

न हन्यात् गोकुलं कोऽपि पयःलोकेऽमृतं नूनम्।
तथैवात्मेन्द्रियैः गोभिः गुरोर्ब्राह्मीं समीहेऽहम्॥

न मे वाणी न मे प्रज्ञा कवित्वञ्चापि मे नास्ति।
परं धर्माधिराजानां यशः गातुं समीहेऽहम्॥

✿

विषयक्रमः

✿✿✿

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

शक्तितत्त्वविमर्शः

महामहोपाध्याय आचार्यः सीतारामशास्त्री

दृष्टिं मयि विशिष्टार्थां कृपापीयूषवर्षिणीम्।
हेरम्ब देहि प्रत्यूहक्ष्वेडव्यूहनिवारिणीम्॥
शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरञ्चादिभिरपि।
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति॥

श्रीललिता-कोट्यर्चन-सत्रयागामृतमहोत्सवावसरे श्रीविद्यासाधनापीठेऽस्मिन् निखिलकारण-भूतायाः शक्तेः विवेचनं मन्ये नाप्रासङ्गिकं स्यादिति व्याकरणशास्त्रे स्वीकृतायास्तस्याः स्वरूपनिर्द्धारणे किञ्चिन्नूत्नं कोविदतल्लजानां मोदायेहोपनिबध्यते।

ननु घटपदाद् जायमानघटत्वप्रकारकघटविशेष्यकबोध इव घटप्रकारकघटत्वविशेष्यको बोधः, घटपदादेव च पटत्वप्रकारकपटविशेष्यको बोधः कुतो न, किं च इदंप्रथमतया घटपदं शृण्वतः पुरुषस्य घटरूपार्थबोधश्च कुतो न। यतः शब्दयति = अर्थमाविष्करोतीति शब्दः, शब्द आविष्कारे इति चौरादिक— शब्दधातोर्नन्दिग्रहि (३.१.१३४) इति सूत्रेण पचाद्यचि निष्पन्नेन शब्दशब्देन कस्यचिदर्थस्य आविष्कारः = बोधः सम्पादनीय एव, शंब्दस्य अर्थबोधकत्वस्वभावाद् इति चेदत्र **नैयायिकाः** सुधीन्द्रा इत्थं समादधति—

तत्पदजन्यतत्प्रकारकतद्विशेष्यकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति तत्पदनिष्ठवृत्तिज्ञानाधीनतत्प्रकारकत-द्विशेष्यकोपस्थितिः कारणम्, इति कार्यकारणभावात् स्वीकृतात्, यस्य यत्प्रकारकं यद्विशेष्यकं वृत्तिज्ञानं तस्य पुंसस्तत्प्रकारिका तद्विशेष्यकैवोपस्थितिः, यादृशी चोपस्थितिः, तादृश एव शाब्दबोध इति स्थितिः। तथा च गृहीतवृत्तिविशेष्यविशेषणभावव्यत्यासेन न शाब्दबोधो न वा घटपदात्पटविषयको बोधः, पटरूपार्थस्य घटपदनिष्ठवृत्तिज्ञानाधीनोपस्थित्यभावात्। कम्बुग्रीवादिमद्घटपदार्थनिरूपितां घटपदनिष्ठां वृत्तिमजानत इदंप्रथमतया घटपदं शृण्वतः पुंसोऽपि न घटपदात्कस्यचिदप्यर्थस्य जायते शाब्दबोधो वृत्ति-ज्ञानाधीनोपस्थितिरूपकारणाभावात्। वृत्तेश्च ज्ञाताया एव, न तु स्वरूपसत्याः शाब्दबोधकारणत्वात्। वृत्तिश्च शाब्दबौधोपयिकपदार्थोपस्थित्यनुकूलज्ञानविषयीभूतः पदपदार्थयोः सम्बन्धः। सा च पदपदार्थो-भयसम्बन्धभूता वृत्तिः, शक्तिः, लक्षणा, व्यञ्जना इति भेदात्त्रिधा। तत्र लक्षणाव्यञ्जनयोः शक्यार्थबोध-सापेक्षतया उपजीव्यभूता शक्तिरेव विचारसरणौ प्राथम्यं लभते इति।

अथ शक्तिः कः पदार्थः

'एतदर्थविषयकबोधजनकतावदिदं पदं भवतु' इति पदविशेष्यिका, 'एतत्पदजन्यबोधविषयता-वानयमर्थो भवतु' इति अर्थविशेष्यिका **ईश्वरेच्छा शक्तिरिति** विशेष्यताश्रयपदपदार्थयोर्भेदाद् द्वैविध्यं

तस्याः। ईश्वरेच्छाया इव ईश्वरीयज्ञानस्य, ईश्वरीयकृतेरपि शक्तित्वापत्तौ महद्गौरवमिति तु न शङ्कनीयम्, लोके पुत्रनामनिर्द्धारणे 'देवदत्त इति पदं चेतनायुक्तमिदं मांसपिण्डं बोधयतु' इति पितुरिच्छाया इव ईश्वरस्य इच्छाया एव शक्तित्वमिति न शक्तिनानात्वदोषः। सा चेश्वरेच्छा स्वविषयबोधनिष्ठजन्यता-निरूपितजनकतावत्त्वसम्बन्धेन यत्र, स शब्दो वाचकः, यत्र च स्वविषयबोधविषयत्वेन सम्बन्धेन, स खलु अर्थो वाच्यः, संसर्गतया यत्र सा, स जन्यजनकभावः सम्बन्धः, विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकता-सम्बन्धेन यत्र, स बोध इति नैतेषु सर्वेषु वाच्यवाचकत्वाद्यापत्तिः। ईश्वरेच्छाशक्तिरेव पदपदार्थयोः सम्बन्धः इति।

न च पदार्थविशेष्यिकायाः, पदविशेष्यिकायाः इत्युभयविधायाः शक्तित्वे शक्तिनानात्वेन गौरवं, व्यभिचारश्चेति वाच्यम्। **ईश्वरेच्छाविषयत्वं शक्तिः** इति स्वीकारेण सर्वदोषनिवृत्तेः। 'पदमर्थं बोधयतु, अर्थश्च बोधविषयतावान् भवतु' इत्याकारिका ईश्वरेच्छा। अत्र बोधजनकत्वबोधविषयत्वान्यतरनिष्ठा या इच्छीयप्रकारत्वाख्या विषयता, तन्निरूपिता पदनिष्ठा पदार्थनिष्ठा च या विशेष्यत्वाख्या इच्छीया विशेष्यता सा एव शक्तिः। इत्थमेकस्या एव शक्तित्वेन गौरवादिदोषाभावात्। तदेव इच्छाया एकेनैव विषयतारूपसम्बन्धेन पदपदार्थयोरुभयोर्विद्यमानत्वेन तस्याः सम्बन्धत्वमप्यक्षतम्। एतेन इच्छायाः समवायेन आत्मवृत्तितया पदपदार्थयोरविद्यमानत्वेन तस्याः सम्बन्धत्वं न सम्भवतीत्यपास्तम्। घटमानय, पटं नय इत्यादिप्रयोजकवृद्धवाक्यानि शृण्वतो व्युत्पित्सोर्बालस्य यद्यपि प्रथमं शक्तिग्रहो वाक्ये एव, तथापि शास्त्रकृत्कल्पिताभ्यामावापोद्वापाभ्यां तत्तत्पदे एव प्रामाणिकः शक्तिग्रहः। वाक्ये शक्तिग्रहस्तु भ्रमात्मकः, नैयायिकैर्वाक्ये शक्त्यनङ्गीकारात् इति च।

न च पदम् अर्थविषयकबोधजनकतावद् भवतु, पदनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतावद्बोधीय-विषयतावानर्थो भवतु इत्याकारिकायाः शक्तेरेव पदपदार्थयोः सम्बन्धत्वं, शक्तिसम्बन्धेन जनकत्वघटितेन पदम् अर्थं बोधयतीत्युक्ते पदनिष्ठाया बोधजनकतारूपकारणताया अवच्छेदकत्वं जनकत्वघटितेच्छारूप-शक्तिसम्बन्धे स्यादित्यात्माश्रयत्वं दोषः इति नेच्छायाः शक्तित्वम् इति वाच्यम्। कारणता स्वरूप-योग्यतारूपा फलोपधायकतारूपेति द्विविधा। स्वरूपयोग्यतारूपकारणताया व्यापकत्वेन घटरूपार्थ-बोधरूपफलमुत्पादितवति घटपदे उभयविधाया अपि कारणतायाः सत्वेन फलोपधायकतारूपकारणताया घटपदनिष्ठाया अवच्छेदकत्वस्य स्वरूपयोग्यतारूपकारणतायां स्वीकारे आत्माश्रयदोषाप्रसक्तेः, उभयोर-नयोः कारणतयोर्विभिन्नत्वात्।

न च 'दण्डो घटनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकतावान् भवतु' इतीच्छायां सत्यामपि घटोत्पत्त्यनुकूल-तत्तदावश्यककुलालकृद्व्यापारानन्तरा दण्डेन घटोत्पत्तेरदर्शनात् जनकत्वम्, अर्थात् कारणत्वं नेच्छा-विषयत्वमिति निश्चये सति पदेऽपि ईश्वरेच्छाविषयत्वरूपंबोधजनकत्वाभावापत्तौ ईश्वरेच्छायाः शक्ति-त्वासंभव इति वाच्यम्। दण्डादौ वर्त्तमाना घटादिरूपकार्यजनकतास्वरूपा शक्तिः स्वरूपसती कार्य-जनिका, पदनिष्ठा तु सा शक्तिः ज्ञाता सत्यैवार्थबोधजनिकेति वैलक्षण्यदर्शनाद् बोधे जननीये एव बोध-जनकपदादिषु वर्त्तमाना बोधजनकतारूपकारणता इच्छाविषयत्वस्वरूपा, नान्यत्र घटादिद्रव्ये जननीये

तज्जनके दण्डादाविति पदनिष्ठबोधजनकतारूपकारणताया इच्छाविषयत्वस्वरूपत्वे बाधकाभावात्। 'घटप्रत्यक्षं मे जायताम्' इति प्रत्यक्षस्थले प्रत्यक्षरूपज्ञानस्य जन्यतया इच्छाविषयत्वरूपकारणत्वापत्तिस्तु नाशङ्कनीया। ज्ञानमेव यत्र जन्यं, ज्ञानमेव च यत्र जनकं, तादृशे 'घटज्ञानाद् घटरूपार्थविषयको बोधो जायताम्' इत्यादिस्थले एव इच्छाविषयत्वरूपं कारणत्वं नान्यत्रेति सिद्धान्तात्, प्रत्यक्षस्थले घटविषयके प्रत्यक्षरूपज्ञानस्य कार्यत्वेऽपि चक्षुरादेर्ज्ञानकारणस्य ज्ञानरूपत्वाभावात्।

न चैवं 'धूमज्ञानाद् वह्निज्ञानं जायताम्' इत्यादिज्ञानकारणज्ञानकार्यस्थले इच्छाविषयत्वरूप-कारणत्वापत्तौ हेतुसाध्ययोः सर्वसम्मतस्य व्याप्तिसंबन्धस्य विलयापत्तिः, अर्थाद् व्याप्तिसम्बन्धनिष्ठ-कारणताया उच्छेदापत्तिरिति वाच्यम्। इच्छां विनापि घनगर्जितेन मेघानुमानदर्शनादनुमानस्थले उक्तेच्छाविषयत्वरूपसम्बन्धस्य तत्राभावेन यदा यदा यत्र वा घनगर्जनं तदा तदा तत्र वा मेघा इति व्याप्तिज्ञाने एव मेघानुमानकारणतेति व्याप्तिसम्बन्ध-निष्ठानुमानकारणतायाः सुस्थिरत्वात्।

ननु चक्षुरादीन्द्रियप्रमाणानां संयोग-संयुक्तसमवायादिजनकत्वघटितसम्बन्धातिरिक्तसम्बन्धेनैव घट-पटादिप्रमेयपदार्थसम्बद्धानां बोधजनकत्वदर्शनेन शब्दस्यापि प्रमाणान्यतरत्वेन इच्छाविषयत्वरूप-जनकत्वघटितसम्बन्धातिरिक्तसम्बन्धेन अर्थेन सह सम्बद्धस्यैव शाब्दबोधजनकत्वस्यौचित्येन इच्छायाः पदपदार्थयोः सम्बन्धत्वासंभवः, किं च 'प्रतियोग्यनुयोगिभिन्नत्वे सति प्रतियोग्यनुयोगिवृत्तित्वे सति विशिष्टबुद्धिनियामकत्वं' सम्बन्धत्वमिति लक्षणलक्षितस्य सम्बन्धत्वस्य तत्रेच्छायामभावान्न सा पदपदार्थयोः सम्बन्धो भवितुमर्हति, इच्छाविषयबोधविषयतायाः पदे एव न (न तु अर्थेऽपि) सत्वेनोभय-वृत्तित्वाभावात्। इच्छीयविषयतासम्बन्धेन तस्याः पदपदार्थयोरुभयोः सत्वेऽपि विषयतासम्बन्धस्य वृत्त्यनियामकत्वात्। अत एव 'विषयतासम्बन्धेन विषये इच्छावान्' इत्यादि न भवति व्यवहारः। प्रकृते च इच्छाविषयबोधनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकत्वाख्यविषयतासम्बन्धेन घटपदम् इच्छाविषयबोधविषय-त्वाख्यविषयतासम्बन्धेन घटरूपार्थो वा इच्छावानिति व्यवहारादर्शनेन च नैयायिकसम्मताया ईश्वरेच्छायाः वृत्तिनियामकसम्बन्धेन पदपदार्थोभयवृत्तित्वाभावाच्छक्तित्वं दूरापास्तमेव। अत एवात्माश्रयोभयवृत्तित्वाभावादिपूर्वोक्तदोषाणामेव कारणात् प्राचीनवैयाकरणसम्मताया बोध-जनकताया बोधकारणताया वापि न शक्तित्वमिति स्थिते—

का खलु शक्तिरिति चेदत्र वैयाकरणकेसरिणः भट्टश्रीनागेशाः—

तस्मात् पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरमेव शक्तिः वाच्यवाचकभावापरपर्याया। तद्ग्राहकं च इतरेतराध्यासमूलकं तादात्म्यम्। तच्च संकेतः इति। अर्थात् पदपदार्थयोरुभयोर्वर्तमानः वाच्यवाचक-भावरूपो यः सम्बन्धः, सा एव शक्तिः, न नैयायिकसम्मता इच्छा, न च प्राचीनवैयाकरणसम्मता बोध-जनकतारूपा वा पूर्वोक्तदोषदूषितत्वादिति भट्टश्रीनागेशाभिमतमित्थं सर्वे व्याख्यातारो व्याचक्षते।

गौड़ास्तु निगूढमित्थं श्रीनागेशाभिप्रायः व्यावर्णयन्ति—

यथा जन्यजनकभावसम्बन्धः इत्यस्य जन्यत्वनिरूपितं जनकत्वं सम्बन्धः, जनकत्वनिरूपितं

जन्यत्वं वा सम्बन्धः इत्येवार्थः। नैयायिकास्तु अनुयोगिवृत्तिजन्यत्वस्वत्वादिकमेव सम्बन्धमामनन्ति। तस्य भावस्त्वतलौ (६.१.१११) इति सूत्रेण भावार्थत्वप्रत्यये जन्यस्य भावः जन्यत्वं, स्वस्य भावः स्वत्वं, तथैव वाच्यवाचकभावः इत्यत्र द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणभावशब्दस्य उभाभ्यां वाच्यवाचकशब्दाभ्यां सम्बन्धे वाच्यभावः, वाचकभावः इत्येव्र लभ्यते। भावार्थे त्वप्रत्यये सति वाच्यत्वं, वाचकत्वम् इत्येव तदर्थः। तथा च यदि वाच्यवाचकभावापरपर्याया सम्बन्धान्तरं शक्तिः इति नागेशवाक्यस्य 'वाच्यवाचकत्वं शक्तिः' इत्येवार्थस्तदा तु वृत्तिनियामकसम्बन्धेनास्योभयवृत्तित्वाभावात्पूर्वोक्ताः सर्वेऽपि ते दोषा अत्रापि स्युरेव। 'वाच्यवाचकत्वे नहि बोधविषयबोधजनकत्वरूपे अपितु पदपदार्थोभयवृत्ति अखण्डोपाधिरूपं पदार्थान्तरमिति न पूर्वोक्ता दोषा' इत्यपि न विचारसहम्। पदार्थान्तरस्वीकारे मानाभावाद्, गौरवाच्चेति **का खलु तर्हि भट्टश्रीनागेशसम्मता निर्दुष्टा शक्तिः**, सम्बन्धान्तरं वेति चेत्, श्रूयताम्—'कृत्तद्धितसमासैः सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेन' इति सिद्धान्ताद् भावार्थबोधकेन त्वतलादिप्रत्ययेन, भावरूपार्थबोधकेन भावशब्देन च सम्बन्धरूपोऽर्थोऽभिधीयते इति भावशब्दोऽपि सम्बन्धवाचकः। तथा च 'जन्यजनकभाव' इत्यस्य जन्यजनकयोः सम्बन्धः 'स्वस्वामिभाव' इत्यस्य स्वस्य स्वामिनश्च सम्बन्ध इत्यर्थो यथा, तथैव वाच्यवाचकभाव इत्यस्याऽपि वाच्यस्य वाचकस्य च सम्बन्ध इत्येवार्थो, न तु वाच्यवाचकभावरूपः सम्बन्ध इत्यर्थः। **एवं च नागेशमते 'वाच्यवाचकयोः यः खलु सम्बन्धः सा एव शक्तिः।'** स खलु सम्बन्धः किं नामा कीदृशश्चेति प्रश्ने तत्वान्यत्वाभ्यां वक्तुं वर्णयितुं न शक्यः इति अनिर्वचनीयः पदपदार्थोभयवृत्तिरखण्डो विलक्षणश्च। भावप्रत्ययेन इत्यस्य भावस्य प्रत्ययो ज्ञानं यस्मात् स शब्दः 'भावप्रत्यय' इति भावशब्देन भावरूपार्थस्य बोधात् भावार्थकत्वप्रत्ययस्येव भावशब्दस्यापि सम्बन्ध-रूपार्थबोधकत्वेनोक्तार्थलाभसंभवात्। द्राक्षाम्रेक्षुदुग्धगुडशर्करादीनां माधुर्यस्य परस्परं भिन्नत्वेऽपि तद्वैशिष्ट्यं स्वसंवेद्यमेव न तु तत्त्वेनान्यत्वेन परं प्रति बोधयितुं वर्णयितुं वा शक्यमिति द्राक्षेक्षुदुग्धादीनां सर्वेषां रसस्य केवलं मधुरत्वेनैव यथा परं प्रति बोधः सम्पाद्यते, तथैव जन्यजनकयोः, स्वस्वामिनोः गुरुशिष्ययोः सम्बन्धानां परस्परं वस्तुतो भिन्नत्वेऽपि न वाचा तेषां भिन्नत्वं प्रतिपादयितुं शक्यमपि तु केवलं सम्बन्धत्वेनैव ते विभिन्नाऽपि सर्वे सम्बन्धा यथा बोध्यन्ते, तथैव पदपदार्थयोः शक्तिरूपोऽयं नागेशसम्मतः सम्बन्धोऽपि विलक्षणोऽनिर्वाच्योऽखण्डश्चेति, न तत्र कीदृशस्यापि दोषस्यावकाशः, अस्य सम्बन्धस्य वृत्तितानियामकेन स्वरूपसम्बन्धेन पदपदार्थयोरुभयोर्वर्तमानत्वात्। नागेशसम्मतस्यास्य शक्तिस्वरूपस्य सम्बन्धस्य ग्राहकं चान्यस्मिन्नन्यधर्मावभासरूपज्ञानविशेषविषयकं संकेतस्वरूपं तादात्म्यम्, संकेतस्य शक्तिग्राहकत्वात्। यथा शुक्तौ रजतत्वावभासः, तेन चावभासेन 'इदं रजतम्' इति इदं पदार्थरजतपदार्थयोस्तादात्म्यमवगम्यते, तथैव पदपदार्थयोः 'अयं घटः' इति तादात्म्यमध्यास-कारणकमेव, न वास्तविकम्, अध्यासस्य भ्रमत्वात्। तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं भ्रमः इति सिद्धान्तात्।

अत्रायं निष्कर्षः

सर्वेऽपि दार्शनिकाः शक्तिं पदपदार्थयोः सम्बन्धरूपामेव स्वीकुर्वन्ति, अर्थात् शक्तिः पदपदार्थ-योरुभयोस्तिष्ठति सम्बन्धरूपत्वात्। तत्र ईश्वरेच्छा शक्तिः इति नैयायिकाः, पदार्थान्तरं शक्तिः इति

मीमांसकाः, भेदाभेदरूपं तादात्म्यं शक्तिः इति वेदान्तिनः साङ्ख्याश्च, बोधकता शक्तिः इति प्राचीनवैयाकरणाः, पदपदार्थयोरनिर्वचनीयः सम्बन्धविशेषः शक्तिः इति भट्टश्रीनागेशः।

सङ्केतः, शक्तिः, सम्बन्धश्चेति त्रयोऽत्र पदार्थाः। तत्र नैयायिकाः सङ्केतमेव शक्तिं मन्वते। प्राचीन-वैयाकरणा बोधजनकतारूपां शक्तिं सम्बन्धभूतां वदन्ति, नागेशभट्टास्तु वाच्यवाचकयोरनिर्वचनीयं सम्बन्धविशेषमेव शक्तिमुद्घोषयन्तीति।

अत्र तत्त्वविदो गौड़ास्तु

'वह्निः काष्ठं दहति', 'दीपो घटं प्रकाशयति', 'जलं वस्त्रं क्लेदयति', 'सूर्यो जलं शोषयति' इत्यादौ दाहकताशक्तिर्वह्नावेव न काष्ठेऽपि, प्रकाशकताशक्तिर्दीपे एव न तु घटेऽपि, क्लेदनशक्तिर्जले एव न तु वस्त्रेऽपि, शोषणशक्तिः सूर्ये एव न तु जलेऽपि इतिवद् वाचकता बोधकता वा शक्तिः, केवलं पदे एव न तु अर्थेऽपीति न शक्तेर्द्विष्ठत्वं कदापि सम्भवतीति तस्याः द्विष्ठत्वं स्वीकृत्य सम्बन्धत्वेन ख्यापनं अविचारितरमणीयमेवेति वदन्ति।

दार्शनिकानां शक्तिविषयको भ्रमः

वस्तुतः पदमात्रनिष्ठा बोधकता, वाचकता वा एव शक्तिः। नैयायिकाः शक्तिनियामकमीश्वरेच्छा-संकेतमेव शक्तिं वदन्तीति तेषां भ्रमः। संकेतस्य शक्तिग्राहकत्वमेव न तु शक्तित्वं तस्य। प्राचीन-वैयाकरणाः पदमात्रनिष्ठां बोधकतारूपां शक्तिमर्थनिष्ठामपि मन्वते इति तेषां भ्रमः। भट्टश्रीनागेशः शक्ति-प्रकाशकं वाच्यवाचकभावरूपं सम्बन्धमेव शक्तिं ब्रूते इति वैयाकरणकेसरिणस्तस्य भ्रमः।

वास्तविकी स्थितिस्त्वियं पदमात्रनिष्ठा प्राचीनवैयाकरणसम्मता च बोधजनकतारूपा **शक्तिः** नैयायिकाभिमतेन संकेतेन विनियम्यते, श्रीनागेशभट्टाभिमतेन वाच्यवाचकभावरूपसम्बन्धेन निश्चीयते। यथा वह्निगता दाहकता शक्तिः वह्निकाष्ठवृत्तिना संयोगसम्बन्धेनैव विभाव्यते, दीपगतप्रकाशकताशक्तिरपि दीपप्रभाघटसंयोगेनैव ज्ञायते, जलनिष्ठा क्लेदनतारूपाशक्तिः जलवस्त्रयोः परस्परं जातेन संयोगेनैव बुध्यते, तथैव पदगता वाचकतारूपा बोधकतारूपा वा शक्तिः पदपदार्थयोरनिर्वचनीयेन नागेशभट्टबोधितेनं वाच्यवाचकभावरूपस्वमात्रसंवेद्यसम्बन्धेन ज्ञातुं शक्यते इति विभावयन्तु सुधियो गुणग्रहीतार इत्यलमतिविस्तरेण।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

✿

श्रुतिषु त्रैपुरसिद्धान्तः

प्रो० श्रीकिशोरमिश्रः
संस्कृतविभागाध्यक्षः
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी

ऋग्वेदे ब्रह्मणश्चिच्छक्तिरानन्दमयी निगदिताऽस्ति। तत्रैव अदितिसूक्ते (ऋ० १/९२/११३) अस्याखण्डस्यानन्दस्य चैतन्यस्य स्फोरयित्र्याः शक्ते रहस्याभिधानम् 'अदिति-'रित्यस्ति। असौ देवतामयी असुर-गन्धर्व-मनुष्य-पितृ-प्रभृतीनां सर्वेषां भूतानां माता वर्णिता। इयं च पृथिवी, सावित्री-गायत्री-सरस्वत्यादिनामभिः प्रतिपादिता। तस्याः प्रकाशशालिनः पुत्रानादित्यनाम्नाऽवबोधयति श्रुतिः। अदितेर्विरोधिनी मलिना सत्ता दितिस्तस्या मलिनास्तामसाः पुत्रा दैत्याः कथिताः। इत्थं दितिविरुद्धा अदितिर्दैत्यविरुद्धा आदित्यास्तथाऽसुरविरुद्धा देवा इति दृशा बहुविधैः रूपकैः शक्तिपाशे प्रक्षेपकाः पाशान्मोचकाः पराक्रमा अपि वेदेषु वर्णिताः सन्ति। एवमदितौ सर्वतोभावेन मातृभाव उद्भावितः। ऋग्वेद एवोसो देव्याः सूक्तेषु आद्याशक्तेः कुमारीभावः सूर्यादेवीसूक्तेषु शक्तेः पत्नीभावस्तथा वागम्भृणीसूक्ते वाक्सूक्ते ऋक्परिशिष्टभागस्थे श्री-(लक्ष्मी)-सूक्ते च भगवत्या आद्याशक्तेः शक्तिर्बोधिता वर्तते।

यजुर्वेदस्याग्निरहस्यकाण्डान्तवर्तिनि यज्ञवेद्या इष्टकास्थापनमन्त्रे शक्तेर्वर्णनं विद्यते।

देवीसूक्ते चेयमाद्याशक्तिरेकरूपा ततो बहुरूपा स्तनचतुष्टयवती गौर्जाता। सूर्यस्य नवा वधूर्भूत्वा नवीनं जडचेतनरूपं जगत् सृष्टवती सहैव च चतुःसङ्ख्याकान् जीवानप्युत्पादितवती। काठकोपनिषदि यस्या भेदो न भवति तादृशी देवतामयी अदितिरस्तीत्युक्तम्। इयमदितिः प्राणादुत्पद्यते तथा चिदम्बरस्य विज्ञानमय्यां गुहायां प्रविश्य विविधप्राणिनां रूपेषु प्रकटीभवति।

अथर्ववेदे तथा तैत्तिरीयारण्यके देवतामय्याः शक्तेर्भगवत्या महात्रिपुरसुन्दर्या उपासनायोग्यं रूपमाविर्भूतम्। ब्राह्मणेष्वारण्यकेषु च त्रिपुरसुन्दर्याः शुद्धशक्तिः सावित्री-गायत्री-सरस्वत्यादिनामभिरभिहिताऽस्ति। भगवत्यास्त्रिपुरसुन्दर्याः शक्तिर्गायत्रीत्यत्र कथनस्यायमाशयोऽस्ति यत् सा सद्ब्रह्मणः स्वरूपस्य गानेन रक्षणं करोति। गायत्र्या आध्यात्मिकं तेजो भर्गः कथ्यते। इदं तेजः समस्तां विश्वसृष्टिं प्रकाशयति विश्वसृष्टौ रमते प्रान्ते च विश्वं तस्मिन्नेव लीयते। अत एव गायत्रीशक्तिर्भर्गमयी तेजोमयीत्युच्यते। त्रिपुरसुन्दर्या विश्वसृष्टिरुत्पद्यतेऽतः सा सावित्री तत एव च ब्रह्मण आनन्दमयः प्रवाहः सरतीति हेतोः सा सरस्वती निगद्यते। ब्रह्मशक्तिरानन्दमयी प्राणमयी जीवनमयी तत्सत्त्वादियं सच्चिदानन्दमयी मन्यते।

त्रिपुराशब्दः

आद्या शक्तिरनवच्छिन्ना पराभट्टारिका शिवादिक्षित्यन्त-षट्त्रिंशत्तत्त्वमय-प्रपञ्चात्मिका सर्वो-

पनिषत्प्रसिद्धा सत्सम्प्रदायविद्भिस्त्रिपुरेत्यभिधीयते। निर्वचनद्वारा परिभाषाभिश्च त्रिपुराशब्दोऽयं शास्त्रकारैर्बहुधा व्याख्यातः। यथा हि—

१. त्रिभ्यः=त्रिबिन्दु-त्रितत्त्वेभ्यः पुरा=पूर्वं स्थिता त्रिपुरा। २. अकार-हकार-कामकला-पर्यायरूपा। वर्णानामादिभूता त्रिपुरा। ३. ज्ञान-क्रियेच्छारूपा=त्रिपुरा। ४. त्रिशक्तिरूपा। ५. त्रिचक्रमयी। ६. त्रिधामवती। ७. त्रिबीजा। ८. त्रितत्त्वात्मिका। ९. त्रिगुणा। १०. त्रिकोणस्था। ११. त्रिपीठवती। १२. त्रैविध्येन समस्ताध्वव्यापिनी। १३. लिङ्ग-मातृकादिभ्यः पुरा विद्यमाना। १४. मातृ-मान-मेयरूपा। १५. प्रकाश-विमर्श-सामरस्यरूपिणी। १६. वामा-ज्येष्ठा-रौद्रीरूपत्रिपुराणां जननी। १७. वामादीनां त्रिपुराणां पुराभूता। १८. सच्चिदानन्दस्वरूपा। १९. त्रिधावस्थित-समस्तवस्तुपूरणात् सर्वयोगिभिरुपास्यत्वेन स्पृहणीयत्वात् च त्रिपुरा। २०. त्रीणि पुराणि = शरीराणि यस्याः सा त्रिपुरा। २१. तिसृभ्यो मूर्त्तिभ्यः पुरातनत्वात् त्रिपुरा। २२. सुषुम्णा-पिङ्गलेडानाडीरूपा। २३. मनो-बुद्धि-चित्तरूप-पुरत्रये वसतिमती। २४. बिन्दुत्रय-मात्रात्रय-व्याहृतित्रय-वाक्त्रय-बीजत्रय-कूटत्रय-वेदत्रय-लोकत्रय-सन्तानत्रय-गुरुत्रय-ओघत्रयादिरूपा। तथा चोच्यते—

त्रिमूर्त्तिसर्गाच्च पुराभवत्वात् त्रयीमयत्वाच्च पुरैव देव्याः।
लये त्रिलोक्या अपि पूरकत्वात् प्रायोऽम्बिकायास्त्रिपुरेति नाम॥

किञ्च—(२६)

त्रिकोणमण्डलं चास्या भूपुरञ्च त्रिरेखकम्।
मन्त्रोऽपि त्र्यक्षरः प्रोक्तस्तथा रूपत्रयं पुनः॥
त्रिविधा कुण्डली शक्तिस्त्रिदेवानां च सृष्टये।
सर्वं त्रयं त्रयं यस्मात् तस्मात् तु त्रिपुरा मता॥

अपि च—

देवानां त्रितयं त्रयी हुतभुजां शक्तित्रयं त्रिस्वरा-
स्त्रैलोक्यं त्रिपदी त्रिपुष्करमथ त्रिब्रह्म वर्णास्त्रयः।
यत् किञ्चिज्जगति त्रिधा नियमितं वस्तु त्रिवर्गात्मकं
तत्सर्वं त्रिपुरेति नाम भगवत्यन्वेति ते तत्त्वतः॥ १६॥

एतदनुसारं १. देवानां त्रितयं = ब्रह्मविष्णुरुद्रात्मकं, अथवा गुरुपरमगुरुपरमेष्ठिगुरुरूपा, २. हुतभुजां त्रयी=दाक्षिणात्यगार्हपत्याहवनीयाख्यास्त्रयोऽग्नयः, त्रीणि ज्योतींषि वा हृदय-ललाट-शिरःस्थितानि, ३. शक्तित्रयं=इच्छाज्ञानक्रियारूपम्, यद्वा ब्राह्मी वैष्णवी माहेश्वरीति, ४. त्रिस्वराः=अकारेकार-बिन्दुरूपाः, ५. त्रैलोक्यं=स्वर्ग-मर्त्य-पातालरूपं, यदि वा मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरकमित्येको लोकः, आहार-निरोध-विशुद्धमिति द्वितीयः, आज्ञास्पर्शब्रह्मस्थानमिति तृतीयं त्रैलोक्यम्। त्रिपदी=जालन्धर-कामरूप-उड्याणपीठरूपा। यदि वा गमनानन्दः परमानन्दः कमलानन्द इति। नाथत्रयं त्रिपदी। त्रिपुष्करं=शिरो-हृदय-नाभिकमलरूपम्। तीर्थत्रयं वा त्रिपुष्करम्। त्रिब्रह्म=इडा-पिङ्गला-सुषुम्णारूपम्। यद्वा अतीतानागतवर्तमानज्ञानप्रकाशकम् हृद्व्योमद्वादशान्तम् ब्रह्मरन्ध्रान्तं चेति ब्रह्मत्रिकम्। त्रयो वर्णा

ब्राह्मणादयः। वाग्भवं कामराजं शक्तिबीजं चेति। मूलमन्त्र एव वर्णत्रयम्। त्रिवर्गादिकं धर्मार्थकामरूपं, वस्तु=चराचरवृत्तानावृत्त-स्थूल-सूक्ष्म-लघुगुरु-कठिनकोमल-नीचोच्च-त्र्यस्रचतुरस्रादि। त्रिधा नियमितं=रूपत्रयेण निबद्धम्। त्रयात्मका ये भावास्ते सर्वे त्रिपुरानामान्तर्गता एव। यथा—मठत्रयं, मुद्रात्रयं, देवीत्रयं सिद्धत्रयमित्यादि।

इत्थं नानाविधाभिर्व्युत्पत्तिव्याख्यादिभिर्विभावितस्त्रिपुराशब्दो भगवत्यास्त्रिपुरसुन्दर्याः शिव-शक्त्योर्मिलनरूपसामरस्यमेव दिव्यं रूपमस्ति, तच्च निष्क लं निराकारं चास्ति। जीवात्मनः परमतत्त्वे लय एव ब्रह्मात्मैक्यस्वरूपिण्याः श्रीत्रिपुरसुन्दर्या उपासना भवति। सेयमुपासनैव साधकेन पुनरागमना-भावरूपत्वाय जन्मजन्मार्जितफलप्राप्तये च साध्यते। इदं श्रीत्रिपुराया विषयजातं त्रैपुरं भवति, इति सिद्धम्।

आगमेषु त्रिपुरा

किञ्च श्रीकामराजविद्याया अधिष्ठात्री श्रीविद्या त्रिपुरसुन्दरीति। श्रुतौ—'स ऐक्षत सोऽकामयत, तपसा अचीयते'ति वाक्यत्रयेण परशिवस्य ब्रह्मण एव ईक्षणं सङ्कल्परूपेणान्तरिक्या इच्छाशक्तेः केन्द्रीभावः कथ्यते। अयमागमेषु परबिन्दुरुक्तः। एतेन ब्रह्मणा केन्द्रे घनीभूय प्रथमं सङ्कल्पितं ततः परं तेन कामितं—'सोऽकामयत' गभीरया दृष्ट्याऽवैक्षत। अस्याऽऽधमेच्छाया उत्पत्त्यनन्तरं ज्ञानवेगेन 'तपसा अचीकमत' अर्थात् तपसा सम्भूय घनरूपत्वं जातं प्राणतत्त्वं च तस्मिन्नभिव्यक्तम्। तदेवापरबिन्दुरुक्तः। इदमेव शब्दब्रह्म निगद्यते। प्राणतत्त्वस्य भेदोत्तरं पञ्चदशकलासु सृष्टेः संरचनायां संलग्नस्य परशिवस्य तृतीयां शक्तिं 'क्रियाशक्तिं' कथयन्ति। इयं शक्तिः सृष्टियोग्येषु पदार्थेषु श्रद्धामुत्पादयति। तथा पृथिव्यादि-पञ्चतत्त्वेषु भोग्यस्य जगतो भोगाय साधनानि प्रकटयति। मनसे बहिर्वेगं ददाति सुखदुःखादिफलानि चाविष्करोति। आगमेषु क्रियाशक्तिरियं 'नाद'-नाम्ना सूचिता। अथर्ववेदस्याकूतिसूक्ते तथा त्रिपुरोपनिषदि वेदोक्तं प्रतीकात्मकं १. परबिन्दु, २. अपरबिन्दु, ३. बिन्दुबीजलन्नादरूपास्त्रयो विभागा एव 'त्रिपुरधाम'-नाम्ना प्रतिपादिताः सन्ति। इदमेव भगवत्यास्त्रिपुरसुन्दर्यास्त्रिकोणात्मकमासनं चिदंश-(बिन्दुः अचिदंश-) (बीजं)-चिदचिदंश(नाद)-रूपैस्त्रिकोणैः परिभावितं विद्यते। इयं सम्पूर्णा त्रिकोणाकृतिः 'त्रिपुरा' गद्यते। त्रिपुरसुन्दर्याः प्रतीकस्य प्रसारः श्रीचक्रं, श्रीचक्रस्य बोधयित्री विद्या च श्रीविद्या वर्तते।

उपर्युक्तस्य त्रिपुरधाम्नोऽधिष्ठात्री देवी त्रिपुरा, ललिता, षोडशीत्यादिभिः विविधैर्नामभिः स्तूयते, पूज्यते, उपास्यते, आराध्यते च। इयं श्रीविद्यादशविद्याभिन्ना तृतीया महाविद्या इति केचन, परं तदभिन्नेयं श्रीविद्येति तत्त्वम्। नन्दिकेश्वरकामराजोपास्या चेयमेव श्रीविद्या। अस्या उपासनापद्धतेर्निदर्शको-ऽथर्ववेदस्य सौभाग्यकाण्डाभिध एको भागः। त्रिपुरसुन्दर्याः सर्वविधाया उपास्तेर्विधानानि बहुष्वागमेषु प्रस्तुतानि चर्चितानि विवेचितानि विद्यन्तेऽतस्त एवागमास्त्रैपुरागमाः सन्तीति सुनिश्चितमेव।

आगम-पदार्थः

आगमशब्दस्य व्युत्पत्तयः परिभाषाश्च विविधा लभ्यन्ते। यथा हि—आ-समन्तात्, गमः = प्राप्तिः। एतदनुसारं परम्परया आगतः आगमः। आ—आप्तवचनैराविष्कृतमर्थविशेषं गमयति-बोधयतीत्यागमः।

आ—समन्ताद् आगच्छतीत्यागमः। आ—ईषदंशतो गमो बोधो यस्मात् स आगमः। आगच्छतीत्यागमः यद् रहस्यं परम्परयाऽऽगच्छतीति। एवमेव—आगमन-सम्प्राप्त्युद्भव-शास्त्राभ्यास-शास्त्रसामान्य-ज्ञानपरम्पराद्या अर्था अपि स्वीकृताः सन्ति। परिभाषारूपेण च—

आगतं शिववक्त्राच्च गतं च गिरिजाश्रुतौ।
तदागम इति प्रोक्तं शास्त्रं परमपावनम्॥

(शारदायाम्)

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्॥
आन्तरं चित्स्वभावस्य शब्दनं यद्विमर्शनम्।
अन्तरङ्गं स्वरूपं तत् प्रत्यक्षस्यापि जीवनम्।
यद्यद् विमृश्यते तेन तत्तदेव भवेद् ध्रुवम्।
आगमः स विमर्शो हि प्रोच्यते मुख्यतो बुधैः॥

यथा वेदा ब्रह्मणो निश्वसितास्तथैवागमा अपि शिवस्य निःश्वासभूता इति निर्धार्यते।

हारितायनस्मृतिकारस्तु—'आगमः वेद' इति घोषयति—

वेदः शाक्तस्तथा शैवपाञ्चरात्रादिभेदतः।
आगमो विविधो नित्य ईश्वरेणैव दर्शितः॥

एवमेव वेदस्याप्यागमत्वं यजुर्वेदोक्तात्—'अन्यदेवाहुः सम्भवात्' इत्यादिमन्त्रात् सिद्ध्यति। ईशावास्योपनिषदि केनोपनिषदि चापि 'इति शुश्रुम धीराणा'-मित्यादिपाठाधारेण—

'आगच्छति प्रसिद्धिर्या कालेनाकलिता भुवि।
निबद्धा चानिबद्धापि सैवागमपदाभिधा॥'

साधिताऽस्ति।

आगमशास्त्राणामुद्देश्यं क्रियाशक्तिमुद्बोध्यानिष्टनिवारणपूर्वकं परमपदप्रापणमेवास्ति। आगमे परमशिवस्य परमानन्दपूर्णज्ञान-त्रिकालाबाध्यसत्ता-सर्वभवनसामर्थ्य-सर्वकर्तृताश्चेति पञ्चानां धर्माणां व्याख्या प्राप्यते। इमान्येव पञ्चधर्म-कञ्चुकानि जीवं बध्नन्ति। इत्थं निगमागमयोः कोऽपि तात्त्विको भेदो नास्ति।

आगमा उपासनादृष्ट्योपासकानां रुचिवैचित्र्येण च दुर्गादिशक्तीनां शिव-विष्ण्वादिदेवानां च नाम्ना, विभिन्नस्वरूपाणां तत्तदाराधनापद्धतीनां च विवरणानि प्रस्तुवन्तो मूलतत्त्वं प्रत्युपासकानां दृष्टीरावर्जयन्ति। केवलं प्रतिपादन-प्रक्रिया एव भेदोऽस्ति। वस्तुतो निगमागमयोर्भेदः क्वापि न प्रतिपादितः। आगमेषु शिवागमः श्रीविद्यागमश्च प्रधानौ। श्रीविद्यागम एव त्रैपुरागम इति तत्र न विवादः। तथा चोक्तं—

वागुरामूलवलये सूत्राद्याः कवलीकृताः।
तथा मन्त्राः समस्ताश्च विद्यायामत्र संस्थिताः॥

एतदर्थं निगमागमशास्त्रजालनिबन्धनी मूलग्रन्थिरेषैव विद्या।

त्रैपुरागमे वैदिकी दृष्टिः

वेदागमयोरैक्यं पूर्वं प्रतिपादितमेव। तथापि वैदिक्या दृष्टेस्तत्र विवेचनमित्थं निगदितुं शक्यते—

दृष्टिर्नाम तत्र निगदितानां तत्त्वानां विचाराणां विषयाणां च पर्यालोचनम्। वेदानां चतुष्टयी प्रसिद्धाऽस्ति। 'मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः' इत्युक्त्यनुसारं ब्राह्मणारण्यकोपनिषदामपि वेदत्वं सिद्धम्। एतेषु सर्वेषूपासनानां ये ये विषयाः सङ्केतरूपेण संक्षेपेण च वर्णिताः सन्ति तेषां पल्लवनं विधिनिर्धारणं प्रक्रियावबोधश्चैतानि त्रैपुरागमेषु विशुद्धतया प्राप्यन्ते। आगमाः किलोपासनायास्मान् मार्गान् दर्शयन्ति। तत्र १. निराधाराः २. साधाराः ३. मिश्राश्चेति ते मार्गा वर्तन्ते। त्रैपुरागमेषु श्रीत्रिपुरसुन्दर्या उपासनामार्गा अपि त्रिविधाः प्रतिपादिताः सन्ति। ते च १. समयाचार-२. कौलाचार-३. मिश्राचारनामभिः प्रसिद्धाः। समयाचारे 'समय'शब्दस्यानेकेऽर्थाः सन्ति। तेषु साम्यं, दहराकाशे चक्रादीनां भावनापूर्वकमर्चनं, प्रतीक्षाकालः आन्तरपूजा, श्रेष्ठो मार्गः शिवशक्त्योः सामरस्योपासना चेति समयाचारं बोधयन्ति।

बहिर्मार्गस्य साधकाः श्रीचक्रं स्वर्णादिधातुषु निर्माय बाह्योपचारैरर्चनं तथा मन्त्रादिषु (मन्त्रे यन्त्रे गुरौ) देवतायाश्चैक्यदर्शनं कौलाचारः कथ्यते। मिश्राचारश्च बाह्याचारेण सहैव भावनापूर्वकमान्तरो यागोऽपि इति साध्यते।

श्रीविद्या वेदप्रतिपादिताऽस्ति। श्रीविद्योपासना नाम स्वात्मशक्तिस्वरूपिण्या ब्रह्मविद्याया एवाभेदानुसन्धानरूपोपास्तिः। श्रीविद्या हि कुण्डलिन्येव। इयमेव त्रिपुरा महात्रिपुरसुन्दरी चेति सम्।

✿

नयमतसिद्धसत्ताया अतिरिक्तजातित्वसाधनम्

आचार्यः श्री-श्रीरामपाण्डेयः
सम्मानिताचार्यः, न्यायवैशेषिकविभागस्य,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालस्य

विद्यामूर्त्तिं वरिष्ठां निगमपथपरां पारिषद्यां दिवाभां
सौरीं सूरेर्विधाया हतदरदुरितां वाङ्मयानां विधात्रीम्।
आलोकालोककर्त्रीं सुरवरवचसां मातरं शारदां तां
नत्वा विज्ञैकभूमिं प्रणमति विबुधान् सभ्यसंसारसारान्॥ १॥

विद्यापुञ्जैकदीपो भ्रमवनदहनो न्यायलीलैकधामा
व्यापाराणामुपायो निगमततिजुषो धर्मभूमेः प्रभूमिः।

कान्तारस्तर्कराशेरभयकुलकलान्वीक्षिकी भव्यपण्डा
तामूहे पण्डितानां परिषदवनिगो वाग्विलासैकदासः॥ २॥

त्रैविध्यं तत्त्वजातेर्नयवरविदुषां सम्मतं तर्कतन्त्रे
सत्ताद्या या पराख्या त्रिभुवनमहिता कापरा कम्रगात्रा।
धन्या भव्या कनिष्ठा नयवनगपरा यापरापीह नम्रा
द्रव्यत्वादिर्घटत्वादिनयगगनगा सा द्वितीया तृतीया॥ ३॥

तस्याः सिद्धेर्नये नो विहरति ललिता मान्यमान्या महिम्ना
ना पूर्वा किन्त्वपूर्वा वचनवनगुहाग्राहको मूर्त्तसिंहः।
श्रीरामो विज्ञभक्तोऽभिनवसुरगिरा साधकः सिद्धिभूमे-
र्बोध्यापूर्वा ततः सा नयकुलकमला सर्वदोषापहन्त्री॥ ४॥

जातस्त्रैविध्यभूतिर्भवतिनयमते नास्ति संशीतिलेशः
सत्ता मान्या पराख्या त्रितयवरधरा भाति भिन्नाऽपराख्या।
सम्मान्या तत्र भूमेर्नयवरविदुषां या परा साऽपरापि
द्रव्यत्वादिर्घटत्वादिनयबुधकला या द्वितीया तृतीया॥ ५॥

दिव्यालोकसहस्रदीधितिधरः सूर्योपमो भासुरो
नादध्वान्ततततेर्यमो भयकरः शास्त्रार्थमञ्चाञ्चितः।
कौशल्याकरतर्ककर्कशकरो वैदुष्यरत्नाकरो
नेत्रोन्मीलननीतिकुञ्जगहनः सूक्तेः समुद्रोऽपरः॥ ६॥

अर्थस्फोटनवाग्विलासधवलः सत्यक्षदोऽभीतिदो
दोषाब्धेर्दहने भयङ्करबलो वादाहवे भीषणः।
भूषा शास्त्रकदम्बतत्त्वसदनस्याज़ेयचिन्ताकुलः
सम्राट् शास्त्रकुलस्य कोऽपि विजयी जेगीयते भूतले॥ ७॥

सन्न्यायामृतपानतृप्तमनुजः कौ मोदते शाश्वतं
नान्यच्छास्त्रमपेक्षते सहचरं भोगापवर्गार्थं यतिः।
निःसंदिग्धमनाश्चिनोति सकलं तत्त्वार्थपुञ्जं क्षितौ
क्षीणक्लेशकलेवरः स कुलपस्तर्काम्बुधेः पारगः॥ ८॥

न्यायैकास्त्रसुरक्षितो वरमतिः संग्रामभूमिस्थना
भीतिं नैति पराजितोऽपि न सदा निःशङ्ककार्याग्रणीः।
निर्बाधस्तनुते नितान्तमभयो ज्ञानाग्निराशिं भुवि
न्यायो हन्ति पिशाचगाढतमसां पुञ्जं सहेलं ध्रुवम्॥ ९॥

शास्त्राभ्रान्तकलैककर्कशकुटी न्यायैकनाम्ना श्रुति-
र्दीपाभा धवला प्रकाशनपरा नैर्मल्यभावाञ्चिता।
सूक्तिस्तोषकरी समुद्रसदृशी रत्नप्रदा प्राणदा
शास्त्राणामुपकारिका गतिमती लीलायते भारती॥ १०॥

सत्ताजातिपरैव मोहदकला बाभाति संचर्चिता
भिन्ना चापरजातिका कुशलिनी भिन्ना पराजातिका।
तिस्रो जातय एव चापरधराः शास्त्रेत्र शोभाकराः
सन्तः केचन भान्ति तत्र महिमा तस्या न कस्याश्चन॥ ११॥

तां सत्तां प्रणमन् परां मतिमतां तोषाय तत्सिद्धये
चर्चां वच्मि नयानुगां दरहरां तर्कैकधारानुजाम्।
क्षन्तव्यः स्खलनं यदीदृ विपिने तर्काम्बुधेः पारगै-
र्विद्यास्नेहभरैर्धरैकधवलै र्वाणीप्रशोभाकरैः॥ १२॥

साहित्यशास्त्रे कमलेव मान्या सेव्या सदा काव्यकलैककान्तैः।
आनन्ददा मोहविदारिका या सत्तां समूहे विमलां कलां ताम्॥ १३॥

दोषज्ञा विबुधा भवन्ति नितरां स्वातन्त्र्यमाप्ता भुवि
विद्यापीठकुतूहलैककुशलाः शास्त्रैकसाराग्रहाः।
सत्तासौधसुबोधधर्मधवलाः शास्त्राम्बुधेः पारगा
याचे तान्नितरां नितान्तममलान् चिन्वन्तु दोषग्रहान्॥ १४॥

प्राचीनैस्तार्किकैर्जातिः परापरापरापराभेदात् त्रैविध्यमभ्युपगतम्। तत्र या जातिः सर्वासां जातीनां व्यापिका सा परा जातिः। या च स्वभिन्नानां सर्वासां जातीनामव्यापिका सा अपरा जातिः। या च किञ्चिज्जातिव्यापिका किञ्चिज्जातिव्याप्या च सा परापरा।

एवञ्च द्रव्यगुणकर्मसु विद्यमाना सत्ता जातिः सर्वजातीनां व्यापकत्वेन परा जातिः। घटत्वजातिः सर्वजातीनामव्यापकतया अपरा जातिः, पृथिवीत्वाद्यपेक्षया व्यापकत्वात् सत्तापेक्षया व्याप्यत्वाच्च परापरा।

तत्र सत्ता जातिः सदाकारानुगतप्रतीत्या सत्पदप्रवृत्तिनिमित्ततया अभावान्यवृत्तिप्रतियोगितासम्बन्धेन ध्वंसं प्रति तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणतावच्छेदकघटकतया च सिद्ध्यति।

किन्तु दीधितिकारः सत्ताजातिं नाभ्युपैति उक्तयुक्तीनां तत्साधने सामर्थ्याभावात्। तथाहि—सदाकारानुगतबुद्ध्या तत्साधनं न संभवति; यतो हि तद्बुद्धेः प्रत्यक्षरूपत्वे तद्बलादतीन्द्रियेषु द्रव्यगुणकर्मसु तत्सिद्ध्यसम्भवात्।

सत्पदप्रवृत्तिनिमित्ततयापि तस्याः सिद्धिर्न भवितुमर्हा जात्यादावपि सत्प्रयोगस्य प्रामाणिकतया तत्प्रवृत्तिनिमित्तस्य जातित्वाभ्युपगमासम्भवात्।

अभावान्यवृत्तिप्रतियोगितासम्बन्धेन ध्वंसं प्रति तादात्म्यसम्बन्धेन जन्यं सत् कारणमिति कार्य-

कारणभावमभ्युपगम्य तद्घटककारणतावच्छेदकघटकतयापि सत्तायाः सिद्धिर्दुर्घटा, द्रव्यादिसमवायान्त-भावपदार्थेषु सद्व्यवहारानुरोधेन यावद्भाववृत्तेः कस्याश्चित्सत्तायाः स्वीकरणीयतया तस्या एवोक्त-कारणतावच्छेदकघटकत्वसम्भवात्।

अतोऽभावानुगतव्यवहारबलाद् अभावत्वम्, अनुगतभावव्यवहारबलाच्च भावत्वमखण्डोपाधि-रूपमेव मान्यम्, भावत्वं च सत्त्वं तच्च ज्ञेयत्वादेर्घटाभावादेश्च इव स्ववृत्तितया तेनैव तस्मिन्नपि भाव-व्यवहारः सद्व्यवहारश्चोपपद्यते। अभावत्वमपि भाव एव।

ननु यदि अभावत्वं भावरूपस्तदा तद्वतोऽभावत्वं दुर्घटं भावशून्यस्यैव अभावपदार्थत्वादिति चेन्न अभावस्य भावभिन्नत्वरूपत्वात्। भेदत्वस्य भावत्वस्य चाखण्डोपाधितया भावभिन्नत्वरूपस्य अभावत्व-स्य सुग्रहत्वात्।

परं दीधितिकृता क्रियमाणं सत्ताजातेर्निराकरणं विचारसहतां न धत्ते। भावव्यवहारानुरोधेन सद्-व्यवहारानुरोधेन च भावत्वस्य सत्त्वस्य वा भावमात्रवृत्तेः कल्पनायां गौरवात्।

तदपेक्षया सदाकारप्रतीत्यनुरोधेन द्रव्यगुणकर्मसु एव सत्ताजातिमभ्युपगम्य तत एव समवायः स्वसमवायि-समवायान्यतरसम्बन्धेन सर्वेषु भावपदार्थेषु तद्व्यवहारोपपादनस्यौचित्यात्।

न च सकलभावसाधारण्याः सत्तायाः कल्पनापेक्षया द्रव्यगुणकर्ममात्रवृत्तेः सत्तायाः कल्पने लाघवात् भावोऽस्या अपि जात्यादौ सद्व्यवहारोपपत्तये सम्बन्धकल्पनाया आवश्यकत्वादिति वाच्यं सर्वभावेषु सत्तायाः कल्पने सर्वेषु तेषु तत्सम्बन्धस्यातिरिक्तस्य कल्पनायां गौरवात्।

सत्ताजातेरभ्युपगमे चातिरिक्ततत्तत्सबन्धस्याकल्पनीयतया लाघवात्। अन्यजातिसम्बन्धतया क्लृप्तस्य समवायस्यैव द्रव्यगुणकर्मभिः साकं तत्सम्बन्धत्वसम्भवात्। जात्यादावपि द्रव्यत्वादेः सम्बन्ध-त्वेन क्लृप्तस्य स्वसमवायिसमवायस्यैव तत्सम्बन्धत्वसम्भवात्।

यत्तु रघुदेवेन पदार्थतत्त्वनिरूपणटीकायामिदमुक्तं यज्जन्यसत्तावच्छिन्नं प्रति द्रव्यत्वेन हेतुतया द्रव्यजन्यतावच्छेदककोटिप्रविष्टतया सत्ताजातिः सिद्ध्यति।

न च तादृशकार्यकारणभावे मानाभाव इति वाच्यं, नीलादौ स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलरूपकारणसत्त्वात् समवायेन नीलापत्तिवारणाय तादृशकार्यकारणभावस्यावश्यकत्वात्।

न च समवायसम्बन्धेन नीलादिकं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वविशिष्टद्रव्यत्वसम्बन्धेन नीलादेर्हेतुत्व-कल्पान्न तादृशकार्यकारणभावकल्पनमिति वाच्यं स्वाश्रयसमवेतत्वद्रव्यत्वयोर्विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविरहेण कार्यकारणभावबाहुल्येन कारणतावच्छेदकसम्बन्धगौरवेण चातिरिक्तोपदर्शितकार्य-कारणभावकल्पनस्यैवौचित्यादिति तन्न समीचीनं, जन्यत्वविशिष्टसत्त्वं सत्त्वविशिष्टजन्यत्वं वा द्रव्य-कारणतावच्छेदकमित्यत्र विनिगमनाविरहेण जन्यत्वविशिष्टसत्वावच्छिन्नं प्रति सत्त्वविशिष्टजन्यत्वा-वच्छिन्नं प्रति च द्रव्यत्वेनातिरिक्तकारणताद्वयकल्पनापेक्षया स्वाश्रयसमवेतत्वद्रव्यत्वोभयसम्बन्धेन नीलस्य समवायसम्बन्धेन नीलादिकं प्रति कारणत्वकल्पनेन नीले नीलाद्युत्पत्तिवारणस्यौचित्येनोक्तरीत्या

द्रव्यजन्यतावच्छेदककोटिप्रविष्टतया सत्ताजातेः साधनासम्भवात्।

यच्चास्मिन् सन्दर्भे एव रघुदेवेनेदमुक्तं यद् वस्तुतस्तु नित्यवृत्तिधर्मस्यापि कार्यतावच्छेद-कत्वाङ्गीकारेण सत्त्वमात्रस्यैव द्रव्यकार्यतावच्छेदकतया जन्यत्वस्य तत्र निवेश एव नास्तीति तदपि न युक्तं तथा सति द्रव्यजन्यतायाः सत्तया नियम्यताया अनियम्यतायाश्च पक्षद्वयस्यैव स्वीकारासम्भवात्।

आद्यपक्षे आत्मादिर्द्रव्यजन्य इति व्यवहारस्य द्वितीयपक्षे सामान्यादिर्द्रव्यजन्य इति व्यवहारस्य च लोकशास्त्रविरुद्धस्य दुर्निवारापत्तेः।

न च तदधीनोत्पत्तिकत्वमेव तज्जन्यत्वव्यवहारविषय इति वाच्यं तथा सति तदतिरिक्तस्य तज्जन्यत्वस्य सत्त्वे मानाभावेन तदवच्छेदकतया सत्ताजातेः साधनासंभवात्।

न च द्रव्याधीनोत्पत्तिकत्वस्य द्रव्यजन्यतावच्छेदकतया सत्ता सिद्ध्यतीति वक्तुं शक्यम् उत्पत्तेराद्य-क्षणसम्बन्धरूपतया देशकालव्यतिरिक्तस्य तदवच्छेदकत्वे मानाभावात्। काले वसन्ते मञ्जर्य उत्पद्यन्ते इत्यादिव्यवहारतो देशकालयोरेवोत्पत्त्यवच्छेदकतया प्रमीयमाणत्वादिति शम्।

✿

सांख्ययोगाधिगम्यः पुराणपुरुषः

डॉ० जगन्नाथशास्त्री तैलङ्गः
के० - ३०/४० गंगाधरशास्त्री भवन
घासीटोला, वाराणसी-२२१००२ (उ०प्र०)
फोन नं० २४३७२८०

पूजनीया आचार्यश्रीसीतारामकविराजमहाराजाः मान्याः सदसस्पतयः, विशिष्टाः सारस्वतातिथयः, संयोजक महाभागाः, समस्ताः समवेताः भक्ताश्च

सप्रश्रयं नमो नमः सर्वेभ्यः। अमन्दानन्दसन्दोहतुन्दितेऽस्मिन् विविधशास्त्रपारदृश्वनां संख्यावतामत्रभवतां भवतां सत्सन्निधौ हि समुपस्थितोऽहम्—

मनुष्यवाचा शुकसारिकादिः कलं यथा कूजति पिञ्जरस्थः।
तथैव किञ्चित् विनिवेदयामि विनैव जानन् परमार्थतत्त्वम्॥
''नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वकामैः॥''

(श्वे० उ० ६/१३)

इति हि स्पष्टं समुद्घोषयति महर्षिः श्वेताश्वतरः पुराणपुरुषस्य सांख्ययोगाधिगम्यत्वम्। आत्मसाक्षात्कारस्य उपायविकल्पेषु ध्यानादिषु सांख्ययोगस्य परिगणनं गीतायां 'अन्ये सांख्येन योगेन' (१३.२४) इति कृतम्। तस्य च शाङ्करभाष्यमित्थम्—अन्ये सांख्यं नाम इमे सत्वरजस्तमांसि गुणा मया दृश्याः, अहं तेभ्योऽन्यः तद्व्यापारसाक्षिभूतो नित्यो गुणविलक्षण आत्मेति चिन्तनमेव सांख्यो योगः। तेन (आत्मनि बुद्धौ) पश्यन्त्यात्मानं (प्रत्यक्चेतनम्) आत्मनाऽन्तःकरणेन इति वर्तते। ''कर्मयोगेन चापरे'' इत्यस्य शाङ्करभाष्यमित्थम्—''कर्मैव योगः ईश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानं घटनरूपं योगार्थत्वाद् योग उच्यते। गुणतस्तेन सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारेण चापरे''। ''आत्मनि (बुद्धौ) पश्यन्त्यात्मात्मना'' इति योजनीयम्। ''सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः'' (५.४) इति पद्यव्याख्यानावसरे आनन्दगिरिपादानामाशयोऽयं यत् ''संख्यामास्त्मसमीक्षणमर्हतीति सांख्यः संन्यासः, योगस्तु कर्मयोगः'' इति उभयोः पार्थक्यप्रदर्शनं शास्त्रार्थविवेकशून्यत्त्वपरिचायकमेव। यतः उभयोः एकमेव फलं तत्त्वज्ञानद्वारा निःश्रेयसप्राप्तिः इति।

सांख्ययोगेन अधिगम्यं पुराणपुरुषं साक्षात्कर्तुं तपश्चरणार्थं समुपयुक्तं मुक्तिक्षेत्रं रैवतकाचलः इति महाकवेः माघस्य आग्रहः। यथाह शिशुपातवधे माघकविः—

''मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय क्लेशप्रहाणमिह लब्धसबीजयोगाः।
ख्यातिं च सत्त्वपुरुषान्यतयाऽधिगम्य वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम्॥''(४.५५)

रैवतकपर्वते समाधिभृतो योगिनः मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मणा क्लेशपञ्चकं परित्यज्य सबीजयोगं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिलक्षणं समाधिमधिगच्छन्ति। तेन च प्रकृतिपुरुषयोः पार्थक्यज्ञानेन प्रकृतेः विलक्षणं परमात्मानं साक्षात्कृत्य अमृतत्त्वं भजमानाः तामपि परिजिहीर्षन्तीति श्लोकतात्पर्यम्। पातञ्जलयोग-दर्शनदृष्ट्या योगिनः क्लेशपञ्चकात् आत्मानं मोचयितुं कामयन्ते। अविद्याऽस्मिता-राग-द्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः। यतस्ते पुरुषं क्लिश्यन्ति, अतः क्लेशा उच्यन्ते। तत्र अनित्येषु नित्यत्वबुद्धिः, अनात्मनि देहेन्द्रियादौ आत्मत्वाभिमानः एतादृशो मोहः अविद्या, अहङ्कारः अस्मिता, अभीष्टविषयाभिलाषो रागः, अनभीष्टविषयद्रोहो द्वेषः कार्याकार्येष्वाग्रहश्च अभिनिवेशः। क्लेशपञ्चकस्य विघाताय उपायश्च मैत्र्यादिचित्तपरिकर्म। मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां वारं वारं भावनया चित्तप्रसादनमेव मैत्र्यादिचित्तपरिकर्म। सुखिषु मैत्रीभावनया दुःखिषु कारुण्यभावनया पुण्यात्मसु मुदिताभावनया पापिनां च उपेक्षाभावनया रजस्तमसोः नाशात् मनः प्रसीदति। ततश्च यमनियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-ध्यान-धारणा-समाधीन् समवलम्ब्य दुःखमुक्ताः योगिनः सबीजयोगं प्राप्नुवन्ति।

अवलम्बनश्चास्य योगस्य प्रकृतिपुरुषान्यताख्यातिरेव। सा च प्रकृतिपुरुषयोः विवेक एव। उभयोः पार्थक्यज्ञानेन "प्रकृतिः कर्त्री पुरुषस्तु तद्भिन्नः पुष्करपलाशवन्निर्लिप्तः तटस्थः साक्षिभूतः" इत्यनुभवन्तः योगिनश्चरमानन्दं लभमानाः तामपि परित्यक्तुं कामयन्ते रैवतकपर्वते। अतः रैवतकाचलः न केवलं भोगभूमिः, अपितु मोक्षभूमिरपीति माघकवेः आशयः।

प्रकृतिपुरुषयोः पार्थक्यज्ञानमवाप्य साक्षात्करणीयश्च प्रकृतिविलक्षणः साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण इति तमेव देवर्षिर्नारदः समुपश्लोकयति—

"उदासितारं निगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथञ्चन।
बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग् विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः॥" (शिशु. १.३३)

अस्यायमाशयः—"भगवन्! सनत्कुमार-कपिलादयश्चिरन्तनाः मुनयः भवन्तमेव क्षेत्रज्ञं पुराण-पुरुषमामनन्ति; यः प्रकृतेः भिन्नः साक्षिमात्रः त्रयोविंशतिविकृतिभिश्च मुक्तः। एवम्भूतं भवन्तं वशीकृत-मानसाः जितेन्द्रियाः योगिनः महता प्रयासेन साक्षात्कुर्वन्ति इति।"

प्रकृतिः पुरुषश्च ईश्वरस्य अनादिः प्रवृत्तिः। प्रकृतेः कर्तृत्वं पुरुषस्य च भोक्तृत्वं श्रीभगवद्गीता इत्थं वर्णयाति—

"कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥"
(गीता १३.२०)

अत्राह आनन्दगिरिः—"एकादशेन्द्रियाणि पञ्च विषया इति षोडशसंख्याको विकारोऽत्र कार्य-शब्दार्थः। महान्, अहङ्कारः, भूततन्मात्राणीति प्रकृतिविकृतयः सप्त कारणम्, तेषामारम्भकत्वेन कर्तृत्वेन हेतुराश्रयो मूलप्रकृतिरित्यर्थः।"

"कार्यकरणकर्तृत्वे" इति पाठं **शङ्करभगवत्पादाः** इत्थं व्याख्यातवन्तः—"कार्यं शरीरम् करणानि तत्स्थानानि त्रयोदश (अत्र ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं चेति दशविधं बाह्यकरणम्। मनः बुद्धिः अहङ्कारश्चेति त्रिविधमन्तःकरणम्।) देहस्यारम्भकाणि भूतानि विषयाश्च प्रकृतिसम्भवा विकाराः पूर्वोक्ता इह 'कार्य'ग्रहणेन गृह्यन्ते। गुणाश्च प्रकृतिसम्भवाः सुखदुःखमोहात्मकाः करणाश्रयत्वात् करणशब्देन गृह्यन्ते। तेषां कार्यकरणानां कर्तृत्वमुत्पादकत्वम्, तस्मिन् कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः कारण-मारम्भकत्वेन प्रकृतिरुच्यते। एवं कार्यकरणकर्तृत्वेन संसारस्य कारणं प्रकृतिरिति पूर्वार्धस्याशयः।"

उत्तरार्द्धस्य आशयोऽयम्—पुरुषो जीवः क्षेत्रज्ञो भोक्तेति पर्यायः सुखदुःखानां भोग्यानां भोक्तृत्वे उपलब्धृत्वे हेतुरुच्यते। स च जीवः कार्यकरणरूपेण परिणतामविद्यालक्षणां प्रकृतिं स्वाभिन्नत्वेन पश्यन् सुखदुःखमोहात्मकान् प्राकृतिकान् गुणान् उपभुञ्जानः विविधयोनिषु जन्म लब्ध्वा संसारचक्रे परिभ्रमति। अस्मिन्नेव देहे परमात्मा प्रकृतिविलक्षणो विराजते। एवं प्रकृतिपुरुषयोः विवेकेन प्रकृतिपरस्य परमात्मनः साक्षात्कारात् अमृतत्वप्राप्तिर्भवतीति श्रीकृष्णः समुपदिशति गीतायामर्जुनम्—

"पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिञ्च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥"

इति (१३.२२-२३)

"नवद्वारं पुरं पुण्यमेतैर्भावैः समन्वितम्। प्राप्य शेते महात्मा यस्तस्मात् पुरुष उच्यते॥"

इति महाभारते शान्तिपर्वणि (२१०.३०)

भगवान् वेदव्यासः 'पुरुष' शब्दं निर्वक्ति। महर्षिः श्वेताश्वतरश्च तं पुरुषं अविद्याहननात् 'हंस' इति सम्बोधयति। तथा च मन्त्रः—

"नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः। वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥" इति।

(श्वे० उ० ३.८)

इत्थं च नवद्वारे पुरे (देहे) शयनात् पुरुषस्य पुरुषत्वम्। स च अज्ञानी पुरुषः प्रकृतौ अविद्यालक्षणायां कार्यकारणरूपेण परिणतायां स्थितः प्रकृतिमात्मत्वेन गतः नवद्वारे पुरे ज्ञानचक्षुषोः मलिनलक्षणां निद्राम् अवाप्नोति। ज्ञानी च महात्मा पुरुषः समाधिलक्षणां निद्रां स्वीकुर्वन् प्रकृतिपुरुषयोः विवेकेन प्रकृतेः परम् उत्तमं पुरुषं परमात्मानं साक्षात्करोति हृदयगुफायाम्। अत एवोच्यते—

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥" (गीता २/६९)

क्षेत्रज्ञममुं पुराणपुरुषं साक्षात्कर्तुं क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानमावश्यकम्। यथाह भगवानर्जुनम्—

"इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत!।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥"

(गीता १३.१-२) इति।

क्षेत्रं च शरीरं सांख्यदर्शनसम्मतानां चतुर्विंशतितत्त्वानां वैशेषिकदर्शनसम्मतनां च इच्छादि-धृत्यन्तानाम् आत्मगुणानां समूहः। यथाऽऽह भगवान् श्रीकृष्णः गीतायाम्—

"महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥"

(१३.५-६) इति।

महाभूतानि—महान्ति च तानि भूतानि। पञ्च सूक्ष्माणि भूतानि तन्मात्राणि रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-विषयसम्बद्धानि सर्वविकृतिव्यापकत्वात् महान्ति। अहङ्कारोऽहंप्रत्ययलक्षणः। बुद्धिश्च महत्तत्त्वा-परपर्याया। अव्यक्तम् अव्याकृतं प्रकृतिः प्रधानमिति च व्यपदिश्यते। पञ्चमहाभूतानि पृथिव्यप्तेजो-वाय्वाकाशसंज्ञकानि पद्येऽस्मिन् 'इन्द्रियगोचराः' इति पदेन अभिहितानि, इत्थञ्च एकादशेन्द्रियैः सह चतुर्विंशतितत्त्वानि क्षेत्रान्तःपातीनि। इच्छा द्वेषश्च अन्तःकरणस्वरूपायां बुद्धेः क्षेत्रान्तर्वतिन्याः धर्मौ। तथैव सुखमनुकूलं दुःखं प्रतिकूलं देहेन्द्रियसंघातः, तत्र च अभिव्यक्तः अन्तःकरणवृत्तिः देहेन्द्रियधारणक्षमा चेतना चेति इच्छादिधृत्यन्ताः वैशेषिकदर्शनसम्मता आत्मगुणा अपि क्षेत्रान्तर्वर्त्तिन एव। इदं शरीरं क्षतत्राणात् क्षयात् क्षरणात् क्षेत्रवद् वाऽस्मिन् कर्मफलनिर्वृत्तेः क्षेत्रमिति शाङ्करभाष्यम्। तत् य आपादतलमस्तकं वेत्ति स परमात्मा क्षेत्रज्ञः ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं समस्तक्षेत्रेषु विद्यमानं स्वयं निरुपाधिकः प्रकृतेः परः पुरुषोत्तमः भगवान् श्रीकृष्ण एव। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोश्च ज्ञानं श्रीकृष्णसाक्षात्कारादभिन्नमिति मथितार्थः।

मूलप्रकृतिश्च सांख्यदर्शनसम्मता त्रिगुणात्मिका वैष्णवी शक्तिर्मायैव। यथाह भगवान्—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।" (७.१४)

या च जगतः सृष्टेः मूलकारणं प्रकृतिः, सैव महेश्वरस्य मायाऽविद्यापरपर्याया। महेश्वरश्च यदा मायोपाधिकः तदा तस्य मायाविनः परमेश्वरस्य च मायिकैः अवयवैः समस्तं जगत् व्याप्तमिति साक्षात्करोति श्रुतिः—

"मायां तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥" इति

(श्वे० ३४.१०)

तामेव मायां चित्रयति श्लिष्टरूपकमाश्रित्य श्वेताश्वतरो महर्षिः—

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥" इति

(श्वे० ३४.५)

अविद्याग्रस्तस्य संसारिणो जीवस्य कर्मानुसारेण संसारचक्रे भ्रमणम्, ज्ञानिनश्च मुमुक्षोः जीवस्य प्रकृतिपुरुषयोः पार्थक्यज्ञानेन प्रकृतेः परस्य परमात्मनः साक्षात्कारात् मुक्तिः इति निष्कर्षः। परः पुरुष एव अर्थः प्रयोजनं यस्य सः चरमः पुरुषार्थः अपवर्गः (मोक्ष) एव। धर्मार्थकामस्वरूपः त्रिवर्गस्तु भोग-साधनम्। तस्य मोक्षोपकारकतया पुरुषार्थत्वम्। इत्यलं पल्लवितेन।

॥ श्रीः ॥

प्रकृति और पुरुष—सांख्यसम्मत ये ही मुख्य दो तत्त्व हैं। श्रीमद्भगवद्गीता प्रकृति और पुरुष दोनों को ईश्वर की अनादि 'प्रकृति' कहती है। जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। (१३.१९)

जैसा कि इसका शाङ्करभाष्य है—**प्रकृतिं पुरुषं चैवेशस्य प्रकृती, तौ प्रकृतिपुरुषावुभावपि अनादी विद्धि।**

इसका स्पष्टीकरण करते हुए पूज्य श्री आनन्दगिरि कहते हैं—**''प्रकृतिमिति ईश्वरस्याऽपरा प्रकृतिरत्र प्रकृतिशब्देनोक्ता, परा तु प्रकृतिर्जीवाख्या पुरुषशब्देन विवक्षिता''।**

अर्थात् परमेश्वर की प्रकृति द्विविधा है—अपरा और परा। अपरा प्रकृति को 'प्रकृति' कहा जाता है और परा प्रकृति जीवात्मा को पुरुष। इन दोनों के द्वारा परम पुरुष पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का निमित्त होते हैं।

इनके आदि में अन्य कोई न होने के कारण इन्हें अनादि कहा गया है—**''न विद्यते आदिर्ययोस्तौ अनादी''।** अपरा प्रकृति त्रिगुणात्मिका तथा अष्टविध है, जो जीव के संसरण का कारण है। परा प्रकृति जीव ''पुरुष'' है। वह ''क्षेत्र'' (शरीर) में वास करता है। उसे जब 'क्षेत्र' का ज्ञान होता है, तब क्षेत्रज्ञ ईश्वर कहलाता है। उक्त द्विविध प्रकृति से विलक्षण परम पुराण पुरुष पुरुषोत्तम हैं। इस प्रकार गीता के अनुसार प्रकृति और पुरुष पुरुषोत्तम के अधीन है, स्वतन्त्र नहीं।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—

''इदं शरीरं कौन्तेय! क्षेत्रमित्यभिधीमते।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥'' (गीता १३.१)

उस पुरुषोत्तम का 'क्षेत्र' व्यापक है। पञ्चतन्मात्रा, अहंकार, बुद्धि तथा अव्यक्त—यह अष्टविध अपरा त्रिगुणात्मिका प्रकृति ईश्वर का 'क्षेत्र' ही है। यही 'अव्यक्त' ईश्वरकृष्ण की मूलप्रकृति है, जो अव्याकृत तथा प्रधान नामों से भी जानी जाती है। एकादश इन्द्रिय और पञ्च महाभूत भी उसी पुरुषोत्तम का 'क्षेत्र' है। इस प्रकार सांख्यदर्शनसम्मत चौबीस तत्त्व परमपुरुष का 'क्षेत्र' है। साथ ही वैशेषिकदर्शनसम्मत आत्मगुण भी 'क्षेत्र' के ही धर्म हैं, क्षेत्रज्ञ के नहीं। देह तथा इन्द्रियों के संघात को यहाँ 'संघात' कहा गया है—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥'' (गीता १३.५-६)

''क्षेत्रज्ञ'' जीव को जब इनका ज्ञान हो जाता है, तब वह परमात्मा में विलीन होता है। यही इसका भाव है। ईश्वरकृष्ण की मूलप्रकृति विकाररहित है तथा 'क्षेत्र' में परिगणित गीतोक्त अव्यक्त विकारसहित। यतः जीवात्मा पुरुष को जब 'क्षेत्र' का ज्ञान होता है तब वह परमात्मा बन जाता है। यह गीता की दृष्टि है।

ईश्वरकृष्ण की दृष्टि यह है कि जीवात्मा ही पुराणपुरुष परमात्मा है। प्रकृति जगत् की सृष्टि, स्थिति, संहारकारिणी आद्या शक्ति है, पुरुष निष्क्रिय तथा उदात्त तटस्थ रहता है। वह प्रकृति को जब तक स्वयं से अलग नहीं कर पाता, तब तक प्रकृति की प्रेरणा से संसारचक्र चलता रहता है। जब वह यह समझ जाता है कि

"प्रकृति त्रिगुणात्मिका उससे भिन्न है। सत्त्व, रज, और तमोगुण से ही समस्त जगत् की सृष्टि, पालन और संहार होता है। मैं उनका केवल साक्षी नित्य आत्मा हूँ।" तब वह मुक्त होता है। जैसा कि सांख्ययोग की परिभाषा शंकराचार्य करते हैं—"इमे सत्त्वरजस्तमांसि गुणाः मया दृश्याः, अहं तेभ्योऽन्यस्तद् व्यापारसाक्षिभूतः नित्यः गुणविलक्षणः आत्मेति चिन्तनमेव सांख्यो योगः।" और यही सांख्यदर्शनसम्मत "प्रकृतिपुरुषान्यताख्याति" है।

✿

न्यायाभिमतः आत्मस्वरूपविमर्शः

प्रो० वशिष्ठत्रिपाठी
भूतपूर्वः अध्यक्षः, न्यायवैशेषिकविभागः,
सम्पूर्णानन्द सं० विश्वविद्यालयः, वाराणसी

जगति प्रसिद्धः सर्वस्य द्रष्टा कर्ता साक्षी विभुरात्मा। तल्लक्षणन्तु समवायसम्बन्धावच्छिन्न-ज्ञानत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणतावत्वम्। एतच्च लक्षणम्, जीवेश्वरसाधारणम्। सुखादि-समवायिकारणतावच्छेदकताया ईश्वरेऽभावात् तदुभयसाधारणात्मत्वजातिमत्त्वं तल्लक्षणं न सम्भवति। ज्ञानमात्मेत्युक्तौ ज्ञानेऽतिव्याप्तिरसम्भवश्चात्मनि तस्य ज्ञानभिन्नत्वात्। यद्यपि "अहं गौरः" "अहं सुखी"त्यादिप्रत्यक्षप्रतीतिवेद्यता आत्मनि विद्यते तथापि आत्मा नैतत् प्रतीतिवषयतया प्रत्यक्षविषयः। तादृशप्रतीतिश्च गौराद्याकारशरीरावभासिनी घटादिवद् नीरूपस्यात्मनः सद्भावे प्रमाणं भवितुं नार्हति अत एवोक्तं भाष्ये "तत्रात्मा तावत् प्रत्यक्षतो न गृह्यते"। अस्यायमाशयः—यद्यप्यहमहमिति प्रत्ययः भवति। तथापि शरीरप्रत्ययसामानाधिकरण्यात् शरीरवस्तुक एवाहमिति प्रत्ययः स्यात्। अतो न शरीरातिरिक्ते आत्मनि इयं प्रतीतिः प्रमाणभूता, यावदेहादिभिन्नः आत्मा प्रमाणान्तरेण सिद्धो न भवेत्। इयं विवेचना आत्मनोऽप्रत्यक्षमिति मतमवलम्ब्य कृता। आत्मप्रत्यक्षवादिमते तु भाष्ये निषेधकं वाक्यं परदेहात्मा-भिप्रायकम्। इत्थञ्च जीवस्य प्रत्यक्षत्वे विप्रतिपत्तौ सत्यामनुमानमेव शरीरेन्द्रियादिभिन्नस्यात्मनो सद्भावे प्रमाणस्ति। उक्तञ्च इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानानि आत्मनो लिङ्गमिति। अनुमानप्रयोगश्च बुद्ध्यादि-साक्षात्कारः द्रव्याश्रितः गुणत्वात्, रूपवत्। इत्यनुमानेन इतरबाधसहकारेण भवति आत्मनः सिद्धिः। एवं बुद्ध्यादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रिताः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात्। यो गुणः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितो न भवति स गुणः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितगुणो न भवति। यथा रूपादि। इत्यनुमानेन बुद्ध्याद्याश्रितत्वेन भवति आत्मनः सिद्धिः। एवं ज्ञानसाधनीभूतस्य मनसः प्रेरकतयाऽपि आत्मनः सिद्धिर्भवति। यतो मनो येन प्रेरितं सत् इन्द्रियान्तरादभिमतविषयग्राहके इन्द्रिये सम्बद्ध्यते स आत्मा। यतो हि आत्मना साकं इन्द्रियार्थसन्निकर्षे जात एव किमपि ज्ञानादिकमुत्पद्यते। असन्निकृष्टे तु मनसि किमपि ज्ञानादिकं नोत्पद्यते। अनया रीत्या आत्मनः सिद्धिर्भवति।

स चायमात्मा नित्यः। यद्यात्मनि नित्यत्वं न स्यात्तदा कर्मभोगयोः समानाधिकरण्यस्य नियमो न स्यात्। सर्वजनानुभवसिद्धश्चायं, यो जनः यादृशं कर्म करोति तदनुरूपफलस्य भोगः तस्मिन्नेव पुरुषे जायते नान्यस्मिन्। न हि चैत्रकृतकर्मणो भोगं कालान्तरे मैत्रो भुङ्क्ते। अत इदमवश्यमभ्युपेयं यत् यः कर्ता भवति स एव भोक्ता भवति। निषिद्धं कर्म कुर्वाणो नरः स्वयमेव तत्फलमवाप्नोति। एवं वेदविहितयागादि-सम्पादकः पुरुषः विहितयागादिफलं स्वयमेव भुङ्क्ते। अतः स्थिरस्यात्मनः नित्यत्वं स्वीकार्यम्। इत्थं प्रकारेणापि चेतनस्यात्मनः सद्भाव आवश्यकः। यतः अचेतनजडपदार्थाः चेतनसंसृष्टाः कार्यक्षमा भवन्ति। यथा तीक्ष्णोऽपि खड्गः सञ्चालकमन्तरा छेदनक्रियां सम्पादयितुमसमर्थः तथैवाऽचेतनानां शरीरेन्द्रियमनसां प्रेरकमन्तरा प्रत्यक्षादिकार्यसामर्थ्यं जडत्वात् कथमपि भवितुं नार्हति। अतः शरीरेन्द्रियमनोभिः चेतनपदार्थः अवश्यमङ्गीकार्यः। स च चेतनपदार्थः प्रमेयान्तर्गतः ज्ञानाश्रय आत्मा। तस्मिन्नेव च इच्छा कृतिश्च विद्यते। इत्थं प्रकारेणैव ज्ञानेच्छाकृतीनां सामानाधिकरण्यस्यापि निर्वाहः। इदमपि चिन्तनीयम् यत् कस्यापि जनस्य ''अहं न वा'' इत्याकारकसंशयः ''नाहमस्मी''त्याकारकः विपरीतनिश्चयो वा न जायते अपितु अहमस्मीत्याकारकात्मविषयिणी प्रतीतिरेव जायते। अतः संसारे सर्वजनानुभवसिद्धस्यात्मनः सत्त्वं सर्वैरेवाभ्युपेयम्।

यद्यपि आत्मनः सत्त्वं प्रामाणिकम् तथापि तत्स्वरूपविषये बह्व्यः विप्रतिपत्तयः सन्ति। तासाम-समीचीनत्वं व्यवस्थाप्यते।

तत्र चार्वाकाः भूतातिरिक्तत्वमात्मनो नाभ्युपगच्छन्ति। तेषामयमाशयः सर्वं हि भौतिकं तत्त्वं चेतनं भवति। भौतिककणानां चैतन्यं स्फुटाऽस्फुटभेदेन द्विविधम्। तत्र भौतिककणसमष्टिरूपशरीरमेव आत्मा। तदतिरिक्तः कश्चन चेतनस्वरूपः आत्मा नास्ति। यद्यपि चेतनताया घटे आत्मनि च विद्यमानतया जडचेतनस्वरूपयोः घटात्मनोरभेदप्रसङ्गः स्यात् तथापि चैतन्यस्य स्फुटाऽस्फुटभेदेन द्वैविध्यात् शरीरानतिरिक्ते आत्मनि स्फुटचैतन्यस्य वर्तमानतया भवत्यात्मनि चैतन्यप्रतीतिः। घटपटादीनाञ्चास्फुटचैतन्यवत्त्वेन न तत्र चैतन्यवत्त्वं प्रतीयते। इत्थं प्रकारेण घटात्मनोर्भेदः सम्पादयितुं शक्यते। यथा अन्नेषु प्रतिकणं मादकताया विद्यमानत्वेऽपि यावत्कालपर्यन्तं जलगुडादिसम्मिश्रणेन पाकक्रिया न सम्पाद्यते तावत्तत्र मादकता स्फुटा न भवति। सम्पन्नायाञ्च पाकक्रियायां तत्र स्फुटा मादकतोत्पद्यते। उत्पन्नञ्च तद्द्रव्यं मद्यसंज्ञकं भवति। तथैवास्फुटचेतनावद्भिः पृथिव्यादिचतुर्भूतकणैः संहतापन्नैः स्फुटचेतनावच्छरीरमुत्पद्यते। स्फुटचेतनावत्त्वाच्च शरीराभिन्नस्यात्मनः चेष्टावत्त्वम्। इत्थमेव च शरीरानतिरिक्ते आत्मनि स्फुटचैतन्यस्य विकसितत्वेन तत्र भवति हिताऽहित-प्राप्तिपरिहारानुकूला चेष्टा। अस्फुटचैतन्यवत्त्वेन घटपटादौ न हिताहितप्राप्तिपरिहारानुकूला चेष्टा जायते।

मतमिदं समीचीनं न प्रतिभाति। यतो हि परमाणूनां चेतनत्वेनैव तन्निमित्तकस्य शरीरस्य चेतन-समष्टित्वमभ्युपेयं स्यात्। लोके विभिन्नानां चेतनानां मतैक्यं न दृश्यते कस्मिन्नपि विषये। अतः परमाणु-कणसमष्टिरूपः चेतनो यद्यात्मा स्यात्तदा क्वापि निष्कम्पप्रवृत्तिर्न स्यात् सर्वे निश्चेष्टाः भवेयुः। यदा लोके एकत्र दशसंख्याकानां जनानां चेतनानां समवधाने मतभेदः दृश्यते तदानन्तपरमाणुस्वरूपचेतनसमष्टि-स्वरूपात्मनः मतैक्यं न हि कथमपि सम्भवति। यदि समितिघटकानां चेतनानां मतभेदे संजाते तत्र प्रधानमतं निर्णायकं भवति तथैवात्रापि स्यात् किञ्चित् प्रधानचेतनमिति चेत् तथा सति शरीरातिरिक्तस्य कस्यचन चेतनस्य स्वीकर्तव्यतया तस्यैव चेतनस्यात्मत्वमभ्युपेयताम्। तदनेनैव निर्वाहे अनन्तचेतनस्वीकारः निष्प्रयोजनकः।

किञ्च भौतिकशरीरस्य भौतिककणसमुदायस्य वा आत्मत्वस्वीकारे बाल्यावस्थायामनुभूतस्य वार्धक्ये स्मरणानुपपत्तिः। शरीराणामवयवोपचयापचयैः उत्पादविनाशशालितयाऽनुभवितुर्बाल्यशरीरस्य विनष्टत्वात्। अनुभवस्मरणयोः सामानाधिकरण्यनियमात्। अन्यथा चैत्रानुभूतस्य मैत्रेण स्मरणप्रसङ्गात्। अथ च शरीरस्य यद्यात्मत्वं स्वीक्रियते तदा जन्ममरणव्यवस्थाऽपि न स्यात्। शरीरस्य दाहेन विनष्टत्वात्। पुनर्जन्माभावे च सद्योजातस्य बालस्य स्तन्यपाने प्रवृत्तिर्न स्यात्। इष्टसाधनताज्ञानाभावात्। अतः भौतिकशरीरभिन्नः नित्य आत्मा स्वीकर्तव्यः।

ये च शरीरस्यानेकद्रव्यसमवेतत्वात् मध्यमपरिमाणवत्त्वात् परिवर्तनशीलतया भिन्नत्वेन तस्य आत्मत्वाऽस्वीकारेऽपि चक्षुरादीन्द्रियाणामपरिवर्तनशालित्वेन तेषामेव ज्ञानाश्रयत्वमभ्युपगच्छन्ति तथा च पूर्वानुभूतस्य स्मरणानुपपत्तिरूपदोषोऽपि नागच्छति इति वदन्ति तथा च इन्द्रियातिरिक्तस्यात्मनो सत्त्वं नाभ्युपेयमिति वदन्ति तदपि न विचारपथमधिरोहति। पूर्वं चक्षुषा दृष्टस्य तद्विनाशे स्मरणानुपपत्तिस्तदवस्थैव। तत्र अन्येनेन्द्रियेण स्मर्यत इत्यपि कल्पयितुं न शक्यते। अन्येनानुभूतस्यान्येन स्मरणासम्भवात् एवं तस्यानित्यत्वेन बाल्यकाले स्तन्यपाने प्रवृत्त्यभावापत्तिरूपदोषोऽपि तदवस्थैव। अतः इन्द्रियाणां चेतनत्वं स्वीकर्तुं नैव शक्यते।

नित्यस्य मनसोऽपि नात्मत्वसम्भवः। मनस आत्मत्वे आत्मगुणानां ज्ञानसुखादीनां तत्रैव स्थितिः कल्पनीया। तथा च मनसोऽणुत्वेन अतीन्द्रियत्वेन अतीन्द्रियद्रव्यवृत्तिगुणानां प्रत्यक्षासम्भवेन मनोरूपात्मवृत्तिसुखादीनामपि प्रत्यक्षत्वं न स्यात् अतः मनस्यपि आत्मत्वं साधयितुं न शक्यते।

इदमप्यत्र चिन्तनीयम्—कस्याऽपि क्रियायाः सम्पत्तये कर्तुः करणस्य च पृथक्पृथगपेक्षा भवति। अत्र यदि इन्द्रियाणां मनसो वात्मत्वं स्वीक्रियते चेत्तदा प्रत्यक्षात्मककार्यसम्पत्तये करणान्तरमपि अन्वेषणीयं भवति। इन्द्रियातिरिक्तस्यात्मत्वस्वीकारे च इन्द्रियाणां करणत्वं आत्मनश्च कर्तृत्वं स्वत एव सिद्धं भवति। तदर्थं करणान्तरापेक्षा नैव भवति। अतोऽपि नेन्द्रियाणामात्मत्वसम्भवः।

केचन दार्शनिकाः क्षणिकविज्ञानमेवात्मेति वर्णयन्ति। तेषामयमाशयः जगति वर्तमानाः सर्वे पदार्थाः क्षणिकाः भवन्ति। अर्थात् प्रतिक्षणं परिवर्तनशीलाः एवं विज्ञानस्वरूपा भवन्ति। अत यत् सत् तत् क्षणिकम्, यत् क्षणिकम् तत् विज्ञानमिति वर्णयन्ति। एवं च पूर्वपूर्वविज्ञानोत्पन्नसंस्काराणाम् उत्तरोत्तर-विज्ञाने संक्रमणात् बाल्यकालानुभूतस्य प्रौढावस्थायां स्मरणानुपपत्तिरूपदोषोऽपि नागच्छति इति वर्णयन्ति। तन्मतमपि समीचीनं नैव प्रतिभाति। यतो हि क्षणिकविज्ञानस्यात्मत्वे ज्ञानस्य सविषयकत्वेन तादृशविज्ञानस्य जगद्विषयकत्वं यत्किञ्चित् विषयकत्वं वेति प्रतिपादयितुं न शक्यते। तस्य जगद्विषयकत्वाभ्युपगमे सर्वेषां सर्वज्ञत्वापत्तिः। एवं च यत्किञ्चिद्विषयकत्वे विनिगमनाविरहः। एवञ्च सुषुप्त्यवस्थायामपि विज्ञानस्य वर्तमानत्वेन विषयबोधप्रसङ्गः। तस्य सुषुप्त्यवस्थायां निर्विषयकत्वाभ्युपगमे स्वप्रकाशकत्वे प्रमाणाभावः। ज्ञानस्य निर्विषयकत्वासम्भवश्च। एवं बाल्येऽनुभूतस्य स्थविरे स्मरणानुपपत्तिरूपदोषोऽपि तदवस्थ एव, संस्कारस्य गुणत्वात् तस्य संक्रमणासंभवात्। अतः क्षणिकविज्ञानस्यापि आत्मत्वं साधयितुं न शक्यते।

केचन ज्ञानज्ञातृज्ञेयानामभिन्नतया ज्ञानमेवात्मेति वर्णयन्ति। तदपि न युक्तिसंगतम्। यतः कस्यापि जनस्य 'अहं ज्ञानमि'ति प्रतीतिर्न जायते। जायते च ज्ञानवानहमित्याकारिका। अतः ज्ञानाधिकरणमेव आत्मा न तु ज्ञानस्वरूपात्मा। एवं तस्य ज्ञानस्वरूपत्वे ज्ञानस्य द्विक्षणावस्थायित्वेन आत्मनोऽपि द्विक्षणावस्थायित्वं स्यात्। ज्ञानस्य नित्यत्वे तु अध्ययनं विनैव सर्वे ज्ञानवन्तः स्युः। अधीतस्य विस्मरणं वा कदापि न भवेत्। एवं च स्मरणार्थं संस्कारस्य कल्पनमपि न भवेत्। अतः कथमपि आत्मनः ज्ञानस्वरूपत्वं कल्पयितुं न शक्यते। अतः ज्ञानाश्रयो नित्यः आत्मा इति।

सांख्याचार्यास्तु आत्मा पुरुषपदवाच्यः नित्यो व्यापकः शरीरेन्द्रियादिभिन्नः सन्नपि कर्ता न भवति, अपि तु त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरेव करोति। पुरुषस्तु स्वप्रकाशरूपत्वात् तटस्थभावेन सर्वं प्रकाशयति। अतः मध्यस्थः द्रष्टा साक्षी च भवति। वस्तुतः स पुरुषः उपभोक्ताऽपि न भवति; परन्तु जपाकुसुमसान्निध्यात् स्फटिके यथा रक्तिमा भासते तथैव बुद्धिसान्निध्यात् भोक्तृत्वं पुरुषे भासते। इदमपि मतं न संगतम्। यतः ज्ञानेन साकं प्रयत्नस्य सामानाधिकरण्यस्य सर्वजनानुभवसिद्धस्यपलापापत्तेः। सर्वजनानुभवसिद्ध—'अहं करोमी'त्यादिप्रतीत्या ज्ञानेच्छाकृतिमान् प्रकृतिभिन्न आत्मा अतिरिक्त एव।

स चात्मा जीवात्मपरमात्मभेदेन द्विविधः। तत्र जन्यज्ञानेच्छाकृतिमान् जीवः। जीवविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिविशेषगुणनाश्यत्वात् आत्मवृत्तिविशेषगुणानामव्याप्यवृत्तित्वं क्षणिकत्वञ्च स्वीक्रियते। अत एव एककालावच्छेदेन एकस्मिन्नात्मनि नानेकविशेषगुणा उत्पद्यन्ते। अपितु क्रमशः जायन्ते। स चात्मा विभुः। यदि आत्मा विभुर्न स्यात् तदा तद्गतज्ञानादिगुणानां प्रत्यक्षमेव न स्यात्। यतो हि विषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति समवायसम्बन्धेन महत्त्वस्य कारणत्वम्। विषयतासम्बन्धेन यत्र घटादौ प्रत्यक्षञ्जायते तत्र समवायसम्बन्धेन महत्त्वस्य कारणत्वम्। यद्वस्तुविषयकं प्रत्यक्षमुत्पद्यते तेन वस्तुना महत्त्वेन भवितव्यम्। महतः महद्वृत्तेरेव च प्रत्यक्षत्वात्। अत एव अणुपरिमाणवतो द्व्यणुकस्य तदीय-रूपादीनाञ्च न प्रत्यक्षम्। अतः आत्मनः तद्गतसुखादीनाञ्च प्रत्यक्षत्वोपपत्तये तत्र महत्त्वं अवश्य-मभ्युपेयम्। यदि तत्र मध्यममहत्त्वं स्वीक्रियते तदा तस्य अनित्यत्वापत्तिः यद्यद् मध्यमपरिमाणवत् तत्तदनित्यमिति व्याप्तेः। एवं तस्यानित्यत्वस्वीकारे च कृतहानाकृताभ्युपगमप्रसङ्गः। अत आत्मा परममहत्परिमाणवान् भवति। तत्रेश्वर एक एव भवति, जीवस्तु प्रतिशरीरं भिन्नो भवति। प्रत्येकात्मनि विद्यमानानां सुखदुःखादिगुणानां वैलक्षण्येन जीवानां सुतरां भेदसिद्धिः। जीवानां ऐक्ये च एकस्मिन् मुक्ते सर्वेषां मुक्तत्वापत्तिः। एकस्य जायमाने सर्वेषामुत्पत्तिप्रसङ्गश्च। अतः जीवानां परस्परं भेदसिद्धौ ईश्वराऽभेदस्तु कथमपि सम्पादयितुं न शक्यते।

तथा च ज्ञानस्याश्रयः विभुः नित्य आत्मा भवतीति नैयायिकमतम् युक्तिभिः प्रतिपादितम्। तत्र जीवः पदार्थानां तत्त्वज्ञानेन मुक्तिमवाप्नोति। मुक्तिश्च आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरिति सर्वैः मोक्षार्थं प्रयत्नः करणीय इति।

✿

अधिकारसूत्रेष्वनभिहिताधिकारः

डॉ० रामचन्द्रद्विवेदी
आचार्यः, व्याकरणविभागः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृविश्वविद्यालयः, वाराणसी

अध्युपसर्गात् कृधातोः कर्मणि घञि प्रारम्भार्थकोऽधिकारशब्दो निष्पद्यते यथा—'अथ शब्दानुशासनम्'[१] इत्यत्राथशब्दोऽधिकारार्थः, अत्राधिकारः प्रारम्भ इत्यवसीयते, 'कारके'[२] इत्यत्राधिकारस्तु प्रारम्भार्थकः प्रारम्भः प्रस्तावः, इत एव कारकप्रस्ताव इत्यर्थः। शास्त्रेऽधिकारशब्दोऽनेकेष्वर्थेषु प्रयुज्यते, अधिकारो व्यापृतिः, यथा लोकेऽधिकृतो ग्रामेऽसाविति व्यापृत इति गम्यते, शब्दस्य चोत्तरसूत्रेष्वनुवृत्तिरेव व्यापृतिः।

अधिकरणमधिकारो भावे घञि विनियोगार्थकः, विनियोगश्चोपस्थानं तच्च प्रायेणोत्तरत्र क्वचित्पूर्वत्रापि, अत एव 'स्वरितेनाधिकारः'[३] इति सूत्रे कैयटः ''विनियोगो लोके अधिकार उच्यते स एव गृह्यते''[३] इत्यभिहितवान्। अधिकारस्य त्रैविध्यं भाष्यकृतोपपादितम्—''अधिकारो नाम त्रिप्रकारः—कश्चिदेकदेशस्थः सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति, यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्वं वेश्माभिज्वलयति। अपरोऽधिकारः—यथा रज्वा अयसा वा बद्धं काष्ठमनुकृष्यते, तद्वदनुकृष्यते चकारेण। तद्यथा—''सहस्य सः संज्ञायाम्''[४] इत्यविशेषेण ''ग्रन्थान्ताधिके च''[५] इत्यादावनुकृष्यते चकारेण। अरोऽधिकारः—प्रतियोगं तस्यानिर्देशार्थ इति योगे योग उपतिष्ठते।''[६] अधिकारसूत्रस्यावधिरुत्तरत्र सूत्रेषु कियद्दूरं व्याप्नोतीति व्याख्यानमेव शरणम्, अत एवैतत् व्यावृत्यर्थं सूत्रकृता ''स्वरितेनाधिकारः''[७] इति सूत्रमारब्धम्।

सूत्रगताधिकारस्यानेके भेदाः प्रभवन्ति तद्यथा—संज्ञाधिकारः 'प्रत्ययः'[८] इति, विशेषणाधिकारः, 'शेषे'[९] इति, स्थान्यधिकारः 'पूर्वपरयोः'[१०] इति, प्रकृत्यधिकारः ''ङ्याप्प्रातिपदिकात्''[११] इति, निमित्ताधिकारः ''धातोः''[१२] इति, आदेशाधिकारः ''आर्धधातुके''[१३] मूर्धन्यादय इति।

---

१. महाभाष्यम्—पस्पशा.
२. पा० सू०. १/४/२३.
३. म० भा० १/३/११ प्रदीपः
४. पा० सू० ६/३/७८.
५. पा० सू० ६/३/७९
६. म० भा० १/१/४९.
७. पा० सू० १/३/११.
८. पा० सू० ३/१/१.
९. पा० सू० ४/२/९२.
१०. पा० सू० ६/१/८४.

वाक्यपदीयकारो भर्तृहरिरपि वाक्यकाण्डेऽधिकारस्य लक्षणमुपपादितवान्, यद्यपि तद् व्याकरणशास्त्रीयशब्दप्रतिपादनपूर्वकप्रयोगसूचकम्; तद्यथा—

आर्थित्वमत्र सामर्थ्यमस्मिन्नर्थो न भिद्यते।
शास्त्रात्प्राप्ताधिकारोऽयं व्युदासोऽत्र क्रियान्तरे[१४]॥ इति।

अधिकारः फलस्वाम्यमित्यपि वदन्ति शास्त्रकाराः, तत्र स्वाम्यमधिकारः, तन्निषादनयोग्यता वा तत्तत्कारकशक्तिरूपा वा। यद्यपि शब्दशास्त्रे फलार्थित्वमसम्भवम्, तथापि प्रयोक्तृगतं तत्तत्रोपचर्यते, प्रतिपाद्यप्रतिपादकोभयरूपेण, साधुशब्दपरिज्ञानार्थं शब्दशास्त्रमेव प्रमाणम्, तस्यैवाधिकार इति। प्रकृतिप्रत्ययादिप्रतिपादनेऽप्यधिकारस्यावश्यकत्वमिति विवेचकाः। राजपुरुषादौ षष्ठीतत्पुरुषे निष्पन्नेऽपि राजसखः, परमसख इत्यादौ 'टच्' प्रतिपादनाय तत्पुरुषाधिकारोऽवश्यमेवावसेय इति। पुण्यराजस्तूक्त-कारिकाव्याख्यायामुक्तवान् 'प्रतिपाद्येषु शब्देषु व्याकरणशास्त्रस्यैवाधिकारः। अभिधेये एवार्थे शब्दस्या-धिकार' इति।

तदस्मिन्नेव क्रमे "अनभिहिते"[१५] इत्यधिकारसूत्रावतारः, आपादपरिसमाप्तेरस्याधिकारः २/३/७३ सूत्रं[१६] यावद्, यंदित उर्ध्वमनुक्रमिष्यामः "अनभिहिते" इत्येव तद्वेदितव्यमिति सूत्राशयः। अनभिहित-शब्दोऽयमनेकार्थकः, तथा चाभ्युपसर्गपूर्वस्य दधातेर्हिनोतेश्चैतद्रूपं निष्पद्यते। अथ चाभिपूर्वश्च दधातिर्बन्धनेऽपि प्रयुज्यते, अश्वाभिधानीमादत्त इति, अभिहितः श्लोक इत्यादावुच्चारणेऽपि प्रयुक्तः, प्रतिपादनपरोऽप्यभिहितशब्दो यथा—अभिहितोऽर्थः, अभिहितोऽयं पन्था, हिनोतिरपि गतौवृद्धौ चाभिहितशब्दो विद्यते, समानरूपत्वादनेकार्थत्वाच्च धातूनामभिहितशब्दस्यानेकेऽर्थाः सम्भवन्ति, शब्दशास्त्रे च प्रकरणवशात् वक्ष्यमाणानां कर्मकरणादीनां बन्धनाद्यर्थचतुष्टयासम्भवात् प्रतिपादन-वचनोऽभिहितशब्दः, तस्य तु नञ्विशिष्टत्वात्तदस्यानुगमकत्वमादायैव भाष्यादावनुक्ते, अनिर्दिष्टे कर्मादावित्युक्तम्। अनुक्त इत्यत्र वचिधातुः प्रतिपादनवचनः। "उक्तार्थानामप्रयोगः" इति सिद्धान्तात् यद्यनभिहिते कर्मादौ द्वितीयादयो विभक्तयो भवन्तीति सामान्येनोच्यते, ततो यथा 'कृतः कटः' इत्यत्र कर्मणि क्तप्रत्ययेन कर्मणोऽभिहितत्वात् कटशब्दशब्दात् द्वितीया न भवति, तथा 'कटं करोति' 'भीष्ममुदारं रमणीयं शोभनं दर्शनीयम्' इत्यादौ कटशब्दादुत्पद्यमानया द्वितीयया भीष्मादिगतस्य कर्मणोऽभिहितत्वात् भीष्मादिभ्यो द्वितीया न प्राप्नोतीत्याकाक्षायां कश्चित् विशेषोऽत्राभिमत इति सन्धार्य केषामभिहित इति मत्वा इतरोविदिताभिप्रायः तिङ्कृत्तद्धितसमासैरिति परिसंख्यानं कृतम्। बहुषु प्रयुक्तेषु केषाञ्चिद्वर्जनेन केषाञ्चित्कार्यान्वयप्रतिपादनम् = परिसंख्यानम्, तदत्र प्रत्युदाहरणेषु सर्वत्र द्वितीया न प्रवर्तते।

---

११. पा० सू० ४/१/१.

१२. पा० सू० ३/१/९१.

१३. पा० सू० ८/३/५५.

१४. वा० प० २/७९.

१५. पा० सू० २/३/१

१६. चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः, पा० सू० २/३/७३.

कटः कृतः भीष्म उदारो दर्शनीयः रमणीय इत्यादौ करोतेरुत्पद्यमानः कर्मणि क्तप्रत्ययोऽनवयवेन सर्वकर्माभिधत्ते, तथैव द्वितीयापीति येषां मन्दधियां सम्मतिः तं प्रतीदं परिगणनम्, धीमतां कृते नैतद्वक्तव्यमिति। तथाहि प्रातिपदिकादुत्पद्यमाना द्वितीया यदाकारविशिष्टोऽर्थः प्रातिपदिकेनाभिधीयते तदाकारविशिष्टस्यैव कर्मभावमाचष्टे। कटशब्देन कटत्वजातिविशिष्टोऽर्थोऽभिधीयते, न भीष्माद्याकार-विशिष्ट इति, तत् ख्यापनाय यथा विशिष्टो भीष्मादिशब्दः प्रयुज्यते, तथा तदाकारविशिष्टस्य कर्मत्वाभि-धानाय द्वितीया सेत्स्यति कृत इति क्तप्रत्ययस्तु प्रकृत्यर्थस्य कर्मतां नाचष्टे, अपि तु प्रकृत्यर्थं प्रति यस्य कर्मभावः तमितियुक्तं तदनवयवेन सर्वकर्माभिधत्ते।

न च 'सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः' इति सिद्धान्तात् कर्मादयो विभक्त्यर्थास्तेषां च तिङादिभिरभिहित-वचनमनर्थकम्, अन्यत्रापि विहितस्याभावादभिहिते, यत्राप्यनभिहिताधिकारो न क्रियते तथापि शब्दान्तर-प्रतिपादितेऽर्थेनैव विहितं भवति, अर्थप्रत्यायनाय लोके शब्दप्रयोगः 'अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः' 'शब्देनार्थान् भोत्स्यामहे' इति शाब्दिकसिद्धान्तद्वयाभ्युपगमाच्च, स चार्थो यदा शब्दान्तरेण प्रतिपद्यते, तदा प्रयोजनाभावाच्छब्दान्तरप्रयोगो न युज्यते, पाणिविहरणाक्षिनिकोचादिभिरप्यवगतेऽर्थे शब्दो नैव प्रयुज्यते, किं पुनः शब्दान्तरप्रतिपादितेऽर्थे, अथ च चित्रगुः शवलगुरित्यादौ बहुव्रीहिणोक्तत्वान्मतुबर्थीयप्रत्ययो न भवति। गर्गाः, वत्साः, विदा इत्यादौ यञञ्भ्यामुक्तत्वादपत्यार्थस्य पूर्वाचार्यप्रसिद्ध्या न्याय्योत्पत्तिर्न भवति, भाष्यकारस्तु ''समर्थानां प्रथमाद्वा'' इति द्वितीयमर्थमुपसंक्रान्तम्, अयमाशयः—अपत्यार्थप्रत्यय एव बहुवचने लुकि प्रकृतिरेवापत्यार्थाभिधायिनीति नापत्यार्थे पुनरण् प्रसङ्गः। वीप्सायां विषये द्विर्वचन-मुच्यते सप्तपर्णः अष्टापदमित्यत्र सप्तसप्तपर्णान्यस्येति समासेन शब्दशक्तिस्वाभाव्याद् वीप्सायाः गतिमत्वात् द्विर्वचनाभावः। पर्वणिपर्वणि सप्तपर्णान्यस्य पङ्क्तौ पङ्क्तावष्टौ पदान्यस्येति वीप्स्यमानार्थाभिधायिनः पदस्य द्विर्वचनं विधीयते पर्वार्थस्य वीप्सायोगः, नच समस्तपदे पर्वशब्दस्य पङ्क्तिशब्दस्य च प्रयोग इति कृत्वा दोषो निभालितवान्।

अथ च बहुपटुरित्यत्र बहुच् प्रत्ययेनोक्तत्वादीषदसमासेः सत्यपि सम्भवे 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देशीयरौ'[१७] इति कल्पब्देशीयरौ न भवतः, द्विर्दश द्विदशाः—इत्यत्र समासेनोक्तत्वात्सुजर्थस्य ''द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्''[१८] इति सुज् न भवति। 'पटुगुप्तौ' इत्यत्र 'चार्थे द्वन्द्वः'[१९] इति द्वन्द्वेनोक्तत्वाच्चार्थस्य पुनश्च शब्दो न प्रयुज्यते, भिनत्ति छिनत्तीत्यादौ श्नमोक्तत्वात्, कर्तृत्वस्य ''कर्तरि शप्''[२०] इति शब् न भवति, उच्चकैः नीचकैरित्यादौ ''अव्ययसर्वनाम्ना०''[२१] इत्यकजोक्तत्वात् कुत्साद्यर्थे कादयो न भवन्ति। एतत्सर्वं सन्धार्य भाष्यकृता ''श्नमकजक्षु तर्हि'' इति वचनमारब्धम्। विरोधो बाधकारणम्, न विशेष-विधानमेव। अत एव वार्तिककृता—'श्नमकजक्षु नानादेशत्वात् उत्सर्गाप्रतिषेधः' इति निर्देशात् उत्सर्गा-पवादाभ्यां दोषो निवारितः। तथैवात्रापि तिङ्कृत्तद्धितादिभिरभिहितत्वादेव द्वितीयादयो न भविष्यन्ति।

१७. पा० सू० ५/३/६७.

१८. पा० सू० ५/४/१८.

१९. पा० सू० २/२/२९.

२०. पा० सू० ३/३/६८.

न चैवमभिहितस्यापि प्रयोगो दृश्यते, तद्यथा—अपूपौ द्वावानय ब्राह्मणौ द्वावानयेति चेत्? सत्यम् द्विर्बद्धं सुबद्धं भवतीति नियमादथ चायं न्यायो यदुताभिहिते विहितं न स्यात्, न हि व्यसनितया शब्दो प्रयुज्यते, अपि त्वर्थाभिधानाय, अपूपौ द्वावित्यादौ तु द्वावानय कौ द्वौ ताविति सामान्योपक्रमे वाक्यमिति यथाकथञ्चित् संगमनीयम्, तस्मान्नार्थः अनभिहिताधिकारसूत्रेणेत्याशंक्य संख्यापि विभक्त्यर्थ इत्यभिधातुं वाक्यकार आह—अनभिहितस्तु विभक्त्यर्थस्तस्मादनभिहितवचनम् (अनभिहिते हि प्रथमाभावः)।[२२] अत्रैकत्वादीनां विभक्त्यर्थत्वमाश्रित्य सूत्रं समर्थितम्। 'कर्मणि द्वितीया' इत्यादेः 'बहुषु वहुवचनम्'[२३] इत्यादिनैकवाक्यता, तत्र यदैकत्वादीनि विशेषणानि कर्मादीनि विशेष्याणि एकस्य यत्कर्म तत्र द्वितीयैकवचनम्, तदा कर्मद्वितीयार्थः। तच्च यदा कृदादिभिरभिहितं भवति, तदा द्वितीयायाः गतार्थत्वात् प्राप्त्यभावोऽतोऽनभिहिताधिकारोऽनावश्यक इति। यदा तु कर्मादीनां विशेषणत्वमेकत्वादीनां विशेष्यत्वं कर्मणो यदेकत्वादिकं तत्र द्वितीयेति तत्रैकत्वादयो विभक्त्यर्थाः सम्पद्यन्ते। ते चाप्यभिहितेष्वपि कृत्तद्धितादिभिः कर्मादिष्वनभिहिता इति तदभिधानाय द्वितीयादीनां प्रसङ्गे तन्निरोधायानभिहिताधिकार आवश्यक इति।

स्वार्थोद्रव्यञ्च लिङ्गञ्च संख्या कारकमेव च।
अमी पञ्चैव नामार्थास्त्रयः केषाञ्चिदग्रिमाः॥

इत्यभियुक्त्योक्त्या त्रिकप्रातिपदिकार्थाऽङ्गीकर्तॄणां दर्शने कर्मादिवदेकत्वादिसंख्या विभक्त्यर्थः, तत्र कर्मादीनां युगपद्विभक्तिरभिधीयमानानां परस्परं विशेषणविशेष्यभावमनापन्नानां केवलप्रातिपदिकार्थ-गतानामभिधानं वृक्ष एको वृक्षः कर्म पशुरेकः पशु करणमिति वाभिधानम्, पश्चाच्चैकक्रियान्वयबलेन परस्परसम्बन्ध इति प्राभाकराणां सम्मतिः।

भाट्टास्तु—परस्परासम्बद्धस्य स्वतन्त्रस्यानेकार्थस्य अक्षाः, पादाः, माषा इत्यादावभिधानदर्शने-ऽप्येकशेषमन्तरेणादर्शनात् यजेतेत्यादौ च कृतिकार्ययोर्युगपल्लिङभिधीयमानयोरपि विशेषण-विशेष्यभावस्य प्राभाकरैरभ्युपगमात्तद्वदेव विशिष्टाभिधानं मन्यन्ते।

शाब्दिकास्तु—कर्मादयो विशेषणम्, एकत्वादयो विशेष्याः कर्मणि यदेकत्वं तत्र द्वितीयैक-वचनमित्युपर्युक्ते सिद्धान्ते विपर्ययमास्थायैकत्वादिविशिष्टं यत्कर्म तत्र द्वितीयेत्यपि परिष्कुर्वन्ति। तत्र कर्मादिप्रधानान्यपक्षे तिङादिभिः प्रधानभूतानां कर्मादीनामभिहितत्वादप्रसङ्गः, द्वित्वादीनां संख्याप्राधान्य-पक्षे कर्मादिष्वनभिहितेष्वपि प्रधानभूतसंख्याभिधानाय द्वितीयादयः स्युरेव। प्राभाकरे पक्षे तु कर्माद्यंशा-भिधाने संख्यांशस्यानभिहितस्यांभिधानाय द्वितीयादयः स्युरिति। कर्मादयोऽभिहिताः, अनभिहिताश्च सन्ति, तत्रानभिहिताश्रयेष्विति पक्षे ''कर्मणि द्वितीया''[२४] इति सूत्रे कर्मणीति सप्तमीनिर्देश एकत्वादीना-माधारतया, न पुनरभिधेयतयेति विविक्तम्। सूत्रेऽनभिहित इति 'नञ्' प्रसज्यप्रतिषेधोऽङ्गीक्रियते तर्हि द्वयोः

---

२१. पा० सू० ५/३/७१.

२२. म० भा० २/३/१.

२३. पा० सू० १/४/२१.

क्रिययोः कारकेऽन्यतरेणाभिहितेऽपि विभक्त्यभावापत्तिः ''प्रासाद आस्ते'' इत्यत्र प्रासादगताधिकरणशक्तिः सदिक्रियाया आसिक्रियायाश्चैकमधिकरणं प्रासादाख्यं तच्चान्तरेण सदि प्रत्ययेन घञाभिहितम्—प्रसीदन्त्यस्मिन्निति प्रासाद इति, तत्राभिहिते न भवतीत्युच्यमानेऽधिकरणसप्तमी न स्यात्। नञः पर्युदासपक्षाङ्गीकारे त्वासि प्रत्ययेन यदनभिधानं तदाश्रया सप्तमी सेत्स्यति। न च प्रासादाख्यस्य द्रव्यस्य कारकत्वादभिहितत्वादन्यत्वं नास्ति? चेन्नैषो दोषः, शक्तिः कारकम् तत्र सदिक्रियाशक्त्यभिधानेऽप्यासिक्रियाशक्तेरनभिधानम्। न चैवं प्रसज्यप्रतिषेधपक्षेऽपि या शक्तिरभिहिता तत्र विभक्तिर्मा भूत्, या त्वनभिहिता तत्र भविष्यतीति चेत्? उच्यते, अनभिहिते कर्मणीत्येकत्वादीनामाधारनिर्देशः संख्या च द्रव्यधर्मः, अतोऽनभिहिते कर्मणीत्यादिभिरपि शक्तिद्वारेण द्रव्यमेवोच्यते—अनभिहिताः याः कर्मादिशक्तयस्तदाधारभूतानि यानि द्रव्याणि तस्यैकत्वादिषु विभक्तयो भवन्ति। एवं च यदि प्रसज्यप्रतिषेधः स्यात्ततोऽभिहितशक्तिद्वारेण द्रव्यस्याभिहितत्त्वात्प्रतिषेधः स्यात्, पर्युदासे तु अनभिहितशक्तिद्वारेण विधिरिति स्पष्ट एव फलभेदः। आसने आस्ते, शयने शेते इत्यादौ शक्तिभेदाभावस्थले, आसनशयनादिशब्दैरासनादिक्रियायोग्यं वस्तुमात्रमनुद्भूतशक्तिकर्माभिहितमिति तस्य शक्त्युद्भवप्रतिपादनाय विभक्तिर्भविष्यति।

यदि तर्हि पर्युदासपक्षोऽयमित्यङ्गीक्रियते इह पक्त्वा भुज्यत ओदन इति भुजि प्रत्ययेनाप्यभिहित ओदने क्त्वाप्रत्ययेनाभिधानमाश्रित्य द्वितीयापद्यते, अत्र भावे हि क्त्वाप्रत्ययः ''समानकर्तृ०''[२५] इति सूत्रात्, प्रसज्यप्रतिषेधपक्षे तु भुजि प्रत्ययेनाभिधानमाश्रित्य प्रतिषेधः सिद्ध्यतीति चेत्? उच्यते, अत्रौदनस्य युगपदुभाभ्यां शाब्द एवान्वयो न, प्रत्युत् भुजिनैव, सन्निधानात्तु पचिनान्वयः। केवलशब्दव्यापारनिरूपणावसरे तु किमिष्टकाः पक्त्वौदनो भुज्यते, अथवौदनमेवेति नावगम्यते, एतावता शब्दव्यापारापेक्षयाभिधानमेवेति द्वितीया नोपपद्यते।

अथ भाष्यकारवचनमास्थायानभिहितवचनमनर्थकम्[२६], प्रथमा विधानस्यानवकाशत्वादिति चेत्, 'कृतः कटः' इत्यादौ द्वितीयावारणाय 'अनभिहिते' इति सूत्रावतारः, यदि चात्र द्वितीयादयः स्युस्तर्हि क्वेदानीं प्रथमा स्यात्? न चानवकाशत्वात् प्रथमा पर्यवसन्ती कृतः कट इत्यादावेव भवतीति न पुनः कटं करोतीत्यादाविति कुतोऽयं नियमः संगच्छत इति चेत्? उच्यते, कृतः कट इत्यादौ यद्यपि कृतशब्दसन्निधाने कटशब्दस्य कर्मत्वमनुभूयते, तथापि तत्र वाक्यार्थत्वादव्यतिरिक्त एव प्रातिपदिकार्थ इति प्रथमोपपद्यते यथा वीरः पुरुष इति। कटं करोतीत्यादिस्थले कटशब्देनैव कर्मशक्तिमानर्थोऽभिधीयत इति व्यतिरिक्तत्वात्प्रातिपदिकार्थस्य प्रथमा न भविष्यति। न चाकारकेषु क्रियाव्यतिरिक्तेषु वृक्षः प्लक्ष इत्यादौ सावकाशा प्रथमेत्यपि न, अत्राप्यस्तीति क्रिया प्रतीतेः कर्तृत्वात् ''कर्तृकरणयोस्तृतीया'' इति

---

२४. पा० सू० २/३/२.

२५. पा० सू० ३/४/२१.

२६. म० भा० २/३/१.

तृतीयाप्रसङ्गः। यत्र ह्यन्यक्रियापदं न श्रूयते तत्रान्तरङ्गत्वादस्तीति क्रिया गम्यते, लब्धसत्ताकस्य हि विशेषणान्तरयोगो भविष्यति।

अथ च यत्र विशेषणान्तरनिवृत्तौ तात्पर्यम्, न क्रिया सम्बन्धे यथा—नीलमुत्पलं न रक्तम्, राज्ञोऽयं पुरुषो न देवदत्तस्येति। न चात्र नीलमुत्पलमस्ति, राज्ञः पुरुषोऽस्तीति प्रतीतिः, अस्तीत्येवाकारकमवकाश इत्युच्येत ? तथाऽपि विप्रतिषेधात् प्रथमोपपद्यते।

द्वितीयादीनामवकाशो यत्र प्रातिपदिकार्थस्य व्यतिरेकः—कटं करोतीति, प्रथमायास्त्वकारक-मवकाशः—नीलमुत्पलमिति, कृतः कट इत्यत्रोभयप्रसङ्गे परत्वात्प्रथमैव सेत्स्यति। न च प्रथमामपि बाधित्वा परत्वात् षष्ठ्यापद्येदिति चेत्? उच्यते शेषलक्षणा षष्ठी प्रातिपदिकार्थमात्रस्य प्रथमाविधावु-पयोगादशेषत्वान्न भविष्यति। इह तर्हि 'कर्तव्यः कटः' इति कृत्प्रयोगे प्राप्तां प्रथमां प्रबाध्य ''कर्तृकर्मणोः कृति''[२७] इति षष्ठी प्राप्नोति, तन्निषेधार्थमनभिहिताधिकारोऽवश्यं कर्तव्यः। तदेव संख्या विभक्त्यर्थ इति पक्षाङ्गीकारे सूत्रमावश्यकमिति स्थितम्। कारकं विभक्त्यर्थ इति पक्षे तु सूत्रमिदं प्रत्याख्यातं महाभाष्ये, तदुक्तम् ''अथ कर्मादयो विभक्त्यर्थाः नार्थोऽनभिहिताधिकारेण''[२८] इति।

✿

---

२७. पा० सू० २/३/६५.

२८. म० भा० २/३/१.

फलव्यापारयोर्धात्वर्थत्वम्

डॉ० राममनोहरमिश्रः
उपाचार्यः, व्याकरणविभागः
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयः, वाराणसी

'नाम च धातुजमाह निरुक्ते'[१], 'वैयाकरणानाञ्च शाकटायन आह धातुजं नाम' इति भाष्य-वार्तिकाभ्यां सर्वेषां प्रातिपदिकानां यद् धातुजन्यत्वं सिद्ध्यति, तत्र वादिनां विवादाभावेऽप्यखिलनाम-कारणभूतस्य धातोरर्थविषये विवदन्त एव वादिनः। तत्र केचन फलमात्रं धात्वर्थः, प्रत्ययार्थो व्यापारः, फलव्यापारौ धातुवाच्यौ, भावनाऽऽख्यातार्थः, केचित्तु फलमात्रं धात्वर्थः, आख्यातार्थः कृतिः, फल-व्यापारौ धातुवाच्यौ कृतिराख्यातार्थ इति च स्वीकुर्वन्ति मीमांसान्यायसिद्धान्तानुसारिणः।

मीमांसकमतम्

फलमात्रं धात्वर्थो व्यापार प्रत्ययार्थ इत्युद्बोधयन्ति मीमांसकेषु मण्डनमिश्राः। अयमभि-प्रायस्तेषाम्—फलमेव धात्वर्थः। गम्, त्यज् इत्यादिधातूनामुत्तरदेशसंयोगादयोऽर्थाः। व्यापारस्तु प्रत्ययार्थः। तत्र फलस्यानुकूलत्वसम्बन्धेन व्यापारेऽन्वयः। एवञ्च लडाद्यर्थवर्तमानत्वादिकालानामपि व्यापार एवाऽन्वय एकपदोपात्तत्वात्। प्रतिपादितञ्चैतद् धात्वर्थनिरूपणावसरे खण्डदेवेन—मण्डनमिश्राः तावत् विक्लित्यादिरूपं फलमेव धात्वर्थः, तदनुकूलफूत्कारादिरूपो व्यापारसंघस्तु सर्वोऽपि व्यापारत्वेन प्रत्ययार्थः। फलस्य च तं प्रति प्रकारत्वमित्याहुः'[२]।

परमलघुमञ्जूषायां नागेशभट्टेनापि प्रतिपादितञ्चैतद् धात्वर्थनिरूपणावसरे—'यत्तु मीमांसकाः फलं धात्वर्थो व्यापारः प्रत्ययार्थ इति वदन्ति'[३] तत्र मीमांसकपदेन मण्डनमिश्र एव बोद्धव्यः, मीमांसका-नामन्येषामाख्यातार्थभावनेति मतस्य प्रसिद्धत्वात्।

ननु मण्डनमिश्रसम्मते फलस्य धात्वर्थत्वे संयोगरूफलस्य ग्रामे विद्यमानत्वात् यथा 'ग्रामः संयोगवान्' इति प्रयोगः, तथैव 'ग्रामो गमनवान्' इति प्रयोगापत्तिः, धात्वर्थसंयोगरूपफलस्य ग्रामे विद्यमानत्वात्। आपत्तिरियमुपपादिता कौण्डभट्टेनापि भूषणसारे—'फलमात्रस्य धात्वर्थत्वे 'ग्रामो गमनवान्' इति प्रयोगापत्तिः, संयोगाश्रयत्वात्'[४]। तस्मात् फलमात्रस्य धात्वर्थत्वं न सम्भवतीति चेदुच्यते मण्डनमिश्रानुयायिभिः—'ग्रामो गमनवान्' इत्यत्र ल्युट् प्रत्ययस्य व्यापारार्थकत्वेन गमनपदस्योत्तर-

---

१. महाभाष्यम्—३/३/१.

२. भाट्टतन्त्ररहस्यम्—पृ० ५८.

३. प० ल० म० धात्वर्थविचारः—पृ० ४२.

४. वै० भू० सा० धात्वर्थनिर्णयः पृ० ८३.

देशसंयोगानुकूलव्यापारवाचकत्वेन च ग्रामे व्यापारस्याविद्यमानत्वेन दोषाभाव एव। तस्मात् 'फलमात्रं धात्वर्थ' इति मतं समीचीनमेव।

मण्डनमिश्रमतखण्डनम्

फलमात्रस्य धात्वर्थत्वे 'ग्रामो गमनवान्' इति प्रयोगापत्तेः कथञ्चिद् वारणसम्भवेऽपि 'गम्यर्थवान् ग्रामः' इति प्रयोगापत्तिः, 'गम् धात्वर्थजन्यसंयोगाश्रयो ग्रामः' इतीष्टप्रयोगानुपपत्तेश्च। प्रतिपादितञ्चैतत् खण्डदेवेनाऽपि मण्डनमिश्रमतखण्डनावसरे—'गम्यर्थवान् ग्राम इति प्रयोगस्यैवमप्यापत्तेः, गम्यर्थजन्य-संयोगाश्रयो ग्राम इति प्रयोगानापत्तेश्च[५]'।

किञ्च गच्छति, पचतीत्यादौ प्रत्ययस्य व्यापारार्थकत्वमपि न सम्भवति, 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः[६]' इति पाणिन्यनुशासनविरोधात्। तथोक्तसूत्रेण कर्तरि कर्मणि च लकारविधानद्वारा तयोरेव लकाराणां तत्स्थानिकादेशानां वा शक्तिः प्रतिपाद्यते। उक्तञ्चैतन्नागेशेनापि—'लः कर्मणीति सूत्रविरोधा-पत्तेः, न हि तेन व्यापारस्य प्रत्ययार्थता लभ्यते'[७]।

मीमांसकेषु **प्रभाकरास्तु**—फलमात्रं धात्वर्थः, आख्यातार्थो भावनेति स्वीकुर्वन्ति। अतो धात्वर्थविषये मण्डनमिश्रप्रभाकरयोर्मतैक्येनाख्यातार्थविषये तयोर्मतभेदेऽपि प्रकृतनिबन्धानुपयोगित्वेन प्रभाकरमतं पृथङ्‌न विचार्यते निबन्धेऽस्मिन्।

नैयायिकानां सम्मतिः

धात्वर्थविचारप्रसङ्गे नैयायिकानामपि मतद्वयमुपलभ्यते। तत्र प्राचीनन्यायमतानुसारिणस्तु व्यापार-मात्रस्य धात्वर्थत्वं स्वीकुर्वन्ति। तथा चोक्तं व्युत्पत्तिवादे—**व्यापारमात्रस्य धात्वर्थत्वात्**[८] इति।

अयमभिप्रायस्तेषाम्—ग्रामं गच्छतीत्यादौ व्यापारमात्रं धात्वर्थः फलञ्च द्वितीयार्थः, आख्यातार्थस्तु कृतिः। तत्र द्वितीयार्थे फले प्रकृत्यर्थस्य वृत्तित्वसम्बन्धेन, धात्वर्थव्यापारे चानुकूलत्वसम्बन्धेनान्वयः। धात्वर्थव्यापारस्तु प्रत्ययार्थे कृतौ विशेषणम्, प्रकृत्यर्थप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यात्। एवञ्च ग्रामनिष्ठसंयोगानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान् इति बोधः।

न चैव व्यापारमात्रस्य धात्वर्थत्वे 'त्यजति', 'गच्छति' इत्यादौ समानबोधापत्तिः, एवञ्च त्यागादि-तात्पर्येण गमनादिशब्दप्रयोगापत्तिश्च स्यात्। तत्र तत्तत्फलविशिष्टव्यापारे धातोर्लक्षणास्वीकारेणोक्ता-पत्तिवारणं न समीचीनम्, लक्षणास्वीकारे गौरवादिति वाच्यम्, तत्तत्फलावच्छिन्नव्यापारेऽनादि-तात्पर्यकल्पनेनादोषात्। तत्तत्फलावच्छिन्नव्यापारेऽनादितात्पर्यं कल्प्यते, न तु केवलव्यापारे। अनादि-

---

५. भाट्टतन्त्ररहस्यम्—पृ० ५८.

६. पा० सू० — ३/४/६९.

७. परमलघुमञ्जूषा-धात्वर्थविचारः।

८. व्युत्पत्तिवादः—पृ० सं० १८४।

तात्पर्यमेव च स्वारसिकप्रयोगनियामकमिति एकार्थतातात्पर्येण प्रामाणिकानां स्वारसिको न त्याग-गमनादिप्रयोगः'[९] इति।

नव्यनैयायिकास्तु फलव्यापारयोर्धातोः शक्तिं स्वीकुर्वन्ति, आख्यातार्थश्च कृतिरेव तन्मतेऽपि। नैयायिकमतमुपपादयता नागेशेनाप्युक्तम्—'यत्तु तार्किकाः फलव्यापारौ धात्वर्थः। लकाराणां कृतावेव शक्तिर्लाघवात्, न तु कर्तरि कृतिमतः कर्तृत्वेन तत्र शक्तौ गौरवात्। प्रथमान्तपदेनैव तल्लाभाच्च'[१०] इति।

गदाधरेणापि भणितम्—'नव्यास्तु संयोगादिरूपफलविशेषावच्छिन्नस्पन्दो गम्याद्यर्थः'[११] इति।

ननु फलविशिष्टव्यापारे शक्तिस्वीकारे फलस्य पदार्थैकदेशतया तत्र पदार्थान्तरस्यान्वयो न स्यात्, 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति, न तु पदार्थैकदेशेन' इति नियमात्; अन्यथा घटत्वे नित्यान्वयविवक्षया 'नित्यो घटः' इति प्रयोगापत्तिरिति चेत्, उच्यते, यथा देवदत्तस्य गुरुकुलमित्यादौ पदार्थैकदेशे गुरुत्वे देवदत्तादीनामन्वयः, तथाऽत्रापि स्वीकारेणादोषात्। गदाधरेणाप्युक्तम्—'व्युत्पत्तिवैचित्र्येण प्रकृत एकदेशान्वयस्वीकारात्'[१२] इति।

नैयायिकमतालोचनम्

मीमांसकमतपर्यालोचनावसरे व्यापारमात्रस्य धात्वर्थत्वरूपस्य सिद्धान्तस्यास्मिन्नेव निबन्धे पूर्वं खण्डितत्वात् प्राचीननैयायिकाभिमतो धात्वर्थविषयकः सिद्धान्तस्तु दूषित एव। नव्यनैयायिकाभिमते सिद्धान्ते धात्वर्थविषये न कश्चन विरोधः, किन्तु तत्सम्मत आख्यातार्थः कृतिः, प्रथमान्तार्थ-मुख्यविशेष्यकबोधरूपः सिद्धान्तो बहुदोषदूषितत्वात् खण्डितो नागेशेन कौण्डभट्टेन च, किन्तु धात्वर्थ-विषयकेऽस्मिन्निबन्धे तस्यानुपयोगित्वाद् विस्तरभयाच्च न विचार्यते।

धात्वर्थविषये वैयाकरणानां सम्मतिः

वैयाकरणास्तु फलव्यापारयोर्धातुवाच्यत्वं स्वीकुर्वन्ति। आख्यातार्थश्च कर्तृकर्मणी। तत्राख्यातार्थ-कर्तुश्चैत्रादिनाऽभेदेनान्वयः, फलञ्चानुकूलत्वसम्बन्धेन व्यापारे विशेषणम्, आख्यातार्थकर्तुरपि व्यापार एवान्वयः। व्यापारमुख्यविशेष्यकश्च शाब्दबोधः। 'भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि'[१३] इति निरुक्तोक्तेः। प्रतिपादितञ्चैतत् कौण्डभट्टेनापि—

फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृतः।
फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम्[१४]॥

---

९. व्युत्पत्तिवादः—पृ० सं० १८६।

१०. प० ल० म० धात्वर्थविचारः—पृ० सं० ५०।

११. व्युत्पत्तिवादः—पृ० १८६।

१२. व्युत्पत्तिवादः—पृ० १८७।

१३. निरुक्तम्—१/९.

एवञ्च फलव्यापारयोर्धात्वर्थत्वे न कश्चन विवादः, किन्तु फलव्यापारयोः खण्डशः शक्तिर्विशिष्टे वेत्यत्र विवादोऽवलोक्यते प्राचीननवीनयोः।

प्राचां मतम्

प्राचीनाः कौण्डभट्टादयस्तु एकवृन्तगतफलद्वयन्यायेन धातोः फलनिरूपिता व्यापारनिरूपिता च पृथगुपस्थितिप्रयोजिका खण्डश एकैव शक्तिः इति स्वीकुर्वन्ति। अत एव 'फलव्यापारयोर्धातुः' इत्यत्र द्विवचनोक्तिः सङ्गच्छते। खण्डशः शक्तिस्वीकारादेव 'स्तोकं पचति' इत्यादौ स्तोकपदार्थस्य धात्वर्थे फलेऽन्वयो भवति, विशिष्टशक्तिस्वीकारे तु फलस्य धात्वर्थैकदेशत्वात् तत्रान्वयो न सम्भवति, पदार्थः पदार्थेन इति न्यायविरोधात्।

ननु हरिशब्दादुपस्थितयोर्विष्णुसिंहरूपार्थयोः परस्परान्वयबोधवारणाय तत्पदजन्यशाब्दबोधं प्रति भिन्नपदजन्योपस्थितिः कारणमिति कार्यकारणभावस्यावश्यमेव स्वीकर्तव्यतया, एकस्मादेव धातोरुपस्थितयोर्फलव्यापारयोरपि परस्परांन्वयो दुर्लभ इति चेत्, उच्यते—व्युत्पत्तिवैचित्र्येण क्वचिदेकपदोपस्थितयोरपि पदार्थयोः परस्परान्वयस्य सर्वसम्मतत्वेन तस्य नियमस्यासार्वत्रिकत्वात्। अत एव—प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा[१५] इति सूत्रे मात्रपदोपस्थापितयोरन्ययोगव्यवच्छेदरूपार्थयोः परस्परान्वयो भवति।

नागेशाभिमतिः

नागेशस्तु फलविशिष्टे व्यापारे, व्यापारविशिष्टे फले च धातोः शक्तिं स्वीकरोति। अत एव तेषां मते कर्तृप्रत्यये व्यापारमुख्यविशेष्यकः, कर्मप्रत्ययस्थले च फलमुख्यविशेष्यकः शाब्दबोधः। तत्र फलस्य व्यापारे वैशिष्ट्यमनुकूलत्वसम्बन्धेन व्यापारस्य च जन्यत्वसम्बन्धेन फले वैशिष्ट्यं बोध्यम्। उक्तञ्च—'तस्मात् फलावच्छिन्ने व्यापारे, व्यापारावच्छिन्ने फले च धातूनां शक्तिः, कर्तृकर्मार्थकतत्तत्प्रत्ययसमभिव्याहारश्च तत्तद्बोधनियामक इत्याहुः[१६]' इति।

स्वाभिमतं विशिष्टशक्तिवादं समर्थयता पृथक्शक्तिवादञ्च दूषयता नागेशेन बहवो दोषा उपन्यस्ताः। यथोद्देश्यविधेयभावेनान्वयापत्तिः, कार्यकारणभावद्वयकल्पनम्, अर्थद्वये शक्तिद्वयकल्पनम् बोधजनकत्वसम्बन्धद्वयकल्पनञ्चेति महद्गौरवम्।

एवञ्चास्मिन् विवादे परमतखण्डनपुरस्सरं स्वाभिमतसमर्थनोत्सुका दृश्यते प्राचीननवीनमतानुसारिणः, किन्तु विस्तरभयाद् तन्न विचार्यते।

---

१४. वै० भू० सा० कारिका—३।

१५. पा० सू० २/३/४६.

१६. प० ल० म० धात्वर्थविचारः—पृ० ४१।

फलस्वरूपविमर्शः

फलव्यापारयोर्धातुरित्यत्र किं नाम फलमिति जिज्ञासायामुक्तं कौण्डभट्टेन—**फलं विक्लित्यादिः**[१७]। तस्यायं भावः—

> **यस्यार्थस्य प्रसिद्ध्यर्थमारभन्ते पचादयः।**
> **तत्प्रधानं फलं तेषां न लाभादिप्रयोजनम्**[१८]॥

इति भर्तृहर्युक्तिदिशा, **स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले**[१९] इति सूत्रे यदुद्दिश्य धात्वर्थ-क्रियायां प्रवृत्तिः, तत्फलं क्रियाफलेन गृह्यते, तथापि तादृशधात्वर्थफलस्वीकारे सकर्मकत्वादिव्यवस्था न स्यात्। यतो हि धात्वर्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वम्, तत्समानाधिकरणव्यापारवाचकत्वमकर्मकत्वमिति व्यवस्था। एवञ्च धात्वर्थक्रियाप्रवृत्त्युद्देश्यरूपफलस्यात्र धातुवाच्यत्वे **पत्ये शेते** इत्यादौ शीङ्धातोरपि सकर्मकत्वापत्तिः, प्रवृत्त्युद्देश्यफलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वात्। तस्माद् धातुवाच्यं फलं धात्वर्थजन्यत्वे सति धातुजन्योपस्थितीविषयताश्रयत्वमेव ग्राह्यम्। एवञ्च त्यजि धातौ संयोगस्य, गमि धातौ विभागस्य च फलत्वम्, तत्र संयोगविभागयोर्व्यापारजन्यत्वेऽपि धातुजन्योपस्थितीयविषयताश्रयत्वाभावात्। उक्तञ्च नागेशेनापि—'विभागजन्यसंयोगादिरूपे[२०] पतत्यादिधात्वर्थे, विभागसंयोगयोः फलत्ववारणायोभयम्।'

फलस्य धात्वर्थत्वम्

धात्वर्थविषयकं विचारमुपस्थापयद्भिः कौण्डभट्टादिभिर्वैयाकरणैर्धातोः फलवाचकत्वे इमा युक्तय उपस्थाप्यन्ते—

१. सकर्मकत्वोच्छेदापत्तिः।

२. 'क्रियते घटः स्वयमेव' इति प्रयोगो न स्यात्।

३. त्यजिगम्योः पर्यायतापत्तिः।

४. 'द्व्यर्थः पचिः' इति भाष्यनिर्देशश्च।

तत्र सकर्मकत्वोच्छेदापत्तेरयमाशयः—फलस्य धात्वर्थाभावे 'स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं स्वार्थव्यापारव्यधिकरणफलवाचकत्वं वा सकर्मकत्वम्, तद्भिन्नत्वं चाकर्मकत्वमिति सकर्मकत्वाकर्मकत्वव्यवस्थोच्छिन्ना स्यात्। तस्माद् धातोः फलवाचकत्वमावश्यकमेव।

---

१७. वै० भू० सा० धात्वर्थनिर्णयः—पृ० १४।

१८. वाक्यपदीयम्—उपग्रहसमुद्देशः, कारिका—१८।

१९. पा० सू० — १/३/७२.

२०. प० ल० म० धात्वर्थविचारः—पृ० ३९।

क्रियते घटः स्वयमेव

फलस्य धात्वर्थत्वप्रतिपादयद्भिर्वैयाकरणैरित्थं प्रत्यपादि—नैयायिकानुसारेण कृञ्धातोर्यत्नमात्रार्थकत्वे 'यती प्रयत्ने' इतिवत् फलस्थानीययत्नवाचकत्वेनाकर्मकत्वात् कर्मवद्भावाप्राप्तौ 'क्रियते घटः स्वयमेव' इति प्रयोगो न स्यात्। अत उत्पत्तिरूपफलानुकूलव्यापार एव कृञ्धात्वर्थः स्वीकरणीयः। तथा च पच्यते ओदनः स्वयमेवेतिवत् क्रियते घटः स्वयमेवेत्यत्रापि 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः[२१]' इत्यनेन कर्मवद्भावे कृते यगादय उत्पद्यन्ते। तत्र कृञ्धातोर्धातुमात्रस्योपलक्षणत्वेन सर्वेषामेव धातूनां फलव्यापारवाचकत्वमावश्यकम्।

त्यजिगम्योः पर्यायतापत्तिः

अयं भावः—विभागानुकूलव्यापारः त्यजि धात्वर्थः, उत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापारश्च गमि धात्वर्थः। एवञ्चोभयत्र फलस्यैव वैलक्षण्यं प्रतीयते। फलस्य धात्वर्थाभावे तु व्यापारवाचकत्वस्यो-भयत्रापि समानत्वेन समानार्थतापत्तिः। उक्तञ्च कौण्डभट्टेनापि—'धातूनां फलावाचकत्वे त्यजिगम्योः पर्यायतापत्तिः, क्रियावाचकत्वाविशेषात्[२२]' इति।

द्व्यर्थः पचिः

अयं भावः—विक्लेदना, निर्वर्तना च पचेरर्थः। तण्डुलान् विक्लेदयन्नोदनं निर्वर्तयतीत्यर्थः। तथा चोक्तं भाष्ये—'इह हि तण्डुलानामोदनं पचतीति द्व्यर्थः पचिस्तण्डुलान् पचन्नोदनं निर्वर्तयतीति[२३]'। तथा च विक्लित्तिरूपफलावाचकत्वे द्व्यर्थः पचिरिति भाष्यासङ्गतिः स्यात्। तस्मात् फलस्यापि धातुवाच्यत्वमवश्यमेव स्वीकर्तव्यम्।

फलस्य धात्वर्थत्वखण्डनम्—

फलव्यापारयोर्धातुरित्यत्र व्यापारस्य धातुवाच्यत्वेऽपि फलं न धात्वर्थः, प्रमाणाभावादिति केषाञ्चिदुद्घोषः। तेषामयमभिप्रायः—फलस्य धात्वर्थत्वं न कुत्रचिद् पाणिनिना पतञ्जलिना वा स्वीकृतम्। अत एव—'भाव एव हि धात्वर्थ इत्यवच्छिन्न आगमः'[२४] इत्युक्त्यागमप्रामाण्यवादी भर्तृहरिरपि भावस्यैव धात्वर्थत्वं स्वीचकार।

वैयाकरणसम्प्रदाये पूर्वं फलशब्दः 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले'[२५] इति पाणिनिसूत्रे श्रूयते; किन्तु तत्रत्यं फलं हि तत्तत्क्रियाणां ग्रामप्राप्तिरूपं भोजनादिरूपञ्च, न तु फलव्यापारयोरित्यत्राभिमतं

२१. पा० सू०—३/१/८१.

२२. वै० भू० सा० धात्वर्थनिर्णयः—पृ० ८०.

२३. महाभाष्यम्—१/४/४९., पृ० २६१।

२४. वाक्यपदीयम्, काण्डम्—३ क्रियासमुद्देशः कारि० – २४।

२५. पा० सू० २-४-४९।

धातुवाच्यत्वे सति धातुवाच्योपस्थितीयविषयताश्रयत्वरूपं विभागविक्लित्यादिः। यतो हि विक्लित्यादि-रूपं फलं कर्माश्रयं भवति, तदाश्रयत्वेनैव कर्मसंज्ञाविधानात्; किन्तु सूत्रफलं कर्तृनिष्ठमेव गृह्यते। अत एवोक्तम्—कर्तृगामिनि क्रियाफले[२६]। अस्य सूत्रस्य भाष्यमनुसृत्यैवाचार्यो भर्तृहरिराह—

यस्यार्थस्य प्रसिद्ध्यर्थमारभन्ते पचादयः।
तत्प्रधानं फलं तेषां न लाभादिप्रयोजनम्[२७]॥ इति।

एवञ्चानेन प्रतीयते यत् पूर्वाचार्याणां सम्मतं फलं कर्तुः क्रिययाऽऽसुमिष्टतममेव कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म इति सूत्रप्रामाण्यात्। तच्च क्वचिद् ग्रामादिः, क्वचिच्च स्वर्गादिरूपम्। तद्भिन्नो यो धातुवाच्यत्वे सतीत्यादिरूपो विलक्षणो फलपदार्थः, स न कुत्रापि भाष्यादौ दरीदृश्यते।

फलस्य धात्वर्थत्वं समर्थयद्भिर्या युक्तयः प्रदर्शिताः, ता अपि आपाततो रमणीया एव। तथा हि—फलस्य धात्वर्थत्वाभावे या सकर्मकत्वाकर्मकत्व-व्यवस्थोच्छेदापत्तिरापादिता, सा मध्येकालं जातानां वैयाकरणानां मतानुसारेणैव प्रतीयते। यतो हि स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वम्, तद्भिन्नत्वमकर्मकत्वमिति व्यवस्था कौण्डभट्टादीनामेव वरीवर्ति। तथा चोक्तमपि कौण्डभट्टेन—

फलव्यापारयोरेकनिष्ठतायामकर्मकः।
धातोस्तयोर्धर्मिभेदे सकर्मक उदाहृतः[२८]॥ इति।

वस्तुतो नेयं व्यवस्था युक्तियुक्ता। अत एव नागेशेन 'अध्यासिता भूमयः' इत्यादावव्याप्तिं प्रदर्श्य 'वस्तुतस्तु शब्दशास्त्रीयकर्मसंज्ञकार्थान्वय्यर्थकत्वं सकर्मकत्वम् तदनन्वय्यर्थकत्वमकर्मकत्वम्'[२९] इत्युक्तम्।

एवञ्चानया रीत्या फलस्य धातुवाच्यत्वाभावेऽपि न सकर्मकत्वव्यवस्थोच्छेदापत्तिः। तस्मात् सकर्मकाकर्मकत्वव्यवस्थायै धातोः न फलवाचकत्वमावश्यकम्।

एवमेव क्रियते घटः स्वयमेव इति प्रयोगानुपपत्तिभिया धातोर्फलवाचकत्वमिति भणितिः। सापि न युक्तियुक्ता, यतो हि नैयायिकानां नये यत्नमात्रस्यैव कृञ्धात्वर्थत्वेन न स्यादयं प्रयोगः, किन्तु वैयाकरणानां नये तु व्यापारस्यापि धात्वर्थत्वमस्त्येव। स च व्यापारः क्रियारूपः सर्वेष्वेव कारकेषु तिष्ठति। अत एव यदा यन्निष्ठव्यापारस्य स्वातन्त्र्यविवक्षा, तदा तस्य कर्तृत्वं भवतीति प्रतिपादितं भाष्ये[३०]। भर्तृहरिणा त्वेकैव कर्तृत्वशक्तिः, सैवावान्तरव्यापाररूपनिमित्तभेदाद् भिद्यते इति स्वीकृतम्। तथा चोक्तमपि—

निमित्तभेदादेकैव भिन्ना शक्तिः प्रतीयते।
षोढा कर्तृत्वमेवाहुस्तत्प्रवृत्तेर्निबन्धनम्[३१]॥ इति।

---

२६. वै० सि० कौमुदी - पृ० ३९२।

२७. वाक्यपदीयम्-उपमासमुद्देशः-का० १८।

२८. वै० भू० सा० धात्वर्थनिर्णयः—कारि० १३।

२९. प० ल० म० धात्वर्थविचारः—पृ० ४८।

३०. महाभाष्यम्—१/४/२३.

एवञ्च कर्मण्यपि क्रियाया विद्यमानत्वात् 'कर्मस्थक्रियया तुल्यक्रियः कर्ता कर्मवत्' इत्यर्थकेन कर्मवत्कर्मणेति सूत्रेण कर्मवद्भावे 'क्रियते घटः स्वयमेव' इत्यादौ यगादयः सम्भवन्त्येव, फलस्य धात्वर्थाभावेऽपि। अत उक्तप्रयोगानुपपत्तिर्न फलस्य धात्वर्थत्वसाधिका।

न चैवं ग्रामो गम्यत स्वयमेवेत्यपि प्रयोगः स्यादिति वाच्यम्, [३२]'न तु प्राप्ये कर्मणीति सिद्धान्तोऽत्र व्यवस्थितः' इत्यभियुक्तोक्तदिशा प्राप्ये कर्मणि कर्मवद्भावस्यासम्भवेनोक्तप्रयोगस्यानापत्तेः। ग्रामो हि क्रियाकृतविशेषानुपलभ्यमानत्वात् प्राप्यं कर्म, यत्र क्रियाकृतविशेषो नोपलभ्यते, तस्यैव प्राप्यकर्मत्व-प्रतिपादनात्। तथा चोक्तं कौण्डभट्टेन—[३३]'प्राप्यत्वञ्च—क्रियाकृतविशेषानुपलभ्यमानत्वमिति सुबर्थ-निर्णये वक्ष्यते। न ह्ययं घटः केनचिद् दृष्टो ग्रामोऽयं केनचिद् गत इति शक्यं कर्मदर्शनेनावगन्तुम्' इति।

एवमेव धातोः फलावाचकत्वे व्यापारवाचकत्वाविशेषात् त्यजिगम्योः पर्यायतापत्तिः प्रदर्शिता, साऽपि न रमणीया। यतो हि कस्याञ्चिदपि क्रियायां कर्तुः प्रवृत्तिः फलार्थमेव भवति। यथा 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' इत्यत्र ग्रामप्राप्त्यर्थमेव देवदत्तस्य गमनक्रियायां प्रवृत्तिः। तथा च कश्चिद् व्यापारः किञ्चित् फलं जनयति, कश्चिच्च किञ्चिदिति। नहि सर्वेषां व्यापाराणामेकरूपता। एवञ्च समानेऽपि त्यजिगम्योश्चल-नात्मके व्यापारे विभिन्नफलजनकत्वेन कर्तुः प्रवृत्तिभेदाद् व्यापारभेदः सिद्ध्यति। एवञ्च धातोः फलावाचकत्वेऽपि केषाञ्चिदपि धातूनां न पर्यायतापत्तिः, येन धातोः फलवाचकत्वं सिद्ध्येत्।

द्व्यर्थः पचि भाष्योक्तिसामर्थ्यादपि धातोः फलवाचकत्वकथनमसङ्गतमेव, यतो हि तत्र द्वौ व्यापारौ धातुवाच्यौ, न त्वेकं फलमेकश्च व्यापार इति भाष्याशयः। अन्यथा सर्वेषामेव धातूनां फलव्यापारवाचकत्वेन द्व्यर्थत्वात् पचिरिति विशेषधातूपादानं व्यर्थमेव स्यात्। अत एवोक्तं कैयटेन—'विक्लेदनोपसर्जने निर्वर्तने पचिर्वर्तते। तण्डुलान् विक्लेदयन्नोदनं निर्वर्तयतीत्यर्थः। तत्रोपसर्जन-विक्लेदनक्रियापेक्षं तण्डुलानां कर्मत्वम्। प्रधानक्रियापेक्षं त्वोदनस्य[३४]' इति। एवञ्चानेन कैयटव्याख्यानेन व्यापारद्वयवाचकत्वं पच्धातोः सिद्ध्यति, न तु फलव्यापारयोर्वाचकत्वम्। तस्माद् द्व्यर्थः पचिरिति भाष्यप्रामाण्याद् धातोः फलवाचकत्वसमर्थनमप्यविचारितरमणीयमेव प्रतिभाति।

ननु फलस्य धातुवाच्यत्वाभावे **स्तोकं पचति** इत्यादौ स्तोकादिपदार्थानां कुत्रान्वय इति जिज्ञासायामुच्यते धातोः फलावाचकत्वे क्रियाविशेषणानां व्यापार एवान्वयः। अत एव **मन्दं मन्दं नुदति पवनः** इत्यादिप्रयोगाः सङ्गच्छन्ते। तत्र हि गमनरूपव्यापारगतमेव मान्द्यं प्रतीयते।

न चैव क्रियाविशेषणानां व्यापारेऽन्वयस्वीकारात् तेभ्यो द्वितीया न स्यादिति वाच्यम्, क्रियाविशेषणानां कर्मत्वमेकत्वं क्लीबत्वञ्चेति वचनस्वीकारेणादोषात्। वचनमिदमपाणिनीयमिति तु

---

३१. वाक्यपदीयम्- ३, साधनसमुद्देशः - कारि० ३७।

३२. वै० भू० सार कारि० ७।

३३. वै० भू० सा० पृ० सं० ७८।

३४. महाभाष्यम् प्रदीपटीका- १/४/४९.

नाशङ्कनीयम्, यतो हि 'पूजनात् पूजितमनुदात्तम्[३५]' इति सूत्रे भाष्ये दारुणं यदध्यापनं तत्कर्तेत्यर्थके दारुणाध्यापक इति वाक्ये दारुणादिक्रियाविशेषणानामध्यापकादिभिः सह समानाधिकरणाभावात् समासाभावे मलोपार्थं वार्त्तिकमारब्धम् 'मलोपवचनञ्च[३६]' इति। तेन ज्ञायते, यत् क्रियाविशेषणेभ्यो द्वितीयोत्पत्तिर्भाष्यसम्मता; अन्यथा तत्र मकाराभावे मलोपविधानार्थं कृतं वार्त्तिकमेव व्यर्थं स्यात्। उक्तञ्च कैयटेनापि—'क्रियाविशेषणं दारुणशब्दो द्वितीयान्तः[३७]' इति। व्यापारेऽन्वयादेव क्रियाविशेषणेभ्यो लिङ्गसङ्ख्ययोः प्रतीतिर्न भवति, भावप्रत्ययवदिति बोध्यम्।

न च फलस्य धात्वर्थाभावे क्रियाविशेषणेभ्यो द्वितीयोत्पत्तये, क्रियाविशेषणानां कर्मत्वमित्य-पूर्ववचनकल्पना करणीया, फलस्य धातुवाच्यत्वे तु तत्रैव स्तोकादीनामभेदेनान्वयात्। फलमपि व्यपदेशिवद्भावेन फलाश्रयं भवतीति फलाश्रयत्वादेव क्रियाविशेषणानां कर्मसंज्ञया द्वितीयोत्पत्तिः, अतः क्रियाविशेषणानां कर्मत्वमिति फलितार्थकथनमेव नापूर्ववचनमिति लाघवं स्यादिति वाच्यम्, तत्रापि व्यपदेशिवद्भावादिकल्पने गौरवात्।

एवञ्च नास्ति फलस्य धात्वर्थत्वमिति महता समारम्भेण फलस्य धातुवाच्यत्वं खण्डयन्ति व्याकरणसिद्धान्तानभिज्ञाः।

फलस्य धात्वर्थत्वसाधनम्

वस्तुतस्तु व्याकरणनिकाये फलस्य धात्वर्थत्वं सर्वैरेव स्वीकृतम्, अतः फलस्य धातुवाच्यत्व-मवश्यमेवाङ्गीकार्यम्। यद्यपि फलस्य धात्वर्थत्वं फलशब्देन न निर्दिष्टं कैश्चिदपि, तथापि पाणिन्या-द्याचार्याणां काश्चिदुक्तयोऽत्र प्रदर्श्यन्ते, येन फलस्यापि धात्वर्थत्वं सिद्ध्यति।

१—सूत्रमेकं निर्मितं पाणिनिना **कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः[३८]** इति। तस्यायमर्थः—कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्ता कर्मवद् भवति। अत्र सूत्रे कर्मणेत्यत्र कर्मपदेन कर्मस्था क्रियैव गृह्यते। तथा चोक्तं कैयटेन—'कर्मणेति—कर्मस्थया क्रिययेत्यर्थः। साध्यसाधनयोरत्यन्तभेदात् तुल्यत्वासम्भवात् कर्मस्था क्रिया कर्मशब्देनोच्यते[३९]' इति। सा च कर्मस्था क्रिया फलरूपैव, न तु व्यापाररूपा। अत एव कर्मणेत्यस्य प्रयोजनप्रतिपादनाय कर्मणेति किमर्थम्? भाष्यस्थप्रश्नस्याशयं प्रकटयता कैयटेनोक्तम्—धातुवाच्या क्रिया कर्तृकर्मणोः समवेता, तत्र कर्तृस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्ता न सम्भवतीति कर्मस्थैव क्रियाश्नियते' इति। सा च कर्मस्था क्रिया धातुवाच्या किमित्याकाक्षायां फलमेव स्वीकार्यम्, न तु व्यापारः कर्मनिष्ठव्यापारस्य धतुवाच्यत्वाभावात्।

---

३५. पा० सू० ८/१/६७.

३६. महाभाष्यवार्त्तिकम्—८/१/६७, पृ० ३४०।

३७. तत्रैव महाभाष्यप्रदीपटीका।

३८. पा० सू० ३/१/८७.

३९. महाभाष्यप्रदीप—३/१/८७, पृ० १०५।

एवञ्च कर्मवद्भावाय कृतमिदं सूत्रं फलस्य धात्वर्थत्वे पाणिनेः सम्मतिं प्रदर्शयति।

२—अन्यच्च **साधकतमं करणम्**[४०] इति करणसंज्ञाविधायकसूत्रं पाणिनिना। तत्र प्रकृष्टत्वं तमबर्थः। प्रकृष्टत्वञ्च 'यद् व्यापारानन्तरं क्रियासिद्धिर्भवति तदेव' इति।

भर्तृहरिणाप्युक्तम्—

क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद् व्यापारादनन्तरम्।
विवक्ष्यते तया तत्र करणत्वं तदा स्मृतम्[४१]॥ इति।

एंवञ्च यद्व्यापारानन्तरं क्रियासिद्धिर्विवक्ष्यते तत्करणं भवति। अत एव 'रामेण बाणेन हतो बाली' इत्यत्रोभयक्रियासाधकत्वे समानेऽपि बाणस्यैव करणसंज्ञा, न तु रामस्य। सा च क्रिया का? यस्या सिद्धिः करणव्यापारानन्तरं भवतीति प्रश्ने क्रियापदेन फलमेव गृह्यते, व्यापारानन्तरं फलस्यैव जायमानत्वम्। यदि क्रियापदेन व्यापारो गृह्यते, तदा कर्तृवृत्तिव्यापारानन्तरं कर्मनिष्ठव्यापारस्य जायमानत्वात् कर्तुरपि करणत्वापत्तिः। अतः क्रियाफलमेव ग्राह्यम्। तच्च फलं धातुवाच्यत्वे सति धातुवाच्यव्यापारजन्यमेव, न तु **स्वरितञितः** इत्यादिसूत्रवल्लौकिकं फलम्। एवञ्चानेन व्याख्यानेन फलस्य धात्वर्थत्वे पाणिनिभर्तृहर्योः सम्मतिः प्रदर्शिता भवति।

३—एवमेव **सुप आत्मने क्यच्**[४२] इति सूत्रे 'इष्यते पुत्रः' इत्यर्थे पुत्रीयतीति न प्रयागो भिन्नार्थत्वात्, किन्तु पुत्रमिच्छतीत्यर्थ एव इत्यर्थकं भाष्यप्रवृत्तिमस्ति। तथा हि—'अथेह क्यचा भवितव्यम्, इष्टः पुत्रः, इष्यते पुत्र इति—इह भवन्तस्तावदाहुः, न भवितव्यम्, किं कारणम्? समानार्थेन वाक्येन भवितव्यम्, प्रत्ययान्तेन च। यश्चेहार्थो वाक्येन गम्यते—इष्टः पुत्रः, इष्यते पुत्र इति नासौ जातुचित् प्रत्ययान्तेन गम्यते[४३]' इति भाष्यकृतोक्तम्। एवञ्च कर्मणि प्रत्यये भिन्नार्थत्वादेव न क्यजिति भाष्याशयः।

अत्रेदमवधेयम्—फलस्य धात्वर्थत्वाभावे 'इष्यते पुत्रः पुत्रीयति' इत्युभयत्रापि व्यापार-मुख्यविशेष्यकशाब्दबोधसम्भवात्, तयोर्भिन्नार्थत्वं दुरुपपादमेव; समानविशेष्यकबोधस्य समानार्थत्वेन भिन्नार्थत्वासम्भवात्। फलस्य धात्वर्थत्वे तु कर्मणि प्रत्यये फलविशेष्यकबोधः, कर्तरि प्रत्यये च व्यापारमुख्यविशेष्यकबोध इति वाक्यप्रत्ययान्तयोर्भिन्नार्थत्वं सम्भवति। उक्तञ्च तत्रैव प्रदीपे—'यदा क्रियाफलस्य कर्मणः प्राधान्यं प्रतिपादयिषितम्, तदा वाक्यमेव प्रयुज्यते पुत्र इष्ट इत्यादि, न तु क्यजन्तः'[४४] इति।

अनया कैयटोक्त्या फलस्य धात्वर्थत्वं कर्मणि प्रत्यये तस्य प्राधान्यञ्च सिद्ध्यति।

---

४०. पा० सू० १/४/४२.

४१. वाक्यपदीयम्-३, साधनसमुद्देशः-कारि. ९०.

४२. पा० सू० अ० ३-१-८.

४३. महाभाष्यम्—३/१/८.

४४. महाभाष्यप्रदीपः-३/१/८, पृ० ३५।

एवञ्च दृश्यते यत् फलशब्देन फलस्य धात्वर्थत्वं न कैश्चिदपि वैयाकरणैः प्रतिपादितम्, किन्तु प्रकारान्तरेण शब्दान्तरेण च सर्वैरेव भाष्यकारकैयटपाणिन्यादिवैयाकरणैः फलस्य धात्वर्थत्वं स्वीकृतमेव तत्तत्स्थलेषु।

फलस्य धात्वर्थत्वसिद्धय उपन्यस्तां सकर्मकत्वाकर्मकत्वव्यवस्थोच्छेदापत्तिरिति युक्तिं चिखण्डयिषुणा यदुक्तं स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वमिति तु न युक्तम्, अपि त्वेतच्छास्त्रीयकर्मसंज्ञकार्थान्वय्यर्थकत्वमेव सकर्मकत्वमिति सिद्धान्तः।

तत्रेदमवधेयम्—नागेशाभिमतोक्तरूपसकर्मकत्वस्वीकारेऽपि फलस्य धात्वर्थत्वं न कैश्चिदपि वारयितुं शक्यते। यतो हि फलस्य धात्वर्थत्वं विना कर्मसंज्ञैव दुरुपपादा भविष्यति। तथा हि कर्मसंज्ञाविधायकं सूत्रं **कर्तुरीप्सिततमं कर्म**[४५] इति पाणिनिना सूत्रितम्। तस्यार्थो यद्यपि कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्[४६] इति कृतः सिद्धान्तकौमुद्याम्, तथापि तादृशार्थस्वीकारे 'यदा पुष्ट्यर्थं माषेष्वश्वं बध्नाति' तत्र 'माषेष्वश्वं बध्नाति' इति वाक्ये माषस्यापि कर्मत्वापत्तौ द्वितीयापत्तेः, बन्धनक्रियया माषस्यापीष्टत्वात्। एवमेव 'अग्नेर्माणवकं वारयति' इत्यत्रापि उत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापाराभावानुकूलव्यापाररूपधात्वर्थक्रिययाऽग्निमाणवकयोरुभयोरपि कर्तुरिष्टत्वात् कर्मसंज्ञा प्राप्ता। तथा च निरवकाशः 'वारणार्थानामीप्सितः'[४७] इति विधिः कर्मसंज्ञाया अपवादो भूत्वा अग्निमाण-वकयोरुभयोरपि अपादानसंज्ञा विधास्यतीति माणवकादपि पञ्चम्यापत्तिः। तन्मा भूदेतदर्थं कर्तृवृत्ति-व्यापारविशिष्टफलवत्त्वप्रकारिकेच्छोद्देश्यताश्रयं कारकं कर्मसंज्ञं भवति। व्यापारस्य फले वैशिष्ट्यञ्च—'स्ववाचकधातुवाच्यत्वस्वप्रयोज्यत्वैतदुभयसम्बन्धेनेति कर्मसंज्ञाविधायकसूत्रस्यार्थः स्वीकरणीयः। उक्तञ्च—स्वप्रयोज्यत्वम् स्ववाचकधातुवाच्यत्वमेतदुभयसम्बन्धेन व्यापारविशिष्टफलवत्वरूपः सम्बन्ध आब् धात्वर्थः'[४८] इति।

एवञ्च फलस्य धात्वर्थत्वाभावे कर्मसंज्ञैवानुपपन्ना, कर्मसंज्ञाविधायकसूत्रस्यार्थे स्ववाचकधातुवाच्यत्वसम्बन्धेन व्यापारस्य फले वैशिष्ट्यावश्यकत्वात्। अत एवोक्तं नागेशेनापि—कर्मसंज्ञकार्थान्वय्यर्थकत्वं सकर्मकत्वमिति निष्कृष्टमतेऽपि फलाश्रयतया कर्मसंज्ञकस्य धात्वर्थफल एवान्वयौचित्येन द्योतकत्वमावश्यकम्'[४९] इति।

अत्र तु धात्वर्थफल इति स्पष्टं वदता नागेशेन फलस्य धात्वर्थत्वं स्वीकृतमेव। तस्माद् नागेशाभिमतसकर्मकत्वस्वीकारे फलस्य धात्वर्थत्वाभावेऽपि नास्ति काचिद् विप्रतिपत्तिरिति न वक्तुं शक्यते कैश्चिदपि, कर्मसंज्ञानुपपत्तेः प्रतिपादितत्वात्। तस्मात् फलस्य धात्वर्थत्वमवश्यमेव स्वीकार्यम्।

भट्टोजिदीक्षितेनापि सिद्धान्तकौमुद्यां धात्वर्थनिर्देशः कृतः। तत्र कुत्रचिद् फलमेव धात्वर्थरूपेण

४५. पा० सू० १/४/४९.

४६. सिद्धान्तकौ० — पृ० १४९।

४७. पा० सू० १/४/२७.

४८. शेखरदीपिका, पृ० ४४३; लघुशब्देन्दुशेखरस्य टिप्पण्याम्।

४९. परमलघुमञ्जूषा—निपातार्थविचारः, पृ० ५७।

निर्दिष्टम्, यथा—**ष्ठा गतिनिवृत्तौ** इति। अत्र गतिनिवृत्तिः फलमेव। भणितञ्च माधवीयधातुवृत्तौ सकर्मकत्वाकर्मकत्वनिरूपणप्रसंगे—**यथा स्था गतिनिवृत्तौ** अत्र फलं गतिनिवृत्तिः, व्यापारस्तदनुकूल इति।

एवञ्च सर्वैरेव वैयाकरणैर्धात्वर्थत्वेन स्वीकृतस्य फलस्य धात्वर्थत्वखण्डनमविचारितरमणीय-मेव। तस्मात् फलव्यापारौ धातुवाच्याविति वैयाकरणसिद्धान्त इति शम्।

✿

भक्तिरसप्रतिष्ठापनामीमांसा

प्रो० रमाशङ्करमिश्रः
आचार्योऽध्यक्षश्च साहित्यविभागे
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये, वाराणस्याम्

निर्विचिकित्समेव चिरन्तन-काव्य-नाट्य-शास्त्र-चिन्तनचणानां विचक्षणानां चिन्तनधौतधिया विनिर्णीता नव रसाः सहृदयहृदयाजिराणि सरसीकुर्वन्तीति नाविदितं काव्यतत्त्वविदामिति—

शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः ।
वीभत्साद्भुत-संज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥
निर्वेद-स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः॥

(भरत-नाट्यशास्त्रे, काव्यप्रकाशे च)

उक्त-रस-संख्याने, 'अपिना' शान्तरसस्य नवम-रसत्वेऽरुचिबीजत्वं यद्यपि सूच्यत इव, तथापि पौर्वापर्य-पर्यवसित-काव्यशास्त्रीय-चिन्तनोपचयैः शृङ्गारादि-शान्तान्तनवसंख्यानां रसानां सत्ता प्रामाण्यकोटिमाटीकतेतराम्। दशम-रस-रूपेण विश्वनाथादयो वात्सल्य-स्थायिभावं वत्सलरसं सिसाधयिषयन्ति। केचित्तु पूर्वोक्तान् नवरसान् लौकिकान् परिगणय्य, असत्य-जागतिक-प्रपञ्च-चुञ्चुत्व-

व्यपोहन-धिया मानवजन्म-साफल्य-सोपान-सम्पद्भूतां भगवद्ध्यान-विधूत-विपन्मालिकां सरस-चित्तद्रुतिरूपां भक्तिमेव दशम-रसत्वेन निर्णयन्ति।

शाण्डिल्य-नारद-वशिष्ठ-व्यासादिभिर्मुहुर्मुहुः विचारितानां भक्तिचिन्तनोद्वेलिततत्त्वनिचयानां समवलम्बनेन रूपगोस्वामि-जीवगोस्वामि-मधुसूदनसरस्वती-करपात्रस्वामि-प्रभृतिभिर्भक्तिरसामृत-सिन्धूज्ज्वल-नीलमणि-भक्तिरसायन-भक्तिरसार्णवादिग्रन्थेषु भक्तिरसस्य रससारत्वं साधयितुं वैदग्धी प्रदर्शिता। राधाकृष्ण-प्रणयपरिपाक-लीला-लालित्य-विजृम्भणमेव तेषां चरमं लक्ष्यमासीत्।

अद्वैतदर्शन-पारावारीणेनापि सता भक्ति-भावावदात-संस्निग्ध-चेतसा श्रीधरस्वामिना कृताः श्रीमद्भागवतटीकायां 'भावार्थदीपिकायां' भक्ति-रस-पोषण-पराः चिन्तनमरीचयो विजयन्तेतराम्।

किन्तु भक्तिरसस्य रसत्वसंसाधने दर्शनसाहित्योभयनिष्णातेन 'शाण्डिल्यभक्तिसूत्रस्य' 'भक्ति-चन्द्रिका'-व्याख्याकारेण 'भक्तिरसायन'-प्रणेत्रा मधुसूदनसरस्वतीमहोदयेन महीयान् प्रयासो विततः। इयमस्ति भक्तिरसप्रतिष्ठापनपरम्पराभूः।

भारतीय-संस्कृति-विविध-पक्षीय-परिष्करण-संस्करण-बद्ध-परिकरैः वेदार्थ-राजनय-भक्ति-प्रमुख-विषयोपलालन-विलुलितकरैः यतिचक्रचूडामणिभिः स्वामिकरपात्रपादैस्तु भक्तिरसस्य साफल्येन साकल्येन सारल्येन च साहित्य-शास्त्रीय-रससिद्धान्त-वीथी-परिपालन-पुरस्सरं निरुक्त-भक्ति-विषयक-चारु-विचार-पर्यालोचनया तादृशमपूर्वं प्रतिष्ठापनं विततं भक्तिरसार्णवे; येन तस्य भक्तिरसस्य प्रतिष्ठापकत्वं करपात्रपादेष्वेव निस्सन्देहं पर्यवसीयते।

एकतस्तु सात्त्विक-हृदयतलोद्वेलित-परमानन्दबिन्दु-निःस्यन्द-सान्द्र-भक्तिमाधुरी-विजृम्भितानि श्रीमद्भागवतसुधा-रासपञ्चाध्यायी-वेणुगीत-प्रतिफलितानि सुधाऽऽसार-सार-सारस्वत-वचांसि, अपरतश्च भक्तिरस-परिपोषण-सक्षणानां रासपञ्चाध्यायी-राधासुधा-भक्तिसुधादि-विलक्षण-कृतीनां प्रणयनानि च मुक्तिशताधिकां भगवत्-प्रीति-साधिकां मायाप्रपञ्च-बाधिकां भक्तिवल्लरीं परिष्कर्तुं दत्तवधानानां स्वामिकरपात्र-देवानां भक्तिपारावारपारीणत्वं शास्त्रीय-भक्तिरस-प्रतिष्ठापकत्वञ्च सममेव सत्यापयन्ति।

प्राच्य-सुधीसन्दोह-संसाधितानां भक्ति-चिन्तनानां तत्त्वातत्त्वे परिशील्य स्वामिपादैः 'भक्तिरसार्णव'-नामा गीर्वाणवाणीगुम्फितो ग्रन्थमणिर्निर्मितः। अत्र ग्रन्थरत्ने मधुसूदनकृतस्य भक्तिरसायनस्य रूपगोस्वामि-प्रणीतयोः 'उज्ज्वलनीलमणि-भक्तिरसामृतसिन्धु'-नामकयोर्ग्रन्थयोश्च भक्तिरसपरिचायिकाच्छाया यद्यपि संक्रान्तेव दृश्यते तथापि पूर्वोक्तग्रन्थेषु प्रविततां शिथिलतां तर्कहीनतां च सुपुष्टतर्कजालैरपसार्य साहित्यशास्त्रीयदृशा भरतोक्तं रससूत्रं विलक्षणया धिया भक्तिरसानुगुण्येन व्याख्याय युक्तियुक्तैः हृद्याति-हृद्यैरनवद्यैर्वचनैः भक्तिरसमेव रसराजपदवीं प्रातिष्ठिपत् करपात्रस्वामी।

भक्तिरसार्णवगते रसस्वरूपविमर्शनामके प्रकरणे काव्यप्रकाश-ध्वन्यालोक-रसगंगाधरादि-विवेचितं रसगाम्भीर्यचिन्तनं चारु चित्रयन् चिन्तकचक्र-चक्रवर्ती स्वामी करपात्रः भक्तिरसस्य सर्वांग-परिपोषणं विद्वज्जगति सर्वप्रथमं व्यतानीत्।

एकतस्तु भक्तिरसप्रतिष्ठापने नारद-शाण्डिल्य-वशिष्ठादिविवेचित-भक्तिशास्त्रानुगुण्यनिर्वहणं नैपुण्येन निरूढं स्वामिपादैः, अन्यतश्च राधाकृष्णौ नायिका-नायकौ प्रातिनिध्येनोररीकृत्य तदीयलीला-निदर्शनव्याजेन साहित्यशास्त्रवीथ्या भक्तिरसस्य रसत्वं प्रतिपादितम्। सर्वतन्त्रस्वतन्त्रो वेदान्तादिकान्तार-केसरी वेदोपनिषत्-स्मृति-पुराणादि-चिन्तन-चूडामणिर्धर्माध्वनीनधुरीणः श्रीकरपात्रस्वामी वेदार्णव-स्वच्छकुक्षिनिर्गतामेव भक्तिं तर्कसरणिभिः प्रसाध्य निगमागमानुगामिनीमेव भक्तिभामिनीं विभावयति-तराम्।

'भक्ति'लक्षणन्तु भक्तिरसार्णवकारेण स्वामिना निरुक्तमित्थम्—

'द्रुतचित्तानां द्रव-प्रयोजक-सात्त्विकप्रकाश-वृत्ति-प्रतिबिम्बोद्ग्राहिण्याम् अप्राकृतायामाह्लादिनीवृत्तौ आलम्बनवैचित्र्यात् नानाविधाभिः स्वदमानायां मुख्यस्थायित्वेन व्यवह्रियमाणायां मुख्य-रसस्वरूपाविर्भाव-योग्यतावत्यां भक्तिशब्दः।''[१]

श्रीकृष्णविषया उत्तमा भक्तिः रत्यपरपर्याया स्थायिरूपा सती विभावादिभिः संवलिता भक्ति-रसरूपतां समवगाहते। उच्यते श्रीरूपगोस्विामि-पादैः—

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः।
एषा कृष्णरतिः स्थायीभावो भक्तिरसो भवेत्[२]॥

रसनिष्पत्तिसूत्रं भरतमुनिनोपनिबद्धं हि—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिरिति।[३]

एतदेव सूत्रं सर्वेषां प्राचीनार्वाचीनानां रसतत्त्वकोविदानां रसनिष्पत्तिविश्लेषण उपजीव्यभूतमास्ते। भक्तिरस-निष्पत्तावपि श्रीरूपपादैरेतदेव प्राचीनसूत्रं परमसमादरेणानुसृतम्। किञ्च भक्तिरसतत्त्वविश्लेषणे न कुत्रापि मुनेरनुज्ञा विलङ्घिता वैष्णवाचार्यपादैः।

अत्र कृष्णभक्तिरसे भगवान् रसराजस्वरूपः श्रीकृष्णः शीलशक्तिसौन्दर्याद्यविरलगुणानामाकरो विभावो विषयालम्बनः। आश्रयालम्बनत्वं चादधति भगवद्भक्तिभावभावितस्वान्ता भक्तजनाः अनुभावाश्च नृत्य-विलुण्ठनादयः चित्तस्थितभावानामवबोधका भक्तिशास्त्रे उद्भास्वराः कथ्यन्ते।

व्यभिचारिणश्चात्रापि मुनिगणिता निर्वेदादयः त्रयस्त्रिंशत् अभ्युपगताः। अन्येऽपि मात्सर्यादयः चतुर्दशव्यभिचारिणोऽत्रोपलभ्यन्ते। भरतसूत्रे यद्यपि सात्त्विकभावा अनुल्लिखितास्तथापि नाट्यशास्त्रे ये सात्त्विकभावाः निरूपितास्तेषां सुष्ठु विकासो भक्तिरसेऽपि परिलक्ष्यते। अत्र भक्तिरसान्तर्गते वात्सल्ये पुनः स्तने स्त्रवः इव नवमः सात्त्विकभावोऽङ्गीकृतः। एतेषां रसोपकरणानां स्वरूपं लक्षणोदाहरणाभ्यां वैशद्येन भक्तिरसामृतसिन्धौ श्रीरूपगोस्वामिपादैर्विवेचितम्।

---

१. भक्तिरसार्णवे ८, पृ० ७७.

२. उज्ज्वलनीलमणिः।

३. नाट्यशास्त्रम्, पृ० ८२

योऽयं भक्तिरसो रसिकानां भावुकानां भागवतजनानां चेतस्यनाविलमानन्दप्रवाहमातनोति। निरन्तरमन्तः स्थतया चास्वाद्यते परमामृतमिवामरैर्भगवत्कथामयेषु काव्येषु सहृदयैः।

भक्तिरसस्तु प्राचीनालंकारकोविदैः रसरूपतया नाङ्गीकृतः। संस्कृतकाव्यतत्त्वसमीक्षाया उन्मेषकालत आधुनिककालपर्यन्तं रसस्वरूपं निरूपयता तत्परम्परानुवर्तिना वा न केनापि काव्यतत्त्वविदा भक्तेः रसरूपत्वमुररीकृतम्। तेषु रसशास्त्रिषु केषाञ्चित् स्मृतिसरणिमेव नायातोऽसौ भक्तिशब्दः। यैः पुनरयमुल्लिखितस्तैरपि रसानर्हतयैव। तथापि "विरोधोऽपि सत्तां विना न पदं कुरुते" इति न्यायेन भक्तिरूपे रससत्तायाः सम्भावना संस्कृतवाङ्मये प्राचीनकालादेव समायातेति न केनापि निह्नोतुं शक्यते।

भवतु तावत्; कान्तादिविषया रतिरेव विभावादिभिः संवलिता रसरूपतामेतीति प्राचीनालङ्कारिकाणामाशयः। देव-गुरु-पुत्र-मुनि-प्रभृति-विषया रतिस्तु रससामग्रीविरहात्र रसरूपेण परिणमते। एवं-विधा रतिस्तु भावकोटावेव सन्निवेष्टव्येति श्रीमदभिनवगुप्तपादा मन्यन्ते। तन्मते "रतिः केवलं कान्तादिविषयिणी न भवति; परन्तु मातापित्रादौ बालस्य परस्परं मित्राणां वृद्धानां बालेषु सेवकानां प्रभुषु सैव रतिरुत्पद्यते। तथापि रसविषये कान्ताविषयकरतिप्रभृतयो नवैव भावाः स्थायितयाङ्गीकर्तव्याः।

त एव नव रसरूपतामुपयान्ति पुमर्थोपयोगित्वेन रञ्जनाधिक्येन वा इयतामेवोपदेश्यत्वात्। स्नेह-लौल्यभक्त्यादयस्तु एष्वेव पर्यवस्यन्तीति न तेषां पृथग् रसत्वकल्पनं युक्तमिति।[४]

किञ्च पुरुषार्थोपयोगिता हि रसतापत्तौ प्रयोजिका। परमपुरुषार्थमोक्षोपयोगितया शान्तोऽपि रसो भवितुमर्हति। भक्तेस्तु तत्साधनता ज्ञेया। तस्माद् भक्तिरेव शान्तस्याङ्गभूता भावरूपेण ग्रहणीया न रसरूपेणेति श्रीमदभिनवगुप्तपादमतम्।

एतदाचार्यपरम्परामनुरुन्धानैर्मम्मटपादैर्विश्वनाथादिभिश्च भक्तेर्भावत्वमेव प्रतिपादितम्।[५] विश्वनाथमते "परमविश्रान्तिस्थानेन रसेन सहैव वर्तमानापि राजानुगत-विवाह-प्रवृत्त-भृत्यवदापाततोऽप्राधान्येनाभिव्यक्ता देव-मुनि-गुरु-नृपादि-विषया रतिरुद्बुद्धमात्रा विभावादिभिरपरिपुष्टा रसरूपतां नापद्यते।[६]"

दशरूपककृतापि भक्तेर्भावत्वं प्रतिपादितम्। तथा हि—

प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः[७]॥

श्रीभोजराजेन तु भक्तेः रसत्वविषये किमपि नोल्लिखितम्। रसतरङ्गिण्यां भानुदत्तमिश्रेण पूर्वाचार्यमतमेवानुसृतम्। षोडशशताब्द्यां श्रीरूपसनातन-श्रीजीवगोस्वामिपादप्रमुखैराचार्यवर्यैर्भक्तेः रसरूपता

---

४. साहित्यदर्पणः, पृ० २७३.

५. दशरूपकम् ४/८८.

६. रसगङ्गाधरः - १ आ० पृ० १८९.

७. तदेव, १ आ० पृ० १९१

सोपष्टम्भं निरूपिता। सप्तदशशताब्द्याम् आलङ्कारिकचूडामणिना पण्डितराजजगन्नाथेन रसगङ्गाधरे भक्तेः रसत्वविषयिणी पृच्छा समुपस्थापिता। शान्तरसे भक्तेरन्तर्भावस्तु प्राचीनाचार्यसम्मतोऽपि नाङ्गीकृतस्तेन, अनुरागस्य वैराग्य-विरुद्धत्वात्।[८]

तत्र मूलतस्तेन भक्तिशास्त्रिणां गोस्वामिचरणानामेव सरणिमनुसृत्य भक्तिरसपक्षीया युक्तय उपस्थापिताः। परमसौ भक्तिवादिनामाचार्याणां तर्कमभ्युपगम्यापि वृद्धवाक्यप्रामाण्यं शिरसिकृत्य भक्तेः रसत्वसम्भावनां निराकृतवान् "रसानां" नवत्वगणना च मुनि-वचननियन्त्रिता भज्यत इति यथाशास्त्रमेव ज्ञायत इति युक्त्या।[९]

काव्यतत्त्वविदामेव भक्तिरसनिराकरणप्रयासो नितरामरुचिकर इति प्रतिपादयद्भिर्विद्वद्भिर्वैष्ण-वाचार्यवर्यैर्भरतानुमत-रस-निष्पत्ति-प्रक्रिया-निकषेण कषित्वैव भक्तिरसः समुत्थापितः। तेषामेव भक्तिरसः स्वतन्त्रः स्वस्मिन्नेव परिपूर्णतामाधत्ते। अत एव भक्तिरसाचार्यैर्न रसभेदेषु भक्तिरन्यतमतया परिगण्यते। परं केवलमेक एव भक्तिरसस्तैरङ्गीक्रियते।

अगाधेऽस्मिन् भक्तिरसामृतसिन्धौ समाविशन्ति शृङ्गारादयः सर्वे रसनिर्झराः। सोऽयं भक्तिरसो भगवत्कथामयेषु काव्येषु रसिकैः प्रत्यक्षमास्वाद्यते। भक्तिशास्त्रिभिस्तर्केण तस्या रसत्वं प्रतिपाद्यते। तच्च श्रीमद्भागवतादि-शास्त्र-प्रमाणैरप्यवगम्यते। एवं प्रमाणत्रयसिद्धेः तस्या रसत्वे को नाम परम्परा-विरहवशादेव रसानर्हतां प्रतिपादयेत्? भिद्यते हि काव्यशास्त्रेषु प्राचीनार्वाचीनानामाचार्याणां मतपरम्परा। तथा हि गुणानां दशसंख्या निरूपिता आचार्येण भरतेन।

भामहेन तथानन्दवर्धनाचार्येण तु गुणानां त्रित्वमेव निरूप्यते। एवं रससंख्यानिरूपणविधावपि दरीदृश्यते मतभेदः। इत्थं बहुत्र अर्वाचीनैराचार्यैः साम्प्रदायिकसिद्धान्तं पुरस्कृत्यापि बुद्धि-धवलापेक्ष-व्याख्या-नैपुण्येन नूतनतया मतमध्यारोप्यते। कदाचिद् वा प्राचीनमतं सोपष्टम्भं दूषयित्वाऽभिनवसिद्धान्तः संस्थाप्यते। तस्मात् प्राचीनाचार्यमतमेव शिरसि निधाय भक्तिशास्त्रिणां प्रतिष्ठितस्य भक्तिरसस्य निरा-करणाय योऽध्यवसायः समाश्रितस्तत्र नास्त्यस्माकमभिनिवेशः। परन्तु 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' इति विद्वद्वचनसम्मतिं समादृत्य भक्तिरससंस्थापकानामाचार्याणां मतानि सादरं समालोच्यन्ते।

प्राचीनाचार्येण वोपदेवेन मुक्ताफलग्रन्थे प्राथम्येनालंकारिक-मत-निरास-पूर्वकं भक्तिरसः प्रतिपाद्यते। तन्मते भक्तावपि सामाजिकैराह्लादानुभवात् सामग्री-योगाद् भक्तेः रसत्वं न कथमपि प्रत्याख्येयम्। तथा हि "चमत्कारः सामाजिकानां हि यस्माद् एवंसामग्रीको भक्तिरसस्तस्मादनपह्नवनीय" इत्यर्थः। तत्रैका सामग्री केनाप्युपायेन मनोनिवेशः स्थायी। चरित्रश्रवणादय उद्दीपनविभावाः। विष्णुभक्ताश्चालम्बनम्। अनुभावाः स्तम्भादयो धृत्यादि-व्यभिचारिणश्च। यत्तु अभिनवहेमचन्द्राभ्यामेवं भक्तावपि वाच्यमित्युक्तं तदसत्। रसत्वस्य दर्शितत्वात्" इति। तथा च तत्रैव—

---

८. तदेव, १ आ० पृ० १८९.

९. तदेव, १ आ० पृ० १९१

''व्यासादिभिर्वर्णितस्य विष्णोर्विष्णुभक्तानां वा चरित्रस्य नवरसात्मकस्य श्रवणादिना जनितश्चमत्कारो भक्तिरसः।''[१०]

मुनिवरस्य भरतस्य वचनानुसारेण यदेवास्वाद्यते तदेव रसः। तथा हि ''रस इति कः पदार्थ उच्यते आस्वाद्यत्वात्।''[११] रजस्तमोगुणयोर्मन्दीभूतयोः सत्त्वगुणे च परमप्रकर्षमापन्नेऽखण्डानन्दवारिधौ निमज्जति भक्तजनस्य चित्तम्। तस्माद् रस-रूपत्व-निराकरण-विषयको भक्तेः प्राचामाघोषो न यौक्तिकतां भजते। परन्तु यद् रुद्रटोद्भट-नमि-साधु-वचनं ''नास्ति सा कापि चित्तवृत्तिर्या परिपोषगता न रसीभवतीति'' तत्तु भक्तिरसप्रतिष्ठामेव साधयति।

श्रीजीवपादेन श्रीप्रीतिसन्दर्भे निखिल-सन्देह-निरसन-पूर्वकं भक्तिरसः प्रतिष्ठापितः। प्रौढ्यपरपर्याया भक्तिर्लौकिक-काव्य-विदां रत्यादिवद् विभावादिभिर्मिलित्वा रसावस्थामाप्नुवती स्वयं स्थायीभाव उच्यते। प्रीतिमयत्वादेव तस्या भात्वमङ्गीकार्यम्। किञ्च—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः॥

इति स्थायिभाव-लक्षणमपि तस्यां संगच्छत एव।

रस-सामग्री-विरहाद् रसत्वं भक्तेरनुपपन्नमिति काव्यतत्त्व-विमर्शकैर्यदुक्तं, तत्तु श्रीकृष्णविषयिण्यां रतौ न प्रयोज्यम्। एषा रस-सामग्री प्रदर्श्यते श्रीजीवपादेन—''सामग्री हि रसतापत्तौ त्रिविधा स्वरूपयोग्यता, परिकरयोग्यता, पुरुषयोग्यता चेति'' इति।[१२]

स्वरूप-योग्यता नाम रतेः स्थायित्वापत्तिः। सर्वैः रस-तत्त्व-विद्भिस्तस्यैव भावस्य स्थायित्व-मङ्गीकृतं, यः खलु निरवच्छिन्नतया वर्तमानः सन्नखिलान् भावान् विरुद्धानविरुद्धान् वा वशीकृत्य स्वमहिम्ना वरीवर्ति। एतत् स्थायिभाववैशिष्ट्यं भक्तौ पूर्णतयैव सिध्यति। चेतसि सकृदुन्मेषितोऽयं भक्तिभावो न कदाप्यन्तर्धत्ते कथमपि, नित्यनवनवायमानश्च प्रतिक्षणमुपचीयते। किञ्च भक्तेः सुखस्वरूप-तायामेवं वक्तव्यम्।

काव्यरसवित्सु रसतत्त्वस्य मूलाधारतया प्रसिद्धं ''रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवती''ति श्रौतं वाक्यम्। अभिनवगुप्तपादमतं यद्यप्युक्तं रसगङ्गाधरे भग्नावरणचिद्-विशिष्टो रत्यादिः स्थायीभाव एव रस इति तथापि पण्डितराजजगन्नाथेन तु श्रुत्यनुरोधेनात्मन एव रसरूपताङ्गीकृता। परन्त्वेतदेवात्रावधेयं काव्यरसगताः कान्ताद्या विभावा न खलु शुद्धचैतन्यरूपा अपि तु जडमिश्रा एव। तदुच्यते भक्तिरसायने श्रीमन्मधुसूदनसरस्वतीपादेन—

अतस्तदेव भावत्वं मनसि प्रतिपादयेत्।
किञ्चिन्न्यूनां च रसतां याति जाड्यविमिश्रणात्[१३]॥

---

१०. मुक्ताफलम् १ अ० पृ० १६७.

११. नाट्यशास्त्रम् पृ० ८२.

१२. भक्तिरसामृतसिन्धु २/५१/३.

चैतन्यस्यैव नित्यत्वमानन्दमयत्वं च सुप्रसिद्धं भारतीय-परम्परायाम्। किन्तु काव्यरसस्य न सर्वथा चैतन्यावलम्बनत्वं सिध्यत्यपि त्वंशमात्रेणैवं। तस्मात् काव्यरसस्य स्वप्रकाशताखण्डतादयोंऽशत एव सिध्यन्ति न पूर्णतया, तदुक्तं पण्डितराजेन—"सर्वथैव चास्या विशिष्टात्मनो विशेषणं विशेष्यं वा चिदंशमादाय नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वं च सिद्धम्। रसाद्यंशमादाय त्वनित्यत्वमितरभास्यत्वं चेति।"[१४] एवं सति कान्तादयो मायावृतचैतन्यरूपा आश्रयगतेन शुद्धचैतन्यांशेन समन्विता रसरूपतामवगाहन्त इत्येव काव्यतत्त्वविदां सिद्धान्तः।

तर्हि यत्र खलु विषयालम्बनो मायोपाधिरहितः शुद्धचैतन्यघनो भगवानेवास्ति, यत्र च तत्प्रतिबिम्बहेतुना साधारणवृत्तयोऽपि तमोरजःप्रभृतिमलं परिहाय चैतन्येन सह तद्रूपतां सत्य आश्रयालम्बनतां प्राप्नुवन्ति, तत्र भगवत्प्रीतौ कथं नाम रसपरिपोषभावः प्रमीयते? एवं नित्यानन्दमयत्वादेव सिद्धे भक्तेः रसत्वे कथं वा परम्परानुरोधाद् भावकोटौ तस्याः सन्निवेशो युज्यते?

श्रुति-प्रतिपादितमानन्दमयत्वं रसस्य भक्तिरस एव प्रकट्यते सम्पूर्णतया। श्रीभगवतो ह्लादिन्याख्यशक्तेरन्तरङ्गवृत्तिभूता सैषा भक्तिः स्वयं सुखात्मिका, यदुच्यते रतिरानन्दरूपैव।"[१५]

काव्यरसस्य ब्रह्मानन्देन सह तुलना प्राचीनालङ्कारग्रन्थेषूपलभ्यते। तथापि सोऽयमानन्दास्वादो विभावादिजीवितावधिस्तस्मात् क्षणिकः। ब्रह्मानन्द-सहोदर इति[१६] पदेनैव ब्रह्मानन्दतः काव्यरसस्यावरता नूनं स्पष्टीभवति। एष ब्रह्मानन्दोऽपि क्वापि भक्तिरसास्वादेन तुलयितुं न शक्यते। उच्यते हि श्रीरूपपादैः—

ब्रह्मानन्दो भवेदेव चेत् परार्थगुणीकृतः।
नैति भक्तिसुधाम्भोधेः परमाणुतुलामपि[१७]॥

सोऽयं स्थायीभावः स्वामिभूतः; अन्यांश्च भावान् विरुद्धानविरुद्धान् वा वशीकृत्य प्राधान्येन स्वात्मानं प्रकटयति। उच्यते हि मुनिना—

"यथा हि समान-लक्षणाः स्तुत्य-पाणिपादोदर-शरीराः समानाङ्गप्रत्यङ्गा अपि पुरुषाः कुलशील-विद्या-कर्मशिल्प-विचक्षणत्वात् तु राजत्वमाप्नुवन्ति तत्रैव चान्येऽल्पबुद्धयस्तेषामेवानुचरा भवन्ति तथा विभावानुभावव्यभिचारिणः स्थायिभावानुपाश्रिता भवन्ति।" इति।[१८]

सेयं कृष्णविषया रतिरपि विभावादीन् वशीकुर्वन्ती स्थायित्वमापद्यते। तथा हि—

विभावतादीनानीय कृष्णादीन् मञ्जुला रतिः।
एतैरेव तथा भूतैः स्वं संवर्धयति स्फुटम्॥

---

१३. भक्तिरसायने १/१२-१३.

१४. रसगङ्गाधरे पृ० ९६-९७.

१५. भक्तिरसामृतसिन्धुः २/१/१०.

१६. साहित्यदर्पणः, ३/२.

१७. भक्तिरसामृतसिन्धुः १/१/१९-२०.

१८. नाट्यशास्त्रम् पृ० ९३.

यथा स्वैरेव सलिलैः परिपूर्य बलाहकान्।
रत्नालयो भवत्येभिर्वृष्टैस्तैरेव वारिधिः[१९] ॥

समुद्रगर्भे शुक्तिकायामेव रत्नानां प्रभव इति स्थितिः। परं मेघवारिनिषेक एव रत्नोत्पत्तौ हेतुः। समुद्रजलपुष्टानां पयोधराणां वर्षणेनैव सिद्ध्यति रत्नालयता नीरनिधेः। तथैव श्रीकृष्णविषयायां रतावपि रसीभवनयोग्यता वर्ततेतराम्। स्वीयाचिन्त्यप्रभावेण सा विभावादिषु विभावत्वादीन् आनयन्ती तैरेव परिपुष्टा विभावादिभिः स्वयं विभावितानुभाविता सञ्चारिता च रसरूपतामाधत्ते।

एवं भक्तेः स्वत एव स्थायिभावरूपत्वात् स्वरूपयोग्यता निराबाधं व्यवस्थापयितुं शक्या। भक्तेः परिकरयोग्यतापीत्थमुन्नेया। तत्र भक्तेः परिकरविभावादयः कारणानि रसपरिपोषयोग्यतामर्हन्ति।

तत्रोच्यते भक्तिरसस्य विभावादयः कारणानि स्वभावत एवालौकिकानि। तत्रालम्बनविभावः स्वयं भगवान् श्रीकृष्णः सच्चिदानन्दस्वरूपो रसस्वरूपश्च। उद्दीपनादयोऽपि वेणुरव-शिखि-पुच्छादयः सर्वेऽप्यलौकिकाः।

प्राकृतकाव्यरसे तु रसपरिकरा लौकिकत्वाद् विभावनादिष्वक्षमाः केवलं सत्कवि-निबन्ध-चातुर्यादेवालौकिकत्वं भजन्ते। भक्तेर्विभावादीनां तु स्वत एवालौकिकत्वात् तस्या रसरूपता न कथमप्यपाकर्तुं शक्या।

अथ पुरुषयोग्यता भक्तेरस्ति न वेति विचार्यते। अत्र पुरुषपदेन न पुरुषमात्रं विवक्षितम्। अपितु रतेरालम्बनभूता एव पुरुषा विवक्ष्यन्ते। योग्यता च वासनारूपा बोध्या। वासनावन्तः पुरुषधौरेया रतेराश्रयतामर्हन्तः संस्तूयन्ते। यथा लौकिके रसे तादृशवासना अपरिहार्यत्वेन क्रियते। अलौकिके भक्तिरसेऽपि तथैव सा नितरामपेक्ष्यते। यद्यपि लौकिकालौकिकस्थलयोस्तस्याः स्वरूपे महद्वैषम्यं जागर्ति तथापि शब्दसाम्याद् आस्वादन-योग्यतापादकत्वसाम्याच्च तथा गीयते। लौकिकरसाचार्यैस्तस्या वासनाया अपरिहार्यता स्वीक्रियते।

न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनराम्[२०]।

सहृदयताशब्देन पौनःपुन्येन परामृश्यते रत्यादिवासना रसपण्डितैः। भक्त्याचार्यैरपि तादृशी रत्यादिवासना प्रशस्यते। तैरप्युक्तम्—

प्राक्तन्याधुनिकी चास्ति यस्य सद्भक्तिवासना।
एष भक्तिरसास्वादस्तस्यैव हृदि जायते[२१] ॥

✿

१९. भक्तिरसामृतसिन्धुः २/५/७६-७७.

२०. साहित्यदर्पणः ३/३९.

२१. भक्तिरसामृतसिन्धुः २/१-७.

करपात्रस्वामिचरणानां भक्तिविषयिणी अवधारणा

डॉ० शरदिन्दुकुमारतिवारी
प्लाट नं० १२९, बालाजी नगर कालोनी,
सामने घाट, वाराणसी।

भक्तिर्नाम सुधास्ति लोकविदिता स्वाभाविकानन्ददा
विष्णोः प्रीतिकरी जगद्धितकरी लोकोत्तरा शान्तिदा।
पीत्वा सौख्यमयीमिमां बुधजनाः सम्पादयध्वं निजं
मोक्षं लोकसुखं यशश्च विमलं लोके सुखेनाचिरात्॥

तथ्यमिदं वयं सर्वे जानीमहे स्वीकुर्मश्च यत् करपात्रस्वामिचरणाः मानवजीवनोपयोगिनां सनातनपरम्परा-विरोधिनां च सर्वेषामपि विषयाणामुपरि लेखनीमुत्थापितवन्तः प्रदर्शितवन्तश्च समाजाय समुन्नतिपथम्। तेषां जयन्तीमभिलक्ष्य श्रीविद्यासाधनापीठ-द्वारा समायोजितेषु कार्यक्रमेषु निबन्धस्यापि कश्चन प्रकल्पः वर्तते, तस्मिन्नेव क्रमे मया "श्रीकरपात्रस्वामिचरणानां भक्तिरस-विषयिणी अवधारणा" इति विषये एकः लघु निबन्धः प्रस्तूयते।

भक्तिरसार्णवसमीक्षणात् पूर्वं कोऽयं भक्तिपदार्थ इति विचारणीम्। तत्र व्युत्पत्तिपक्षे भजविश्राणने, भजसेवायाम्, भन्जू आर्मदने इति त्रिभ्यो धातुभ्यो भावादौ क्तिनि प्रत्यये कृते निष्पद्यते भक्ति शब्दः। स च सेवायाम्, तदेकतानचित्तवृत्तिभेदे, विभागे (सीम्नि) गौणवृत्तौ, (सम्बन्धे-धर्मे) उपचारे, अंशे, अनुरागे, रचनायाञ्चैतेषु अर्थेषु प्रयुज्यते। तत्र सेवार्थिकाया भक्तेरेव विचारः प्रस्तुतः। निबन्धे तमेवाहं विवृणोमि।

भज्यते सेव्यतेऽनया सा भक्तिरिति करणव्युत्पत्त्या भक्तिशब्देन साधनं गृह्यते। तदुदाहृतं भक्तिरसायने श्रीमधुसूदनसरस्वतीपादैः—

भक्त्या मामभिजानाति भावान् यश्चास्मितवतः।
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः।
अघं धुन्वन्ति कात्स्र्न्येन नीहारमिव भास्करः॥

इत्येवादिभिः भजनमन्तः करणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति भावव्युत्पत्या भक्तिशब्देन फलमप्यभिधीयते—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥

दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥

अत्र हि सर्वसुकृतसाध्यत्वेन तात्पर्यविषयत्वेन च अर्थाभिन्नः श्रेयो-सनिर्वृत्तिशब्दाभ्याञ्च साक्षादेव पुरुषार्थत्वं दर्शितम्।

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोघौघहरं हरिम्।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥

अत्र करणव्युत्पत्त्या प्रथमो भक्तिशब्दो भागवत-धर्मेषु प्रयुक्तः द्वितीयस्तु भावव्युत्पत्त्या फले।

इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया।
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम्॥
भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः।
तस्मात् सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्ति-साधनभूयसी॥
सत्व-एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या।
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी॥

भक्तितत्त्वम्

श्रद्धा-विश्वास-प्रेमपरिप्लावितभक्तहृदयस्य मधुरमनोराग एव भक्तिः। यया भक्तभगवतोः, उपास्योपासकयोर्वा पारस्परिकतादात्म्यसम्बन्धस्य निर्धारणं भवति। सा भक्तस्य विमलमानसान्निसृतस्य दिव्यप्रेमप्रवाहस्य भावधारा एव, यया लौकिकविषयानन्दः स्वसमस्तकालुष्यं परिक्षाल्यालौकिक-ब्रह्मानन्दे परिणमति। भक्तानां सैव भक्तिर्लौकिकालौकिकसमस्तसन्तापनाशकस्य भक्तिरसस्य जननी वर्तते। भक्तितत्त्वविचारप्रसङ्गे प्रथममुपास्यतत्त्वमुपासकतत्त्वमुपासनातत्त्वञ्चेति त्रीणि तत्त्वानि पार्थक्येन विचारणीयानि यतो हि प्रोक्ततत्त्वैरेव भक्तभगवतोः पारस्परिकः सम्बन्धो निर्धार्यते।

यथा मानवजीवनेन सम्बद्धया क्षुधया, तस्याः क्षुधायाः परितृप्तिकारकाणां पदार्थानां सत्ता सिध्यति, तथैव मनुष्यस्य चित्ते विद्यमाना यस्य कस्याप्युपासनाभावना प्रमाणयति यल्लोके कोऽप्युपास्योऽप्यस्तीति। स एवोपास्यश्चराचराखिलब्रह्माण्डं सृजति रक्षति विनाशयति च। तस्यैवेङ्गितेन वायुः प्रवहति, सूर्यो भाति, चन्द्रः प्रकाशते। स एव महान् व्यापकः अखिलब्रह्माण्डनायकः, ब्रह्म परमात्मा वा विद्यते एवञ्च तस्येच्छयैव निखिलब्रह्माण्डस्य समस्तक्रियाकलापाः सम्पद्यन्ते। स एव सम्पूर्णविश्वनायक उपास्यो वर्तते। कारणं तु ध्येयमिति सिद्धान्तात्। तस्यैवानुग्रहेणोपासकस्य जीवस्य संसारसागरान्मोक्षो भवति, नान्यथा, 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुतेः।

उपासकस्य स्वभावानुसारेणोपास्यस्य ब्रह्मणो ज्ञानाश्रितं भावाश्रितञ्चेति रूपद्वयं भवति। तस्य ज्ञानाश्रितं रूपं निर्गुणम्, निराकारम्, अव्यक्तम्, अनिर्वचनीयञ्च विद्यते। उपासकस्य भावाश्रित उपास्यः, उपासकस्य स्नेहेन (भक्त्या) मधुरावबन्धने आबद्ध्यते। उपासकस्य स्वभावानुसारेणोपास्यः स्वामिकान्तादिविभिन्नरूपेषु व्यक्तो भवति। व्यक्तरूपानुसारेण स्वभावनया भक्तो भगवतो नाम रूपञ्च

परिकल्पयति। यथोक्तं रामतापनीयोपनिषदि "उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना।" ततो ब्रह्म व्यक्तं, सगुणं साकारं वा कथ्यते। एवं चोपासनायाः परमप्रयोजनं तु भगवत्सान्निध्यप्राप्तिरेवास्ति। ज्ञानमार्गेण ब्रह्मत्त्वचिन्तनं भवति, उपासनया तु परमप्रियत्वस्य, निकटसान्निध्यस्य च प्राप्तिर्जायते। प्रेमपात्रतां च साधकस्तदैव लभते यदा सः साधको भावुको भवति। भावुकत्वं भक्त्यैव लभ्यते। अत एव प्रतिपादितं यत् परमात्मा न काष्ठे, न पाषाणे न वा मृत्तिकायामेव तिष्ठति, अपि तु स केवलं साधकस्य भाव एव विराजते, अत एव तस्य प्राप्त्युपायः केवलं भाव एव (भक्तिरेव) इति। अपि च हरिभक्तिं (भावसाधनां) विना कर्म, विवेकादि, ज्ञानम्, मोक्षश्च कथमपि न सिध्यति। अत एव भवसाधनैव सर्वस्य मुख्याधारो वर्तते।

अयमाशयः-भक्तिस्तु उपास्योपासकयोर्भावात्मकसम्बन्धविशेषो वर्तते। सा चोपासनया एव स्थाप्यते। अत एव 'उप आसनम्' अर्थातदुपास्यस्य समीपमुपवेशनमेवोपासनम्। तेन तस्य नैकट्येन प्राप्तिरेवोपासनायास्तात्पर्यमिति गम्यते। उपास्यं प्रत्युपासकस्यानुरागोऽयं लौकिकानुरागसदृशो मलिनो न विद्यते, अपि तु प्रतिक्षणं प्रवर्द्धमानः परमनिर्मलोऽस्ति। तादृशीं प्रेमोपासनां विना जपतपोज्ञानादिकं तथैव वृथा वर्तते यथा वरं विना विवाहोद्यमः। प्रेमोपासनयैव निर्गुणं निराकारञ्च ब्रह्म सगुणसाकारतया भक्तभावानुसारेण नृत्यति क्रीडति चेति। भक्तभगवतोर्मध्ये भक्तिजन्यो (उपासनाजन्यः) भावात्मक-सम्बन्ध एवामोघसम्बन्धसूत्रं विद्यते। भक्त्या एव भक्तेषु भगवान् सद्यो द्रवति।

सम्पूर्णभक्तिशास्त्रस्य मूलं भक्तिरेव विद्यते। तस्या अनुग्रहः प्रेमा, श्रद्धाचेति रूपत्रयं निर्धारितं भक्तिशास्त्रेषु। तत्र विवेचनमित्थं भवितुमर्हति-पुत्रशिष्यादीन् प्रति स्नेहोऽनुग्रह इति, भार्यादिकं प्रति स्नेहः प्रेमेति, गुरुजनदेवादिकं प्रति स्नेहः श्रद्धेति। एवञ्च स्नेह एव सांसारिकसमस्तबन्धनानां मूलाधारो वर्तते। यत्र परमात्मा आश्रीयते, यत्र साधकस्य मनो नियुज्यते, यत्र तस्य भगवतः प्राप्तिसाधनं वर्तते, स एव भक्तियोगः साधकैर्निगद्यते। स एव भक्तानां कृते परमानन्दस्वरूपस्य परमेश्वरस्य सच्चिदानन्दस्य प्राप्त्यर्थं स्वाभाविको राजपथो विद्यते। स च भक्तियोगः परमोत्कृष्टप्रेम्णः पराकाष्ठा वर्तते। तत्रैव साधको रसस्वरूपे परब्रह्मणि सर्वतोभावेन विलीयते।

भगवत्प्राप्तेश्चतुर्षु मार्गेषु ज्ञान-कर्म-योग-भक्तिरूपेषु भक्तिरेव परमसुलभा सर्वश्रेष्ठा च प्रतिपादिता नारदभक्तिसूत्रे। भागवते विश्वकल्याणस्य मूलद्वारं भक्तिरेवेति घोषितम्। अपि च कर्म बन्धनस्य कारणम्, भक्तिस्तु बन्धनस्य सर्वथा विमोचिका विद्यते। तां विना योगसाधनाऽपि वृथैव, तां विना च विशुद्धज्ञानमपि निरर्थकमेवेति, यतो हि युक्तज्ञानी एव भगवन्तं प्राप्नोति। भक्तिं विना तु जपतपःसंयमव्रतज्ञानध्यानादिकं सर्वं निरर्थकमेवेति निरूपितं निर्गुणोपासकैरद्वैतपथावलम्बिभिः श्रीमधूसूदनस्वामिप्रभृतिभिः, अन्यैः सगुणोपासकैः रूपगोस्वामिप्रभृतिभिरपि। अतो भक्तिः स्वतन्त्रा एव। सा एव साक्षान्मुक्तिप्रदायिनी वर्तते। ज्ञान-कर्म-योगापेक्षया तत्र भगवद्वशीकरणशक्तिरधिका भवति। केवलं तयैव भगवान् भक्तपराधीनो जायते।

एवञ्चभक्तिरेव केवलं मायाबन्धनस्य विमोचिका, भक्तेर्दर्शनमात्रेणैव माया जीवात्मानं विमुञ्चति, ततश्च पलायते। भक्तेराविर्भावस्य साधनानि तु विषयत्यागः, कुसङ्गत्यागः, सत्सङ्गः, अखण्डभजनम्,

हरिगुणकीर्त्तनादि, भगवत्कृपा, गुरुसेवा, निष्कामता, समरस-दर्शिता, सदाचरणम्, नामस्मरणम्, स्वस्थ-शरीरम्, निश्चलचित्तवृत्तिः, पूर्वजन्मनः शुभसंस्कारादीनि च सन्ति। साधकस्य चित्तं यदा कामनारहितम्, विकाररहितम्, सञ्जायते तदा सांसारिकविषयवासनावासिताः कामादिविकाराः स्वयमेव नश्यन्ति।

भक्तिरसः

चरमोत्कर्षप्राप्तो भाव एव रसत्वमाप्नोति। भक्तिरसज्ञानां मते भगवद्विषयिणी रतिरेव पूर्णोत्कर्षत्वं प्राप्य भक्तिरसरूपेण समास्वाद्यते भक्तैः। स च भक्तिरसः प्रकाशमयोऽखण्डः, आनन्दमयश्च विद्यते। अखण्डोऽपि रसः साधनाभेदेनाऽऽनन्दानुभूत्यर्थं खण्ड्यते। सा चाऽऽनन्दानुभूतिश्चित्तस्याद्वैतता एव। यदा चित्तमेकाग्रतया परब्रह्मणि व्यापृतं भवति, तदा तेनाऽऽनन्दः समनुभूयते। स एवाऽऽनन्दो भक्तिभावापन्नसहृदयानां मते भक्तिरसरूपेणाभिव्यज्यते समास्वाद्यते च।

श्रीकरपात्रस्वामिचरणानां मते तु भक्तिरस एव प्रकृतिरसः तद्भिन्ना अन्ये रसास्तु विकृतिरूपा एव। विभावानुभावसञ्चारिभिः सह जाता, शुद्धा, स्नेहधारानुकारिणी, भक्तिमाहात्म्यबोधजा, प्रेमपरिपक्वा, सात्त्विकभावसम्पन्ना रतिर्भगवतो माहात्म्यबोधेन सह विविधभूमिकाभिर्विकसिता सती यदा भक्तसहृदयानां चेतसि रसतया समास्वाद्यते तदा सा एव भक्तिरस इत्यभिधीयते। तस्य च स्थायिभावो भगवद्रतिरिति।

भक्तिरसार्णवे भक्तिरसस्थापने प्रतिपादितं यदन्यरससदृशा भक्तिरपि स्वविभावादिभिर्युक्ता सती चितरूपवद् रसत्वमाप्नोति। वस्तुतो रसस्वरूपसच्चिदानन्दपरमात्मना सम्बद्धा सत्यलौकिकाऽऽनन्ददायिनी भगवद्रतिरेव भक्तिरसे परिणमते। कान्तादिविषयकशृङ्गारादिरसेषु पूर्णं सुखं नास्ति। अत एव तत्र पूर्णरसत्वं नानुभूयते। तद्भिन्नो भक्तिरसः पूर्णसुखमयो भवति। अतो लौकिकक्षुद्ररसापेक्षया परिपूर्णरसा भगवद्रतिः खद्योतेषु सूर्यवत् प्रकाशते। अत आनन्दपूर्णभक्तिरसः सततं सर्वैः स्वीकार्यः।

अतो रसजगति प्राणिनां जीवनदायकसूर्यचन्द्रमसाविव भक्तिरसोऽपि एकादशो रसः स्वीकर्त्तव्यः सहृदयैः रसज्ञैः। तस्य परिपोषणे च जीवगोस्वामिकृतभक्तिरसामृतसिन्धोष्टीकायां दुर्गमसङ्गमन्याम्, मुकुन्दस्वामिकृतार्थरत्नाल्पदीपिकायाम्, विश्वनाथचक्रवर्तिकृतभक्तिसारप्रदर्शिन्याम्, श्रीमधुसूदन-स्वामिकृतभक्तिरसायने च बहुयुक्तयः प्रतिपादिताः।

एवञ्च शृंगारादिनवरसातिरिक्ता अन्येऽपि बहवो रसा विभिन्नानामाचार्याणां मते स्थापिताः परिदृश्यन्ते। तत्र रुद्रटमते स्नेहस्थायी प्रेयोरसः, विश्वनाथमते वात्सल्यस्थायी वत्सल्यरसः, रूप-गोस्वामिप्रभृतिभक्ताचार्याणां मते भदवद्रतिस्थायी भक्तिरसो मधुररसो वा, रामचन्द्र-गुणचन्द्रमते गार्ध्यस्थायी लौल्यरसः, आसक्तिस्थायी व्यसनरसः, अरतिस्थायी दुःखरसः, सन्तोषस्थायी सुखरसः, भानुदत्तमते मिथ्याज्ञानस्थायी मायारसः, भोजराजमते मतिस्थायिभाव उदात्तरसः, गर्वस्थायी उद्धतरसः, हर्षस्थायी आनन्दरसश्च विद्यते। अपि च तन्मते एकोनपञ्चाशदपि भावा विभावादिभिः परमप्रकर्षं प्राप्य रसत्वं प्राप्नुवन्ति। एवञ्च तन्मते यदि परमप्रकर्षं प्राप्ता रत्यादयः रसत्वं गच्छन्ति, तर्हि परमप्रकर्षं गता हर्षादयोऽपि सञ्चारिभावा रसत्वं कथं न गच्छेयुः। राघवन् महोदयानुसारेण जैनानामनुयोगसूत्रे निरूपितो

व्रीडास्थायी व्रीडनकरसः स्वीकृतो विद्वद्भिः। अपि च केषाञ्चिन्मते देशभक्ति-रसः, मृगयारसः, अक्षरसः, स्वातन्त्र्यरसः, पारवश्यरसः, क्रान्तिरसः, प्रक्षोभरसः प्रशान्तरसः, ब्राह्मरसाश्चापि विलोक्यन्ते ग्रन्थेषु। एवञ्च परिगणने द्वात्रिंशद्रसा भवन्ति।

यदि चित्तवृत्तेश्चमत्कारजनकत्वेनाऽऽस्वाद्यत्वेन वा पूर्वोक्तरसाः स्वीक्रियन्ते तर्हि सर्वेषां भावुकसहृदयानां भक्तानामनुभवसिद्धस्य चमकत्कारजनकस्याऽऽस्वादयुक्तस्य वा भक्तिरसस्य स्वीकारे न कापि क्षतिः। वस्तुतः परमकल्याणभाजनं केवलं भक्तिरस एव, भक्त्या एव सकारणदुःखहानं निरतिशयसुखावाप्तिरूपो मोक्षश्च प्राप्यते। अचिन्त्यादिगुणगणविशिष्टस्य भगवतः प्राप्त्युपायभूता भक्तिरेव केवला, न त्वयन्यत् साधनं जगति।

भक्तिरसस्वरूपम्

यथा स्वभावकठिनं जतुद्रव्यम् उष्णतापकाग्न्यादिसंयोगेन जलमिव द्रुतं जीनांशुकशतक्षालितं स्वच्छं भवति। तत्र च निक्षिप्तहिङ्गुलादीनां सर्वतोभावेन स्थिरता च जायते। पुनः काठिन्ये सति यद्वा- नुपद्रवतायां न वर्णविश्लेषो जतुनो वर्णस्य वाञ्छायां सत्यामपि। तथैव सावयवं मध्यपरिमाणं चित्तमपि काम-क्रोध-भय-स्नेह-हर्ष-शोक-दयादिभिर्भगवद्विषयैः तापकैर्गंगाजलप्रवाहवत् द्रुतं चीनांशुकशत-क्षालितमिव निर्मलं भवति। तदपगमे पुनः कठिनं जायते। तत्र द्रुते चित्ते वस्तुनो यस्त्वाकारः क्षिप्यते स एव संस्कार-वासना-भावनादिशब्दैः कथ्यते। द्रवीभावपूर्वकं चित्तस्य विषयाकारता जायते।

यथा तत्तत्प्रतिमाकारसंघटितोदरे मृत्तिकादिपात्रविशेषे पुटपाकयन्त्रादिनिषिक्तं द्रवित- ताम्रादि तत्तदुदरपात्रविशेषाकारं भवति, तथैव रागद्वेषादिना द्रवीभूतं चित्तं नेत्रादिमाध्यमेन यत्रैव घटादिविषये सिक्तं जायते, तत्तद्विषयाकारं निष्पद्यते। यथा वा व्यञ्जकः सूर्याद्यालोकः व्यंग्यस्य (प्रकाश्यस्य वस्तुनः) स्वरूपतां प्राप्नोति तथैव चित्तमपि तत्तद्व्यंग्याकारं जायते। अत एव विषयस्य बाह्याकारवदान्तरोऽपि मनोमयः कश्चनाऽऽकारो भवति। बाह्यस्याभेदेऽपि मनोमयाकारस्य भेदेनैव एकस्यामेव योषिति भार्या, स्वसा, ननान्दा मातेत्यादयः प्रभेदाः दृश्यन्ते। तत्र बाह्यपिण्डस्य विनाशेऽपि मनोमयपिण्डाकारः तिष्ठति। अत एव स एवाकारः स्थायितया शब्दायते।

यस्मिन् विषये कामादीनामुद्रेकः तस्मिन्नेव विषये द्रवीभावत्वम्। कामाद्यभावे सूर्यादिप्रकाशादिभिः स्वल्पतापकैरिव विषययोगे शैथिल्यमात्रमेव जायते। तत्र वासनात्मकतया वस्तुसन्निवेशो भवितुं योग्यो न भवति। किन्तु द्रविते प्रविष्टः वस्त्वाकारः काठिन्यदशापर्यन्तं स्थितः सन् पुनः द्रवीभावान्तरेण विषयान्तरे गृह्यमाणेऽपि प्रकाशमानत्वात् चेतसा वक्तुं न शक्यते। शैथिल्यदशयां तु न प्रविशति। प्रविष्टोऽपि त्यज्यते। अत एव वासनाभासादिशब्दैस्तद्व्यपदेशः। द्रवावस्थाप्रविष्टविषयाकारस्यानपायित्वेन स्थायिभावेन तस्य प्रयोगो भवति। विभावादिसंयोगेन प्रकटीभूतस्थायिभाव एव श्रोतृवर्ण्ययोर्दर्शकाभिनेययोर्वा भेदतिरोधानेन दर्शकश्रोतृगत एव सन् परमानन्दसाक्षात्कारेण रसत्वं प्राप्नोति। अपि च परमानन्दः रसस्वरूपः परमात्मा एव द्रवितचित्तवृत्तौ प्रतिबिम्बितस्थायिभावतामासाद्य रसत्वमेति। अत एव भक्तिरसः परमानन्दस्वरूप एव

सिध्यति।

नन्वेवं भगवदाकारस्य परमानन्दस्वरूपस्य भक्तिरसस्य स्थायिववत्तया परमानन्दरूपत्वं भवेत् किन्तु कान्तादिविषयाणां शृंगारादिरसानां तदाकारस्य सुखरूपत्वाभावात् कथं सुखरूपत्वं स्यादिति चेन्न? 'आनन्दाद्ध्येव खल्विंमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इत्यादि-श्रुत्या परमानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मण एव सर्वेषां पदार्थानामुपादानत्वात् मृत्तिकाऽभिन्नघटवत् सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य परमानन्दरूपत्वेन कान्ताद्याकारस्यापि सुखरूपतया दोषरहितत्वात्। अपि च 'जन्माद्यस्य यत:', 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य:' 'इदं सर्वं यदयमात्मा' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिसूत्रै: कार्यस्योपादानाभिन्नत्वं प्रतिपादितम्। न च सम्पूर्णलौकिकप्रञ्चस्याखण्डानन्दरूपेण भानं स्यादिति वाच्यम्? सत्यप्यखण्डानन्दत्वेऽविद्यानिमित्तावरणविक्षेपाभ्यां कार्याकारतया भानेन पूर्णानन्दस्य परमात्मनोऽभानात् (विक्षेपस्तु अकार्यस्यापि कार्याकारेण भानं, अखण्डानन्दाकारेण स्वतोऽभान-मावरणम्)।

ननु कथं तर्हि परमानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणो भानं भवतीति चेन्न अज्ञातस्य ज्ञापकत्वेनैव सर्वेषां प्रमाणानां प्रामाण्यम्, अज्ञातं च स्वप्रकाशतया भासमानचैतन्यस्यैवावृत्तत्वाभ्युपगमेन सत्त्वस्थया कान्ताद्याकारया प्रमाणवृत्त्या तदावरणभङ्गेन कान्ताद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य स्वप्रकाशसुखरूपत्वेन भानोपपत्तेः। अनवच्छिन्नचैतन्यस्वरूपभानादेव न सद्यो मुक्तिः, स्वप्रकाशत्वभंगा वा। कान्ताद्य-वच्छिन्नचैतन्यमेव द्रवावस्थासात्त्विकमनोवृत्त्युपारुढतया भावत्वं प्राप्य रसतां प्राप्नोतीति। न लौकिक-रसंस्यापि परमानन्दस्वरूपत्वापत्तिरित्यादिसर्वं प्रपञ्चितं भक्तिरसार्णवे श्रीकरपात्रस्वामिना। अत एवान-वच्छिन्नचिदानन्दघनस्य भगवतः स्फुरणाद् भक्तिरसे आनन्दस्यात्यन्ताधिक्यं वर्तते। लौकिकरसे तु विषयावच्छिन्नस्यैव चिदानन्दांशस्य स्फुरणात् तत्राऽऽनन्दस्य न्यूनत्वमेव भवति। अत आनन्दाधिक्यात् शृंगारादिलौकिकरसानुपेक्ष्य भक्तिरस एव समुपास्यो रसज्ञैः।

इत्थं प्रथमं भगवद्विषयकरतिरूप: स्थायिभावो विभावैरङ्कुरित:, अनुभावै: पल्लवित: व्यभिचारिभिश्च परिपुष्ट: पुष्पित: स्फुटतया रसत्वमेति। अत एव विभावादित्रितयसम्पृक्तस्थायि-भावावगाहिसमूहालम्बनात्मकसात्त्विकाभिव्यक्तसुखरूपो भक्तिरस:। तादृशस्य सुखरूपत्वात्तस्य चाऽऽत्मस्वरूपत्वात् यद्यप्याधारो नास्ति तथापि तद्व्यञ्जिकाया वृत्तेः सामाजिकमनोनिष्ठत्वव्यपदेशः।

भक्तिरेव मूलरस:

भक्तिरसाचार्याणां श्रीकरपात्रस्वामिनां मते 'रसो वै स:' इत्यादि श्रुतिस्वारस्येण भक्तिरेव मूलरस:, यतो हि श्रुत्यादिप्रतिपादित: परमरसस्वरूप: परमात्मा एव, अतस्तद्गता एव रत्यादय: सर्वे भावाश्च रसत्वं प्राप्नुवन्ति। तस्मात् परमात्मन: सम्बन्धेन भक्तिरेव मूलरस:, तेन भक्ते: सम्बन्धाद् शृङ्गारादयोऽपि रसत्वमाप्नुवन्ति, किन्तु न पूर्णरसत्वं प्राप्नुवन्ति, अपितु ते तदा रसाभासमात्रतामेव लभन्ते, गौणत्वं वा। स च भक्तिरसो मुख्यगौणभेदेन श्रीरूपगोस्वामिजीवगोस्वामि–मधुसूदनस्वामिप्रभृतिरसाचार्याणां मते द्वादशभेदात्मको वर्तते, किन्तु सर्वेषां मूलं भक्तिरस एव वर्तते। स एव भक्तिरसज्ञानां मते रसराडिति कथ्यते।

रस्यते आस्वाद्यते इति रसनरूपधर्मावच्छिन्नत्वात् सामान्यतो रसोऽखण्ड एव सिध्यति तथापि चित्तवृत्तिवैचित्र्यात् शृङ्गारादिप्रभेदा अपि भवन्ति तस्य। येषां मते 'रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणाचिदेव रसः' तत्रैक एव चिद्रसः स्थायिभेदेन भिन्नतामाप्नोति। तत्र शृङ्गारादीनां मूलरसत्वं न भवति। येषां मते 'चिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायीभावो रसः' इति, तत्र भगवद्रतिविशिष्टस्य भक्तिरसस्याखण्डत्वं सर्वमूलत्वं वा सिध्यति। एतत् सर्वं प्रतिपादितं विशदतया भक्तिरसार्णवे करपात्रस्वामिमहोदयैः।

ग्रन्थप्रतिपाद्यविषये वक्तव्यं चेत् श्रीचरणैः भक्तिरसनिरूपणात्मके अष्टमे प्रकरणे रसविषयकं शास्त्रकृतं निखिलमपि विचारं संग्रथ्य तदालोके भक्तिरसस्य शास्त्रीयं मूल्यमापनम्, राधातत्त्वरहस्यम्, वृन्दावनीय-विविध-भक्तिसाम्प्रदायिक-मतसमीक्षणञ्च कृतम्। तत्पोषणायैव प्रारम्भिकेषु त्रिषु प्रकरणेषु भजनीय-तत्त्व-विषयकः समग्रो दार्शनिको विस्तरः, ततः परतरेषु त्रिषु प्रकरणेषु राधा-कृष्णयोः वेदप्रतिपाद्यत्व-निरूपणमुखेन विमर्शनीय-वैदिकसूक्तानामपि श्रीकृष्णपरत्वं महत्या प्रौढ्या प्रस्थापितम्। सप्तमे प्रकरणे पुरुषसूक्त-देवीसूक्तयोः परमं तात्पर्यं प्रकटयद्भिः श्रीचरणैः व्यञ्जनया तत्तत्त्वं राधाकृष्णयोरेव प्रतिष्ठापितम्। अन्तिमेषु त्रिषु प्रकरणेषु नवमेन प्रकरणेन भगद्धामरूपादीनां परब्रह्मात्मकत्वम्, दशमेन च निराकार-ब्रह्मप्रतिपत्तेरपि भक्तिरूपत्वं संसाध्य रुद्रसंख्येन चरमेण प्रकरणेन अद्वैतस्थापनाचार्याणां श्रीमधुसूदनसरस्वती-स्वामिपादानां पन्थानं समाश्रित्य 'भक्तिः मुक्तिशताधिका' संसाधिता श्रीचरणैः।

अपि च भक्तिरसार्णवे स्वामिचरणाः—रसो वै सः इति श्रुत्या रसस्य ब्रह्मरूपता उक्ता। तस्य चावेद्यत्वे सति अपरोक्षतया स्वप्रकाशत्वमेव, सहृदयानां नाट्यदर्शिनां प्रत्यक्षविषयता च। आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। इति श्रुत्या निरतिशयपरप्रेमास्पदत्वेन आत्मनः परमानन्दरूपत्वमनुमातुं शक्यम्। तस्यैव च रसात्मकतया तदभिन्नाभिन्नस्य रसस्याप्यनुमेयत्वं वक्तुं सुशकमेव। तत्र फलान्तरेच्छाधीनेच्छाविषयत्वेन सोपाधिकप्रेमास्पदत्वेन पुरुषार्थस्य गौणत्वम्, तदनधीनेच्छाविषयत्वेन तु मुख्यत्वम्। तत्त्वञ्च निरतिशयानन्दस्वरूपात्मन्येव पर्यवस्यति। रसशास्त्रकारैस्तु 'गुडजिह्विका'-न्यायेन प्राकृताधिकारिणां प्राकृतरसपरिचयेन अप्राकृतरसे चेतोऽवताराय प्रथमतः प्राकृतरस एवोपवर्णितः। प्रयोजनपार्थक्यं प्रस्थानपार्थक्यं प्रयोजयति। ये स संसारचक्रचङ्क्रमणशीला अपरिशीलितपरमपुरुषार्थपद्धतयः सुकुमारमतयो विविधवासनावासितहृतयाः काव्यार्थचिन्तन-चतुरास्तान् 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' इतिरीत्या गुडजिह्विकान्यायेन अप्राकृते रसे प्रवर्तयितुं रसाचार्या प्राकृतरसमास्वादयन्ति। परमरसास्वादलेशोऽपि यावत् नानुभवगोचरीकार्यते तावत् कथं ते दिव्यरसस्पृहयालवोऽपि क्रियेरन्। दिव्यरसस्तु श्रवणादिभिः साधनैः सर्वानर्थनिदानोन्मूलने चिरसञ्चितकर्मकलापदाहकेन दुष्करप्रायेण ज्ञानेन तत्साध्यभक्तियोगेनैव अनुभवितुं शक्यः। स तु श्रीमद्भागवतादौ निरूपितः।

अप्राकृत एव रसो नाट्यशास्त्ररीत्या 'भाव' इत्याख्यायते। स एव च भक्तिरसः। रसत्वव्यवदेशहेतोस्तादृशानन्दात्मकताया उभयत्र सत्त्वात्।

स्वामिचरणानां समीक्षणम्

रामादिगतस्थायिभावस्य आलम्बनविभावं (कारणं दृष्ट्वा श्रुत्वा च रामादेरनुकार्यस्य रत्यादेरुदयो भवति, न नटस्य न वा सामाजिकस्य। नटस्य हृदये सीतादीनि कारणानि अभिलक्षीकृत्य विभावबुद्धिरेव न भविष्यति न वा सीताद्यनुकरणं कुर्वती अभिनेत्रीः प्रति विभावबुद्धिसम्भवः। यदि वा विभावत्वेन मन्यते तदा मदीयो विभावोऽयमिति बुद्ध्यां, स्वभावस्यैवाभिनयं कर्तुं प्रवर्तेत नटस्तेन रामादिरतेरभिनयो न दृष्टि- गोचरी भवेत्। रामाद्यनुकार्यरत्यस्वीकारेऽनुकर्तृगतत्वेन स्वीकारे च अन्यस्य रतौ सत्यामन्यस्य तां प्रति विभावबुद्धिः कथं स्यात्?)

कथञ्चिदङ्गीकृतेऽपि विभावत्वे सामाजिकानां हृदये सीतादिषु मातृबुद्ध्या विभावबुद्धिरेव नोदीयात्। यतोहि पररहस्य-दर्शनेन व्रीडादीनामुदयात् रसस्याप्रसङ्ग आपतेत्। चेत् स्वीक्रियते कथञ्चित् तदा करुणादिप्रसङ्गे पुत्रमृत्युमुद्दिश्यातुरस्य सामाजिकस्य स्वपुत्रमरणबुद्धिः स्यात्। अथ च तदानीं नाटकादिकरणसमयेऽनुकार्यगतत्वाभावात् स्थायिनो भावप्रसङ्गः प्रसज्येत। रूपकादिष्वनुकर्तरि यथाकथञ्चिदनुकार्यत्वमारोप्य स्थायितायामुदितायां श्रव्यकाव्येषु तदसम्भव एव। श्रव्येषु पक्षत्रयमास्ते, कविः वर्ण्यः श्रोता च, कविहृदये, सीतादिकमालम्बनं दृष्ट्वा यथा रामादीनां रत्याद्युदयस्तथा न तत्र भवितुमर्हति अन्यतात्वात्।

वर्ण्यमधिकृत्य क्रियमाणे विचारे वर्ण्यस्यानुपस्थितत्वान्निराशैव प्रतीयते। तादृशमालम्बनमुद्दिश्य श्रोतुरपि रत्यादेरुदयो न भविष्यति, तद्विषये यथा कविस्तथा श्रोता। अथ च श्रोता कविगतं वर्ण्यगतञ्च स्थायिभावं पार्थक्यादेकीकर्तुं न पारयेत्। या पतिव्रता तां प्रति कवेः श्रोतुर्वा तादृशभावो न स्यात्। कुमारसम्भवादिकाव्येषु यथा भगवतः भूतभावनस्य गौरीं प्रति रतिभावोदयस्तथा कवीनां श्रोतॄणां मानवकोटिकानां कथं स्यात्। देवयोनिगतानां प्राणिनां मानुषरतेरभावात्।

इत्थं श्रीकरपात्रस्वामिचरणैः नितान्तं विशदतया दृढतया च स्थापितो भक्तिरसः भक्तिरसार्णवनामके ग्रन्थे। मया नैजे प्रबन्धेऽस्मिन् अत्यन्तं संक्षिप्तरूपेण तेषां विचारान् भावञ्च स्फुटीकर्तुं प्रयासः कृतः। आशासे मदीयोऽयं प्रबन्धः विदुषां तोषाय स्यादिति। अन्ते स्वामिचरणानां पूतपादारविन्दे स्वीयं कोटिशः प्रणामाञ्जलिं समर्प्य आत्मनो लेखमवसाययामि।

✿

प्राचीननव्यव्याकरणयोः साम्यवैषम्यमीमांसा

प्रो० श्रीकान्तपाण्डेयः
अध्यक्षः, वेदवेदाङ्गसङ्कायस्य व्याकरणविभागस्य च
सं० सं० वि० वि०, वाराणसी

निखिलस्यापि संस्कृतवाङ्मयस्य सिंहद्वारायितं निर्दुष्टं सुपुष्कलञ्च पाणिनीयव्याकरणशास्त्रमिति न तिरोहितम्प्रेक्षावताम्। यद्यपि महर्षिपाणिनेः सूत्राष्टाध्यायी प्राचीननव्यव्याकरणयोः मूलाधारभूता, अतः व्याकरणत्वेन साम्येऽपि अधः प्रस्तुतैः भेदककारणैरुभयोः परस्परं वैषम्यं वर्तते—

१. अभिधाने (विशेष्यभूते व्याकरणे) विशेषणयोः वैषम्यम्।

२. तात्पर्ये (पाठ्यक्रमे) वैषम्यम्।

३. ऐतिहासिकस्तरे वैषम्यम्।

४. शैल्याः वैषम्यम्।

५. सैद्धान्तिकं वैषम्यम्।

(क) सूत्रगतपारिभाषिकशब्दानां तात्पर्येषु भिन्नाः मान्यताः, तदनुगतं वैषम्यम्।

(ख) व्याकरणदर्शनस्य नैकेषु विन्दुषु भिन्नताः, तदनुगतं वैषम्यम्।

(ग) सूत्राणामर्थोदाहरणप्रत्युदाहरणेषु भिन्नताः, तदनुगतं वैषम्यम्।

६. सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये स्वीकृतपदानां भेदाद् वैषम्यम्।

७. आरक्षणदृष्ट्या वैषम्यम्।

८. अधिनियमदृष्ट्या वैषम्यम्।

९. समानतायाः पक्षस्य प्रत्याख्यानम्।

१०. विदुषां मतानि।

११. निष्कर्षः।

नातिविस्तृतकलेवरेऽस्मिन् प्रबन्धे चर्चिताभिधाना इमे विन्दवो समासतो विविच्यन्ते—

विशेषणं स्वभावत एकं विशेष्यमपरस्माद् विशेष्याद् पृथक् करोति। यथा प्राचीनेतिहासः, आधुनिकेतिहासः, किं वा प्राचीनन्यायः, नव्यन्यायः इत्यादि। एवमेव पाणिनीयव्याकरणमपि प्राचीननव्यविशेषणाभ्यां प्राचीनव्याकरणं नव्यव्याकरणमित्येवंरूपेण सर्वथा वैषम्यं भजते।

प्राचीनव्याकरणस्य तात्पर्यमस्ति—पाणिनिसूत्राणां क्रमेण लिखिता पाणिनेरष्टाध्यायी, पतञ्जलेर्महाभाष्यम्, जयादित्यवामनस्य काशिका, जिनेन्द्रपादबुद्धेः न्यासः तथा अष्टाध्याय्याः सूत्राणां

क्रमेणैव लिखिताः स्वामिदयानन्दसरस्वतीमहोदयेन निर्मिताः—सन्धिविषयः, नामिकः, आध्यातिकः इत्यादयः किञ्च पण्डितप्रकाण्डेन ब्रह्मदत्तजिज्ञासुना प्रस्तुतमष्टाध्यायीभाष्यम् तथा पण्डितगोपालशास्त्रि-दर्शनकेशरिणा निर्मिताः—ऋजुपाणिनीयम्, पाणिनिप्रबोधः इत्यादयो ग्रन्थाः।

नव्यव्याकरणस्य तात्पर्यमस्ति—पाणिनिसूत्राणां व्युत्क्रमेण लिखिताः—वरदराजाचार्यस्य लघु-सिद्धान्तकौमुदी, श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितस्य वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी प्रौढमनोरमा च, नागेशभट्टस्य लघुशब्देन्दुशेखरः वृहच्छब्देन्दुशेखरादयो ग्रन्थाः।

यत्र यावद् व्याकरणदर्शनस्य प्रश्नः तत्र तावद् कौण्डभट्टस्य वैयाकरणभूषणसारः, नागेशभट्टस्य वैयाकरणलघुमञ्जूषा, परमलघुमञ्जूषा, भर्तृहरिणा निर्मितं वाक्यपदीयञ्च प्राचीननव्यव्याकरणयोरुभयोरेव विषययोः विभागयोश्च व्याकरणदर्शनस्य ज्ञानाय पाठ्यक्रमे निर्धारितमस्ति।

व्याकरणशास्त्रस्य परिभाषाणां ज्ञानाय नव्यव्याकरणे नागेशभट्टस्य परिभाषेन्दुशेखरः भूतिटीकया सहितः अनिवार्यपाठ्यग्रन्थरूपेण निर्धारितो वर्तते; किन्तु प्राचीनव्याकरणे सम्पूर्णमहाभाष्यस्याध्ययने परिभाषाणां स्वत एव ज्ञाननिष्पत्तेः यास्काचार्यस्य निरुक्तस्य, जिनेन्द्रपादबुद्धेः न्यासस्य च विकल्पे परिभाषेन्दुशेखरस्य मूलमात्रं पाठ्यते। वैदिकशब्दानां ज्ञानं प्राचीनव्याकरणे लौकिकशब्दैः सार्द्धमेव—रामाः, रामासः, रामैः, रामेभिः इत्यादिरूपेण सम्पद्यते, किन्तु नव्यव्याकरणे पार्थक्येन स्वरवैदिक्यादिभिः वैदिकशब्दाः पाठ्यन्ते।

यत्र यावद् पतञ्जलेः महाभाष्यस्य प्रसङ्ग—तत्र तावद् प्राचीनव्याकरणे सम्पूर्णमहाभाष्यम् (प्रथमाध्यायत अष्टमाध्यायपर्यन्तम्) शास्त्रितः आचार्यं यावत् पाठ्यते किन्तु नव्यव्याकरणे १/३२ (द्वात्रिंशत्तमभागमात्रम्) केवलं महाभाष्यस्य प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादः (नवाह्निकमात्रम्) शास्त्रितः आचार्यं यावत् पाठ्यते। महाभाष्यस्यायमंशः, प्राचीनव्याकरणस्य शास्त्रिप्रथमवर्षस्यैव पाठ्यक्रमे सम्पद्यते। अनेन प्रकारेण प्राचीननव्यव्याकरणयोः पाठ्यक्रमः सर्वथा उभयोर्वैषम्यमाख्यापयति।

(क) प्राचीनव्याकरणस्य प्रमुखग्रन्थाः

ग्रन्थकाराणां नामानि	**ग्रन्थानां नामानि**	**रचनाकालः**
महर्षिपाणिनिः	अष्टाध्यायी	विक्रमपूर्वं २९०० वर्षाणि
महर्षिपतञ्जलिः	व्याकरणमहाभाष्यम्	विक्रमपूर्वं २००० वर्षाणि
श्रीजयादित्यवामनः	काशिका	विक्रमस्य सप्तमी शताब्दी
श्रीजिनेन्द्रपादबुद्धिः	न्यासः	विक्रमस्य अष्टमी शताब्दी
स्वामी दयानन्दसरस्वती	सन्धिविषयः, नामिकः, आख्यातिकः	विक्रमस्य १८८१ तः १९४० वत्सरं यावत्

पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासुः	अष्टाध्यायीभाष्यम्	विक्रमस्य १९४९ तः २०२१ वत्सरं यावत्
पं० गोपालशास्त्री दर्शनकेशरी	ऋजुपाणिनीयम्, पाणिनिप्रबोधः	विक्रमस्य १९५० तः २०३५ वत्सरं यावत्

(ख) नव्यव्याकरणस्य प्रमुखग्रन्थाः

वरदराजाचार्यः	लघुसिद्धान्तकौमुदी	विक्रमस्य १६५० तः १७२० वत्सरं यावत्
भट्टोजिदीक्षितः	वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी प्रौढमनोरमा	विक्रमस्य १५७० तः १६५० वत्सरं यावत्
नागेशभट्टः	लघुशब्देन्दुशेखरः, लघुमञ्जूषा, परमलघुमञ्जूषा	विक्रमस्य १७३० तः १८१० वत्सरं यावत्
कौण्डभट्टः	वैयाकरणभूषणसारः	१६६० विक्रमवत्सरः

उक्तविवरणानुसारेण प्राचीनव्याकरणस्य पाठ्यग्रन्थाः प्राधान्येन विक्रमपूर्ववर्तिनः एकोनत्रिंशच्छततमाब्दात् विक्रमस्य अष्टमशताब्दं यावत् निर्मिताः सन्ति। पश्चान्निर्मिताः ग्रन्था अपि अष्टाध्यायीक्रमेणैव लिखिता विराजन्तेतमाम्।

नव्यव्याकरणस्य पाठ्यग्रन्थानां निर्माणं विक्रमस्य षोडशशताब्दात् प्रारब्धम्, किञ्च एषु ग्रन्थेषु अष्टाध्यायीसूत्रक्रमो व्याहतः। एवञ्चैतिहासिकस्तरेणापि द्वावपि विषयौ वैषम्यमञ्चतः।

यत्र प्राचीनव्याकरणे अष्टाध्यायीसूत्राणां क्रमेण वृत्तिं विनैव सूत्राणामर्थाः ज्ञायन्ते, ते च सर्वथा मौलिका वैज्ञानिका सरलाश्च सन्ति तत्रैव नव्यव्याकरणे सूत्राणामर्थज्ञानाय अष्टाध्यायीक्रमं निहत्य वृत्तिः कण्ठस्थी क्रियते। परिणामतः नव्यन्यायस्य परिष्कारपद्धतिः टीकाग्रन्थानाञ्चाध्ययनं नियतिर्जाता। अतश्च मूलादर्थः सुदूरतां प्रयाति विषयज्ञाने काठिन्यञ्चानुभूयते। उदाहरणार्थम्—प्राचीनव्याकरणानुसारेण 'हलन्त्यम्' अष्टाध्याय्याः प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादस्य तृतीयसूत्रमस्ति। उपरिष्टाद् द्वितीयसूत्रम्—'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इति। अस्मात् सूत्रात् उपदेशे तथा इत् इति पदे तृतीयसूत्रे अनुवर्तेते, स्याद् वा भवति वा क्रिया अध्याह्रियते, ततश्च स्वत एव 'उपदेशेऽन्त्यं हल् इत् स्यात्' अयमर्थः निस्सरति; किन्तु नव्यव्याकरणे वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्याः 'उपदेशेऽन्त्यं हलित् स्यात्' इति वृत्तिः पारवश्यात् वैवश्याच्च कण्ठस्थी क्रियते। एवमेव नव्यव्याकरणे ''इको यणचि'' इति सूत्रस्य ''अजव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टस्यैकः स्थाने यण् बुद्धिः कर्तव्या'' इति परिष्कृतमर्थं कण्ठस्थीकर्तुं विवशाः भवन्त्यध्येतारः। किञ्च यत्र प्राचीनव्याकरणस्य प्रारम्भः 'वृद्धिरादैच्' (पा० सू० १/१/१) इति सूत्रेण भवति तत्रैव नव्यव्याकरणस्य

प्रारम्भः 'हलन्त्यम्' (पा० १/३/३) इति सूत्रेण क्रमं विच्छिद्य भवति। इत्थं रूपेण प्राचीनव्याकरणे मौलिकसूत्रक्रमशैल्याः नव्यव्याकरणे च व्युत्क्रमपरिष्कारशैल्याश्च विद्यमानत्वाद् उभयोर्वैषम्यं सुतरां सिद्ध्यति।

प्राचीननव्यव्याकरणयोः दृष्टिपथा सूत्रेषु प्रस्तुतानां बहूनां शब्दानां तात्पर्याणि भिद्यन्ते। उदाहरणार्थं प्रकृते कानिचित् सूत्राणि प्रस्तूयन्ते।

१. ''अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः'' (पा० सू० १/१/६९) इति सूत्रे प्रयुक्तस्य ''अप्रत्ययः'' इति शब्दस्य प्राचीनव्याकरणे अविधीयमानः किं वा अगृह्यमाणः इत्यर्थः स्वीक्रियते किन्तु नव्यव्याकरणे प्रत्यय इति एकदेशानुमत्या भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न इति परिभाषा ज्ञाप्यते।

२. ''स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ'' (पा० सू० १/१/५६) अस्य सूत्रस्य अनल्विधौ इति शब्दस्य प्राचीनव्याकरणे ''स्थान्यवयवो योऽल् तद्वृत्तिधर्माश्रयविधौ न स्थानिवत्'' इत्यर्थः मन्यते। नव्यव्याकरणे तु 'आदेशस्य स्थानिभूतोऽल् तत्स्थानिसम्बन्धी च योऽल् तद्वृत्तिधर्माश्रये न स्थानिवत्' इत्यर्थः अङ्गीक्रियते।

३. ''अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'' (पा० सू० १/२/४५) अनेन सूत्रेण प्रातिपदिकसंज्ञा भवति। अस्य सूत्रस्य अर्थवच्छब्दमाश्रित्य प्राचीनव्याकरणदिशा वृत्तिमत्त्वम् अर्थवत्त्वम् इति लक्षणं जायते, किन्तु नव्यव्याकरणानुसारेण ''एतत्संज्ञाफलभूतविभक्तीतरसमभिव्याहारानपेक्षया लोकेऽर्थ-विषयकबोधजनकत्वम् अर्थवत्त्वम्'' इति लक्षणं भवति।

४. ''प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा'' (पा० सू० २/३/४६) विधिसूत्रमिदं प्रथमाविभक्तिं विधत्ते। अस्य सूत्रस्य प्रातिपदिकार्थशब्दस्यार्थसन्दर्भे प्राचीनव्याकरणदिशा ''यस्मिन् प्रातिपदिके उच्चारिते यस्यार्थस्य नियमेनोपस्थितिः सः प्रातिपदिकार्थः'' इति मन्यते। नव्यव्याकरणे तु ''प्रवृत्तिनिमित्तं तदाश्रयश्च प्रातिपदिकार्थः'' इति तात्पर्यमङ्गीक्रियते।

५. ''तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्'' (पा० सू० १/२/३२) स्वरिते उदात्तानुदात्ते मिश्रिते भवतः। इदं सूत्रमुक्तयोः द्वयोरपि स्वरयोः मात्रां स्पष्टां करोति। प्राचीनव्याकरणदृष्ट्या ''स्वरितस्य आदितोऽर्धमुदात्तं स्यात्'' इत्यर्थः सम्पद्यते; किन्तु नव्यव्याकरणे ''स्वरितस्य आदितोऽर्धमात्रा एव उदात्तं स्यात्'' इत्यर्थान्तरेण भाव्यते।

६. ''र''प्रत्याहारः—अइउण् इत्यादिभिः चतुर्दशमाहेश्वरसूत्रैः अण्, अच्, हल्, अल् इत्यादयः प्रत्याहाराः सिद्ध्यन्ति। तत्र प्राचीनव्याकरणदिशा ''र'' इति विलक्षणः प्रत्याहारः स्वीकृतः, किन्तु नव्यव्याकरणे नाङ्गीक्रियते रप्रत्याहारः।

एवञ्च पाणिनेरनेकेषां सूत्राणां पारिभाषिकशब्दानां तात्पर्येषु वैभिन्र्यात् प्राचीननव्यव्याकरणयोः वैषम्यं स्वाभाविकम्।

विभिन्नभाषाणां व्याकरणानां किञ्च संस्कृतस्य कातन्त्रसारस्वतमुग्धबोधादिव्याकरणानामिव

पाणिनीयव्याकरणं केवलं शब्दानां साधुत्वमेव न हि प्रतिपादयति किन्तु शाङ्करवेदान्तादिदर्शनानामिव अस्यापि स्वीयं स्वतन्त्रं दर्शनं वरीवर्ति। व्याकरणदर्शनस्य मुख्यप्रतिपाद्यं शब्दब्रह्म तदनन्तरञ्च शब्दसाधुत्वप्रस्तुतेः द्वितीयं स्थानम्। व्याकरणदर्शनस्य नैकेषु विन्दुषु प्राचीननव्यव्याकरणयोः वैषम्यं विराजते। निदर्शनाय कतिपयविन्दवः प्रस्तूयन्ते।

१. 'शक्तिः'—

दार्शनिकानामालङ्कारिकाणाञ्च दिशा पदपदार्थोभयवृत्तिसम्बन्धः अभिधा-लक्षणा-व्यञ्जनारूपेण च त्रिधा विभज्यते। व्याकरणदर्शनानुसारेण शक्तिरेव अभिधा, सा च अप्रसिद्धा—शक्तिरूपेण लक्ष्यार्थं (अप्रसिद्धमर्थम्) प्रकाशयति। गौरवाज्जघन्यवृत्तित्वाच्च लक्षणा न स्वीक्रियते। एवञ्च वैयाकरणानां शक्तिव्यञ्जनारूपः द्विवृत्तिकः सिद्धान्तः। शक्तिसन्दर्भे प्राचीनव्याकरणदृष्ट्या बोधजनकताशक्तिः मन्यते; किन्तु नव्यव्याकरणे वाच्यवाचकभावापरपर्याया शक्तिः स्वीक्रियते।

२. 'अप्रभ्रंशः'—

शुद्धशब्दस्य विकृतं रूपं अपभ्रंशपदेनोच्यते। प्राचीनव्याकरणानुसारेण अपभ्रंशस्य प्रातिपदिकसंज्ञा भवति, किन्तु नव्यव्याकरणे न जायते प्रातिपदिकसंज्ञा अपभ्रंशस्य।

३. 'धात्वर्थः'—

धातो फलव्यापारौ द्वावर्थौ भवतः। तत्र व्यापाराश्रयः कर्ता फलाश्रयश्च कर्म मन्यते। एवञ्च ''रामः ग्रामं गच्छति'' इत्यत्र कर्तृवाच्यम्, ''रामेण ग्रामः गम्यते'' इत्यत्र कर्मवाच्यं विद्यते।

शाब्दबोधप्रसङ्गे प्राचीनव्याकरणे कर्तृकर्मवाच्योभयस्थले व्यापारविशेष्यकः शाब्दबोधो भवति; किन्तु नव्यव्याकरणे कर्तृवाच्ये व्यापारविशेष्यकः कर्मवाच्ये च फलविशेष्यकः शाब्दबोधो जायते।

४. 'सकर्मकधातुः'—

व्याकरणे सकर्मकाकर्मकभेदेन धातुर्द्विविधः। प्राचीनव्याकरणानुसारेण ''फलव्यधिकरणव्यापार-वाचकत्वं सकर्मकत्वम्'' इति लक्षणम्। अस्यार्थः—यस्य धातोः अर्थयोः फलव्यापारयोः पृथक् पृथगाश्रयः सः सकर्मकः कथ्यते।

नव्यव्याकरणपक्षे ''कर्मसंज्ञकार्थान्वय्यर्थकत्वं सकर्मकत्वमिति'' लक्षणम्। अस्यायमाशयो यत् कर्मसंज्ञकशब्दस्यार्थेन सह यस्य धातोरर्थस्यान्वयः स धातुः सकर्मकः मन्यते।

५. 'कारकम्'—

कारकस्य लक्षणप्रसङ्गे प्राचीनव्याकरणे ''क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्'' नव्यव्याकरणे च ''क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्'' इति लक्षणभेदाद् वैषम्यम्।

६. 'अधिकरणकारकम्'—

अधिकरणकारकस्य क्रियया सहान्वयसन्दर्भे प्राचीनव्याकरणस्य मतमस्ति यत् ''अधिकरणस्य

स्ववृत्तिवृत्तित्वपरम्परासम्बन्धेन साक्षात् क्रियान्वयः'' इति। नव्यव्याकरणे च ''अधिकरणस्य कर्त्तरि कर्मणि वा अन्वयः, अनन्तरं तयोः क्रियान्वयः'' इति वैषम्यम्।

एवञ्च व्याकरणदर्शनस्य नैकेषु विन्दुषु मतभेदात् प्राचीननव्यव्याकरणयोः वैषम्यं सुतरां विस्पष्टतामञ्चति।

प्रायः सूत्राणामर्थोदाहरणप्रत्युदाहरणदिशा उभयोर्विषययोः महान् भेदो दरीदृश्यते। प्राचीनव्याकरणे षटप्रकारकेषु सूत्रेषु सर्वविधानां सूत्राणामर्थोदाहरणप्रत्युदाहरणानि लभ्यन्ते; किन्तु नव्यव्याकरणे न तादृशी समृद्धिः। लब्धेषु चोदाहरणप्रत्युदाहरणेषु सर्वथैकरूपता न दरीदृश्यते। अधिकारसूत्राण्युद्दिश्य तु नव्यव्याकरणे क्वचिदप्युदाहरणप्रत्युदाहरणानि न प्रस्तुतानि। दिग्दर्शनाय कतिपयसूत्राण्युपस्थाप्यन्ते—

१. ''परः सन्निकर्षः संहिता'' (पा० सू० १/४/१०९) इदं तावत्संज्ञाविधायकं सूत्रम्। अत्र प्राचीनव्याकरणदृष्ट्या काशिकायाम्—परशब्दोऽतिशये वर्त्तते। सन्निकर्षः प्रत्यासत्तिः। परो यः सन्निकर्षो वर्णानामर्धमात्राकालंव्यवधानं स संहितासंज्ञो भवति। दद्ध्यत्र, मद्ध्वत्र। संहिताप्रदेशाः संहितायाम् इत्येवमादयः'', इयान् विचारो विहितः। किन्तु नव्यव्याकरणानुसारेण वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्यां ''वर्णानामतिशयतिः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात्'' मात्रमेतावानेवांशो लभ्यते।

२. ''प्रत्ययः'' (पा० सू० ३/१/१) इदमधिकारसूत्रमाश्रित्य प्राचीनव्याकरणे काशिकायाम्—''अधिकारोऽयम्। प्रत्ययशब्दः संज्ञात्वेनाधिक्रियते। आपञ्चमाध्यायपरिसमाप्तेर्यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः प्रत्ययसंज्ञास्ते वेदितव्याः, प्रकृत्युपपदोपाधिविकारान् वर्जयित्वा। वक्ष्यति—तव्यत्तव्यानीयरः। कर्तव्यम्, करणीयम्, तैत्तिरीयम्। प्रत्ययप्रदेशाः—''प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्'' इत्येवमादयः। इत्येतावद् विवेचनं विहितम्। नव्यव्याकरणे तु कौमुद्याम्—''आपञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारोऽयम्'', इत्येतावन्मात्रमेव विवृतम्। एवञ्च सूत्रार्थोदाहरण-प्रत्युदाहरणविवेचनदिशा प्राचीननव्यव्याकरणयोः साक्षाद् वैषम्यमञ्चति।

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य व्याकरणविभागे विश्वविद्यालयानुदानायोगेन उत्तरप्रदेश-शासनेन च प्राचीनव्याकरणनव्यव्याकरणविषययोः विभागयोश्च नाम्ना प्राध्यापकोपाचार्याचार्याणां पदानि स्वतन्त्ररूपेण स्वीकृतानि। सन्दर्भेऽस्मिन् उभावपि विषयावेकं मत्वा विश्वविद्यालयप्रशासनेन अद्यावधि काप्यापत्तिर्न विहिता। अध्यापनसमयचक्रम् (टाईमटेबुल) अपि पृथक् पृथग् निर्मीयते। एवं विश्व-विद्यालयस्य व्याकरणविभागे प्राचीननव्यव्याकरणविषयविभागयोर्वैषम्यं सुस्पष्टतया विभाति।

विश्वविद्यालयस्य व्याकरणविभागे स्वीकृतान्येकादशपदानि सन्ति। तत्र रिक्तानि प्राध्यापको-पाचार्यपदानि आरक्षितानि, किन्तु प्राचीननव्यविषयविभागवैषम्याद् आचार्यस्य पदद्वयमारक्षणमुक्तं विद्योतते। यदि द्वयोः विषययोः साम्यं स्यात्तर्हि नूनमेकतरमाचार्यपदमारक्षितं स्यात् किन्तु नास्त्येवमिति वैषम्यं विभातितमाम्।

उत्तरप्रदेशराज्यविश्वविद्यालयाधिनियमः योहि १९७३ ई० वर्षे निर्मितः, तस्य धारा ३१ (५) 'घ' संख्याकस्य स्पष्टीकरणं सं० (१) पृ० ४७ यद्यपि चयनसमितेर्विशेषज्ञसदस्येभ्यः प्रस्तुतं तथापि

तस्योपयोग: चयनसमितेः समक्षमुपस्थितेभ्यः प्रत्याशिभ्योऽपि भवति। अस्य स्पष्टीकरणस्य परिप्रेक्ष्येऽपि प्राचीन-नव्यव्याकरणयोर्वैषम्यं सुतरां निश्चितम्।

कतिपये जनाः प्राचीननव्यव्याकरणयोरनयोरैक्यं ख्यापयन्ति। सम्भवतः तथ्यमिदं ते न विचारपथं निदधति यद् भगवता बादरायणेन निर्मितमेकमेव ब्रह्मसूत्रं समेषामास्तिकदर्शनानामुद्गमस्थानम्। किं शाङ्कररामानुजवल्लभमध्वनिम्बार्कादीनि वेदान्तदर्शनानि एकस्यैव ब्रह्मसूत्रस्याधारेण निर्मितानि परस्परं भिन्नानि न सन्ति। एवमेवाष्टाध्यायीक्रमव्युत्क्रमवैज्ञानिकावैज्ञानिकसरलकठिननव्यन्यायपरिष्कारपद्धति-विवेचनशैल्यादिभेदैः भिन्नत्वादनयोरेकस्य विषयस्य विद्वान् द्वितीयं विषयं पाठयितुं कदापि सक्षमो न भवितुमर्हति। अतः संक्षिप्तेनानेन निदर्शनेन प्राचीननव्यव्याकरणयौरैक्यं नास्ति, वैषम्यन्तु सर्वथा दार्ढ्यमञ्चत्येव।

''इत्सिङ्ग की भारत यात्रा'' इत्यभिधानस्य सुप्रसिद्धपुस्तकस्य २६४ पृष्ठाङ्कात् २७३ पृष्ठाङ्कं यावद् अवलोकनेनेदं तथ्यं समक्षमायाति यत् खृष्टाब्दस्य सप्तमशताब्दावसाने भारतस्य यात्रायामागतस्य चैनयात्रिण इत्सिङ्गस्य मतेन तस्मिन् काले व्याकरणस्य तात्पर्यभूता ग्रन्था अष्टाध्यायी, काशिका महाभाष्यञ्च ज्ञायन्तेस्म। इत्सिङ्गेनैतेषां ग्रन्थानामध्ययनं सम्पूर्णसंस्कृतवाङ्मयस्य ज्ञानाय अपरिहार्यं स्वीक्रियतेस्म।

चन्द्रगुप्तवेदालङ्कारेण लिखितस्य ''बृहत्तर भारत'' इत्याख्यस्य पुस्तकस्य ३४२ पृष्ठाङ्के बौद्ध-धर्मानुयायिभिरष्टाध्यायीपद्धत्या प्राचीनव्याकरणस्याध्ययनाध्यापनयोरुल्लेखो लभ्यते।

स्वामिदयानन्दसरस्वतीब्रह्मदत्तजिज्ञासुगोपालशास्त्रिदर्शनकेशरी-युधिष्ठिरमीमांसकादिभिर्विद्वद्भिः नव्यव्याकरणापेक्षया प्राचीनव्याकरणमत्यन्तं वैज्ञानिकं लौकिकवैदिकसकलशब्दानां ज्ञानाय उपादेयत-ममुद्घोषितम्।

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य महात्मागांधीकाशीविद्यापीठस्य च कुलपतिभिः हिन्दी-विद्यापीठ-देवधर विहारस्य कुलाधिपतिभिः अन्ताराष्ट्रियख्यातिलब्धसार्वभौममनीषिभिः पद्मभूषणा-लङ्कृतैः प्रो० विद्यानिवासमिश्रैः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालये प्राच्यविद्याधर्मविज्ञानसङ्कायस्य व्याकरण-विभागस्य च सेवानिवृत्तैरध्यक्षैः प्रो० सीतारामशास्त्रिभिः, तत्रैव सम्प्रति व्याकरणविभागाध्यक्षैः प्रो० बालशास्त्रिभिः, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये वेदवेदाङ्गसङ्कायस्य पूर्वाध्यक्षैः प्रो० उमाशङ्करशुक्लैश्च स्वहस्तलिखितैः तथ्यैः प्राचीननव्यव्याकरणयोः वैषम्यं प्रमाणितम्। प्रबन्धेऽस्मिन् विस्तरभिया निखिलं तथ्यमप्रस्तूय प्रो० विद्यानिवासमिश्राणां प्रमाणपत्रम् अनुक्रियते—

मैं यह प्रमाणित करता हूँ कि प्राचीन व्याकरण और नवीन व्याकरण ये दोनों विषय शास्त्रीय दृष्टि से अलग हैं। नवीनव्याकरण पाणिनीयक्रम में नहीं पढ़ाया जाता, प्राचीन व्याकरण पाणिनीयक्रम से पढ़ाया जाता है। नवीन या नव्य व्याकरण में परिष्कार पर बल है, प्राचीन में प्रक्रिया पर, प्रक्रिया के सिद्धान्तपक्ष पर। पाणिनीय अष्टाध्यायी को पतञ्जलि और काशिकाकार ने किस रूप में समझा, इसकी विशद व्याख्या

प्राचीन व्याकरण की पद्धति से होती है। नव्य व्याकरण नव्य न्याय के जोड़-तोड़ में है। एकेडेमिक दृष्टि से दोनों विषय अलग हैं, दोनों के पद भी अलग हैं।

विद्यानिवास मिश्र

एवं विदुषां निष्पक्षप्रमाणैः प्राचीननव्यव्याकरणयोः वैषम्यं प्राकाश्यं भजते।

अनेन प्रकारेणोभयोर्विषययोः संलग्नाभ्यां विशेषणाभ्यां पाठ्यक्रमैतिहासिकतथ्यशैलीभेदस्वीकृत-पदभेदारक्षणाधिनियमविद्वन्मतादिलक्षणयुक्तिप्रमाणैः प्राचीनव्याकरणनव्यव्याकरणयोः कथमपि साम्यं नास्ति किन्तु सर्वथा वैषम्यमेव दृष्टिपथमाकर्षति। अस्य प्रबन्धस्य माध्यमेन मयैकः संक्षिप्त आयासो विहितः। वस्तुतस्तु प्रसङ्गेऽस्मिन् विस्तरेण विचारस्यावश्यकता विद्यत इति बहु पल्लवितेनालम्।

✿

आस्तिकदर्शनानां वैशिष्ट्यम्

डॉ० जयप्रकाशनारायणत्रिपाठी
उपाचार्यः, वेदान्तविभागे
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये, वाराणस्याम्

"अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः" इति पाणिनिसूत्रेण आस्तिकशब्दस्य सिद्धिर्भवति। यद्यपि दिष्टशब्दस्य दैवं दिष्टं भागधेयमिति कोशानुसारं भाग्यमप्यर्थो भवति, तथापि पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यत इति रीत्या पूर्वजन्मकृतानि कर्माणि दैवशब्दवाच्यानि दिष्टशब्दस्यापि वाच्यतां लभन्ते। अतः पूर्वजन्मस्वीकर्तारः आस्तिकाः इति वक्तुं शक्यते। आस्तिकानां दर्शनानि आस्तिकदर्शनानि इति आस्तिकदर्शनशब्दस्यार्थे क्रियमाणे जैनबौद्धदार्शनिका अपि आस्तिकानां पङ्क्तौ पतन्ति पुनर्जन्मस्वीकारात्, तथापि वेदप्रामाण्याभ्यु-पगन्तृत्वमास्तिकत्वमिति परिभाषायां कृतायामपि अस्य साङ्कर्यस्य वारणं कर्तुं शक्यते। अतः एवं वक्तव्यं यत् ये वेदप्रामाण्यमभ्युपगम्य पुनर्जन्म मन्वते ते आस्तिकाः। एवंरूपेण न्याय-वैशेषिक-सांख्य-योग पूर्वमीमांसोत्तरमीमांसा(वेदान्त) भेदेन षट् सन्ति आस्तिकदर्शनानि। दर्शनं नाम दर्शनसाधनम्। दृश्यते अनेनेति दर्शनमिति करणे व्युत्पत्तिस्वीकारात्। किं दृश्यते इति जिज्ञासायामात्मतत्त्वं दृश् धातोः कर्मत्वेनायाति। जगतः सम्पूर्णस्यापि दर्शनार्थं विशिष्ट-प्रयासानपेक्षणात्। आत्मतत्त्वं यस्य ज्ञानार्थं (दर्शनार्थं) दर्शनानि उपायान् प्रतिपादयन्ति तन्नित्यमिति अत्र सर्वेषामस्तिकदर्शनानामविरोधः। अतति सततं गच्छतीति आत्मा इति आत्मशब्दस्य व्युत्पत्तिः। अत्र सर्वे गत्यर्थाः ज्ञानार्थाः इति

सिद्धान्तानुसारमात्मा सततं ज्ञायते सर्वदा प्रकाशमानस्तिष्ठतीति शब्दार्थतया ज्ञातो भवति। अत्र च प्रमाणं सर्वस्यापि चेतनस्य अहमस्मि न वा इति सन्देहाभावः।

वेदप्रामाण्यमभ्युपगम्य आस्तिकदर्शनानि आत्मतत्त्वस्य स्वरूपं तत्प्राप्तिसाधनानि च व्याचक्षुः। अयं हि परमो लाभः यत् योगेनापि दर्शनमिति याज्ञवल्क्यवचनानुसारं योगानुष्ठानपूर्वकमात्मदर्शनमात्म-साक्षात्कारः मानवजीवनस्य उद्देश्यरूपेण निश्चितं वर्तते। अतएव श्रुतिः वदति—आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः। अत्र वाशब्दः एवार्थकः आत्मैव द्रष्टव्यः अस्यार्थः। एतच्च दर्शनं गुरूपसत्तिमन्तरा न भवति। अतएव श्रुतिः वदति—तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

आत्मनः स्वरूपविषये वर्तन्ते दार्शनिकानां मतभेदाः। नैयायिकाः जीवात्मा परमात्मा चेतिरीत्या भेदद्वयमात्मनः अङ्गीकुर्वाणाः जीवस्तु प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च इति वदन्तः जीवात्मनः प्रतिशरीरं भेदं व्यापकत्वञ्च वदन्ति। मिथ्याज्ञाननिमित्तकश्च संसार इत्थमपि वदन्ति। दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्या-ज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः इति गौतमसूत्ररीत्या मिथ्याज्ञानात् रागद्वेषादीनां संभवः। रागद्वेषयोः सतोः प्रवृत्तिः, प्रवृत्तौ सत्यां जन्म, जन्मनः सत्त्वे दुःखमित्यस्ति संसारप्राप्तौ निमित्तता मिथ्या-ज्ञानस्य। एतच्च मिथ्याज्ञानं प्रमाणप्रमेयादीनां तत्त्वज्ञानात् निवृत्तं भवतीति उच्यते गौतमेन—"प्रमाण-प्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्त-सिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाछलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानात् निःश्रेयसाधिगमः।" एते दार्शनिकाः आत्मानं ज्ञानाधिकरणं मन्वते। न केवलं ज्ञानमेवात्मनः गुणः अपितु सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्न-धर्माधर्मसंस्कारा आत्मगुणाः इति कथनेन अष्टौ विशेषगुणाः आत्मनि स्वीकुर्वन्ति। संयोगादयः सामान्यगुणा अपरेऽपि सन्ति। आत्यन्तिकैकविंशतिदुःखध्वंसो मोक्ष इति स्वीकुर्वन्तो इमे मोक्षे शरीरादीनामभावादात्मनि ज्ञानं न भवतीति वदन्ति। नैयायिका आत्मविषये वैशेषिकसिद्धान्तमनुसरन्ति।

सांख्यदार्शनिकाः संख्यानं प्रकृतिपुरुषयोः विवेकज्ञानं मोक्षकारणमिति वदन्ति। तेषां मते प्रकृतिपुरुषयोः संयोगकृतः सर्गः पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगः तत्कृतः सर्गः। अस्मिन् सिद्धान्ते प्रकृतिपुरुषयोरुभयोरपि नित्यता पुरुषबहुत्वञ्च स्वीक्रियते। "पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य" इति वचनात् बुद्धेरेव कैवल्यम्, पुरुषस्य पुष्करपलाशवन्निर्लेपात् बन्धाभावात् न मोक्षः। प्रकृतिपुरुषयोरुभयोर्नित्यत्वात् कैवल्यानन्तरमपि प्रकृतिस्तिष्ठति किन्तु सर्गप्रयोजिका न भवति। सांख्याः पुरुषव्यतिरिक्तमीश्वरं न स्वीकुर्वन्ति। चेतनानधिष्ठिताया एव प्रकृतेः अचेतनाया अपि क्षीरादिवत् प्रवृत्तिं वदन्ति।

योगसिद्धान्ते ईश्वरः स्वीक्रियते। अतएव योगमतस्य सेश्वरसांख्यमिति नाम। तदुक्तं योगसूत्रे—क्लेशकर्मविपाकाशयापरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः। ईश्वरप्रणिधानात् समाधिर्भवति "ईश्वरप्रणि-धानाद्वा" इति सूत्रे व्यवस्थापितं वर्तते। समाधौ द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं भवतीति "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽव-

स्थानम्'' इति सूत्रे वर्णितं वर्तते। योगशास्त्रे मोक्षस्य कैवल्यमिति नाम। तच्च कैवल्यं गुणाधिकार-क्रमसमाप्तौ प्राप्यते। अतएव कैवल्यस्वरूपमुक्तं योगसूत्रे—

''पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्, स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। अत्र प्रतिप्रसवः इत्यस्य लयः इत्यर्थः। योऽयं गुणानां कार्यकारणात्मकानां प्रतिसर्गः तत्कैवल्यं यं कञ्चित् पुरुषं प्रति प्रधानस्य मोक्षः इत्यर्थः, स्वरूपप्रतिष्ठा वा पुरुषस्य मोक्षः इति उभयथा व्यवहारः। स्वरूपप्रतिष्ठा पुनः बुद्धिसत्वानभिसंबद्धात् पुरुषस्य चितिशक्तिरेव केवला, तस्याः सदा तथैवावस्थानं कैवल्यम्। एवं केवलस्य भावः कैवल्यमिति मोक्षलक्षणमुक्तं भवति।''

मीमांसादर्शने भाष्यकृद्भिः शबरस्वामिभिः आत्मनः अस्तित्वं युक्त्या साध्यते। तदुक्तं भट्टपादैः—

''इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुः आत्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।'' शरीरातिरिक्तस्य आत्मनः स्वर्गतत्प्राप्त्युपायावपि व्यवस्थापितौ। भाट्टैः प्राभाकरैश्च बन्धमोक्षव्यवस्था विचारिता। एषां मतौ प्रपञ्चसम्बन्धो बन्धः, तत्सम्बन्धविलयो मोक्षः। शरीरम् इन्द्रियाणि विषयाश्चेति त्रिविधो बन्धः। एते पुरुषशब्दवाच्यमात्मानं बध्नन्ति। तस्मात् एतस्य च त्रिविधस्य बन्धस्य आत्यन्तिकसमुच्छेदो मोक्षः। तदुक्तं पार्थसारथिमिश्रेण—

तस्मात्र प्रपञ्चविलयो मोक्षः। त्रिधा हि प्रपञ्चः पुरुषं बध्नाति। भोगायतनं शरीरम्, भोगसाधनानि इन्द्रियाणि, भोग्याः शब्दादयो विषयाः। भोग इति च सुखदुःखविषयोऽपरोक्षानुभवः उच्यते। तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धस्यात्यन्तिको विलयो मोक्षः इति। शरीरप्राप्तौ धर्माधर्मौ निमित्तभूतौ। काम्यानि निषिद्धानि च कर्माणि बन्धकर्माणि उच्यन्ते। अतएव भट्टपादैरुक्तम्—

मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः। नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहीर्षया॥

विहितानि कर्माणि चतुर्विधानि नित्यनैमित्तिककाम्यप्रायश्चित्तभेदात्। नित्यानि अकरणे प्रत्यवाय-जनकानि सन्ध्यावन्दनादीनि। नैमित्तिकानि पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्ट्यादीनि। काम्यकर्माणि यत्किञ्चित् फलापेक्षया क्रियमाणानि कर्माणि। यथा ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत। पापक्षालनार्थं क्रियमाणानि चान्द्रायणादीनि प्रायश्चित्तानि। निषिद्धानि च कर्माणि—न कलञ्जं भक्षयेत्, ब्राह्मणो न हन्तव्य, इत्यादिना प्रतिपादितानि। अत्र कलञ्जभक्षणम्, ब्राह्मणहननादीनि नरकाद्यनिष्टसाधनानि। अतएव निषिद्धकर्माणि उच्यन्ते। उपासनासंवलितञ्च ज्ञानं नित्यनैमित्तिककर्मसमुच्चितं मोक्षहेतुः, इति कुमारिलभट्टमतम्।

अद्वैतवेदान्तिनस्तु ''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः'' इति वन्दतः जगतः स्वप्नवत् मित्यात्वं वदन्ति। प्रमाणप्रमेयादिव्यवहारञ्च अन्तःकरणधर्माणां कर्तृत्वादीनामात्मनि अध्यासेनोप-पादयन्ति। आत्मनस्तु चैतन्यादीनामन्तःकरणेऽध्यासः। तदुक्तं भाष्यकारैः—

''अन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेनात्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्या-ज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य, अहमिदं ममेदम् इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।'' एषां मते अज्ञानम् अध्यासापरपर्यायं बन्धहेतुभूतम्, तच्च ब्रह्मात्मैक्यज्ञानान्निवर्तते। 'तत्त्वमसि' ''अहं ब्रह्मास्मि'' इति

वेदान्तमहावाक्योत्थ अहं ब्रह्मास्मि इत्याकारकवृत्तौ प्रतिफलितं ब्रह्मैव अज्ञानतत्कार्यभूतप्रपञ्च-प्रविलापकम्। एवञ्च प्रपञ्चविलये सति ब्रह्मणैव केवलवशिष्यते। वार्तिककृद्भिः सुरेश्वराचार्यैः "निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः" इति वदद्भिः मोहनिवृत्तिस्वरूपः आत्मैव मोक्षः इति उक्तम्। एषां मते अभावस्य अधिकरणस्वरूपत्वात् मोहनिवृत्तिरात्मरूपैव।

विशिष्टाद्वैतिनस्तु जीव-जगत्-परमेश्वर त्रयाणां सत्यत्वमङ्गीकुर्वन्ति। एतेषां मते ईश्वराज्ञानाद् बन्धः तस्य च कृपया मोक्षः। श्रुतिस्तु—"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" इति वदति। एषां मते जीवानां नानात्व-मणुत्वमीश्वरस्यैकत्वं चिदचिच्छरीरकत्वञ्च वर्तते। अत ईश्वरः स्वशरीरभूतान् जीवान् स्वकृपया स्वाभि-मुखीकृत्य भक्तिप्रपत्तिभ्यां पारवश्यङ्गतः सालोक्यसामीप्यसारूप्यसायुज्यैकत्वभेदभिन्नं मोक्षं ददाति।

सर्वाणि आस्तिकदर्शनानि श्रुत्यर्थसमन्वयपराणि, विभिन्नानां श्रुतिवचनानां समन्वयपुरस्सरं स्वसिद्धान्तान् प्रतिपादयन्ति। अतः केवलया कल्पनया उत्प्रेक्षितानि मतानि इति न तथ्यं वचः। सर्वेषां मते उपासनस्यावश्यकता वर्तते मोक्षार्थम्। उपासनं साक्षादुपयोगि परम्परया वा इत्यत्र वर्तते मतभेदः। सर्वाणि दर्शनानि विदेहकैवल्यं स्वीकुर्वन्ति, किन्तु कानिचन दर्शनानि जीवन्मुक्तिमपि स्वीकुर्वन्ति।

✿

काव्यकारणविमर्शः

डॉ० मनुलता शर्मा
रीडर, संस्कृतविभागे
कलासङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः

सहृदयजनमनोनुरञ्जकस्य कीर्तिप्रीत्याद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य किं कारणम्? इति मीमांसायां विहाय द्वित्रान् आचार्यान् प्रायः समेषामैकमत्यं दृश्यते। एतस्य निरूपणं प्रायः सर्वैरप्याचार्यैः स्व-स्वग्रन्थे कृतमस्ति। तथाहि भामहः—

विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना।
रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता[१]॥

---

१ काव्यालङ्कारः, १/४.

इति काव्यं प्रशंसन् तस्य कारणमाह—

गुरूपदेशादध्येतुं काव्यं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः[२]॥

अत्र कवित्वस्य बीजं प्रतिभामाह भामहः। अनन्तरं काव्यसम्पादनकर्मणि वैशिष्ट्यं निर्दिशन्—**यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः**[३] अत्र विदितवेद्येन काव्यनिर्माणे यत्नो विधेयः, इत्युक्त्या विविधशास्त्रादीनां ज्ञानमपि काव्यकारणेऽपेक्षितमिति ज्ञायते।

अन्यत्र च—

शब्दश्छन्दोभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यगैर्ह्यमी॥
शब्दाभिधेयौ विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः[४]॥

इत्युक्त्या ज्ञायते यद् भामहमते प्रतिभा काव्यज्ञशिक्षा विविधशास्त्रज्ञानञ्च कारणम्।

तदनु दण्डी काव्यस्य कारणं निरूपयन् प्राह—

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतञ्च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥[५]

परमिदं काव्यं प्रतिभाव्युत्पत्त्यभ्यासानां समवायेनैव उत्पद्यते इति स्वीकुर्वन्नपि दण्डी किञ्चित् मतवैभिन्यं धत्ते। तदनुसारं व्युत्पत्त्याऽपि काव्यनिष्पत्तिर्भवति। यथोक्तं—

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धी प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्[६]॥

तदनन्तरं वामनः काव्यकारणं निरूपयन्नाह काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ—

लोको विद्या प्रकीर्णञ्चेति काव्याङ्गानि[७]

लोकवृत्तं लोकः। शब्दस्मृत्यभिधानकोशच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वाविद्याः। लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम्।

रुद्रटश्च स्वकृतकाव्यालङ्कारे काव्यकारणं निरूपयन् प्राह—

तस्यासारनिरासात् सारग्रहणाच्च चारुणः करणे।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः[८]॥

---

२. काव्यालङ्कारः, १/५.

३. काव्यालङ्कारः, १/८.

४. काव्यालङ्कारः, १/९-१०.

५. काव्यादर्शः, १/१०३.

शक्त्या शब्दार्थौ मनसि सन्निधीयते। तयोः सारासारग्रहणनिरासो व्युत्पत्त्या क्रियते। अभ्यासेन शक्तेरुत्कर्ष आधियते। अतः तत्र शक्तिपदार्थजिज्ञासायाम् एभिरुक्तम्—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः[९]॥

इयमेव शक्तिरपरैराचार्यैः प्रतिभापदेनाऽभिहिता। सा च द्विविधा—सहजा उत्पाद्या च। तत्र पुंसा सहजत्वात् सहजा। अनयोः सहजा शक्तिः ज्यायसी। तत्र—

स्वस्याऽसौ संस्कारे परमपरं मृगयते यतो हेतुम्।
उत्पाद्या तु कथञ्चिद् व्युत्पत्त्या जन्यते परया[१०]॥

इत्थम् एतन्मते सहजा शक्तिः जन्मातरजा संस्काररूपा। उत्पाद्या तु व्युत्पत्तिजन्या। सा च व्युत्पत्तिः—

छन्दोव्याकरणकला-लोकस्थितिपदार्थविज्ञानात्।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन[११]॥

किमधिकं सर्वमपि शास्त्रं सवोऽपि विद्या काव्याङ्गत्वं प्राप्नोति; अतः सर्वज्ञता अपि अपेक्षिता वर्तते। उक्तञ्च—

न स शब्दो न तद् वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः[१२]॥

अतोऽग्रे प्राह—

विस्तरतस्तु किमन्यत् तदिह वाच्यं न वाचकं लोके।
न भवति यत् काव्याङ्गं सर्वज्ञत्वं ततोऽन्यैषा[१३]॥
अतोऽधिगतसकलज्ञेयः सुकवेः सुजनस्य सन्निधौ नियतम्।
नक्तन्दिनमभ्यस्येदभियुक्तः शक्तिमान् काव्यम्[१४]॥

इत्थम् एतन्मते शक्तिव्युत्पत्तिरभ्यासाश्च काव्यकारणानि सन्ति इति सिद्धम्। इदमपि निश्चप्रचं यत्

---

६. तत्रैव १/१०४.

७. काव्यालङ्कारसूत्राणि, १/३/१.

८. काव्यालङ्कारः, १/१४.

९. काव्यालङ्कारः, १/१५.

१०. तत्रैव १/१७.

११. तत्रैव १/१८.

१२. तत्रैव १/११ टीकायामुद्धृतम्।

१३. काव्यालङ्कारः, १/१९.

१४. काव्यालङ्कारः, १/२०.

सकलशास्त्रज्ञैरपि काव्यनिर्माणाभ्यासः काव्यज्ञ–सन्निधौ एव विधेयः। काव्यज्ञोऽपि निर्मत्सरो भूयात्। यतो हि सुकविः छन्दोव्याकरणादिविषयातिरिक्तमपि जानाति। तथाहि यच्छन्दः पिङ्गलादौ न प्रोक्तं तदपि सुकविरुपदिशति। यथाहि माघे—

कृतसकलजगद्विबोधोऽवधूतान्धकारोदयः ,
क्षयितकुमुदतारकश्रीर्वियोगं नयन्कामिनः।
बहुतरगुणदर्शनादभ्युपेताल्पदोषः कृती
तव वरद करोतु सुप्रातमह्नामयं नायकः[१५]॥

एवं भारविरपि—

इह दुरधिगमैः किञ्चिदेवागमैः सततमसुतरं वर्णयन्त्यन्तरम्।
अमुमतिविपिनं वेददिग्व्यापिनं पुरुषमिव परं पद्मयोनिः परम्[१६]॥

इमौ श्लोकौ यस्मिन् छन्दसि निबद्धौ तच्छन्दो न गोचरीभवति छन्दःशास्त्रे। तथा व्याकरणे ववर्ष्टिः, अजर्घाः शस्ति, दर्द्रष्टि, इट्टेः, ईर्त्सति जिह्वायकयिषंति अड्डिडिषति इत्यादीनां रूपाणां सिद्धिर्भवति परं काव्ये एतेषां प्रयोगो न विधेयः। एवं क्षपि, मिलि, अर्थि, वचि, क्लीब् प्रभृतयो धातवः धातुगणे पठिताः, परं काव्ये न प्रयोज्याः। सहधातुः आत्मनेपदे विहितः परं कविभिः परस्मैपदेऽपि प्रयोगो विहितः। एतावताः ग्राह्यः। पक्ष्मशब्दोऽक्षिरोमसु पठितः परं कविभिरन्यत्राऽपि अन्यस्मिन्नप्यर्थे प्रयुज्यते। यथा माघे— **निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना।**[१७] एतत् सर्वं ज्ञानं सुकविशिक्षयैव भवति। वाग्भटस्तु—

प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यासः इत्याद्यकविसन्कथा[१८]॥

इति काव्यकारणं निरूप्य प्रतिभाव्युत्पत्त्यभ्यासानां स्वरूपमाह—

प्रसन्नपदनव्यार्थयुक्त्युद्बोधविधायिनी ।
स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी[१९]॥

इति प्रतिभा लक्षणमाह।

शब्दधर्मार्थकामादि शास्त्रेष्वाम्नायपूर्विका।
प्रतिपत्तिरसामान्या व्युत्पत्तिरभिधीयते[२०]॥

---

१५. शिशुपालवधम्, ११/६७.

१६. किरातार्जुनीयम, ५/१८.

१७. शिशुपालवधम्, १/८.

१८. वाग्भटालङ्कारः, १/३.

१९. तत्रैव, १/४.

२०. तत्रैव, १/५.

इत व्युत्पत्तिं निरूप्य अभ्यासं प्रतिपादितवान्—

अनारतं गुरूपान्ते यः काव्ये रचनादरः।
तमभ्यासं विदुस्तस्य क्रमः कोऽप्युपदिश्यते[२१]॥

अपि च—

मनः प्रसक्तिप्रतिभा प्रातःकालेऽभियोगिता।
अनेकशास्त्रदर्शित्वम् इत्यर्था लोकहेतवः[२२]॥

राजशेखरः काव्यस्य कारणं विमृशन् प्राह—

सा केवलं काव्ये हेतुः, विप्रसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम्। शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी। शक्तस्य प्रतिभाति, शक्तश्च व्युत्पद्यते।[२३]

प्रतिभायाः स्वरूपं विवृण्वन् कथयति सः—

या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा।[२४]

तन्मतानुसारं इयं प्रतिभा द्विविधा भवति—कारयित्री भावयित्री च। कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री। साऽपि त्रिविधा सहजाऽऽहार्यौपदेशिकी च। जन्मान्तरसंस्कारापेक्षिणी सहजा। जन्मसंस्कारयोर्निराहार्या। मन्त्रतन्त्राद्युपदेशप्रभवा औपदेशिकी।[२५]

इत्थं राजशेखरमते कवयोऽपि त्रिविधा भवन्ति—सारस्वतः, आभ्यासिकः, औपदेशिकश्च। जन्मान्तरसंस्कारप्रवृत्तसरस्वतीको बुद्धिमान् कविः सारस्वतोऽस्ति। जन्माभ्यासोद्भासितभारतीक आहार्यबुद्धिराभ्यासिकः। उपदेशदर्शितवाग्विभवो औपदेशिकः।[२६]

भावकमुपकुर्वाणा भावयित्री प्रतिभा भवति। एषा कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति। एतयैव कर्वेर्वाकृतरुः फलति तन्मधुरिमा तत्सुगन्धिश्च प्रसरति। अनयोरुभयोरपि प्रतिभयोरेकत्र समायोगो दुर्लभः। कविः काव्यं निर्माति, भावकश्च व्युत्पादयति। नहि कविरेव भावकः। तदुक्तम्—

कश्चित् वाचं रचयितुमलं श्रोतुमेवापरस्तां
कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति।
न ह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणाना-
मेकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः[२७]॥

---

२१. तत्रैव, १/६.

२२. तत्रैव, १/१४.

२३. काव्यमीमांसा, चतुर्थोऽध्यायः।

२४. काव्यमीमांसा, चतुर्थोऽध्याय।

२५. तत्रैव, चतुर्थोऽध्यायः।

२६. तत्रैव चतुर्थोऽध्यायः।

परमेतस्य निदर्शनभूतं वर्तते पण्डितेन्द्रो जगन्नाथः। तस्य काव्यमप्यतिसरसं, रमणीयं, सुपेशलं भवति, तत्समालोचनेऽपि तत्प्रतिभाऽप्रतिबद्धा प्रसरति। प्रमाणं चात्र रसगङ्गाधरो ग्रन्थः। परमयमपवादः। कालिदासस्तु—सूर्यप्रभवं वंशं वर्णयितुं रघुवंशमहाकाव्यं निबध्नन् तद्गुणदोषपरीक्षणाय सज्जनान् एवाधिकारिणो मनुते। तदुक्तं—

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा[२८]॥

एतेन ज्ञायते एतन्मते कविः काव्यं निर्माति तत्समालोचने सज्जना एव प्रभवन्ति। अभिज्ञानशाकुन्तलेऽपि—

आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः[२९]॥

भावकस्य महत्त्वमपि राजशेखरेण वर्णितम्—[३०]

प्रतिभातारतम्येन प्रतिष्ठा भुवि भूरिधा।
भावकस्तु कविः प्रायो न भजत्यधमां दशाम्॥

आनन्दवर्धनश्च प्रतिभामेव काव्यस्य कारणं निजगाद—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्[३१]॥

अन्यत्र च प्राह—

अलङ्करान्तराणि हि रसभावसमाहितचेतसः।
प्रतिभानवतः कवेः अहं पूर्विकया परापतन्ति[३२]॥

(ध्वन्यालोकः पृ० ३२२)

इयं प्रतिभा बुद्धिविशेषः। बुद्धिश्च गुणः प्रतिभा च अपूर्ववस्तुनिर्माण क्षमाप्रज्ञा प्रतिभा मता। अपि च हेमचन्द्रानुसारं 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभा मता।' इयं प्रतिभा काव्यस्य सारतत्त्वभूतरसावेशेनैव भासमाना दृश्यते। प्रतिभाप्रतिभासपवित्रितान्तःकरणाः सहृदया एव काव्यस्य सारभूतं तत्त्वमवगन्तुं शक्नुवन्ति। अतो रसावेशवैशद्यसौन्दर्ययुक्तकाव्यनिर्माणक्षमत्वं प्रतिभानम्। एतेन सिद्धं सरसमपूर्वञ्च काव्यनिर्माणस्य प्रतिभैव मूलम्।

---

२७. तत्रैव चतुर्थोऽध्यायः।

२८. रघुवंशम्, १/१०.

२९. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १/२.

३०. काव्यमीमांसा, चतुर्थोऽध्यायः।

३१. ध्वन्यालोकः, १/६.

३२. ध्वन्यालोकः।

अनुभवः बोधयति यत् काव्यं तदेव चारु भवति यत् सहृदयहृदयावर्जकं सन्मनोरञ्जकञ्च भवति। इयं सहृदयहृदयावर्जकता नवनवार्थनिष्यन्दमाधुर्यात् जायते। अत एवं कविः विलक्षणं वर्णनं प्रस्तौति यथा स एव पदार्थः बहुधा दृग्गोचरीभूतोऽपि नवतामापद्यते। एषा नूतनता एव पदार्थानां रमणीयतापदेनोच्यते। रमणीयता च यथा माघेन वर्णिता—**क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः**'[३३] एतन्नूतनतानिर्धारणे कवेः प्रतिभैव क्षमते। यतो हि प्रतिभाया लक्षणं पूर्ववर्णितमस्ति—**प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा**[३४]। हेमचन्द्रानुसारं **प्रतिभा नवनवोल्लेखशालिनी प्रज्ञा**।[३५] पराशरोपपुराणे च—

स्मृतिरतीतविषया मतिरागामिगोचरा।
बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया प्रज्ञा त्रैकालिकी मता॥

राजशेखरमते अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मर्त्री स्मृतिः। वर्तमानस्य मन्त्री मतिः, अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञेति।

जयदेवश्च—

प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धा बीजमाला लतामिव[३६]**॥**

मम्मटाचार्यस्तु स्वपूर्वाचार्याणां समेषां मतं समीक्ष्य समालोच्य च काव्यकारणं प्रस्तुतवान्—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे[३७]**॥**

अत्र शक्यते काव्यं कर्तुं समालोचयितुं वाऽनया इति शक्तिः, इति व्युत्पत्त्या उत्पादिका व्युत्पादिका चेत्युभयविधा शक्तिः संगृहीता। इयं शक्तिः कवित्वबीजरूपा सहजा उत्पाद्या च। उत्पाद्या मन्त्रतन्त्र-साधनदेवार्चनादिभिरपि जायते। शक्तिं विना काव्यं प्रसृतं न भवति यथा कथञ्चित् निर्माणेऽपि उपहासास्पदं जायते।

एवं लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् निपुणता अर्थात् व्युत्पत्तिः। अत्र लोकपदेन लोक्यतेऽसौ इति लोकः। इति व्युत्पत्त्या लोकवृत्तमेव गृह्यते। लोकश्च स्थावरजङ्गमात्मकः। शास्त्रपदेन च सर्वतः प्रथमं पद्यनिर्माणे छन्दोज्ञानमपेक्षितम्, पुनः शब्दार्थमयस्य काव्यस्य निर्माणाय साधुशब्दज्ञानमपेक्षितं तदर्थं व्याकरणं अर्थज्ञानाय च मीमांसाशास्त्रस्य न्यायशास्त्रस्य च ज्ञानमपेक्षितम्। यतो हि उक्तम्—पदलक्षणाया वाचोऽन्वाख्यानं व्याकरणं, अर्थलक्षणायार्थलक्षणम् इति।

---

३३. शिशुपालवधम्, ४/१७.

३४. ध्वन्यालोकलोचन, १/६ लोचनांशः।

३५. काव्यानुशासनम्, १.

३६. चन्द्रालोकः १/६.

३७. काव्यप्रकाशः, १/३.

अनन्तरं काव्यस्य प्रयोजनं चतुर्वर्गव्युत्पत्तिर्वतते। अतः काव्ये धर्मप्रतिपादनाय मन्वादिप्रणीतस्य धर्मशास्त्रस्य, अर्थप्रतिपादनाय बृहस्पतिशुक्रकौटिल्यादिप्रणीतस्य शास्त्रस्य, वात्स्यायनप्रणीतकाम-शास्त्रस्य एवं मोक्षप्रतिपादकानां षड्दर्शनानां ज्ञानमपेक्षितम्। कलास्वपि व्युत्पत्तिर्भवति। अतः चतुष्षष्टि-कलानां तथा शालिहोत्रादिप्रणीतगजतुरगखड्गादिलक्षणप्रतिपादकग्रन्थानां शास्त्रपदेन ग्रहणम्। एवं महाकाव्यानां इतिहासादीनाञ्च विमर्शनात् व्युत्पत्तिः भवति।

एवं काव्यस्य गुणदोषविवेचनं सहृदयानुरञ्जकं निर्माणञ्च ये जानन्ति तेषामुपदेशेन काव्यस्य पौनःपुन्येन निर्माणे प्रवृत्तिरभ्यासः। एतत् त्रयं सम्मिलितं काव्यस्य निर्माणं प्रति काव्यस्य विकासं प्रति च कारणम्। इयं कारणता दण्डचक्रचीवरादिन्यायेन वर्तते न तु तृणारणिमणिन्यायेन। एतदेव प्रायः आभामहात् रुद्रटपर्यन्तं सर्वैराचार्यैर्निरूपितम्।

इत्थं प्रायो दृश्यते पुरातनकालात् आभामहात् पण्डितराजात् प्राक् काव्यकरणविमर्शे प्रायः सर्वेषामैकमत्यमासीत्। परं पण्डितराजः किञ्चिद् विशिनष्टि। स काव्यस्य कारणं केवलां कविगतां प्रतिभामेवाह। प्रतिभा च तन्मते—

काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः।[३८]

प्रतिभात्वञ्च काव्यकारणतावच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेषः। अर्थात् काव्यं प्रति प्रतिभा समवायेन कारणम्। या या कारणता सा सा किञ्चिद् धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्, घटनिष्ठकार्यतानिरूपित-दण्डनिष्ठकारणतावत्। अतः प्रतिभाऽपि किञ्चिद् धर्मावच्छिन्ना। स च धर्मः प्रतिभात्वम्। स च जाति-विशेषः सखण्डोपाधिर्वा। सखण्डत्वञ्च पदार्थान्तरघटितत्त्वम्। प्रतिभाऽपि नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञारूप-पदार्थान्तरघटिता वर्तते। इयं प्रतिभैव काव्यं प्रति कारणं पण्डितराजेनाऽङ्गीकृतम्; न तु व्युत्पत्त्यभ्याससहिताया प्रतिभाया कारणता स्वीकृता। यतो हि बालादीनां व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यां विनाऽपि काव्योत्पत्तिदर्शनात् काव्यं प्रति व्युत्पत्त्यभ्यासयोः कारणता नास्ति, व्यभिचारात्। अतः पण्डितराजस्य मते प्रतिभां प्रति गुरुदेवतामहापुरुषादिप्रसादजन्यमदृष्टं विलक्षणं व्युत्पत्त्यभ्यासौ च कारणम्। अतएव पञ्चवर्षवयस्कः ध्रुवः स्वविलक्षणतपसा श्रीमन्तं नारायणं षण्मासेनैव तोषयामास। सन्तुष्टो हरिः वरं प्रदातुं गरुडारूढो यदा तत्समक्षं प्रादुरभूत् तदा स अपूर्वं भगवत्स्वरूपं दृग्गोचरीकृत्य सचकितचकितैव तस्थौ। किञ्चिदपि वक्तुं न पारयामास। तदा हरिः तमनुग्रहीतुं स्वपाञ्चजन्यं तत्कपोले कृपया पस्पर्श। तत्स्पर्शादेव तन्मुखाद् भारतीप्रवाहः प्रास्फुटत्। अतीवमधुरेण च काव्येन भगवन्तं तोषयामास—

योऽन्तः प्रविष्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना॥
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन् प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्[३९]॥

कर्णपूरप्रभृतयोऽपि पञ्चवर्षवयस्काः श्रूयन्ते मूका एवासन् तस्य कर्णपूरस्य मुखे श्रीकृष्णचैतन्यः

---

३८. रसगङ्गाधरः, प्रथमाननम्।

३९. श्रीमद्भागवतमहापुराणम् ४/९/६.

स्वाङ्गुल्यग्रं निवेश्य सद्यः विलक्षणकविताशक्तिं प्रादुरभावयत्। अत्र ध्रुवकर्णपूरादीनां जन्मान्तरीययोः व्युत्पत्त्यभ्यासयोः कल्पनाविधानं नोचितम्, मानाभावात्। अकार्यस्य काव्यस्य प्रतिभयैव उत्पत्तिदर्शनात्। यथा समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत् इति श्रुतिवाक्यस्य कादम्बर्यां मङ्गलसत्त्वेऽपि समाप्त्यदर्शनात् किरणा-वल्याश्च अकृतेऽपि मङ्गले समाप्तिदर्शनात् श्रुतिवाक्यस्य व्यभिचारोपस्थित्या तत्र जन्मान्तीरयं कारणं धर्माधर्मादि कल्प्यते अन्यथा श्रुतिवाक्ये भ्रमत्वापत्तिः स्यात्। अतः जन्मान्तरीययोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोः कल्पने किमपि प्रमाणं नास्ति। अत्र केवलं अदृष्टमेव प्रतिभां प्रति कारणम् इत्यपि वक्तुं न शक्यते। कश्चित् कविः किञ्चित् कालपर्यन्तं काव्यं कर्तुमशक्तो दृश्यते परञ्च व्युत्पत्त्यभ्यासवशात् पुनः स काव्यनिर्माणे समर्थो जातः। अतः प्रतिभां प्रति व्युत्पत्त्यभ्यासावपि कारणम् तत्रापि प्रतिबन्धकस्या- दृष्टान्तरस्य कल्पनापेक्षया पूर्वाचार्यैः स्वीकृतयोः व्युत्पत्यभ्यासयोः एव कारणत्वस्वीकारे लाघवम्।

अत्राशङ्क्यते—कारणतानिर्णयोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां जायते। तत्रान्वयः—तत् सत्वे तत् सत्ता। व्यतिरेकस्तु तदभावे तदभावः। अर्थात् तन्तुसत्त्वे तन्तुसत्ता तन्त्वभावे पटाभावः इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां पटं प्रति तन्तोः करणता निर्णीयते परं यत्र अदृष्टजन्या प्रतिभा वर्तते व्युत्पत्त्यभ्यासजन्या प्रतिभा नास्ति तत्र व्युत्पत्त्यभ्यासजन्यायाः प्रतिभायाः अभावेऽपि काव्योत्पत्तिरूपकार्यदर्शनात् व्यतिरेकव्यभिचारः। एवं यत्र अदृष्टजन्या प्रतिभा नास्ति परं व्युत्पत्त्यभ्यासजन्यायाः प्रतिभायाः सद्भावो वर्तते तत्रापि व्यतिरेक-व्यभिचारदर्शनात् नादृष्टजन्यायाः प्रतिभायाः कारणता सिध्यति न वा व्युत्पत्त्यभ्यासजन्यायाः कारणता सिध्यति; अतएव उच्यते—

काव्यमपि द्विविधं वर्तते। अदृष्टजन्यप्रतिभाजन्यमेकम्। व्युत्पत्त्यभ्यासजन्यप्रतिभाजन्यमपरम्। अतो विलक्षणं काव्यं प्रति विलक्षणा प्रतिभा कारणमिति कार्यकारणभावस्वीकारे दोषाभावात्। अर्थात् अदृष्टजन्यप्रतिभाजन्यकाव्यं प्रति अदृष्टजन्या प्रतिभा कारणम्, व्युत्पत्त्यभ्यासजन्यप्रतिभाजन्यकाव्यं प्रति व्युत्पत्त्यभ्यासजन्या प्रतिभा कारणमिति स्वीकारे नास्ति व्यभिचारः।

यत्र व्युत्पत्त्यभ्यासयोः सत्त्वेऽपि न काव्योत्पत्तिः निर्मितिर्वा जायते तत्र प्रतिभाया पापविशेषस्य प्रतिबन्धकस्य कल्पनात्। प्रतिबन्धकाभावस्य कारणता तु शक्त्यादिसमुदितस्य कारणतावादिनामपि मते स्वीकरणीया एव। अपि च येन कविना अनेकानि महाकाव्यानि रचितानि तस्याऽपि यदि कश्चित् प्रतिभागी वाक्स्तम्भं करोति तदा काव्यानामुत्पत्तिर्न दृश्यते। इत्थं पण्डितराजमते काव्यं प्रति केवलं प्रतिभैव कारणम् इति निर्णीतम्।

मम तु इत्थं प्रतिभाति यत् पण्डितराजेन बालादीनां व्युत्पत्त्यभ्यासौ विनाऽपि केवलात् देवता-प्रसादादिजन्याऽदृष्टात् प्रतिभायाः उत्पत्तिं स्वीकृत्य काव्यस्य केवलया प्रतिभया प्रादुर्भावो वर्णितः तन्न युक्तम्। पूर्वाचार्यैः शक्त्यादीनां समुदितानां कारणता यदङ्गीकृता तस्या स्वीकार एव वरम्। यतो हि देवताप्रसादादिजन्याऽदृष्टात् यथा प्रतिभाप्रादुर्भावः स्वीक्रियते भवता तथैव व्युत्पत्त्यभ्याससमन्वित-प्रतिभायाः व्युत्पत्तिः कथं न स्वीक्रियते। एवं विष्णोः शङ्खस्पर्शात् ध्रुवस्याऽपि शक्त्यादीनां समन्वये नैवं प्रादुर्भावोऽङ्गीकरणीयः। एवं स्वीकारे न काऽपि अनुपपत्तिः अपितु पण्डितराजेन या प्रतिभाद्वयी स्वीकृता

तस्याः स्वीकारे या विप्रतिपतिः समागता तद्वारणाय विलक्षणप्रतिभाजन्यं विलक्षणं काव्यम् इति या क्लिष्टकल्पना कृता वर्तते साऽपि मतेऽस्मिन् न करणीया स्यात्। एवञ्च महल्लाघवं भविष्यति।

✿

रसतत्त्वविमर्शः

डॉ० सदाशिवकुमारद्विवेदी
रीडर, संस्कृतविभागः
कलासंकायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः

शब्दार्थस्वरूपे काव्यशरीरे रस एव प्राधान्येन प्रतिष्ठापितः प्रायेण सर्वैरेव काव्यलक्षण-विधायिभिराचार्यैः। अत्र योऽयं रसः या च तस्यास्य निष्पत्तिस्तयोः स्वरूपनिर्धारणे महामुनेर्भरतस्य नाट्यशास्त्रमेवास्ति प्रथमं प्रमाणम्। तत्र षष्ठः सप्तमश्चेति द्वावध्यायौ रसविषये प्रधानभूतौ। अस्त्यत्र रसनिष्पत्तिसूत्रम्—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति'[१] इति। यद्यप्यत्र निष्पत्तेः प्राधान्यमस्ति न पुनः रसस्वरूपस्य तथाप्येतद् रससूत्रतयाऽपि प्रसिद्धं विद्वत्सु।

विभावादीनां संयोगात् निष्पन्नस्य रसस्य स्वरूपनिर्धारणप्रसङ्गे द्विविधा धारणा प्राप्यते काव्यशास्त्रिषु—

१. आस्वाद एव रस इत्येका।

२. रत्यादय आस्वाद्या भावा एव रस इति चान्या।

अर्थात् रसस्य आस्वादः आस्वाद्या भावाश्चेति द्वितयोऽपि गृह्यन्ते रसपदेन। आस्वादपदेनात्र भुज्यमानो रसस्तस्य भोगश्चेति द्वितयमपि गृह्येत, गृह्येत चास्वाद्यपदेन आस्वादरूपस्य भोगस्यास्य विषयीभूता विभावादिसामग्री।

---

१. नाट्यशास्त्रम, ६.३१.

आचार्य अप्यत्र मतभेदेन प्रवर्तमाना दृश्यन्ते। तत्रास्ति बाहुल्यम् आस्वाद्यपक्षस्यैव समर्थकानाम् आचार्याणाम्। आस्वादपक्षस्य समर्थकास्तु विरला एवाभिनवगुप्तपादादयः।[२]

काव्यशास्त्रस्याद्य आचार्यो भरतोऽपि नाट्यशास्त्रे रसस्यास्वाद्यतामेव साधयति। स हि स्थायिभावस्यैव रसरूपत्वं स्वीकरोति। अस्ति तस्य रससूत्रम्—'विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायी रस-नाम लभते''[३] इति, 'रस इति कः पदार्थः? उच्यते-आस्वाद्यत्वात्' इति च।[४] अत्र विभावादिभिः संवलितस्य स्थायिन एव रसरूपत्वम्। स्पष्टमेवासौ आस्वाद्यपंक्षस्यैव समर्थकः।

रुद्रटोऽपि स्वकीये काव्यालङ्कारे विभावादिभिः उत्पाद्यमानानां रत्यादीनामेव रसत्वं प्रतिष्ठापयत्येवम्—'सर्व एव रत्यादयो विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगादुत्पाद्यमाना भूमानमापन्ना रसीभवन्ति। तथाहि रसनाद् रसत्वमेतेषाम्' इति।[५]

रससूत्रस्य व्याख्यानप्रसङ्गे उत्पत्तिभुक्तिवादयोः संस्थापकौ लोल्लट-भट्टनायकौ आस्वादपक्षस्यैव समर्थकौ। लोल्लटो विभावैः कारणैः स्थायिभावस्य उत्पत्तिं स्वीकरोति। भुक्तिवादेऽपि भट्टनायकः स्थायिभावानां भोगमामनति। तद्यथा—'विभावादि साधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते' इति। अत्र भुजिक्रियायाः कर्म, भावसमुदाय एव। स च आस्वादरूपः।

श्रीमम्मटोऽपि काव्यप्रकाशे रसस्य आस्वाद्यत्वम् आमनति भरतस्यैव रससूत्रस्य समर्थकत्वात्।[६] साहित्यदर्पणे विश्वनाथः अमुमेव पक्षमनुमोदते। तद्यथा—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्॥ इति[७]।

लोचनेऽभिनवगुप्तः भट्टनायकस्य आस्वाद्यपक्षस्य खण्डनपुरस्सरं रसस्य प्रतीतिरूपत्वम् अपरिहार्यत्वेन स्वीकरोति। प्रतीतिः आस्वादः। रसप्रतीतिर्विलक्षणैव तत्प्रत्यायकानां विभावादीनां लोकोत्तरत्वात्। तन्मते प्रतीयमानस्य रसस्य विशिष्टा प्रतीतिः रसनापदवाच्या। सा च रसप्रतीतिः विलक्षणा लौकिकानुमानजन्यायाः प्रतीतेः, लौकिकी हि प्रतीतिः रसप्रतीतेः उपायभूता। काव्येऽपि शाब्द-प्रतीतेर्विलक्षणा सैषा रसप्रतीतिः लौकिकीं तामुपायतया अपेक्षमाणा। तदुच्यते—'रसाः प्रतीयन्त इति ओदनं पचतीतिवद् व्यवहारः, प्रतीयमान एव हि रसः। प्रतीतिरेव विशिष्टा रसना। सा च नाट्ये लौकिकी-

---

२. ध्वन्यालोकलोचनम् १.५.

३. नाट्यशास्त्रम् ६.३० वृत्तौ।

४. तत्रैव

५. काव्यालङ्कारः १२-१.

६. काव्यप्रकाशः ४.२८.

७. साहित्यदर्पणः ३.१.

मनुमानप्रतीतिं प्रमुखोपायतया संदधाति, संदधाति च काव्ये शाब्दीं प्रतीतिं तथैव, किन्तु भवत्यसौ विलक्षणैव ताभ्यामनुमानप्रतीतिशाब्दप्रतीतिभ्याम्।'[८] इति।

अभिनवगुप्तः रसनावादी आचार्यः। असौ रसास्वादाय व्यञ्जनातिरिक्तं रसनाख्यं व्यापारं स्वीकरोति। यतो हि तन्मते व्यञ्जनाजन्यबोधस्य नास्ति आस्वादरूपत्वं रसनाजन्यबोधवत्। अभिनवभारत्यां विषयेऽस्मिन्नसौ कथयति—'सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः। तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतयः। तथाहि लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कार-रसनास्वादन-भोग-समापत्ति-लय-विश्रान्त्यादिभिः शब्दैरभिधीयते।'[९] इति। फलितमेतेन अभिनवगुप्तो रसस्यास्वाद्य-तामनूद्यास्वादतां विधेयतया प्रस्तौतीति।

साहित्यदर्पणे विश्वनाथः रसनायाः व्यञ्जकत्वं प्रतिपिपादयिषत्येवं **रसना-आस्वादन-चमत्करणादयो विलक्षणा एव व्यपदेशा** इति अभिधादिविलक्षणव्यापारमात्रप्रसाधनग्रहिलैरस्माभिः रसादीनां व्यङ्ग्यत्वम् उक्तं भवति।[१०]

रसनव्यापारश्च प्रसिद्ध एव रसगङ्गाधरस्य रसनिष्पत्तिप्रसङ्गे। तत्र पण्डितराज आचार्यैः प्रतिपादितान् रससम्बन्धिन एकादशपक्षान् उपस्थाप्य रसनव्यापारं व्यञ्जनायामेव समावेशयति।[११]

स्पष्टमत्र द्वयोरपि पक्षयोर्मध्ये आस्वाद्यपक्षस्यैव समर्थकानामाचार्याणां बाहुल्यं वर्त्तते इति। अथ प्रश्न 'एतयोर्मध्ये कतरस्तु स्वीकार्य' इति। प्रश्नेऽत्र आस्वादस्यैव रसरूपत्वं सिद्धान्तभूतम्, आस्वाद्यपक्षस्यापि तत्र संग्रहात्। आस्वाद्या विभावादयो वस्तुरूपाः। रसस्य चित्तवृत्तिरूपत्वात् रसत्वापत्तिदशातः पूर्वं रत्यादीनां भावानां भावत्वमेवानुभूयते वस्तुरूपम्। इक्षुप्रभृतीनां द्रवाणां रसत्वेनोल्लापे मूलं तेषां हृदयद्रुतिजनकः आस्वादः। एवमेव प्रकृतेऽपि। आस्वाद एवात्र भोगः। तदत्र भुज्यमानतादशायामेव, भोगविषयाणां रत्यादीनां शृङ्गारादिसतत्त्वता भवतीति ततः प्राक् वस्तुमात्रत्वमेवैषामिति चरमो निष्कर्षः।

वस्तुतः धारणयोरनयोर्नास्ति विरोधः। द्वयोरप्यनयोः समन्वयः शास्त्रसिद्धः, तर्कसिद्धः व्यवहारसिद्धश्च। द्वितीयाऽऽद्यस्य मतस्य पूरयित्रीति तत्र सहृदयानां विचारः। तथाहि ये तावदास्वाद्या भावास्तेषां नास्ति पृथग्भाव आस्वादात्। आस्वादं विना नास्ति प्रतिष्ठा आस्वाद्यस्येति कृत्वा। आस्वाद्या विभावादयः आस्वादप्रयोजका एव आस्वादस्यैव कृते तेषामुपादानात्।

विभावानुभावव्यभिचारियोगात् निष्पन्नस्य रसस्य स्थितिः कुत्र इति विचारे पक्षद्वयं प्राप्यते। प्रथमस्तावद्रसस्य प्रमातृनिष्ठत्वमामनन्ति द्वितीयश्च प्रमेयनिष्ठत्वम्। प्रमाता अत्रास्ति सहृदयः प्रमेयश्च काव्यम्। तत्र रसस्य प्रमातृनिष्ठत्वमेवोचितम्। यतो हि विभावादिभिरभिव्यंजितस्य रत्यादेः स्थायिनः

---

८. ध्वन्यालोकलोचनम् २.४, पृ० १८७.

९. नाट्यशास्त्रम् ६.३१, अभिनवभारती पृ० २८०.

१०. साहित्यदर्पणः ३.३, वृत्तौ पृ० ८१.

११. रसगङ्गाधरः, प्रथमानने पृ० ३३-३५.

सामाजिकस्य आत्मना यो भोगः तज्जनितः आनन्दः सामाजिकचेतनाया एव धर्मः न तु काव्यस्य। काव्यस्य ज्ञानमयत्वेऽपि जडरूपत्वमेव, भिन्नत्वं च सामाजिकचेतनातः।[१२] ज्ञानचेतनयोः भेदः विषयविषयिभावेन प्रत्युपस्थितः चेतनाया ज्ञानरूपत्वदर्शनेऽपि। भोजदेवेनापि शृङ्गारप्रकाशे उक्तम्—'रसा हि सुखदुःखावस्थारूपाः ते च शरीरिणामेव चैतन्यवताम्, न काव्यस्य, तस्य शब्दार्थरूपतया अचेतनत्वेन।'[१३]

काव्यात्मतत्त्वविवेचनविषये आचार्यरेवाप्रसादद्विवेदिनः सिद्धान्तोऽस्ति यद् अलंभावात्मोऽलङ्कार एव काव्यात्मा, तस्यैव काव्यनिष्ठत्वात्, नेतरेषां तेषां रसिकैकनिष्ठतायाः सिद्धान्तित्वात्।

प्रमेयमात्रनिष्ठत्वादनयोरपि केवलः।
अलङ्कारो हि काव्यस्य धर्मतां याति मन्मते॥
काव्येऽलङ्कार एवात्मा स एवास्मिन् स्थितो यतः।
अन्यकायस्थितो धर्मः किमन्यत्रात्मतां व्रजेत्॥
एवं सति न कोऽपि स्यान्मृतेऽस्मिन् मर्त्यभूतले।
यावत् सर्वेऽपि निष्प्राणाः न भवेयुः शरीरिणः॥[१४]

आचार्यद्विवेदिनां मते रसस्य काव्यात्मत्वं न सम्भवति, यतोहि रसः सामाजिकैकनिष्ठो भवति। अन्यकायस्थितस्य धर्मस्य नान्यस्मिन् आत्मत्वेन प्रतिष्ठापना सम्भवति। रसस्य काव्यात्मत्वेन पुनः अलङ्कारत्वमेव, तस्यापि अलंभावात्मकत्वादेव।

काव्यात्मभूतः अलङ्कार आचार्यद्विवेदिनां मते अलंभावात्मक एव—

अलंभावो ह्यलङ्कारः स च सौन्दर्यतत्कृतोः।
विभक्तात्मा विभुर्जीवब्रह्मणोश्चिद्घनो यथा॥ ४८॥[१५]

यथा एक एव चित्तत्त्वं जीवब्रह्मणोः अवभासते, यथा च एकमेव अग्नितत्त्वं सूर्याचन्द्रमसयोर् अवभासते तथैव काव्ये पर्याप्ततापरपर्यायपूर्णतारूपम् अलंत्वं सौन्दर्यजनकेषु सर्वेष्वपि काव्यतत्त्वेष्व-वभासते। अलकृतिरलङ्कारः इत्येषा सौन्दर्यस्य अभिव्यञ्जिका भावव्युत्पत्तिः (घञो भावकरणयोरेव), अलङ्क्रियतेऽनेनेति या द्वितीया करणव्युत्पत्तिः कर्मण्यणा तया पुनः सौन्दर्यनिष्पादकानां उपमादीनां काव्यतत्त्वानां सङ्ग्रहः। तृतीया अलङ्करोतीत्यलङ्कारः (अलं पर्याप्तं करोतीत्यलङ्कारः) इत्येषा या कर्तृव्युत्पत्तिस्तत्र सौन्दर्यस्य सौन्दर्यजनकानामुपमादीनाञ्च सर्वेषामेव संग्रहः। तृतीयैवैषा व्युत्पत्तिः आचार्यवर्यैः समाम्नाता अलङ्कारपदस्य काव्ये। व्युत्पत्त्यन्तराण्यपि संभवन्त्यस्यालङ्कारपदस्य।

---

१२. काव्यालङ्कारकारिका १६४-१७७, प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी।

१३. शृङ्गारप्रकाशः, द्वितीयः प्रकाशः २.३६९.

१४. काव्यालङ्कारकारिका ४५-४७.

१५. काव्यालङ्कारकारिका ४८.

अत एव रसस्य सहृदयाश्रितत्वमेव न पुनः काव्याश्रितत्वम्। एवं च रसस्य प्रमातृनिष्ठत्वमेव अस्माभिः ग्राह्यं न प्रमेयनिष्ठत्वम्।

✿

ध्वन्यर्थविचारः

डॉ० शिवरामशर्मा
प्रवक्ता (संस्कृत), संगीत एवं मञ्चकलासंकायः
का० हि० विश्वविद्यालयः, वाराणसी

काव्यशास्त्रव्याख्यानपरम्परायां ध्वन्यालोकाख्यो ग्रन्थः सातिशयं महत्त्वं बिभर्ति। आचार्यानन्दवर्धनकृतेऽस्मिन् ग्रन्थे ध्वनेः काव्यात्मरूपेण प्रतिष्ठापनं तद्भेदोपभेदादिनिरूपणञ्च विस्तरेण कृतमस्ति। आदौ 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः[१].....' इत्यादिपद्येनोपक्रम्य आनन्दवर्धनः ध्वनेरभाववादिनां भाक्तवादिनामनिवर्चनीयत्ववादिनाञ्च मतान्युपस्थाप्य क्रमशस्तेषां खण्डनञ्च विधाय ध्वनिं काव्यात्मत्वेन प्रतिष्ठापयामास। तेन विभिन्नप्रमाणपुरःसरं वाच्यलक्ष्यादिव्यतिरिक्तस्य प्रतीयमानार्थस्य काव्ये सद्भावं प्रतिपाद्य तत्प्राधान्ये काव्यस्य ध्वनित्वं निर्णीतम्। यथा—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः[२]॥

ध्वनिलक्षणस्वरूपाया अस्याः कारिकाया वृत्तौ 'यत्रार्थो वाच्यविशेषः वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः सः काव्यविशेषो ध्वनिः' इत्युक्त्वा आनन्दवर्धनः यद्यपि काव्यविशेषस्यैव ध्वनित्वं प्रतिज्ञातवान्; किन्तु ध्वन्यालोकस्य सम्यक् पर्यालोचनेन ज्ञायते यद् ग्रन्थेऽस्मिन् सुविस्तृतं व्याख्यातोऽयं ध्वनिः केवलस्य काव्यविशेषस्यैव वाचको नास्ति; अपि तु तत्र व्यञ्जकशब्दार्थौ, व्यङ्ग्यार्थः, व्यञ्जनाव्यापारश्च ध्वनिपदाभिधेयत्वेन विवक्षितो वर्तते। स्वयं ध्वनिकारेणैव काव्यविशेषातिरिक्तेषूक्तेष्वर्थेषु कृतो ध्वनिपदव्यवहारोऽनेकत्र ध्वन्यालोके दृष्टिपथमवतरति। आचार्याभिनवगुप्तोऽपि नैकशः लोचने ध्वनेरेतान् पञ्चार्थान् सप्रमाणं समर्थयामास। अतः ध्वनिपदेन वाच्यवाचकव्यङ्ग्यव्यञ्जनाव्यापाराः काव्यविशेषश्च आनन्दवर्धनस्य विवक्षितो वर्तत इति ध्वनितत्त्वविद्भिः स्वीकरणीयम्।

केचनाधुनिकाः ध्वन्यालोकस्य टीकाकाराः ध्वनेरेतान् पञ्चार्थान् न समर्थयन्ते। तेषां मते ध्वनिकारेण

१. ध्वन्यालोकः १-१।
२. ध्वन्यालोकः १-१३।

ध्वनिपदप्रयोगः केवलस्य काव्यविशेषस्यैव कृते कृतोऽस्ति; न तूक्तानां सर्वेषामर्थानां कृते; अतः ध्वनिपदेन काव्यविशेषमात्रस्याभिधानं कर्तव्यम्। एभिः टीकाकारैर्भूमिकायां विस्तरेण ध्वनेः काव्यविशेषमात्रवाचकता संसाधिता आक्षिप्ताश्च पञ्चार्थवादिनो लोचनकारादयः। एतेषां ध्वनिशब्दस्य काव्यविशेषमात्रवाचकत्वे कथमाग्रहः कथञ्चेतरार्थास्वीकरणे विग्रहमतिरिति तु न ज्ञायते किन्त्वेतन्निश्चितं यत् सतोरपि आलोकलोचनयोरेभिः ध्वनिपदार्थः प्रत्यक्षीकर्त्तुं न पारितः। उक्तपञ्चार्थस्वीकरणं विना न पूर्वपक्षस्य सिद्धिः भवितुमर्हति नैव च ध्वन्यालोकोक्तसिद्धान्तानां सम्यगवगतिः, अतोऽत्र लोचने व्याख्याता आनन्दवर्धनेन च स्वयमुदाहृता ध्वनिशब्दस्य पञ्चार्था निरूप्यन्ते—आदौ भाक्तवादमुपस्थापयता ध्वनिकारेणोक्तम्—'भाक्तमाहुस्तमन्ये', अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः[३] इति।

यदि ध्वनिशब्दस्य काव्यविशेषमात्रवाचकत्वमङ्गीक्रियते तदा भाक्तवादस्य सिद्धिरेव न सम्भवति। यतो हि 'भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यत इति भक्तिधर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादिः तत आगतो भाक्तो लाक्षणिकोऽर्थः[४]' इति लोचनानुसारं भाक्तोऽर्थः लाक्षणिकोऽर्थ एव निर्णीयते। भक्तिवादिमतानुसारं लाक्षणिकोऽर्थ एव ध्वनिः। अत्र यदि ध्वनिशब्दस्य काव्यमात्रवाचकताङ्गीक्रियते तदा न सिद्ध्यति ध्वनेर्भाक्तत्वम्। न खलु 'काव्यं लाक्षणिकोऽर्थः' इति भक्तिवादिनोऽभिप्रायो भवितुमर्हति। अतः 'ध्वन्यत इति ध्वनिः' इति व्युत्पत्त्या ध्वनिशब्दस्य व्यङ्ग्यार्थवाचकतामङ्गीकृत्य भाक्तवादस्य चरितार्थता साधनीया, यतो हि व्यङ्ग्यार्थ एव भाक्तत्वेन (लक्ष्यार्थत्वेन) कल्पयितुं शक्यते न तु काव्यम्।

एवमेव 'गुणवृत्तिरित्याहुः' इत्यस्य कथनस्य समर्थनायापि ध्वनिशब्दस्य त्रयोऽर्था अपेक्षिता भवन्ति। लोचनकारेण गुणवृत्तिपदस्य त्रयोऽर्था व्युत्पादिताः। यथा 'गुणाः सामीप्यादयो धर्मास्तैक्ष्ण्यादयश्च तैरुपायैर्वृत्तिरर्थान्तरे यस्य तैरूपायैर्वृत्तिर्वा शब्दस्य यत्र सः गुणवृत्तिः शब्दोऽर्थो वा। गुणद्वारेण वा वर्तनं गुणवृत्तिः अमुख्योऽभिधाव्यापारः[५]' इति।

अत्र गुणवृत्तिशब्दस्य शब्दार्थामुख्याभिधाव्यापाररूपास्त्रयोऽर्थाः लोचनकारेण कृताः। ध्वनिश्च गुणवृत्तित्वेन तदैवाङ्गीकर्त्तुं शक्यते यदा ध्वनेरपि त्रयोऽर्थाः स्युः। अतः 'ध्वनतीति ध्वनिः' इति व्युत्पत्त्या शब्दार्थयोः, 'ध्वननं ध्वनिः' इति व्युत्पत्त्या च ध्वनेः व्यञ्जनाव्यापारवाचकत्वमभ्युपेयम्। यथोक्तं लोचनकारेणैव—'एतदुक्तं भवति-ध्वनतीति वा, ध्वन्यत इति वा, ध्वननमिति वा ध्वनिः तथाप्युपचरितशब्दार्थव्यापारातिरिक्तो नासौ कश्चित्[६]' इति।

अग्रे ध्वनिकारेण 'सूरिभिः कथितः' इत्यस्य व्याख्यानावसरे वृत्तौ स्वयमेव ध्वनिशब्दस्य पञ्चानामप्यर्थानां निर्देशः कृतः। यथा—'विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः न तु यथाकथञ्चित्प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते। प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते हि श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति।

---

३. ध्वन्यालोकः १-१ वृत्तिः।

४. ध्वन्यालोकः १-१ लोचनम्।

५. ध्वन्यालोकः १-१ लोचनम्।

६. ध्वन्यालोकः १-१ लोचनम्।

तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिः वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः'।[७]

अस्यां वृत्तौ समागतस्य 'वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यम्' इत्यस्यांशस्य व्याख्याने लोचनकारेण पुनः ध्वनिशब्दस्य पञ्चार्थाः व्युत्पादिताः। यथा—

'अस्माभिरपि प्रसिद्धेभ्यः शब्दव्यापारेभ्योऽभिधातात्पर्यलक्षणारूपेभ्योऽतिरिक्तो व्यापारो ध्वनिरित्युक्तः। एवं चतुष्कमपि ध्वनिः। तद्योगाच्च समस्तमपि काव्यं ध्वनिः। तेन व्यतिरेकाव्यतिरेकव्य-पदेशोऽपि न न युक्तः। वाच्यवाचकसम्मिश्र इति—वाच्यवाचकसहितः सम्मिश्र इति मध्यमपदलोपी-समासः। 'गामश्वं पुरुषं पशुम्' इतिवत्समुच्चयोऽत्र चकारेण विनापि। तेन वाच्योऽपि ध्वनिः, वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा। सम्मिश्र्यते विभावानुभावसंवलनयेति व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिः, ध्वन्यत इति कृत्वा। शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः न चासावभिधादिरूपः अपि त्वात्मभूतः सोऽपि ध्वननं ध्वनिः। काव्यमिति व्यपदेशश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः उक्तप्रकारध्वनिचतुष्टयमयत्वात्। अत एव साधारणहेतुमाह—व्यञ्जकत्वसाम्यादिति। व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः सर्वेषु पक्षेषु सामान्यरूपः साधारण इत्यर्थः'[८]।

ध्वनिकाराभिमता लोचनकारेण चानुमोदिता ध्वनेरेते पञ्चार्थाः क्रमशः अर्थशब्दव्यङ्ग्यार्थ-व्यञ्जनाकाव्याभिधायिनो भवन्ति। यथा—

१-२. ध्वनतीति ध्वनिरिति व्युत्पत्त्या अर्थः शब्दश्च ध्वनिः। ३. ध्वन्यते योऽसौ ध्वनिरिति व्युत्पत्त्या व्यङ्ग्यार्थो ध्वनिः। ४. ध्वननं ध्वनिरिति व्युत्पत्त्या व्यञ्जनाव्यापारो ध्वनिः। ५. ध्वन्यते-ऽस्मिन्निति ध्वनिरिति व्युत्पत्त्या चैतेषां समवायरूपः काव्यविशेषः ध्वनिः।

ध्वन्यालोकस्य सम्यगवगतये ध्वनिशब्दस्य पञ्चाप्येतेऽर्था अथवा पञ्चापि ध्वनयः परमावश्यकाः सन्ति। ध्वनिशब्दस्य काव्यविशेषमात्रवाचकतायामङ्गीकृतायां ध्वनिकारोक्तसिद्धान्तानामवगमनं सर्वथा असम्भवत्वमेवोपयाति। यतः ध्वनिकारेण सम्पूर्णे ग्रन्थे भिन्न-भिन्नस्थलेषु एतेभ्यः पञ्चार्थेभ्य एव ध्वनि-पदप्रयोगः कृतोऽस्ति। अस्माभि सम्पूर्णस्य ध्वन्यालोकस्यालोडनं विधाय पञ्चभ्योऽर्थेभ्यः ध्वनि-कारकृतानां ध्वनिशब्दप्रयोगाणां संग्रहं विधाय काव्यविशेषमात्रवादिनां लोचनोन्मीलनं कृतम्। यथा—

१-२. व्यञ्जकशब्दार्थकृते ध्वनिव्यवहाराः—

(क) पदानामपि व्यञ्जकत्वमुखेन व्यवस्थितो ध्वनिव्यवहारः[९]।

(ख) उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेः विषयी भवेत्[१०]॥

---

७. ध्वन्यालोकः १-१३ वृत्तिः।

८. ध्वन्यालोकः १-१३ लोचनम्।

९. ध्वन्यालोकः पृ० ३०१।

(ग) व्यतिरेकमुखेन शब्दस्य ध्वनित्वं यथा—

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥[११]

(घ) व्यञ्जकपदमादाय ध्वनिव्यवहारस्य चर्चाप्रसङ्गे ध्वनिकारः पदकृते ध्वनिव्यवहारं समर्थयामास। यथा—

'किञ्च काव्यानां शरीराणामिव संस्थानविशेषावच्छिन्नसमुदायसाध्यापि चारुत्वप्रतीतिः अन्वयव्यतिरेकाभ्यां भागेषु कल्प्यत इति पदानामपि व्यञ्जकत्वमुखेन व्यवस्थितो ध्वनिव्यवहारो न विरोधी'[१२]।

(ङ) अर्थकृते (व्यतिरेकमुखेन) ध्वनिव्यवहारः—यत्र च शब्दव्यापारसहायोऽर्थोऽर्थान्तरस्य व्यञ्जकत्वेनोपादीयते स नास्य ध्वनेर्विषयः।

अर्थात् यत्र शब्दव्यापारासहायोऽर्थोऽर्थान्तरस्य व्यञ्जकः सः ध्वनेर्विषयो भवतीति सिद्ध्यति।

३. व्यङ्ग्यार्थकृते ध्वनिव्यवहाराः —

(क) ध्वनिकारेण वस्तुतः व्यङ्ग्यार्थ एव ध्वनित्वेनाङ्गीकृतः। ध्वन्यालोके 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव....' इत्याद्युक्त्वा सः प्रतीयमानस्य वाच्याद् व्यतिरिक्तं स्वरूपं प्रमापयन् 'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु.., शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेण, सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी ......, काव्यस्यात्मा स एवार्थः ......, इत्यादिवचनैः व्यङ्ग्यार्थमेव काव्यात्मत्वेन व्यवस्थापयामास। काव्यस्यात्मा च ध्वनिरतः व्यङ्ग्यत्वं ध्वनित्वञ्च न पार्थक्यं भजतः।

(ख) वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र स ध्वनिः।[१३]

(ग) असंलक्ष्यक्रमोद्योतः क्रमेण द्योतितः परः।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः ॥[१४]

मुख्यतया प्रकाशमानो व्यङ्ग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा।

(घ) अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः स प्रकाशते।
यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद् व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः ॥

यत्रार्थः स्वसामर्थ्यादर्थान्तरमभिव्यनक्ति शब्दव्यापारं विनैव सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानोपमव्यङ्ग्यो ध्वनिः।[१५]

---

१०. ध्वन्यालोकः पृ० १५५।

११. ध्वन्यालोकः पृ० १५६।

१२. ध्वन्यालोकः पृ० ३२६।

१३. ध्वन्यालोकः पृ० १४९।

१४. ध्वन्यालोकः पृ० १८३।

१५. ध्वन्यालोकः पृ० २६७।

(ङ) व्यतिरेकमुखेन व्यङ्ग्यार्थकृते ध्वनिव्यवहारो यथा—

यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रम्लिष्टत्वेन भासते।
वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः ॥[१६]

एतदतिरिक्ता व्यङ्ग्यकृते बहवो ध्वनिपदप्रयोगा अन्वेष्टुं शक्यन्ते। किञ्च अलङ्काराणां व्यङ्ग्यतायां ध्वनित्वं सम्भवति अलङ्काराश्चार्थरूपा एव भवन्ति; अतः तत्रापि व्यङ्ग्यार्थस्य ध्वनिपदवाच्यत्वं निर्विवादमेव।

४. व्यञ्जनाव्यापारकृते ध्वनिपदव्यवहाराः—

(क) यत्र तु विवक्षितत्वेन व्यङ्ग्यस्य स्थितिः तद् व्यञ्जकत्वं ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजकम्।[१७]

(ख) तृतीयोद्योते ध्वनिकारेण व्यञ्जकत्वसिद्धिप्रसङ्गे सर्वत्र व्यञ्जनाव्यापारकृते ध्वनिपदप्रयोगः कृतः।[१८]

५. काव्यविशेषकृते ध्वनिपदव्यवहारः—

(क) यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥[१९]

(ख) तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रतिस्थितौ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः ॥[२०]

अत्र यत्रेति–यस्मिन् काव्ये तत्काव्यमेव ध्वनिः।

(ग) प्राप्तपरिणतीनान्तु ध्वनिरेव काव्यम्।[२१]

(घ) काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः।[२२]

(ङ) व्यङ्ग्यस्यैव प्राधान्ये ध्वनिसंज्ञितः काव्यप्रकारः[२३]। इत्यादि।

इत्येवंरूपेण सोदाहरणं सप्रमाणञ्च सम्भवन्ति ध्वनिशब्दस्य उक्ताः पञ्चार्थाः; अतः तस्य काव्यविशेषमात्रवाचकत्वाङ्गीकरणं दुराग्रह एव प्रतिभाति।

✿

---

१६. ध्वन्यालोकः पृ० ३०३।
१७. ध्वन्यालोकः पृ.४४२।
१८. ध्वन्यालोकः ३/३३।
१९. ध्वन्यालोकः १/१३।
२०. ध्वन्यालोकः पृ० १३०।
२१. ध्वन्यालोकः पृ० ५३२।
२२. ध्वन्यालोकः पृ० १३६।
२३. ध्वन्यालोकः पृ० ५२५।

भक्तिरसविमर्शः

डॉ० गोविन्दसप्तर्षिः
(संन्यासी सं० म० वि०),
बी० ४/१७ हनुमानघाट, वाराणसी

तत्रादौ रसस्वरूपविवेचनम् आवश्यकम्। काव्यं हि आनन्दानुभूतिसाधनम्। आनन्दानुभूतिश्च रसास्वादमूला। रसास्वादनादेव आनन्दावाप्तिः। मम्मटो व्याचष्टे—

सकलप्रयोजनमौलिभूतं संमनन्तरमेव रसास्वादसमुद्‌गतं विगलितवेद्यान्तरम् आनन्दम्।[१]

विश्वनाथः साहित्यदर्पणे रसस्वरूपं प्रतिपादयति यद् रसो ब्रह्मास्वादसहोदरः—

वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥[२]

रसस्य आस्वाद्यत्वम् अनुभूतिविषयत्वं च मम्मटेन वर्ण्यते—

पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः हृदयमिव प्रविशन्, अन्यत्सर्वमिव तिरोदधत्, ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्, अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः'।[३]

रसशब्दोऽयं वैदिकसाहित्येऽपि दृश्यते। यथा—

''दधानः कलशे रसम्।''[४]

तैत्तिरीयोपनिषदि रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।'[५]

अलङ्कारशास्त्रेऽस्य शब्दस्यावतारस्तु कृतो नाट्यशास्त्रकर्त्रा भरतेनैवेति विदुषां विचारः।

'रस इति कः पदार्थः ? उच्यते—आस्वाद्यमानत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः ? यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षका हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।'[६]

यथा नानाव्यञ्जनमिश्रम् अन्नं भुञ्जाना रसान् आस्वादयन्ति, तथैव नानाभावाभिव्यञ्जितान्

---

१. कांव्य प्र० १-२.

२. सा० द० ३-२, ३.

३. का० प्र० ४ उल्लासः।

४. ऋग्वेद, ९/६३/१३.

५. तै० ३, अभय प्रतिष्ठा—२/७.

६. ना० शा० अ० ६.

स्थायिभावान् सहृदया आस्वादयन्ति, हर्षं चानुभवन्ति। रसभावयोश्च परस्परं पोषकत्वम्। न भावहीनो रसः, न च रसहीनो भावः। एवं द्वावपि परस्परं भावयतः।[७]

रसः सर्वेषां भावानां मूलम्, यथा बीजं वृक्षपुष्पादेः।[८]

भरतेन नाट्यशास्त्र उच्यते—'नहि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते।'[९] कथं रसनिष्पत्तिरिति जिज्ञासायां तेनोच्यते—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।'[१०]

अत्र विभावाः कारणानि, अनुभावाः कार्याणि, व्यभिचारिणश्च सहकारिणः, एषां संयोगाद् रसस्य निष्पत्तिः।

राजशेखरानुसारं तु रसस्य सर्वप्रथममुपदेशो दत्तो ब्रह्मणा नन्दिकेश्वराय।[११] परन्तु सम्प्रति न मिलति तत्प्रतिपादितो रससिद्धान्तः। वाल्मीकिरामायणे अग्निपुराणेऽपि रसानामुल्लेखोऽस्ति—

'रसैः शृङ्गारकरुणरौद्रवीरभयानकैः[१२]।
अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥
आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः।
ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम्॥
अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी।
व्यभिचारादिसामान्याच्छृङ्गार इति गीयते॥
तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः।
सत्त्वादिगुणसन्तानाज्जायन्ते परमात्मनः॥
रागाद्भवति शृङ्गारो रौद्रस्तैक्ष्ण्यात्प्रजायते।
वीरोऽवष्टम्भजः संकोचभूर्बीभत्स इष्यते॥
शृङ्गाराज्जायते हास्यो रौद्रात्तु करुणो रसः।
वीराच्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद्बीभत्साद्भयानकः।
शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।

७. तत्रैव—६-३७.

८. ना० शा० ६-३९.

९. ना० शा० ६-३२.

१०. ना० शा०

११. काव्यमीमांसा प्र० अ० शा० सं०

१२. वा० रा० २/९.

बीभत्साद्‌भुतशान्ताख्या स्वभावाच्चतुरो रसाः।
न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
भावयन्ति रसानेभिर्भाव्यन्ते च रसा इति[१३]॥

कालिदास-ध्वनिकार-भवभूति-प्रभृतिभिरपि रससङ्केतो दत्तः। एतेन सिद्ध्यति रसस्य प्राचीना परम्परा। अत एव रसोऽस्ति इति स्वीकरणीयमेव। उक्तं च मम्मटेन—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः[१४]॥

अत्र संयोगशब्दं निष्पत्तिशब्दं चाश्रित्य विविधाः वादाः प्रादुरभवन्। प्राधान्येन चत्वारो वादा विविधदर्शनविद्भिः प्रतिपादिताः। तत्र १. भट्टलोल्लटेन मीमांसादर्शनम् आश्रित्य 'उत्पत्तिवादः', २. शङ्कुकेन न्यायदर्शनमाश्रित्य 'अनुमितिवादः', ३. भट्टनायकेन सांख्यदर्शनमाश्रित्य 'भुक्तिवादः', ४. अभिनवगुप्तेन च वेदान्तदर्शनमाश्रित्य 'अभिव्यक्तिवादः' प्रस्ताविताः। विस्तारभयेन तेषां मतं विस्तृत-रूपेण अत्र नोत्थापितम्। प्रस्तुतनिबन्धस्य प्रतिपाद्यविषयोऽस्ति भक्तिरसविमर्शः। भक्तिरसप्रसंगे अस्मद्‌गुरुचरणाः श्रीमद् महाकविवसन्तत्र्यम्बकशेवडे महाभागाः ऊचुः—

राज्ञां सभासु शतशः कवयो बभूवुः,
शृङ्गारगर्भवचसां रसनासु दक्षाः।
एकः सभाकविरयं जगदम्बिकाया,
वैदग्ध्यमावहति भक्तिरसे वसन्तः[१५]॥
शृङ्गारवीरकरुणादिरसाः समस्ताः,
सम्भावनां कविजने नितरां दधानाः।
नार्हन्ति किञ्चिदपि भक्तिरसस्य साम्यं,
देवा यथा भगवतः प्रमथाधिपस्य[१६]॥
अष्टौ रसान् मुनिवरो भरतो जगाद,
शान्ताधिकान् नवरसान् कतिचिद् ब्रुवन्ति।
भोजश्चतुर्दशरसान् स्वमतानभाणी-
देकं रसं जगति भक्तिरसं वदामः[१७]॥

---

१३. अग्निपुराणम् ३३९/१-१२.

१४. का० प्र० ४/२७-२८.

१५. स्तवमञ्जूषा प्रस्तावनायां।

१६. स्तवमञ्जूषा - प्रस्तावना।

१७. स्तवमञ्जूषा - प्रस्तावना।

देवेषु शम्भुरिव सूर्य इव ग्रहेषु,
शेषो यथा फणिषु पक्षिषु वैनतेयः।
सिंहो मृगादिषु कविष्विव कालिदासः,
सर्वङ्कषो जयति भक्तिरसो रसेषु[१८]॥

इत्थं विलिख्य ते मां श्रावितवन्तः। अद्य अवसरं प्राप्य अहमपि भक्तिरसविषये किञ्चित् वक्तुमैच्छम्।

भारतभूमिर्भक्तिरसस्य स्निग्धया धारया सिक्ता आप्यायिता च विद्यते। भारतभूमौ भक्तेरुद्गमः कदाऽभूत् कियता कालेन वर्तते भक्तिरसस्य प्रवाहोऽस्मिन् देशे इति प्रश्ने महान् विसंवादो वर्तते विपश्चिताम्, किन्तु पद्मपुराणस्थभागवतमाहात्म्ये दृश्यते यद्—

उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णताङ्गता॥[१९]

एतेन सिध्यति यद् भक्तेः उद्गमः द्रविडदेशे एव। महाराष्ट्रे तु भक्तिरसाप्लाविताः अनेके कवयः सन्तमहापुरुषाः बभूवुः। अधुनाऽपि तत्र भक्तिरसाप्लाविताः नारदीयसंप्रदायः—बारकरीसंप्रदायः च वर्तते तदनुगा नित्यं विठ्ठल-विठ्ठल इति संकीर्तनेन महाराष्ट्रभूमिं पावयन्ति।

प्राच्यविद्याविदां पाश्चात्त्यविदुषां च मतानुसारेण भारतभूमौ भक्तेः प्रवाहः 'ईसाई'धर्मस्य प्रभावतः सञ्जातः। पाश्चात्त्यधर्मेषु यहुदिधर्मः कर्मप्रधानः, ईसाईधर्मश्च भक्तिरसाप्लावित इति सुनिश्चितमस्ति। ईसाईधर्मे भक्तेः प्रभुत्वं भगवति निश्चला भक्तिः प्रधानरूपेण वर्तते। तेषां विपश्चितां मतानुसारतस्तेषामेव सम्पर्कतो भक्तिः भारतभूमावपि प्रविश्य सर्वत्र प्रसृता अनुमता च जनैः। परन्तु गूढदृष्ट्या यदा विचार्यते तदा एषा विचारसरणिर्दुष्टा निस्सारा च प्रतिभाति।

वैदिकवाङ्मयस्यावलोकनात् स्फुटीभवतीदं यत्र केवलं वेदाः कर्मप्रचारकाः अपितु त एव भक्तेरप्युद्भूतिस्थानम्। यदा वयं प्राचीनसाहित्ये धर्मविवेचनं पश्यामः, तदा दृश्यते यत् कालविशेषे कस्यचित् सिद्धान्तस्य विवेच्यविषयः तु वर्तते, किन्तु तस्य सिद्धान्तस्य स्पष्टरूपेणाभिधानं न वर्तते, प्रत्यक्षाभिधानस्याभावे तस्य विषयवस्तुना उपेक्षा भवति। किन्त्वेषोपेक्षा असङ्गता। इदं सत्यं यत् संहितासु ब्राह्मणग्रन्थेषु चानुरक्तिसूचकभक्तिशब्दस्यासद्भावो वर्तते, किन्तु भक्तेर्विषयास्तु पर्याप्तरूपेणोपलभ्यन्ते तत्र। अत इदं कल्पनं यद् भक्तेस्तत्काले विकास एव नासीत् सुतरामनुचितम्। संहितासु ब्राह्मणग्रन्थेषु च कर्मकाण्डविषया बाहुल्येन वर्तन्ते किन्तु तत्र भक्तेरपि स्फुटाभासो वर्तत एव। मन्त्रेषु देवानां स्तुतिरतीव मार्मिकरूपेण कृता वर्तते। स्तुतीनां दर्शनेन स्तोतॄणां हृदयेऽनुरागस्याभाव आसीदिति मतमुपहासास्पदमेव प्रतीयते। मम मते तु हृदये भक्तेरभावे एतादृशीनां कोमलानां भावप्रवणानाञ्च स्तुतीनामुद्गम एव भवितुं नार्हतीति। शुष्कनीरसहृदये नैतादृशी कोमलता भावुकता च सम्भाव्यते। देवानां स्तवनकाले स्तोता ऋषिस्तैः सह माता-पिता बन्धुरित्यादिकं नानाप्रकारकं सम्बन्धं स्थापयति। अतः स्पष्टमेव यत् स्तोतॄणां हृदये देवान् प्रति सर्वतोभावेन प्रेमानुरागश्च वर्तते।

---

१८. स्तवमञ्जूषा - प्रस्तावना।

१९. पद्मपुराण—भागवतमाहत्म्य।

कासाञ्चित् स्तुतीनामुदाहरणेन एष सिद्धान्तः स्फुटीभविष्यति। यज्ञेष्वग्निः प्रधानदेवो भवति तेनैव यज्ञानां सम्पादनं भवति। यद्यपि प्रत्यक्षतया इदमनुमीयते यत् कर्मकाण्डसम्बद्धदेवस्य विषये भक्तेरभावो भविष्यति, किन्त्ववलोक्यते यत् तस्य विषयेऽपि भावप्रवणाः स्तुतयो वर्तन्ते। स तु न केवलं विपत्तिभ्यस्त्राता वर्णितः अपितु मातृ-पितृ-इत्यादि रूपेणापि तस्य वर्णनं वर्तते। अधोनिर्दिष्टे ऋङ्मन्त्रेऽग्निदेवो मनुष्याणां पिता माता च वर्णितोऽस्ति—

त्वां वर्धयन्ति क्षितयः पृथिव्यां त्वां शय उभयासो जनानाम्।
त्वां त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम्[२०]॥

य ऋषिरग्निदेवं पितृरूपेण मातृरूपेण च वर्णयति तस्य हृदये भक्तिरसस्य भावनाऽवश्यमेवासीत्।

वैदिकदेवेषु इन्द्रः शौर्यस्य प्रतीकः। दस्यूनां दमने मनुष्यास्तस्य साहाय्यं कामयन्ते। तस्यानुकम्पया आर्याः शत्रून् विध्वंसयितुं समर्था भवन्ति। शौर्यप्रधानेन इन्द्रेण सहानुरागसम्बंन्धस्याभावोऽनुमीयते, किन्तु तेन सहापि स्निग्धानुरागसम्बन्धः स्थापितो वैदिकऋषिभिः। इन्द्रस्तु न केवलं पिता अपितु माताऽपि वर्णितः—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे[२१]॥

एषु मन्त्रेषु भक्तिभावस्तु सुतरां स्फुटो वर्तते।

स्वभक्तिसूत्रे शाण्डिल्यो वक्ति—'भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः[२२]'। श्रुतिभ्यो भक्तेरवगमो भवति। अस्य सूत्रस्य व्याख्यायां टीकाकर्त्रा नारायणतीर्थेन भक्तेर्नवविधप्रकारस्य समर्थकानां मन्त्राणां सव्याख्यान-मुद्धरणं प्रस्तुतम्।

ब्राह्मणकालेऽप्युपासनायां भक्तेः स्वरूपं बद्धमूलं दृश्यते। यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थेषु कर्मणः प्राधान्यम् तथापि श्रद्धायुक्ता भक्तिरपि स्पष्टतरा दृश्यते आरण्यकेषु बहिर्यागानामपेक्षया अन्तर्यागस्य महत्त्वं प्रदर्शितं वर्तते। अस्मिन् समये तु योगस्यापि प्रचार आसीत्। साधकानां चित्तं तु भक्तिं प्रत्युन्मुखमासीत्। उपनिषदस्तु ज्ञाननिदर्शकानि किन्तु तेष्वपि भक्तेर्निदर्शनं प्राप्यते। कठोपनिषदि तु भक्तिभावस्य स्पष्टं वर्णनमुपलभ्यते। आत्मोपलब्धेरुपायान् दर्शयन्ती श्रुतिः कथयति—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्[२३]॥

अयमात्मा वेदाध्ययनेन, धारणशक्त्या, श्रवणेन चापि नोपलभ्यते। अयं साधको यमात्मानं वरयति तेनैवात्मना एष प्राप्तव्यः। तं प्रति एष आत्मा स्वां तनुं विवृणुते। भावस्त्वयं यदात्मनैवात्मोपलभ्यते। अत्र अनुग्रहस्य निर्देशो दृश्यते। अपरस्मिन् मन्त्रे तु प्रसादस्य स्पष्टनिर्देशोऽस्ति—

---

२०. ऋ० ६/१/५.

२१. ऋ० ६/९८/११

२२. शा० भ० सू० १/२/९

२३. कठोपनिषद.—१-२-२३.

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः[२४] ॥

अर्थात् निष्कामः पुरुषो जगत्कर्तुः प्रसादेन स्वात्मनो महिमानं पश्यति गतमन्युश्च भवति।

वैष्णवसम्प्रदाये 'प्रसादस्य' अतिमहत्त्वं वर्तते। भगवतोऽनुग्रहेणैव भक्तस्य कामनासिद्धिर्भवति। श्रीमद्भागवत इदम् 'पोषणम्' इत्यभिधानेनाभिहितम्—

स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः।
मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्म-वासनाः[२५] ॥

अनेन कारणेन वल्लभाचार्यमतं पुष्टिमतमित्यभिहितम्। श्वेताश्वतरोपनिषदि वर्णितं यत् तप इत्यादि प्रभावातिरिक्तं देवप्रसादेनापि श्वेताश्वर ऋषिः सिद्धिं प्राप्तवानिति—

तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम्[२७] ॥ इति।

अग्रे अत्रैव भक्तेः प्रथमतया स्पष्टं प्रतिपादनं प्राप्यते—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः[२७] ॥

यस्य नरस्य देवे उत्कृष्टा भक्तिर्भवति, तथा देववदेव गुरावपि भक्तिर्भवेत्, तमेव महात्मानम् इमे उक्ता अर्थाः स्पष्टमवभासन्ते। उपनिषत्सु तु भक्तिशब्दस्यायं प्रथमो नामतः प्रयोगो वर्तते। परवर्तिनि साहित्ये गुरोर्यन्महत्त्वं दरीदृश्यते तस्य मूलरूपा एषा श्रुतिः। वैष्णवमते तु भक्तेरपेक्षया प्रपत्तेर्महत्त्वमधिकं वर्तते। प्रपत्तौ तु भगवान् एवोपेय उपायश्च वर्त्तते। आवश्यकता त्वेषा यद् भक्तो भगवन्तं शरणं गच्छेत्। भक्तं शरणापन्नं भगवानुद्धरति। अस्य प्रपत्तिसिद्धान्तस्य प्रतिपादनं श्वेताश्वतरोपनिषदीत्थम् दृश्यते—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
त ँ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये[२८] ॥

अस्मिन् मन्त्रे ब्रह्मणस्तत्कारणभूतस्य वेदस्य चोत्पादकस्य भगवतः शरणं प्रापणीयमिति वर्णितम्। श्रीमद्भगवद्गीता तु वैष्णवानां सर्वश्रेष्ठो ग्रन्थः। अस्मिन् विषये गीताऽपि कठोपनिषदः श्वेताश्वतरोपनिषदश्चानुयायिनी। इत्थं दृश्यते यद् भक्तिसिद्धान्तो वैदिकः। सत्यकामस्य सत्यसङ्कल्पस्य च ब्रह्मणः प्रसादेनैव साधको भौतिकक्लेशेभ्यो मुक्तो भवति।

प्राचीनटीकाकर्तॄणामपि ध्यानमत्रासीत्। महाभारतस्य प्रथितव्याख्याकर्त्रा नीलकण्ठेन मन्त्र-रामायणम्, मन्त्रभागवतम् इति च यल्लिखितं तत्र वैदिकमन्त्रैर्वेदेषु रामाख्यानस्य भगवताख्यानस्य स्फुटीकरणमस्य निदर्शनम्।

श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कन्धे सप्ताशीतितमेऽध्याये वेदस्तुतिर्वर्तते, यस्याभिप्रायस्त्वयमेव यद्

२४. कठोपनिषद.—१-२-२०.
२५. श्रीमद्भागवतम्—२/१०/४.
२६. श्वेताश्वतरोपनिषद्—६/२१.
२७. श्वेताश्वतरोपनिषद्—६/२३.
२८. श्वेताश्वतरोपनिषद्—६/१८.

भक्तिरपि श्रुतीनां प्रतिपाद्या। पुराणकर्तुर्वेदव्यासस्य मतमप्येतदेव। वस्तुतः सर्वेषां धर्मदर्शनसिद्धान्तानां मूलभूतो वेद एव। भक्तेरुद्भवो मनसो वशीकरणेन भवति। मनसो वशीकरणं तु गुरुकृपया भवति। अस्मिन् विषये उपनिषदो नानामन्त्राणां सारो वेदस्तुतेरस्मिन् पद्ये उपलभ्यते—

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं
य इह यतन्ति यन्तुमति लोलमुपायंरिवदः।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं,
वणिज इवाज सन्त्यकृत कर्णधरा जलधौ[२९]॥

श्रीमद्भागवतमहापुराणे भक्तेर्विवेचनं वैशद्येन वर्तते। नवधा भक्तेर्विवेचनं तु प्रसिद्धमेवास्ति। अयमेव निष्कर्षो यद् ज्ञानकर्मसिद्धान्तवद् भक्तिसिद्धान्तोऽपि वैदिकसंहितायां स्फुटं बीजवन्निर्दिष्टो विलसति।

नाट्यशास्त्रे स्त्रीपुरुषयोः रत्याख्यो भावः सङ्केतव्यङ्ग्यः साधारणीकृतो रसत्वमापन्नः शृङ्गार इत्याख्यातः। अयं च कामात्मापि बहुविधत्वात् स्नेहप्रेमादिव्यपदेशमपि भजति, यथा भवभूतेः—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेम सारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्रार्थ्यते[३०]॥

अत्र दाम्पत्ये रसः स्नेहसारतया विवक्षितः। अलौकिकश्चायं शृङ्गारो व्यावहारिकाद् भिद्यते कामाद् भावनाव्यङ्ग्यत्वात्। बाह्यार्थपरतन्त्रत्वात् व्यावहारिकाभिमानशून्यत्वाच्च।

एवं च प्रवृत्तिधर्मे वैदिके निवृत्तिधर्मे श्रमणानामालङ्कारिकेषु च त्रिधावधारितः प्रेमा कामरूपेण कारुण्यरूपेण शृङ्गाररसरूपेण च। त्रिभ्योऽपि एतेभ्योऽवधारणेभ्यः प्रेम्णः स्वरूपं पूर्वावधारणा-संलग्नमपि भिन्नमिवावधृतं भक्तिशास्त्रे। परमार्थे आप्तकामत्वं रसरूपत्वं च, प्राकृते कामे दिव्येच्छावभासित्वम्, लौकिकार्थानां भावानां हेतुत्वम्, विषयस्य भावनागम्यत्वम्, शृङ्गारवन्माधुर्य-कल्पनम्, इत्यादीनि लक्षणानि भक्तिरसस्य पूर्वेतिवृत्तमेव प्रेम्णः स्मारयन्ति। तथा च भागवते कर्मज्ञानसमन्वितः साधनात्मको भक्तियोगो भगवद्भावरूपा च साध्यरूपा भक्तिरुपवर्णिता। तच्च भगवद्गीतासन्निकृष्टमेव। अपूर्वं चात्र प्रवृत्तिनिवृत्त्युपकृतायां भगवद्भावनायां तद्रूपगुणलीलाचरितादि-विषयाणाम् आलङ्कारिकसम्मतभावेनौपम्येन भावरसोपकल्पनम्। सर्वात्मभावदर्शनपूर्विका च भक्तिरद्वैतमाक्षिपति। यथा मनोभावात्मिका च भक्तिरविच्छिन्नप्रवाहा, यथोक्तम्—

मद्गुण-श्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥ इति।

२९. श्रीमद्भागवतम्—१०/८७/३३.

३०. उत्तररामचरितम्—१/३९.

निर्गुणस्य भक्तियोगस्य लक्षणमुदाहृतम्, येन भगवद्भावनोपपद्यते। भगवद्विषयश्चायं भावो लौकिकप्रेम्णा तुलनीयोऽपि, यथा—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनु स्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥ इत्यादिषु।

मधुसूदनसरस्वतीपादैरप्यद्वैताचार्यैर्भक्ते रसत्वमुपपादितमिति सुविदतमेव। तैः ज्ञानभक्त्योर्भेदः चित्तस्य द्रुतिकाठिन्यावस्थापेक्षा कृतः, द्रुतचित्तस्य धारावाहिकता भक्तिः प्रोक्ता, कृष्ण एव द्रुतचित्त-निक्षिप्तसंस्काररूपो भावोऽभिहितः। अस्य च कृष्णभावस्य आस्वाद एव रसः। तथा च वल्लभ-सम्प्रदायेऽपि पठ्यते—'भगवत्स्वरूपं हि श्रुत्येकसमधिगम्यम्। तव च "सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः" इत्यनेन सर्वकामरूपत्वं तद्वत्त्वं च सर्वरसरूपत्वम् तद्वत्त्वेन सर्वरसभोक्तृत्वं च प्रतिपद्यते। कविकर्णामृते लीलाशुककविना, जयदेवेन च गीतगोविन्दे भक्तिरसस्य महत्त्वं सुसम्पादितम्। रसेषु च शृङ्गारस्य मुख्यत्वात् तस्य च रत्याख्यस्थायिभावस्वरूपत्वात्तद्रूपत्वं तद्वत्त्वं चावश्यं वाच्यम्। तत्र व्रजसुन्दरी-भावालम्बनविभावत्वेन तद्भाषानुसारेणैव च सर्वकरणेनैव तद्रसरूपत्वम्। एवं 'भगवान् रसात्मको रसवांश्च, अन्ये तु कामिनीरसाभासिनामत्र पूर्णे वस्तुन्यासक्ततया वीभत्सरसपरिपूर्णा भ्रान्ताः।' भगवति भावानामपि स्वरूपातिरिक्तो नाम भाव एव।

सर्वं चैतद् लौकिकमुक्तिविरुद्धं प्रतीयमानमपि श्रुत्वा भक्तानुभावाच्च सिद्धम्। अनवसरश्च "अर्वाचीनविकल्पवितर्कविचारप्रमाणाभासकुतर्कशास्त्रकलितान्तःकरणदुखग्रहवादिनां विवादानामेव।"[३१]

चैतन्यसम्प्रदाये मधुररसोपकल्पनेन भक्ते रसरूपत्वं च सोत्कर्षमभिव्यज्यते। भक्तिरत्र नित्यसिद्धा प्रेमस्वरूपा भगवत्स्वरूपा व्यतिरिक्तैव व्यज्यते चैवं साधनशुद्धे चेतसि भगवत्कृपा। साधनभक्तिर्वैधी रागानुगामिनी च। वैधी शास्त्रस्य शासनेन प्राचीनकर्मयोगस्थानीया। भेदस्त्वत्र भागवताश्रितश्रवण-कीर्तनादिप्राधान्यकृतः। वैधी भक्तिरेव च कैश्चिन्मर्यादामार्ग उच्यते। व्रजवासिजनादिषु विराजन्ती रागात्मिकावृत्तिनुसृता रागानुगोच्यते। सा कामरूपा सम्बन्धरूपा चेति द्विधा। यथोक्तम्—

कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदर्थं हित्वा बहवस्तद् गतिं गताः॥

तथापि भयद्वेषयोर्हेयत्वमेव स्नेहभक्तिः तु वैधी सन्निकृष्टे एव। कामरूपा शिष्यते, सा च सम्बन्ध-रूपा च प्रेममात्रस्वरूपा। तथापीयं साध्यभावतया भावभक्तौ पर्यवस्यति। भावलक्षणं तु—

शुद्ध-सत्त्वविशेषात्मा प्रेम सूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते[३२]॥

---

३१. विद्वन्मण्डनम्, पृ० २५१-५६.

अणुभाष्यम् पृ० १०९९ "रसात्मकत्वाद् भक्तेः"॥

३२. हरिभक्तिरसामृतसिन्धुः—१.३.१.

प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते॥

स च भावः कृष्णरतिः—

आविर्भूय मनोवृत्तौ व्रजन्ती तत्स्वरूपताम्।
स्वयंप्रकाशरूपापि भासमाना प्रकाश्यवत्[३३]॥

स्वयमास्वाद्यरूपापि कृष्णकर्मकास्वादरूपत्वं प्रतिपद्यते। ततश्च श्रद्धासाधुसङ्गभजनक्रियानर्थ-निवृत्तिनिष्ठासक्तिक्रमेण भावात् प्रेमभक्तिराविर्भवति—

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते[३४]॥

विविधाश्चास्यावस्था उच्यन्ते—'तत्रोल्लासमात्राधिक्यव्यञ्जिका रतिः। ममत्वातिशयाविर्भावेन समृद्धिः प्रतीतिः प्रेमा', 'अथ विश्रम्भातिशयात्मकः प्रेमा प्रणयः।' 'चेतोद्रवातिशयात्मकः स्नेहः। स्नेह एवाभिलाषातिशयात्मको रागः।' अनुराग एव असमोर्ध्वचमत्कारेण उन्मादको महाभावः॥'[३५]

एवं च भगवत्स्वरूपशक्तिविशेषो भक्तिर्भक्तमनुगृह्णाति तत्रात्मनि प्रेमरूपाभिव्यज्यते। भगवल्लीलोद्भावितविभावादिसंवलिता प्रीतिरेव प्रीतिमयो रसः। स च आस्वाद्यरूपोऽप्यास्वादरूपोऽपि। बहुविधोऽयं रस उज्ज्वलोत्कर्षः।

उपसंहारः

उपसंहाररूपेण एतद् वक्तव्यं यद् प्रेमैव परमार्थस्य अध्यात्मसाधनतया गृहीतभक्तिरिति आख्यायते। प्रेमतत्त्वं तु नित्यमपि साधनसंस्कृतिसम्प्रदाये विवर्त इव। एकाकिनमात्मानं शून्यादिव विमोचयन् कामो रमयति। आदौ सृष्टिमुन्मीलयन् प्रतिक्षणं च तां नवीकुर्वन् स एव मूलं व्यक्तविश्वस्य। लौकिकं पुरुषमपि प्रथमस्तस्य दैहिकात् पार्थक्यादुद्धरन् कौटुम्बिकं सामाजिकं च विश्वं सृजति नवी- कुरुते च। अन्ततः पुरुषं तदहङ्कारकोशाद् अविद्यान्धकारगुहातो मोचयन् तं परमात्माद्वये भूमनि प्रतिष्ठापयति विश्वात्ममण्डले। एवं च भक्तिः पारमार्थिकी प्रेम्णः कामस्य वा शक्तिरेव भागवती यां सर्वाध्यात्मसाधनेषु तत्सारतया निहिता विश्वकल्याणाय प्रवर्तते मानुषीं तनुमाश्रितं पुरुषं परं प्रतिपद्यमाना सर्वभूतेषु तमेवाव्ययं भावं क्रमेण उन्मीलयन्ती। अन्ते इदं वक्ष्यामि यत्—प्रायः सर्वे महाकवयः स्वेष्ट-देवतास्तुत्यात्मक-नत्यात्मकमङ्गलाचरणेन काव्यस्य सृष्टिं कृत्वा काव्यपठनेन 'सद्यः परनिर्वृत्तिरूपं' काव्यस्य प्रयोजनं साधयन्ति। अन्येषामेव वितरन्ति। उपसंहारस्तवे उक्तं अस्मद्गुरुचरणाः—

सर्वे रसा दधति नीरसतां यदग्रे निःसंशयं जयति भक्तिरसः स एकः।
तं मुक्तहस्तमिह पाययितुं समस्ता नेतां प्रपां स्तुतिमयीमकरोद् वसन्तः॥ इति।

✿

---

३३. हरिभक्तिरसामृतसिन्धुः—१.३.३.

३४. हरिभक्तिरसामृतसिन्धुः—१.४.१.

३५. प्रीतिसन्दर्भे—प्रीतितारतम्यनिरूपणे—पृ० २४३-५०.

आचार्यक्षेमेन्द्रस्यौचित्यवादः

डॉ० भालचन्द्रपाण्डेयः
पूर्वप्राचार्यः, श्रीनन्दलालबाजोरियासंस्कृत-
महाविद्यालयस्य, वाराणसी

संस्कृतसाहित्यसंसारेऽत्र महाकवेः क्षेमेन्द्रस्यास्ति महद्गौरवपूर्णं स्थानम्। तेन साहित्यस्य विविधेष्वङ्गेषु कृताभिरनेकानेकरचनासरस्वतीभिः सारस्वतेयोऽम्बुराशिः समुज्जृम्भितः सहृदयानां मनांसि अद्भुतानन्दप्रदानेन रञ्जयति। तेनाभिनवस्यैकस्यौचित्यवादस्य प्रतिष्ठां विधायालङ्कारिकाणामाचार्याणां मध्येऽपि स्वीयम् औचित्यमतवादप्रवर्तकमौलिमणित्वं सुरक्षितं विहितम्।

यस्यौचित्यवादस्य महत्तामादाय तस्य लोके महद् यशो विततम् औचित्यविषये कथनं यत्—औचित्यमेव रसस्य वा जीवितभूतं तत्त्वमस्ति। तदेव च काव्यास्वादे चमत्काराधायकमस्ति। यथा—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे। रसजीवनभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।

(औचि०-३, पृ. ३)

एवञ्चौचित्यस्यैव काव्यास्वादे प्राधान्यमुद्घोष्य तदीयं स्वरूपं निर्दिशन्नाह—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्। उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥

औचि० ७ पृ० १२

यद्यपि औचित्यस्य प्रधानतत्त्वत्वेन सर्वातिशायिनी महत्ता क्षेमेन्द्रेणैव प्रतिपादिता। तेनैवैतद्विषये 'औचित्यविचारचर्चा' सदृशं ग्रन्थं विधायौचित्यस्वरूपं साङ्गोपाङ्गं साटोपं सोदाहरणं सम्यग् विवेचितं, तस्य च व्यापकरूपं स्पष्टीकृत्य औचित्यमेव रससिद्धकाव्यस्य जीवितं संसाध्योक्तम्—

औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्। (औ० ३ पृ० ६)

काव्यस्याङ्गरूपेण भरतादारभ्याद्यावधि सर्वैरपि काव्यतत्त्वविद्भिरौचित्यस्य स्वीयग्रन्थेषु यत्र तत्राख्यानं विहितम्।

भरताचार्यः स्वनाट्यग्रन्थे अनौचित्यमेव रसभङ्गस्य कारणम् उद्घोषितवान्—

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति। मेखलोरसि बन्धे च हास्यायोपजायते।

—नाट्य० २३, ६९

एवमेव चानन्दवर्धनोऽपि स्वध्वन्यालोके औचित्यस्य विषये—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥ (आनन्दवर्धन)

तथापि क्षेमेन्द्रः औचित्यस्य सर्वथा नवोद्भावकरूपेणात्मानं ख्यापयामास—
''क्षेमेन्द्र इत्यक्षयकाव्यकीर्तिश्चक्रे नवौचित्यविचारचर्चाम्''।

न चैतत्सर्वथानुचितमितिवक्तुमुचितं यतोहि—क्षेमेन्द्र एवौचित्यस्य प्राधान्यमुदघोषयत् काव्यास्वादे। साहित्यशास्त्रस्य विपुलेतिहासकाले काव्यशास्त्रीयसौन्दर्य्याधायकतत्त्वात्मकत्वेनौचित्यस्य महत्त्वं सर्वैराचार्यैः मुक्तकण्ठेन स्वीकृत्य स्वग्रन्थेषु अवश्यमेव स्थानं प्रदत्तम्। नाट्यशास्त्रे भरताचार्यः रूपक वर्णनप्रसङ्गे औचित्यस्य महत्त्वं स्वीकुर्वन् प्रतीयते। यथोक्तं तेन

अदेशजं हि वस्तु न शोभां जनयिष्यति। तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोकस्वभावजम्॥

—नाट्य १३, ७९

अत्र भरतो नाट्यतत्त्वनिर्धारणे सामाजिकीमभिरुचिमेव प्रामाणिकीं स्वीकुर्वन्निव दृश्यते।

क्षेमेन्द्र इव भरतोऽपि समानशब्दैरौचित्यस्य महत्त्वं स्वीकरोति। यथा—

अदेशजो हि वस्तु न शोभां जनयिष्यति। मेखलोरसि बन्धे च हास्यायोपजायते॥

—नाट्य, १३/६९

श्लोकोऽयं तुलनीयः, औचित्यविचारचर्चागतेन निम्नश्लोकेन—

उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः। औचित्यादच्युता नित्यं भवन्ति च गुणा गुणाः॥
कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेंण वा
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा॥
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति केहास्यताम्
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नाऽलंकृतिर्नो गुणाः॥ —औचि० ६, ९

आचार्यभामहः—भामहोऽयं प्रथमोऽलंकारिकाचार्योऽलंकारवादस्य प्रवर्तकः। अस्यालंकार-ग्रन्थः काव्यालंकारः। तेनाऽपि स्वालंकारग्रन्थे अनेकत्रौचित्यस्य महत्त्वं प्रतिपादयतोक्तं यत् कविना काव्यनिर्माणकाले लोकस्वभावोऽवश्यं ध्यातव्यः। यतो हि लोकप्रवृत्तिरेवौचित्यानौचित्ययोः निर्णयस्थली। रीतौ, प्रवृत्तौ, रसेऽलंकारे वा सर्वत्र सहृदयानां रुचिरुत्पाद्यां नारुचिः। भामहोऽपि स्पष्टतः स्वकण्ठेनौचित्यस्य महत्त्वं समर्थयति। यथोक्तं—

सन्निवेषविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमावद्धमन्तराले स्त्रजामिव॥
किंचिदाश्रयसौदर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्॥

आचार्यदण्ड्यपि स्वकाव्यादर्शे औचित्यस्य महत्त्वं प्रदर्शयामास। दण्डिनोऽपि मते लोकरञ्जनसमर्थमेवोत्तमं काव्यम्। वस्तुतस्तु तदीयोऽस्ति कान्तगुणः लौकिकमर्यादानतिक्रमणकारि औचित्यमेव। यथोक्तं तेनः—

कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्।

आचार्याणां शृङ्खलायां रुद्रटः प्रथमः आचार्यः यो ह्यौचित्यतत्त्वस्य नामोल्लेखपूर्वकं निर्देशं कृतवान्। तथा च तदनुसारमनुप्रासयमकयोः प्रयोगे औचित्यमेव निर्णायकं तत्त्वं भवति। यथोक्तं तेन—

एता प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थाम्।
मिश्राः कवीन्द्रैः रचनाल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः॥

तदेवं प्रतीयते यद् विशालपरम्परया कयाचिदस्पष्टरीत्या प्रवहमानोऽयमौचित्यप्रवाहो रुद्रट-काव्यालंकारे स्पष्टतां प्राप्तः।

रुद्रटानन्तरमौचित्यसिद्धान्तस्य विकासे प्रमुखं योगदानं आनन्दवर्धनस्यास्ति। आनन्दवर्धनेन स्वीये युगान्तरकारिणि ध्वन्यालोकेऽत्रौचित्यस्य सर्वाङ्गीणं विवेचनं प्रकाशितम्। सः कुत्रापि स्पष्टतया कुत्रचिच्च संकेतमात्रेणौचित्यतत्त्वस्य पुष्कलं विवेचनं प्रस्तौति। आनन्दवर्धनात् पूर्वाचार्यैस्तु केवलं स्वग्रन्थेषु केषुचित् प्रकीर्णाङ्गेष्वेवौचित्यस्यावधारणा निर्धारिता। क्षेमेन्द्रीयविख्यातग्रन्थस्यौचित्यविचार- चर्चाख्यस्य मूलं स्रोतो ध्वन्यालोक एवास्ति। वस्तुतस्तु काव्यतत्त्वतयौचित्यस्य सर्वप्रथमं निर्धारणं ध्वन्यालोके कृतम्। ध्वन्यालोकस्य तृतीयोद्योते प्रकृतेरौचित्यानौचित्ययोः विवेकः स्पष्टरूपेण कृतोऽवलोक्यते। प्रसङ्गेऽस्मिन् कमनीयतया औचित्यस्य महत्त्वं प्रदर्शयता तेनोक्तम्—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥ —ध्वन्या० तृ० उद्योत

तत्रायमभिप्रायो यद्रसभङ्गस्य मुख्यं कारणमनौचित्यमेव तथौचित्यनिबन्धनं रसचर्वणायाः प्रमुखं मूलम्। एवं च पूर्वस्माद् प्रवहमानौचित्यमहत्त्वस्य प्रतिष्ठास्थापनेऽभिनवगुप्ताचार्यस्यापि महद्योगदान-मविस्मरणीयम्। अभिनवगुप्ताचार्योऽयं ध्वन्यालोकस्य प्रशस्तो भाष्यकारस्तथा चौचित्यवादप्रस्थान-प्रतिष्ठापकस्य क्षेमेन्द्रस्य साहित्यिको गुरुरस्ति। शिष्यकौशलेऽत्र गुरोरवदानस्यान्वेषणं नैवासङ्गतम्। तदेवमभिनवगुप्तानुसारं काव्यस्य प्राणभूतं तत्त्वं रसादिः। शरीरे चेदात्मा तदा शरीरं सजीवम्, तत्रैवा-लंकारादयः शोभाधायकाः निर्जीवं चेच्छरीरं तत्रालंकारोऽप्यनलंकार एव। यथोक्तं तत्रैव ह्यचेतनं शवशरीरं कटककुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटककुण्डलादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलंकार्यस्याभावात्।

भोजराजोऽपि काममौचित्यं काव्यात्मत्त्वेनस्वीकृत्य तदीयां सत्तां स्वीचकार। कुन्तकाचार्यस्य प्रसिद्धो ग्रन्थो वक्रोक्तिजीवितम्। ग्रन्थोऽयं स्वमौलिकत्वप्रौढत्वाभ्यामलंकारवाङ्मये परमां प्रतिष्ठां भजते। तदनुसारं वक्रोक्तिरेव काव्यजीवितमस्ति। वक्रोक्तेरपि मूलाधार औचित्यभावः। तत्रापि वाच्य-वस्तुनोरेकांशे अप्यौचित्याभावे न तत् सहृदयहृदयहारि भवति।

यथा स एव निर्दिदेश—तत्र पदस्य तावदौचित्यं वक्रताया परं रहस्यमुचिताभिधानजीवितत्त्वाद् वाच्यस्याप्येकदेशेऽप्यौचित्यविरहात् तद्विदाह्लादकारित्वहानिः। तस्यापि सूक्ष्मे विचारे क्रियमाणे प्रतीयते यत् साहित्यभावोऽस्ति शब्दार्थयोः उचितं सहावस्थानम्। कुन्तकेन त्रयो मार्गाः स्वीकृताः। तत्र त्रिषु भागेषु औचित्यं सौभाग्यञ्च द्वौ सामान्यगुणौ। तत्र किन्नामौचित्यमुच्यते। स स्वयमुत्तरयन्नवोचत्—

आञ्जस्येन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते, तदेवौचित्यम्। महिमभट्टोऽपि आनन्दवर्धनवत् अनौचित्यमेव प्रधानं दोषं मन्यते। तंन्मतेनाऽपि औचित्यमेव काव्यस्य प्रधानमुपादानमिति।

अनन्तरं क्षेमेन्द्रः साहित्यजगति समागतः। यद्यपि काव्यतत्त्वरूपेणौचित्यस्य महत्त्वं सर्वैः पूर्वाचार्यैः स्वीकृतम्; तथाप्यौचित्यस्य सर्वाङ्गीणं विवेचनं प्रस्तूय तत् काव्यस्यात्मरूपेण प्रतिष्ठाप्यौचित्यसम्प्रदायप्रवर्तनस्य श्रेयस्तु क्षेमेन्द्र एव भजते। तदेव समीचीनञ्च। औचित्यविचारचर्चैव औचित्यसम्प्रदायस्याकरभूतं मूलग्रन्थरत्नम्। एतैरेव कारणैः विज्ञवर्गेण क्षेमेन्द्र एवौचित्यसम्प्रदायस्य प्रवर्तकाचार्यः स्वीक्रियते। प्रभूतसंस्कृतवाङ्मयस्य रचयितुः क्षेमेन्द्रस्य समाजः चिरकालम् अधमर्णोऽस्ति। इति।

✿

बिल्हणकवेः विक्रमाङ्कदेवचरितम्

डॉ० शरदिन्दुकुमारतिवारी

संस्कृतवाङ्मये सत्स्वपि भूयस्सु विषयान्तरग्रन्थेषु ऐतिहासिकप्रबन्धाः किमित्यल्पीयांस एवोपलभ्यन्त इति प्रश्नो विबुधानां मनोऽङ्गणेऽसमाधेय एव राराजते। किन्तु कालक्रमेण समाहितोऽयं प्रश्नः। संस्कृतवाङ्मयनिबद्धाः गणनातीताश्शिलास्ताम्रपत्रलेखाः केचन प्रबन्धाश्चोपलभ्यमानास्संस्कृतविदुषां विषयान्तरवदैतिहासिकविषयिणीमप्यभिरुचिमधिकां प्रमाणयन्ति।

साम्प्रतिकविद्वांसस्तावदादौ हर्षचरितं ततो विक्रमाङ्कदेवचरितमित्यैतिहासिककाव्यद्वयमन्वेषयामासुः। तत्राद्यं काव्यं गद्यनिबद्धं द्वितीयन्तु पद्यात्मकम्। अद्य यावदुपलब्धेषु पद्यात्मकचरितेषु विक्रमाङ्कदेवचरितं विशिष्यत इति निर्विवादोऽर्थः। एतादृशमेव कह्लणस्य राजतरंगिणीनामकं काव्यम्। एवमैतिहासिकप्रबन्धानां संस्कृते विराजमानतैव दृश्यते।

संस्कृतकाव्यमार्गे कालानुसारेण शैल्यनुसारेण वा विविधा विभागाः विराजन्ते। तत्र विक्रमाङ्कदेवचरितमहाकाव्यं द्वितीयविभागान्तर्गतम्। अस्य च रचयिता संस्कृतमहाकविषु प्रथितकीर्तिः काश्मीरदेशीयः भट्टविह्लणः। सोऽत्र काव्ये स्वाश्रितस्य चालुक्यविक्रमादित्यस्य त्रिभुवनमल्लापराभिधानस्य चरितमेव प्राधान्येन विवक्षुः प्रबन्धस्यास्य महाकाव्यत्वमपि परिपोषयितुं तदनुरोधेनैव चरित्रांशान् अनपहाय काव्यमिदं निबबन्ध।

जर्मन्देशीयः संस्कृतविद्वान् डॉ० 'जार्ज बुहलर' महोदयः काव्यमिदं प्रकाशमानीय परां कीर्तिमवाप। स खलु चतुस्सप्तत्युत्तराष्टादशशततमे (१८७४) ख्रिस्ताब्दे स्वसुहृदा जैकोबीमहाशयेन सह

'जैसल्मीर' नगरस्य जैनपुस्तकालये अन्विष्य प्रबन्धमिमलभत। तत उत्तरस्मिन् काले नैके भारतीयाः विद्वांसः अस्य विक्रमाङ्कदेवचरितस्य प्रकाशनाय महतीमास्थां प्राख्यापयन्। बहुशः प्रकाशनं चास्य संजातमिति।

संस्कृतकवयः पण्डिताश्च केचन तदाश्रितानां राज्ञां चरित्रात्मकान् प्रबन्धान् रचयामासुः। अनयैव रीत्या ते स्वकृतज्ञतां राजभ्य उपायनीचक्रुः। तेषु वाण-विल्हण-कुमारपादादयः प्रबन्धयितारः प्रथिमानमाजग्मुः। विशेषस्तु कवितल्लजाः श्रीहर्ष-विक्रमाङ्कादिचारित्रिकपुरुषापेक्षया रामकृष्णादि-पौराणिकपुरुषेभ्य एव प्राधान्यं प्रदाय तेषां मानवातीतप्रभावान् वर्णयन्तः स्वभक्त्यञ्जलिं तेभ्यः पुराणपुरुषेभ्यः समर्पयाम्बभूवुः। तथापि यदि केषाञ्चित् चारित्रिककवयितॄणामनुग्रहः काव्यमार्गे न प्रासरिष्यत् तदा बहवो भारतवर्षराजानः तत्परिपालनक्रमः तद्राज्यञ्च कालान्धतमसे न्यमज्जिष्यन्।

गुप्तसाम्राज्यस्य विलयानन्तरं चालुक्यसाम्राज्यमिव सुमहत् प्रतापशालि नान्यत् किञ्चित् साम्राज्यमभवत्। चालुक्यवंशस्य शाखाचतुष्टयमासीत्। कल्याणचालुक्यवंशोत्पन्नः षष्ठो विक्रमादित्यः विक्रमाङ्कदेवचरितकाव्यस्य नायकः। एतद्वंशीयाः विद्या-शौर्यशीलौदार्यादिगुणेषु अन्यराजभ्योऽति-रिच्यमाना व्यराजन्त।

अष्टादशसर्गात्मकेऽस्मिन् काव्ये सप्तदशसर्गेषु चालुक्यवंश-विक्रमादित्यचरितादिकं निबध्यान्ति-मेऽष्टादशतमे सर्गे कविर्विह्लणः स्वीयं काश्मीरदेशं तन्नृपतींश्च वर्णयित्वा स्ववृत्तान्तमपि जग्रन्थ। एवञ्च काव्यमिदं द्वेधा विभक्तुं शक्यते। अस्मिन्नैतिहासिकसाहित्यिकविषयाणामद्भुत एकीभावोऽस्ति। एतत्कृतौ विह्लणः प्रसादे माधुर्ये गुणान्तरेषु च कालिदाससाम्यं भजति। अयं काश्मीरेषु जनिं लेभे। कुङ्कुमकेशराणां सहोदरा कविताविलासाः काश्मीरेभ्यः एवोद्भवन्तीति सञ्जातामेव गर्वोक्तिं प्राचीकटत् विह्लणः—

सहोदराः कुङ्कुमकेशराणां भवन्ति नूनं कविताविलासाः।
न शारदादेशमपास्य दृष्टः तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः॥

एतादृशप्रबन्धपथगामिषु चरितेषु यावान् रसभावालङ्कारादिः वर्णितः सः सर्वोऽपि चरित्रांशमनपहाय एव वर्णितोऽस्ति। तत्र बाणभट्टकृतं-'हर्षचरितम्' विल्हणभट्टकृतं-'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' चैतत् द्वयं प्रधानया चरित्रप्रख्यापकं दरीदृश्यते इत्युक्तचरमेव। तथापि तावुभौ कवी काव्यशोभाकराणामलङ्कारादीनामेव वर्णने व्यापृतौ। अत एव न तौ चरित्ररचयितृश्रेणिमधिजग्मतुः। महाकवी इत्येव ख्यातिमध्यरूहताम्। कथासंविधानस्यापि वर्णनमसम्बद्धतयैव वाण-विह्लणौ चक्रतुरिति तद्ग्रन्थपरिशीलकानां सुविदितं भवति।

राज्ञां यशसः अपयशसो वा प्रख्यापनाय कविप्रतिभैव निदानं भवति। कविर्विह्लणः स्वकाव्य-नायकपदे तमेवाभिषिषेच यः स्वस्मै नितान्तमादरणीयं विद्यापतिपदं ददौ। विह्लणस्तं विक्रमादित्यं स्वकाव्यनायकं विष्णोरप्यधिकं मेने यथा—

गिरां प्रवृत्तिर्मम नीरसाऽपि मान्या भवित्री नृपतेश्चरित्रैः।
के वा न शुष्कां मृदमभ्रसिन्धुसम्बन्धिनीं मूर्धनि धारयन्ति॥

विह्लणकविः काश्मीरेषु प्रवरपुरस्य क्रोशत्रयदूरस्थ-खोनमुखनाम्नि ग्रामे मध्यदेशीयब्राह्मणकुटुम्बे अजनिष्ट। अस्य पितामहप्रपितामहौ राजकलश-मुक्तिकलशाख्यौ अग्निहोत्रिणौ वेदविद्वांसौ चास्ताम्। पिता तु ज्येष्ठकलशाख्यो व्याकरणशास्त्रपारङ्गतः पातञ्जलमहाभाष्यस्य व्याख्याकारः बभूव। माता च नागदेवी। अग्रजोऽनुजश्च इष्टरामः आनन्दः विद्वत्कवी आस्ताम्। विह्लणः काश्मीरेष्वेव विद्यां जग्राह। वेदेषु व्याकरणशास्त्रे छन्दोऽलङ्कारादिषु च वैदुष्यं लेभे—

अङ्गैस्त्वङ्गत् कनकरुचिभिः कार्मणं लोचनानाम्
सूरेस्तस्माद्जनि जगतां शेखरो विह्लणाख्यः।
सान्द्रैर्वेदध्वनिभिरनभिव्यक्तमञ्जीर- नाद
................वदने यस्य वाग्देवताऽऽसीत्॥

साङ्गो वेदः फणिपतिदृशा शब्दशास्त्रे विचारः
प्राणा यस्य श्रवणसुभगा सा च साहित्यविद्या।
को वा शक्तः परिगणयितुं श्रूयतां तत्त्वमेतत्
प्रज्ञाऽऽदर्शे किमिव विमले नास्य सङ्क्रान्तमासीत्॥

ग्रामो नासौ न स जनपदः साऽस्ति नो राजधानी
तन्नारण्यं न तदुपवनं सा न सारस्वती भूः।
विद्वान् मूर्खः परिणतवया बालकः स्त्री पुमान् वा
यत्रोन्मीलत्पुलकमखिला नास्य काव्यं पठन्ति॥

इत्यादि प्रबन्धेन विह्लणकवेर्वैदुष्यादिकं तेनैव वर्णितं दृश्यते।

प्रायः पण्डिताः कवयश्च स्वाध्ययनानन्तरं विद्वद्विजिगीषवो वा ख्यातिजिगमिषवो वा देशान् पर्यटन्ति। एवमेव विह्लणोऽपि वेदशास्त्रनिष्णातः काश्मीरान् विहाय देशसञ्चारार्थं निर्ययौ। सः यमुनातीरेण गत्वा मथुराक्षेत्रं प्राप। ततः कान्यकुब्जं नगरम्। ततो गङ्गातीरेण निर्याय गंगायमुनासंगमक्षेत्रे प्रयागे किञ्चित् कालमुषित्वा वाराणसीमाजगाम। ततः कविरयं पश्चिमदिशा निर्गच्छन् 'डाहल'देशाधिपस्य कर्णस्याऽस्थाने कञ्चित्कालमुवास। कर्णो राजा विन्ध्यपर्वतप्रान्तीयस्य प्रयागानुगतस्य कालिञ्जर-नाम्नो गिरिदुर्गस्य विजेतेति चरित्रं प्रख्यापयति। अत्र राजाऽस्थाने महान्तं कालमुषित्यैव विह्लणो गङ्गाधरनामानं तत्रस्थं विद्वदग्रेसरमजयत्। विह्लणस्यायं कालः कीर्तिकरस्तेजस्करश्चासीत्। अस्मिन्नेव समये कविरयं रामचरितं नाम काव्यं रचयामास इति प्रसिद्धिः। परं तत्काव्यमिदानीं न लभ्यते। अतिशीतलरामचरित-गानस्रोतः कविरयं अयोध्यां प्रापयामासेति पद्यमिदं स्फुटीकरोति—

यस्यात्रस्तः स्फटिकगिरिणा तं विनिक्षिप्य वामे
प्रालेयाद्रेः क्षणमभिमुखो दक्षिणः पाणिरासीत्।
तं पौलस्त्यं विदलितवतः सूक्तिनिष्यन्दगीताम्
सीताभर्तुर्व्यरचयदसौ राजधानीमयोध्याम्॥

तस्मात् प्रदेशात् विह्लणः सोमनाथक्षेत्रपतिगताऽऽकृष्टमनाः तत् संसेव्य तत्समीपस्थ-धारापत्तनं ग़तवान्। परं भोजमरणानन्तरमेव स तत्र जगामेति पद्येनानेन स्पष्टं भवति—

भोजः क्ष्माभृत् स खलु न खलैस्तस्य साम्यं नरेन्द्रैः
तत्प्रत्यक्षं किमिति भवता नाऽगतं हा हतास्मि।

ततो गुर्जरप्रदेशात् दक्षिणभारतदेशमभिप्रतस्थे। दक्षिणापथे तु विह्लणः प्रथमं गोकर्णक्षेत्रमगात् ततो रामेश्वरक्षेत्रं संदृश्य क्रमादुत्तरस्यां दिशि कल्याणपत्तनमवाप। तत्र च विक्रमाङ्कदेवो राजा अस्मै कवये विद्यापतित्वपदं दत्वा इमं सबहु मेने। तत्पदवीप्राप्त्या कृतकृत्यः कविर्विह्लणः स्वजीवनशेषं तत्रैव निनीषुरास्त। कवेरस्य समीहितं पद्येनानेन स्फुटं भवति—

आरुक्षाम - नृपप्रसादकणिकामद्राक्ष्म लक्ष्मीलवान्
किञ्चित् वाङ्मयमध्यगीष्महि गुणैः किञ्चित् पराजेष्महि।
इत्यज्ञानमयीमकार्ष्म कियता नानर्थकन्यां मनः
स्वाधीनीकृतशुद्धबोधमधुना वाञ्छत्यमर्त्यापगाम्॥

इत्येवं कवेरस्य विद्वत्पराजये देशसञ्चारे च नैराश्यमुद्धृत्य विक्रमांकदेवाऽस्थान एव उषित्वा तच्चरितात्मककाव्यनिर्माणे अभिसन्धिरुदगच्छत्। खिस्तुशक्रस्य एकादशशतकस्य द्वितीयार्धे विह्लण आसीत्। अयं च कालः तदाश्रितस्य विक्रमादित्यस्य त्रिभुवनमल्लस्य राज्यकालमनुसरति। स राजा कल्याणपत्तने १०७६-११२७ पर्यन्तं स्थित्वा दक्षिणदेशं शशास।

विल्हणकविरचितत्वेन नैके ग्रन्थाः श्रूयन्ते। परमिदानीम् उपलभ्यमानौ द्वावेव ग्रन्थौ। एकं काव्यं विक्रमाङ्कदेवचिरतं द्वितीयं कर्णसुन्दरीनाटिका। विह्लणपद्यानि गानार्हतया गंगाप्रवाह इव नितरां मनोहराणि दृश्यन्ते। भाषा च नितान्तं सुगमा। वैदर्भीरीतिमनुसृत्यैव ग्रन्थः सर्वोऽपि रचित इत्यत्र नास्ति अतिशयोक्तिः। आहवमल्लस्य राज्ञो मरणवर्णनात्मकसन्दर्भस्तु नितरां मर्मस्पर्शी—

शुभाशुभानि वस्तूनि सम्मुखानि शरीरिणाम्।
प्रतिबिम्बमिवायान्ति पूर्वमेवान्तरात्मनि॥

एवमेव बहूनि उदाहरणानि सन्ति यैः कवेरस्य पाण्डित्यं परिलक्ष्यते। कविरयं सर्वानपि ऋतून् यथावसरं सुमनोहरं वर्णयति। किम्बहुना अस्य वाणी वीणेव सहृदयहृदयान्युन्नाटयन्ती मधुरं जगौ। अन्ते नरपतीन् उद्दिश्य कविरयं निर्दिशतिः—

हे राजानस्त्यजत सुकविप्रेमबन्धं विरोधं
शुद्धा कीतिर्भवति भवतां नूनमेतत्प्रसादात्।
तुष्टैर्बद्धं तदलघु रघुस्वामिनस्सच्चरित्रम्
क्रुद्धैर्नीतस्त्रिभुवनजयी हास्यमार्गं दशास्यः॥

✿

उपमानलक्षणप्रमाणस्वरूपविमर्शः

प्रो० रामपूजनपाण्डेयः
अध्यक्षः, न्यायवैशेषिकविभागस्य,
सं० सं० वि० वि०, वाराणसी

विविधकल्मषोपनीतचतुरशीतिलक्षयोनिनिशाचरीप्रसूताचिन्त्यानन्तदुःखसंघाकरे संसारेऽनेकजन्मार्जितापूर्वजातप्रभावैरेवात्र भारते भारते नरतनुमासाद्य राजन्ते शास्त्रकाराः। तत्रैव तन्वा च जन्मवतामाध्यात्मिक्यौ उन्नत्यवनती। उक्तञ्च—

> यतो हि कर्मभूरेषा ततोऽन्या भोगभूमयः।
> कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसञ्चयात्॥

उन्नत्यवनती अपि च ऐहलौकिकीपारलौकिकीभेदाद् द्विधा। ते च पुण्यापुण्यकृते इति सिद्धान्तः। पुण्यापुण्यप्रभावको निगम एवेति विदन्ति विद्वांसः। उक्तञ्च—

> प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभिः।
> एकोऽप्यनेकवर्त्मेव समाम्नातः पृथक् पृथक्[१]॥

तन्मूलप्रमाणानि शास्त्राणि नाना। तत्रापि कणभक्षाक्षपदोहितदर्शनयोः अभ्यर्हितत्वं न तिरोहितं विदुषां पुरस्तात्। उक्तञ्च—

> प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
> आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता[२]॥ इति।

तत्र बहुचर्चितेषु पदार्थेषु अन्यतमः प्रमाणभूतः पदार्थः उपमानात्मकः। प्रकृतनिबन्धेऽधुना समासतस्तद्विषये किञ्चिद्वक्तुकामः विद्वद्दर्शितदिशोऽनुसरामि।

उपमानं प्रमाणान्तरमभ्युपगच्छन्तोऽपि मीमांसकाः प्रकारभेदमूचुः। आरण्यकपुरुषवाक्यात् जातं 'गोसदृशो गवय' इतिज्ञानमुपमानम्। ततः कदाचिद् अरण्यं प्राप्तस्य गोसदृशं पिण्डं पश्यतो नागरिकस्य आरण्यकवाक्यं स्मर्तुः दूरस्थे गृहे स्थितायां गवि एतत्सदृशी मदीया गौः इति ज्ञानं उपमितिरिति भाष्यकाराः शबरस्वामिपादाः। इदञ्चोपमानं वेदविहितेषु इष्टिपशुसोमयागेषु प्रकृतिविशेषपरिज्ञाने उपयुज्यते। यथा सौर्येष्टौ अङ्गकलापशून्यायां दर्शनमात्रात् बुद्धिर्भवति औषधिद्रव्यकत्व-एकदेवकत्वाभ्यां सौर्ययागः आग्नेयसदृश इति। तदनन्तरम् एतत्सदृशः (सौर्यसदृशः) आग्नेययाग इति बुद्धिः जायते। सेयमुपमितिः, तया प्रकृतिविशेषमवधार्य प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या इत्यतिदेशवाक्यकल्पनानियमाद् आग्नेयधर्मैः उपकृत्य

---

१. न्यायभाष्यम्, प्रथम अध्याय, प्र० आह्निक पृ० सं० १२, बौद्धभारती, १९९८।

२. प्रत्यक्षखण्ड मुक्तावली, पृ० सं० ४३, चौ० सं० संस्थान वि० सं० २०५४।

सौर्ययागः कर्तव्य इति कल्पितविशेषवचनाद् विकृतिषु इतिकर्तव्यताकाङ्क्षा शाम्यति। पुरुष-बुद्धिकल्पितमपि इदं वाक्यं वैदिकाऽऽकाङ्क्षामूलकत्वाद् वेदतुल्यमिति मीमांसकाः।

सादृश्यविषयेऽपि विप्रतिपद्यन्ते प्राभाकराः। ते हि सादृश्यं सप्तपदार्थातिरिक्त एव कश्चित् पदार्थः, तथा हि नेदं द्रव्यं गुणवृत्तित्वात्, न गुणो न कर्म नापि सामान्यं सामान्येऽपि सत्त्वात्, नापि विशेषः ऐन्द्रियकत्वात्, नापि समवायः सम्बन्धत्वाभावात्, नाप्यभावः, भावत्वेन प्रतीयमानत्वात्, अत एवातिरिक्तः पदार्थ इति वदन्ति। कुमारिलभट्टाः तदनुयापिनश्च नैयायिकवदेव तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वमेव सादृश्यमिति वदन्ति।

तत्त्वचिन्तामणिकारास्तु सादृश्यस्वरूपं परिशोध्य भूयोऽवयवादिसामान्यमेव सादृश्यमिति वदन्ति। तथा हि असाधारणान्यतद्गतभूयोधर्मवत्त्वं तत्सादृश्यम्। इदञ्च भेदाघटितया निरवधि इतरनिरूप्यत्वमेव तत्प्रतियोगिकत्वम्। हस्तिमशकयोरपि प्राणित्व-सुखित्व-दुःखित्वादिना सादृश्यमिष्टमेएवेति नातिप्रसङ्गः। बह्वल्पतद्गतधर्मवत्त्वेन ससदृशत्वमन्दसदृशत्वादिकमुपपद्यते। अपि च सादृश्यव्यञ्जकत्वेन तदङ्गी-कृतधर्माणामेव सादृश्यत्वोपपत्तेः अतिरिक्तसादृश्याङ्गीकारे महद् गौरवम्। गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपम[३] इत्यादौ सादृश्यं नास्त्येव निरुपमत्वे तात्पर्यात्। यद्वा गगनादीनां स्थानभेदाद् भिन्नत्वमङ्गीकृत्य तथा प्रयोगः। प्रमाणस्योपमानस्य शक्तिज्ञानं फलम्। तथाहि कीदृशो गवय इति जिज्ञासायां यथा गौस्तथा गवय इति श्रुत्तोतरस्य तथाभूते पिण्डे दृष्टे तथायमिति अतिदेशवाक्यार्थानुसन्धाने सति अयं गवयपदवाच्य इति मितिर्भवति। इयमेव उपमितिरिति गीयते। न च इदं ज्ञानं वाक्यमात्राद् जायते अप्रत्यक्षीकृतपिण्डस्यापि प्रसङ्गात्। नापि प्रत्यक्षमात्रम्, अश्रुतवाक्यस्यापि प्रसङ्गात्। नाऽपि तयोः समाहारः प्रमाण-समाहारानङ्गीकारात् वाक्यप्रत्यक्षयोर्भिन्नकालत्वेन समाहाराभावात्। अतः अतिदेशवाक्यार्थज्ञानसहकृतं गवयनिष्ठगोसादृश्यज्ञानमेवोपमानम्। अयं गवयपदवाच्य इति वा गवयो गवयपद-वाच्य इति वा तज्जन्यज्ञानं फलम्।

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानमिति[४] गौतमीयं सूत्रम्। तदर्थश्च प्रसिद्धेन ज्ञातेन साधर्म्येण यत् साध्यस्य अज्ञातस्य वस्तुनः साधनं ज्ञानं तदेवोपमानमितिः। एतत्सर्वं स्पष्टीकृतं विश्वनाथेन भाषा-परिच्छेदग्रन्थे—

ग्रामीणस्य प्रथमतः पश्यतो गवयादिकम्।
सादृश्यधीर्गवादीनां या स्यात् सा करणं मतम्॥
वाक्यार्थस्यातिदेशस्य स्मृतिर्व्यापार उच्यते।
गवयादिपदानान्तु शक्तिधीरुपमा फलम्[५]॥

आरण्यकगवयपशुस्वरूपमजानतो नागरिकस्य समीपे केनचिदारण्यकेन पुरुषोक्तं 'यथा गौस्तथा

३. न्या० सि० मुक्तावली, प्रत्यक्षखण्ड, किरणावली पृ० सं० ३१, चौ० सं० सं० १९८३।

४. न्यायभाष्यम्, प्रथम अध्याय, १ आह्निक पृ० सं० २६ सूत्र ६।

५. न्या० सि० मुक्तावली, उपमानखण्ड पृ० सं० २८८ चौ० सं० संस्थान, १९८३।

गवय' इति। तदनन्तरं नागरिकोऽरण्यं गत्वा गोसदृशं (पिण्डं) पशुं पश्यति। तादृशप्रत्यक्षानन्तरं यदि कदाचिदनुद्बुद्धसंस्कारः अतिदेशवाक्यं गोसदृशो गवयः इत्याकारकं न स्मरति तदा तु पुरोवर्तिनि पशौ तस्य गवयपदवाच्यत्वज्ञानं न जायते। यदि चादृष्टादिवशाद् गोसादृश्यप्रत्यक्षानन्तरं तादृशेनैव प्रत्यक्षेणोद्बुद्धसंस्कारोऽतिदेशवाक्यार्थं स्मरति 'गोसदृशो गवय' इति, तदैव स गोसदृशोऽयं गवयपदवाच्य इति प्रत्यक्षीकृतसाधर्म्येण चक्षुःसंयुक्ते पशौ गवयपदवाच्यत्वमपि निश्चिनोति। एतदेव प्रसिद्धसाधर्म्येण कारणभूतेन साध्यसाधनं नाम सूत्रकृदुक्तमुपमानाख्यं प्रमाणम्।

अत्र पूर्वपक्षिणामाशङ्का भवति। प्रसिद्धसाधर्म्यं नाम कीदृशं साधर्म्यमुच्यते। आत्यन्तिकसाधर्म्यं चेत् तदा गवात्यन्तसादृश्यस्य गवेतरेऽसम्भवाद् गवात्यन्तसादृश्यविशिष्टस्य गवयस्य गोत्वमेव प्रसज्येत न तु गवयपदवाच्यत्वमपि। यदि तावत् प्रापिकमेव साधर्म्यमत्राभीष्टं तदा यथा वृषस्तथा महिषः इत्यप्युपमानपदवीं लभेत तच्चानुभवविरुद्धमेव। यदि चात्रैकदेशिसाधर्म्यमेव विवक्षितं तदा 'यथा हस्ती तथा मशकः' इत्युपमानं स्यात्। हस्तिमशकयोरपि प्राणित्वाद्येकदैशिकं साधर्म्यं विद्यत एव। न च दृश्यते यथा 'हस्ती तथा मशकः' इत्युपमानं जायमानम्। तथा चायातं प्रसिद्धेन साधर्म्येण साध्यसाधनमिति रिक्तं वचः सूत्रकारस्य। तत्रोक्तं भाष्यकृद्भिः व्याख्यातञ्च तात्पर्यटीकाकृद्भिः न ह्यत्र साधर्म्यस्य आत्यन्तिकत्वं प्रायिकत्वं ऐकदेशिकत्वं नियतं विवक्षितम्। परं प्रकरणादिवशात् कदाचिदात्यन्तिकत्वं कदाचिद् वा प्रायिकत्वं कदाचिदैकदेशिकत्वमेव साधर्म्यस्य आश्रित्य अज्ञातनामजात्यादिविशिष्टस्य वस्तुनो नाम जात्यादिनिश्चयात्मकं साध्यसाधनमिति न पूर्वोक्ताशङ्कावसर इति।

तथा च महिषादिषु गोसादृश्यज्ञानवतो नागरिकस्य समीपे आरण्यपुरुषोक्तं 'यथा गौस्तथा गवयः' इति वाक्यं प्रकरणादिबलादेव महिषादिनिष्ठगोसादृश्यभिन्नं किञ्चिद् गोसादृश्यमेवातिदिशति। तादृशस्थले महिषादिनिष्ठगोसादृश्यस्यानावश्यकत्वात्। प्रकरणादिवशात् तादृशातिदेशवाक्यस्य महिषादिनिष्ठगोसादृश्यभिन्नं किञ्चित् प्रायिकं सादृश्यमेव तात्पर्यविषयीभूतम्।

प्रकरणादिकमनपेक्ष्यैव यदा तादृशातिदेशवाक्यार्थज्ञानं कस्यचिन्नागरिकस्य कदाचिदपि महिषमदृष्टवतो देशान्तरगतस्य केदारस्थसस्यभक्षणव्यग्रे कस्मिंश्चिन्महिषे गोसादृश्यविशिष्टे चक्षुःसंयोगानन्तरमतिदेशवाक्यार्थस्मरणं जातं तदारण्यकपुरुषोच्चरितस्य गोसदृशो गवय इति वाक्यस्य ग्राम्यभिन्ने आरण्यक एव गोसदृशे पशौ तादृशसादृश्यं गवयपदवाच्यतानियामकमिति तात्पर्यज्ञानाभावाद् उक्तस्थले महिष एव गोसादृश्यदर्शनाद् गवयपदवाच्यत्वज्ञानरूपोपमितिभ्रमे बाधकाभावात्।

अत्र प्रसिद्धेन ज्ञातेन वस्तुना यत् प्रसिद्धं ज्ञातं साधर्म्यं तदेवोपमानं ज्ञेयम्। उपमितौ तावद् द्विविधं सादृश्यज्ञानमावश्यकम्। प्रथमं नगरस्थस्य पुरुषस्य आरण्यकपुरुषोच्चरितवाक्यार्थज्ञानरूपं शाब्दं सादृश्यज्ञानम्। द्वितीयन्तु अरण्यगतस्य नागरिकस्य अज्ञातनामजात्यादिपशौ चक्षुःसंयोगानन्तरं गोसादृश्यस्य प्रत्यक्षात्मकं ज्ञानम्। पूर्वं शाब्दात् सादृश्यज्ञानादृते केवलं प्रात्यक्षिकगोसादृश्यज्ञानात् तादृशसादृश्याश्रये गवयपदवाच्यत्वरूपोपमितिर्नैव भवतीति तु सहृदयहृदयसंवेद्यम्। तथा च प्रात्यक्षिकगोसादृश्यज्ञानं यदा शाब्दतादृशसादृश्यज्ञानजसंस्कारोत्पन्नस्मृतिसहकृतं भवेत् तदैव दृष्टे गोसदृशे पशौ गवयपदवाच्यत्व-

निश्चयात्मिकोपमितिर्जायते। तथा च अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतं प्रात्यक्षिकं गोसादृश्यज्ञानमेव प्रत्यक्षविषयीभूते गवयत्वविशिष्टे पशौ गवयपदवाच्यत्वनिश्चयमुत्पादयतीति तादृशनिश्चय एवोपमितिः तत्करणं च सादृश्यज्ञानमवधेयम्।

न्यायमञ्जर्यां जयन्तभट्टैः 'गोसदृशो गवय': इत्यंतिदेशवाक्यस्यैव उपमितिकरणत्वं वृद्धनैयायिक-सम्मतमिति प्रतिपादितम्। न्यायवार्तिककारेणापि अतिदेशवाक्यार्थस्मृतिसहकृतं सादृश्यप्रत्यक्षमेवोपमानाख्यं प्रमाणम्।[६] यद्यपि सांख्यतत्त्वकौमुद्यां उपमानखण्डनाऽवसरे वाचस्पतिमिश्रैरतिदेशवाक्य-मेवोपमानमिति कथितम् तथापि तैरेव तात्पर्यटीकायां तादृशसादृश्यप्रत्यक्षमेवोपमानमिति व्याख्यातम्। अत्रेदं ध्यातव्यं जयन्तेन ये खलु वृद्धनैयायिका उक्ता ते तु उद्योतकरपूर्वभाविन-एवेति उद्योतकरमता- लोचनयैव ज्ञायते।'

जयन्तभट्टैस्तु[७] स्वमतवर्णनावसरे कथितं यथा प्रत्यक्षफलं सदपि पर्वते धूमदर्शनं तथैवातीन्द्रियजं वह्निमत्त्वसाधनत्वादनुमानं तथैव गोसादृश्यविशेषितारण्यगतगवयपिण्डदर्शनं प्रत्यक्षफलमपि तदनव-गतसंज्ञासंज्ञिसम्बन्धबोधविधानात् पृथक् प्रमाणपदवीं प्राप्स्यत्येव। यथा चानुमाने पूर्वसिद्ध-धूमाग्निव्याप्तिस्मरणं सहकारि तथैव इहापि पूर्वश्रुतातिदेशवाक्यार्थस्मरणम्। यथा वा व्याप्तिज्ञान-कालेऽनालीढविशेषा बुद्धिर्धूमस्य पक्षधर्मताबलाद् विशेषे पर्वतीयवह्नौ वर्तते, तथात्रापि अनवगत-वाच्यविशेषाद् अतिदेशवाक्यज्ञानाद् अरण्यस्थवाच्यविशेषे दृष्टे तत्र सुस्थिरो भूत्वा अयं स गवयपदवाच्यः इति निश्चयं जनयति। एतेन शाक्यवैशेषिकयोरुपमानस्याऽनुमानेऽन्तर्भावनमपि प्रत्युक्तम्।

न्यायकन्दल्यां[८] श्रीधरेण प्रथमतः शब्दादीनाम् अनुमानेऽन्तर्भावं प्रतिपाद्य उपमानस्यापि आप्तवचनरूपतां वर्णयता कथितम्, आप्तेन वनेचरेण विदितगवयेनाप्रसिद्धनागरिकस्य कीदृग् गवय इति पृच्छतो 'यथा गौस्तथा गवयः' इति अतिदेशेन गोसारूप्येण गवयप्रतिपादनरूपमुपमानञ्च शाब्दमेव ज्ञानम्। शब्दश्च अनुमानेऽन्तर्भूत इति।

अनन्तरं पूर्वमीमांसकाभिमतोपमानखण्डनार्थञ्चोक्तं तेन ये तावत्पूर्वमीमांसका वनेचरवाक्यमेवो-पमानमाहुस्तेषामपीदमनुमानमेव पूवोक्तन्यायात्[९]। ये तु शबरस्वामिशिष्या ज्ञातगोपिण्डस्य नागरिकस्य वने गवयदर्शनात् स्मृत्यारूढायां गवि 'मदीया गौरनेन सदृशी'ति सादृश्यज्ञानमुपमानं मन्यते, तेषां तदपि स्मरणमात्रं प्रमाणपदवीमारोढुं नितान्तमशक्तमेवेति।

सादृश्यं हि सामान्यवत् प्रत्येकं व्यक्तिसमाप्तं न संयोगवदुभयत्र व्यासज्य वर्तते, गोपिण्डस्य अदर्शनेऽपि वने गवयव्यक्तौ गौसदृशोऽयमिति प्रतीत्युत्पादात्। यथोक्तं मीमांसागुरुभिः—

---

६. न्यायमञ्जरी, पृ० सं० २०५।

७. तत्रैव पृ० सं० २१५।

८. प्रशस्तपादभाष्यम्, पृ० सं० ५३०।

९. प्रशस्तपादभाष्यम् पृ० सं० ५३।

सामान्यवच्च सादृश्यमेकैकत्र समाप्यते।
प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि यस्मात् तदुपलभ्यते॥

यथा तथा वा भवतु। उपमानस्य पृथक् प्रामाण्यवादिनामपि तत्स्वरूपमधिकृत्य वर्तते वैमत्यमिति तु सुस्पष्टमेव इति शम्।

यदत्र लिखितं वस्तु तत्तु पूर्वैः प्रपञ्चितम्।
व्यवस्थितं कृतं किञ्चिन्मया संक्षिप्य केवलम्॥

✿

परमाणुवादः

डॉ० शिवरामगंगोपाध्यायः
प्राध्यापकः, न्यायविभागस्य,
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्कायै,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः वाराणसी

'कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्। गौतमेन तथा न्यायं सांख्यं तु कपिलेन वै'॥[१]

न्याय-वैशेषिकमतेन परमाणुसत्त्वेऽनुमानमेव प्रमाणं स्वीक्रियते। यथा—'अणुपरिमाणतारतम्यं क्वचिद् विश्रान्तं परिमाणतारतम्यत्वात्, महत्परिमाणतारतम्यवत्।'[२] अर्थादणुपरिमाणस्य न्यूनाधिक-भावस्यापि समाप्तिर्भवति, तदपि परिमाणस्य न्यूनाधिकभावो यथा महत्परिमाणस्य न्यूनाधिकभावः। यत्र तारतम्यस्य विश्रान्तिर्भवति यथा तदपेक्षाणुर्नास्ति स एव परमाणुः। अतः परमाणुर्नित्योऽपि भूत्वा निरवयवलक्षणादाकाश एव प्रतिभाति। यदिं स सावयवः स्यात्तर्हि न परमाणुः। यतः कार्यपरिमाणतः कारणपरिमाणं न्यूनं भवति। तदेव कारणीभूतं द्रव्यं परमाणुर्भवेत्। इदमपि न समीचीनम्। तदपेक्षया यदि न्यूनावयवान्तरं स्यात्? ततोऽनवस्थैव, तस्मादवयविनामणुमहादाख्यः कोऽपि भेदो न स्थास्यति। सर्वेषामनन्तकारणजन्यत्वाभावसम्भवात् परिमाणस्य क्षुद्रबृहत्कारणत्वात् कारणसंख्याया अधिकानधि-कत्वासम्भवात्। अतएव परिमाणस्य भेदः सिध्यति। अणुपरिमाणस्य कुत्रापि समाप्तिहेतोः परमाणोर्नित्य-त्वं सिद्धमिति।

---

१. पद्मपुराणम्।

२. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली प्रत्यक्षखण्डम्।

एकः परमाणुः कार्यानारम्भकः, एकस्य नित्यस्य यदि आरम्भकत्वं स्यात्, तर्हि सर्वदैव कार्योत्पत्तिः स्यादेव। अन्यस्यानपेक्षत्वं विद्यते। अतस्तत्कार्यमविनाशि स्यात्, आश्रयनाशोऽर्थात् समवायिकारणस्य नाशः, विभागनाशोऽर्थादसमवायिकारणनाशरूपविनाशहेतोरभावः सम्भवेत्। त्र्यणुकेनापि कार्योपत्तिर्न भवति, अत्र महत्कार्यद्रव्यस्योत्पत्तौ स्वकीयपरिमाणापेक्षया अणुपरिमाणेन कार्यद्रव्यस्योत्पत्तौ सामर्थ्यं दृश्यते।

त्र्यणुकं कार्यद्रव्येणोत्पद्यते महत्परिमाणत्वात्, घटवत्। त्र्यणुकस्य परमाणोश्च आरम्भकत्वे खण्डिते सति परमाणुद्वयेन यदुत्पद्यते तदेव द्व्यणुकमिति सिध्यति। बहुभिर्द्व्यणुकैः कार्योत्पत्तिर्भवति इति नियमः, द्व्यणुकद्वयेन न, यतो द्व्यणुकद्वयेन उत्पन्नं परिमाणमणुरेव भवेत्। तस्य परिमाणस्य अणुपरिमाणोत्पादन-समर्थत्वात् परिमाणमेव वृथा प्रतीयते।

अतिसंख्यकद्व्यणुकानां कार्यारम्भकत्वे नास्ति कोऽपि नियमः। कदापि द्व्यणुकत्रयेण कार्योत्पत्तिः, कदापि द्व्यणुकचतुष्टयेन कार्योत्पत्तिः, कदापि द्व्यणुकपञ्चकेन कार्योत्पत्तिश्च भवेदतो यथेच्छकल्पना स्वीक्रियते। अनेन कार्योत्पत्तेर्व्यर्थता न सम्भाव्यते, यदा कारणसंख्याया बाहुल्यं स्यात् तदेव महत्परिमाणतारतम्यं दृश्यते। साक्षाद्द्व्यणुकस्य घटकार्योत्पादकत्वं न सिध्यति, घटे विनष्टे सति क्षुद्रबृहदाकारावयवदर्शनेन द्व्यणुकात् कार्योत्पत्तिः कल्प्यते।

यत्र अप्रचितैरणुभिर्महद्भिश्च प्रचितैरारब्धयोर्द्रव्ययोः प्रचितैर्महद्भिरुत्पन्ने महत्त्वातिशयो दृश्यते तत्र महत्त्वप्रचयौ कारणे विद्येते। यत्र प्रचितैः समानपरिमाणैर्बहुतरसंख्याविशिष्टैरप्रचितबहुतरसंख्या-विशिष्टैरारब्धद्रव्ययोः प्रचितैरारब्धेऽतिशयो दृश्यते, तत्र संख्याप्रचययोः कारणत्वम्।[३]

यत्राल्पसंख्यकैरप्रचितैरणुभिरारब्धात् प्रचितबहुतरस्थूलारब्धे विशेषदर्शनं भवति, तत्र संख्या, प्रचयः महत्परिमाणं च कारणं भवति। यस्तु मन्यते तुलादण्डेनोत्तलनयोग्ये द्रव्ये कारणगतानि पलानि कारणानि न महत्परिमाणानि, तन्मतेन पलस्य कारणतां स्वीकृत्य प्रतिषेधः कृतः, स्वमते तु पलस्याकारणत्वमेव।

द्वित्वसंख्या चाण्वोर्वर्त्तमाना द्व्यणुकेऽणुत्वमारभते।

ये तु परमाणोः परिमाणद्वयोरण्वोः परिमाणाद् द्व्यणुके परिमाणोत्पत्तिमिच्छन्ति, तन्मते द्व्यणुकस्य परिमाणं परमाणोः परिमाणतः क्षुद्रं स्यात्। अतः पूर्वस्था युक्तिरेव ग्राह्या।

अधिकन्तु नित्यद्रव्यस्य परिमाणं कारणं न भवति। यतः परमाणुपरिमाणं न भवति कस्य चिदुत्पादकं नित्यद्रव्यपरिमाणत्वात्, आकाशादिपरिमाणवत् अथवा अणुपरिमाणत्वात् मनःपरिमाणवत्।[४]

महर्षिणा गौतमेनोक्तं—'परं वा त्रुटेः'[५] अर्थात्परमाणुरतीव सूक्ष्मतमः पदार्थोऽस्ति, यस्य विभाजनं

३. न्यायकन्दली।

४. न्यायकन्दली।

५. न्यायसूत्रम् ४.२.१७.

भवितुं नार्हति। अतः स एव परमाणुरविभाज्यत्वेन, निरवयवत्वेन नित्यत्वेन च कथ्यते। परमाणुः स्वभावतो निष्क्रियो भवति। परमाणोर्निष्क्रियत्वं प्रलयकाल एवानुमीयते। तस्य क्रियाशीलत्वं धर्मविशेषादेव भवति ''धर्मविशेषात्''[६]। प्रशस्तपादमतेन तस्य कारणमदृष्टं भवति[७]।

सूक्ष्मतमाः पदार्थाः परमाणवो भवन्ति परमाणोः न प्रत्यक्षं भवति। तत् तु कार्यद्रव्यादेवानुमीयते। ''जलान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः। तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते'' अनेन परमाणोरतिसूक्ष्मत्वं प्रतिपाद्यते।

पाकजगुणाः—न्याय-वैशेषिकमतानुसारेण परमाणुषु ये रूप-रस-गन्ध-स्पर्शा विद्यन्ते ते कार्यद्रव्ये एव प्रकटिता भवन्ति। अग्निसंयोगाद् घटे ये गुणा उत्पद्यन्ते ते पाकजगुणा भवन्ति। पाकजोत्पत्तिप्रसंगे तु न्याय-वैशेषिकयोर्भेदो दृश्यते। नैयायिकाः पिठरपाकं तथा वैशेषिकाः पीलुपाकं स्वीकुर्वन्ति।

पिठरपाकः—नैयायिकमतानुसारेण यदा नवनिर्मितो घटोऽग्नौ निक्षिप्यते तदा घटस्थच्छिद्रेऽग्निः प्रविष्टः सन् तं घटं पचति, अग्निसंयोगाद् घटरूपस्य परिवर्त्तनं जायते, अर्थादग्निसंयोगात् श्यामताया नाशानन्तरं रक्तरूपस्योत्पत्तिर्जायते। अयमेव पिठरपाकः।[८]

पीलुपाकः—वैशेषिकमतानुसारेण घटेऽग्निसंयोगाद् घटपरमाणवो भिन्ना भवन्ति घटोऽपि नश्यति। अग्निसन्तापाद् रक्तोत्पत्तिर्जायते परमाणौ तथा ते परस्परं संयुक्ताः सन्तो नवीनः घट उत्पद्यन्ते। अयमेव पीलुपाकः।[९]

✿

६. न्यायसूत्रम् ४.२.७.

७. न्यायभाष्यम् ४.२.१६.

८. भारतीयदर्शनम्।

९. भारतीयदर्शनम्।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च

डॉ० राजारामशुक्लः
निदेशकः, अनुसन्धानसंस्थानम्
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी

इदमधिकरणं शारीरकमीमांसा चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादे द्वितीयम्—आत्मत्वोपासनाधिकरणम्। सपरिकरफलनिरूपणं चतुर्थाध्यायार्थः। प्रथमाधिकरणे आत्मसाक्षात्कारार्थं श्रवणाद्यावृत्तिः कर्तव्येत्युक्तम्। तदाक्षिप्य अस्मिन् अधिकरणे समाधीयते। आक्षेपस्वरूपं तु–श्रवणाद्यावृत्तिः न कर्तव्या विषयासम्भवात्। तथाहि—विषयः आत्मसाक्षात्कारः। तत्रात्मपदेन जीवः ईश्वरो वा ग्रहीतुं शक्यते। जीवस्तु नित्यापरोक्ष इति तदपरोक्षतायै श्रवणाद्यावृत्तिर्व्यर्था। ईश्वरश्च नित्यपरोक्ष इति तदापरोक्ष्यस्य श्रवणाद्यावृत्त्याऽप्यसम्भवात् व्यर्थत्वात् श्रवणाद्यावृत्तिः न करणीया। तदुक्तम्—

नित्यापरोक्षो जीवात्मा परोक्षः सर्वदा परः।
कस्यापरोक्ष्यसिद्ध्यर्थमावृत्तिः श्रवणादिषु॥ इति।

ननु जीवे ईश्वरात्मत्वसाक्षात्कारार्थं श्रवणाद्यावर्तनीयमिति चेन्न, जीवेश्वरयोरपहतपाप्मत्वानपहतपाप्मत्वादिविरुद्धगुणवत्त्वेन जीवे ईश्वरात्मत्वस्यैवासम्भवात्। तस्मात् श्रवणाद्यावृत्तिः न कर्तव्येत्याक्षेपः। संशयस्तु—वेदान्तप्रतिपाद्यः अहमिति ग्रहीतव्यः मदन्य इति वा? इति। ननु प्रत्यगात्मार्थकस्य आत्मशब्दस्य श्रूयमाणत्वात् वेदान्तप्रतिपाद्यः अहमित्येव ग्रहीतव्य इति विनिश्चयात् विपरीतकोट्युपस्थित्यभावे कथमयं संशय इति चेन्न, आत्मशब्दो यद्यपि प्रत्यगात्मवाची तथापि जीवेश्वरयोरभेदसिद्धावेव तस्य मुख्यत्वमभ्युपगन्तुं शक्यम्। तयोर्भेदकानामपहतपाप्मत्वानहपहतपाप्मत्वादिगुणानां मिथो विरुद्धानां सम्भवे तु जीवेश्वरयोरभेदस्याप्यसम्भवे आत्मशब्दस्य गौणत्वमेव वक्तव्यम्। तथा चायं संशयः तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मीत्यादिसामानाधिकरण्यं गौणं मुख्यं वेति संशये पर्यवस्यति। तद्बीजन्तु विरोधपरिहारसम्भवासम्भवौ। अत्र गौणत्वकोटिर्द्वैतिनां, मुख्यत्वकोटिरद्वैतिनाम्।

एवं संशये अत्रात्मशब्दो गौणः, एवञ्च वेदान्तप्रतिपाद्यः मदन्यः मत्स्वामीत्येवं ग्राह्यः इति पूर्वपक्षः। विरुद्धकोटिद्वयोपस्थितौ एकस्याः कोटेरसम्भवे अपरस्याः स्वतःसिद्धत्वनियमः। प्रकृते अभेदकोटिः न सम्भवति। धर्माणां मिथो विरोधे तदाश्रययोरैक्यस्यासम्भवात् परस्परविरुद्धानामपहतपाप्मत्वानपहतपाप्मत्वादिगुणानाम् आश्रययोः जीवेश्वरयोरभेदस्य साधयितुमशक्यत्वात्, प्रत्युत विरुद्धगुणाश्रयत्वेन भेदस्यैव सिद्धेः। अभेदे तु साधकाभाववद् बाधकमपि वर्तते। तथाहि अभेदः कथमुपपाद्यते? ईश्वरस्य संसार्यात्मत्वेन? संसारिणो वा ईश्वरात्मत्वेन? तत्र ईश्वराभावप्रसङ्गेन शास्त्रस्यानर्थक्यम्। द्वितीयेऽपि अधिकार्यभावेन शास्त्रानर्थक्यमित्युभयथाऽपि अभेदो नोपपादयितुं शक्यः। किञ्च अभेदे ज्येष्ठप्रमाणप्रत्यक्षविरोधोऽपि वर्तते।

नन्वेवं जीवेश्वराभेदनिरासे तदभेदप्रतिपादक-तत्त्वमस्यादिश्रुतेरानर्थक्यं स्यादिति चेन्न, उक्तश्रुतेः आदित्यो ब्रह्म मनो ब्रह्म इत्यादिवत्प्रतीकोपदेशपरतयोपपत्तेः।

एवमीश्वरस्य जीवभावारोपोऽपि न सम्भवति। तथाहि—सामान्यरूपेण गृहीते विशेषरूपेणागृहीते पुरोवर्तिनि द्रव्ये सर्पत्वारोपो भवति। प्रकृते तु ब्रह्म निर्विशेषसामान्यमिति तदीययत्किञ्चिद्रूपस्याग्रहणाभावे तत्र जीवभावारोपो न युक्तः इति नात्मशब्दस्य मुख्यार्थतेति पूर्वः पक्षः। तदुक्तम्—

विरुद्धधर्मयोगित्वात् समारोपानिरूपणात्।
सामानाधिकरण्यादि गौणं जीवपरात्मनोः॥ इति।

तत्रेदं सिद्धान्तसूत्रम्—**आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च** इति। वेदान्तप्रतिपाद्यः अहमित्येव ग्रहीतव्यः जाबालादिभिस्तथैवोपगृहीतत्वात् वेदान्तैश्च तथैव ग्राहितत्वात् इति। तथाहि 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि देवते'' इत्यादि जाबालोपनिषदि असकृद्वचनश्रवणात् जीवेश्वराभेद एव प्रतिपाद्यते। आदित्यो ब्रह्म मनो ब्रह्म इत्यादिप्रतीकदृष्टिस्थले सकृद्वचनदर्शनात् त्वं वा अहमस्मीत्यादौ चासकृद्वचनश्रवणात् प्रतीकपरवाक्यवैरूप्येनात्राभेद एव प्रतिपाद्यत इत्यवगमात्। तथा चात्रानुमान-प्रयोगः—त्वं वा अहमस्मीत्यादिवाक्यं मुख्याभेदप्रतिपादकं विशेष्यविशेषणभावव्यत्यासेन द्विरुच्चार्य-माणत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा आदित्यो ब्रह्म मनो ब्रह्मेत्यादिप्रतीकपरवाक्यम् इति।

किञ्च एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः, एष त आत्मा सर्वान्तरः, तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि इत्यादीनि वेदान्तवाक्यान्यपि वेदान्तप्रतिपाद्यमात्मत्वेन ग्राहयन्ति। मुख्यार्थबाधे एव गौणार्थस्वीकारो युक्तः। प्रकृते मुख्यार्थस्वीकारे बाधकाभावेन गौणार्थस्वीकारो न युज्यते। तदुक्तं—''न मुख्ये सम्भवत्यर्थे जघन्यः परिकल्प्यते'' इति। तथा चात्मशब्दो मुख्य एव।

किञ्च ''अथ योन्यां देवतामुपास्तेऽन्योसावन्योऽहमस्मि न स वेद'' ''मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'' इत्यादिश्रुतिषु भेदनिन्दायाः श्रूयमाणत्वेनाप्यभेदः सिध्यति। तत्रापि संसारिणो जीवस्य संसारित्वापोहनेन ईश्वरात्मता प्रतिपाद्यते। सा च वास्तवी न तु पुनः ईश्वरस्य जीवात्मता। तथा च नेश्वराभावप्रसङ्गः नापि ईश्वरप्रतिपादकशास्त्रानर्थक्यम्। जीवस्येश्वररूपत्वे अधिकार्यभावप्रसङ्ग इत्यपि न युक्तम्, संसारित्वापोहनेन हि जीवस्येश्वररूपता उक्ता, तदपोहनञ्च तत्त्वसाक्षात्कारेण। ततः पूर्वं जीवस्य संसारित्वस्वीकारात् नाधिकार्यभावो नापि तन्निमित्तिका शास्त्रानर्थक्यापत्तिः। यदुक्तं निर्विशेष-सामान्यात्मनः कस्यचिदंशस्याग्रहणासम्भवात् न भ्रम इति, तन्न; निरंशस्याप्याकाशस्य घटादितत्तदुपाध्य-वच्छेदात् यथा ग्रहणमग्रहणञ्चोपपद्यते तथैव निरंशस्याप्यात्मनः अविद्याद्युपाधिवशात् सांशत्वोपचारः, तेन चांशविशेषस्याग्रहणात् ब्रह्मणो जीवभावारोपसम्भवात् तत्त्वमस्यादेर्न प्रतीकोपदेशपरतेति।

✿

किं त्वङ्मनःसंयोगो ज्ञानकारणम्

डॉ० सच्चिदानन्दमिश्रः
रीडर-दर्शनविभागे,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः वाराणसी

ज्ञानसामान्यं प्रति त्वङ्मनोयोगः कारणमिति विद्यते कश्चन न्यायवैशेषिकसम्प्रदायस्य सिद्धान्तः। एष च सिद्धान्तो विवादास्पदो बहुभिर्नैयायिकैः परिष्कृतः खण्डितश्च। अत्र लेख एतदेव विचारयामः।

भाषापरिच्छेदे विश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्येण त्वङ्मनोयोगस्य ज्ञानसामान्यं प्रति कारणत्वं स्वीकुर्वता प्रोक्तम् 'त्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम्' भा० परि० कारिका ५७। अस्ति च तेषामयमाशयो यत् त्वचो मनसा योगो ज्ञानसामान्यं प्रति कारणं भवति। अत्रेदं चिन्त्यते कुतस्तावन्मनसा त्वचो योगो ज्ञान-सामान्यकारणं स्वीक्रियते ज्ञानसामान्यं प्रति आत्ममनोयोगस्य कारणत्वं नैयायिकैः स्वीकृतं सर्वैरपि नैयायिकैरनुमतञ्च। प्रत्यक्षस्य या प्रक्रिया समुपवर्णिता विद्यते 'आत्मा मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन' तदा भवति प्रत्यक्षम्। आत्ममनःसंयोगादिकानां ज्ञानादिकारणत्वे प्रमाणमुपलभ्यते किन्तु त्वङ्मनोयोगस्य ज्ञानसामान्यकारणत्वे किं तावत् प्रमाणम्? इति प्रश्ने विश्वनाथेन न्यायसिद्धान्त-मुक्तावल्यामुत्तरितम्। पूर्वपक्षक्रमेण प्रथमं तत्राक्षिप्यते यत् सुषुप्तिकाले ज्ञानं न भवति फलत एव त्वङ्मनोयोगस्य कारणत्वं सिद्ध्यतीति यत् सिद्धान्तीक्रियते तत्र निश्चितमेव तर्कस्तदैव प्रसरति यदि सुषुप्तिकाले त्वङ्मनोयोगं विहाय काचन सामग्री यदि परिपूर्णा भवेत् तदा तस्य ज्ञानस्यानुभवो न भवतीति तस्य ज्ञानस्योत्पादस्त्वङ्मनोयोगरूपकारणविरहादेव वारणीयः। किन्त्वेवमेव न, नहि तावत् सुषुप्ति-कालेऽनुभवरूपं ज्ञानमापादयितुं शक्यते न वा स्मरणरूपम्। यतो हि सुषुप्तिकालेऽनुभवजनिका सामग्री नास्त्येव तथाहि प्रत्यक्षं प्रति कारणं भवति चक्षुरादिना मनःसंयोगः स तु सुषुप्तिकाले नास्त्येव, ज्ञानादि-रूपयोग्यविशेषगुणवत एवात्मनो भवति प्रत्यक्षं मानसं, सुषुप्तिकाले च ज्ञानसुखादिरूपात्मविशेष-गुणाभावात् न तावत् शक्यत आपादयितुं मानसप्रत्यक्षमपि। व्याप्तिज्ञानादिरूपकारणविरहादेव च न सम्भवत्यनुमितिरपि। सादृश्यज्ञानपदज्ञानाभावाच्च न सम्भवत उपमितिशाब्दबोधावपि। अनया दिशा अनुभवस्यापत्तिस्तु नास्त्येवि, न सम्भवति स्मरणस्याप्यापत्तिः यतो हि स्मरणस्य संस्कारमात्रजन्यत्वेऽपि संस्कारस्यात्मनि विद्यमानत्वेऽपि संस्कारोद्बोधकस्याभावात् स्मरणसामग्र्या असमवधानात्। सिद्धान्ततस्तु विश्वनाथेन प्रोक्तम् 'सुषुप्तिप्राक्कालोत्पन्नेच्छाव्यक्तेस्तत्सम्बन्धेनात्मनश्च प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्'। अयमाशयः ज्ञानेच्छादेः प्रथमे क्षणे समुत्पादो द्वितीये क्षणे स्थितिः तृतीयक्षणे विनाश इति विद्यते न्याय-वैशेषिकराद्धान्तः। स्वप्नावस्थानन्तरमेव च सुषुप्तिः (पृ० २४७ रामरुद्री) इति नियमवशात् स्वप्नावस्थायां ज्ञानेच्छादिकं सम्भवत्येव इति यदा सुषुप्तिप्राक्काले उत्पन्नमिच्छादिकं तदा सुषुप्तिकाले आत्ममान-सप्रत्यक्षस्य कारणसामग्र्याः समवधानेन आत्ममानसप्रत्यक्षं स्यादिति भिया त्वङ्मनोयोगस्य ज्ञानसामान्यं प्रति कारणत्वमङ्गीकर्तव्यम्।

किन्त्वत्र जागर्ति काचन समस्या, ज्ञानमात्रं प्रति त्वङ्मनोयोगस्य कारणत्वे स्वीकृते रासन-

चाक्षुषादिप्रत्यक्षकालेऽपि त्वाच् प्रत्यक्षस्यापत्तिः यतो यथा रासनचाक्षुषादिप्रत्यक्षसामग्री तदानीं पूर्णा विद्यते तथैव त्वाच् प्रत्यक्षसामग्री अपि सम्पूर्णैवं विद्यते। अथवा परस्परप्रतिबन्धेनोभयमपि नोत्पद्येत सत्प्रतिपक्षस्थलवत्। इमामापत्तिं परिहर्तुमाश्रितः कैश्चिदेष पक्षो यत् त्वङ्मनोयोगस्य ज्ञानहेतुत्वं पूर्वयुक्त्या सिद्धमित्यगत्या चाक्षुषादिसामग्र्याः स्पार्शनादिप्रतिबन्धकत्वमनुभवानुरोधात् कल्पनीयम्। मिश्रास्तु सुषुप्त्यनुरोधात् चर्ममनःसंयोगस्य ज्ञानहेतुत्वं स्वीकुर्वन्ति, उद्धृतश्चैतत् न्यायसिद्धान्त-मुक्तावल्यादिषु।

अनया रीत्या सुषुप्तिकाले ज्ञानोत्पत्तिवारणाय त्वङ्मनोयोगस्य चर्ममनोयोगस्य वा ज्ञानसामान्यं प्रति कारणत्वं स्वीकार्यम्। सुषुप्तिकाले मनस्त्वचं व्यक्त्वा पुरीततिमनुप्रविशतीति नास्ति तस्मिन् काले त्वङ्मनोयोगो नास्ति च चर्ममनोयोग इति ज्ञानसामान्यकारणविरहादेव सुषुप्तिप्राक्कालोत्पन्नेच्छादिव्यक्तेस्तत्सम्बन्धेनात्मनश्च प्रत्यक्षापत्तिर्न सम्भवति।

नवीनास्त्विमं प्रश्नमन्यथैव समादधुः, ते वदन्ति यत् सुषुप्तिप्राक्काले ज्ञानोत्पत्तिर्यदि भवेत् तदैव सम्भवति उपदर्शितरीत्या सुषुप्तिकालावच्छेदेनात्मविशेषगुणेच्छादिव्यक्तिप्रत्यक्षापत्तिभिया तद्विशिष्टात्म-प्रत्यक्षापत्तिभिया च त्वङ्मनोयोगस्य चर्ममनोयोगस्य वा ज्ञानसामान्यं प्रति कारणताकल्पनं युज्यते च। किन्तु नैवं सम्भवति यतो हि सुषुप्तिमनोनुकूलक्रियया मनसा आत्मनो विभागस्तत आत्ममनःसंयोग-नाशस्ततः पुरीततिरूपोत्तरदेशेन मनःसंयोगरूपा सुषुप्तिरुत्पद्यते। एवञ्च सुषुप्तिप्राक्काले आत्ममनःसंयोग-रूपकारणविरहात् असमवायिकारण-विरहात् सुषुप्त्यव्यवहितप्राक्क्षणे ज्ञानोत्पत्तिर्न सम्भवति; यतोहि असमवायिकारणं कार्यसहभावेन हेतुर्भवति—'असमवायिकारणस्य कार्यसहभावेन हेतुत्वात्' (दिनकरी पृ० २४९)। यदि चासमवायिकारणमात्रस्य कार्यसहभावेन कारणत्वं नाङ्गीक्रियते कार्यनाशजनक-नाशप्रतियोगिन एवासमवायिकारणस्य कार्यसहभावेन हेतुत्वमितिस्वीक्रियते तदापि सुषुप्तिकाले इच्छाद्यात्मविशेषगुणस्य तद्विशिष्टस्यात्मनश्च न प्रत्यक्षापत्तिः सम्भवति। यतो हि विजातीयात्ममनःसंयोग एव ज्ञानसामान्यं प्रति कारणं भवति, पुरीततिदेशावच्छेदेन विद्यमानः आत्ममनःसंयोगस्तु ज्ञानसामान्यं प्रति कारणमेव न भवति, पुरीतत्यवच्छिन्नात्ममनः संयोगव्यावृत्तमेव वैजात्य-मात्ममनःसंयोगस्य विवक्षितम्। फलतस्त्वङ्मनोयोगस्य कारणत्वं नवीनैर्निराकृतम्।

अत्रेदं चिन्त्यते—त्वङ्मनोयोगस्य कारणत्वं न सम्भवति। अत्र नास्ति विप्रतिपत्तिलेशोऽपि, न केवलमुपर्युक्ता आपत्तीः दृष्ट्वाऽपि तु त्वङ्मनोयोगस्य ज्ञानसामान्यकारणत्वे स्वीकृते न स्युः कदाचित् चाक्षुषरासनघ्राणजानि प्रत्यक्षानि। त्वाचश्रावणप्रत्यक्षे तु सम्भवितुमर्हतः। यतो हि मनो ह्यणुरूपमेव स्वीकृतं न्यायवैशेषिकनये। उच्यत एव 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' (न्यायसूत्रम्-१-१-१६)। तच्चाणुत्व एव सम्भवति मनसः। यदि मनोऽणु तर्हि विभुं विना नैव कयोश्चिद्द्वयोः एकदा मनसा संयोगः सम्भवति, फलतः त्वचा यदा मनसो योगस्तदा विभुना आकाशेनात्मना च मनसो योगः सम्भवति न त्वन्येन केनचिद् चक्षुरादीन्द्रियेण। अतः आकाशरूपेण श्रोत्रेन्द्रियेण मनसो योगकाले मनसस्त्वचा योगस्य सम्भवात् श्रावणं प्रत्यक्षं त्वाचञ्च प्रत्यक्षं बहिरिन्द्रियजन्यं सम्भवति, किन्तु मनसस्त्वचा योगकाले चक्षुषा रसनया घ्राणेन वा योगस्यासम्भवात् चाक्षुसरासनघ्राणजप्रत्यक्षाणि कथमपि न सम्भवन्ति। नैषापत्तिः त्वङ्मनोयोगस्य ज्ञानसामान्यकारणतावादिभिः परिहर्तुं शक्या। इयं शङ्का च नैव पूर्वं समुपस्थापिता

विचारिता वा। नवीनैस्तु यः पक्षः समुपस्थापितः स निराबाधः, विजातीयस्य आत्ममनोयोगस्यैव ज्ञान-सामान्यकारणत्वं स्वीकार्यम्। अत्र पक्षे यल्लाघवविचारचर्चा सा त्वनावश्यकी, पुनश्च रासनादि-प्रत्यक्षसामग्र्याः त्वाचप्रत्यक्षप्रतिबन्धकत्वापत्तिकल्पनापि व्यर्थैव। किन्त्वस्मिन्नपि कल्पे आत्ममनोयोगस्य वैजात्यं कीदृशं स्वीक्रियते ? किमर्थं स्वीक्रियते ? सुषुप्तिकाले ज्ञानोत्पादापत्तिस्तु पुरीततिमनःसंयोगस्य ज्ञानं प्रति प्रतिबन्धकत्वकल्पनेनापि स्वीकर्तुं शक्या। अत एव दिनकर्याः व्याख्याने रामरुद्र्याख्ये रामरुद्रेणाप्यत्रैव निर्भरः प्रदर्शितः। विजातीयात्ममनोयोगस्य ज्ञानसामान्यकारणता त्वप्रामाणिकी वैजात्य-स्यैवाप्रामाणिकत्वात्। यद्यपि न्यायनये सर्वस्यापि कार्यजातस्यादृष्टजन्यतयाऽदृष्टवशादेव तदानीं ज्ञानादिकं न भवतीत्यपि शक्यते, समाधातुं, किन्तु दृष्टकारणकल्पनासम्भवे नादृष्टानुसरणमुचितमिति नैतत् समाधीयते। निष्कर्षतः पुरीततिमनःसंयोगस्य ज्ञानसामान्यप्रतिबन्धकत्वमङ्गीकृत्य सुषुप्तौ ज्ञानापत्तिः वारणीया, नास्त्यावश्यकता त्वङ्मनोयोगस्य चर्ममनोयोगस्य विजातीयस्यात्ममनोयोगस्य वा ज्ञान-सामान्यकारणतायाः स्वीकारस्य।

सन्दर्भग्रन्थाः

१. कारिकावली (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, दिनकर, रामरुद्रीसहिता) विश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यस्य, चौ० सं० सी० आ०, वाराणसी, १९८२।

२. न्यायसूत्रम् (गोतमस्य)।

३. वादवारिधिः (त्वङ्मनःसंयोगहेतुत्वखण्डनवादवीचिः)।

✿

अर्थस्य तन्निमित्तत्वात्

डॉ० कमलाकान्तत्रिपाठी
अध्यक्षः, मीमीमांसाविभागस्य
सं० सं० वि० वि०, वाराणसी

सर्वत्र लोके वाक्यश्रवणसमनन्तरविशिष्टार्थप्रतिपत्तिः समुदेति ततश्च व्यवहारः प्रवर्तते। विशिष्टार्थ-प्रतिपत्तिरेव वाक्यार्थावगमः शाब्दबोध इति निगद्यते। तन्मूलभूते शब्दे तावद् विप्रतिपत्तयो मनीषिणां विलोक्यन्ते। तत्र बौद्धैकदेशिनो विज्ञानवादिनो विज्ञानमेवैकं तत्त्वं मन्वानास्तदुपरागात् प्रतीयमानं वाचकं शब्दजातं वाच्यं द्रव्यक्रियात्मकमर्थजातञ्च विज्ञानादभिन्नमेवेति मन्वते। वाक्यवाक्यार्थयोः संबन्धोऽपि

तन्मते कार्यकारणभावरूप एव वैयाकरणमतवदत्राऽपि काल्पनिकपदपदार्थसंबन्धव्युत्पत्तिरभ्युपायत्वेन स्वीक्रियते।

अयं ज्ञानात्मकवाक्यार्थवादस्तावद् न संभवति। वाक्यवाक्यार्थयोर्ज्ञानात्मकत्वे तयोरेव ज्ञानविषयत्वादेकस्यैव विषयत्वं विषयित्वञ्च विरुद्ध्येत। ज्ञानार्थयोर्भिन्नदेशप्रतिभासात्तादात्म्यमपि न संभवतीति शून्यवादे निरस्तम्।

वैयाकरणास्तावद् वर्णैराशुतरविनाशिभिः प्रत्येकं यौगपद्येन चार्थप्रतीतेरभावात् तत्तद्वर्णाभिव्यङ्ग्यं स्फोटाख्यं तत्त्वं वाक्यार्थप्रतिपत्तिमूलमिति कथयन्ति। एवञ्च तन्मते निर्भागमेव वाक्यं व्यञ्जकवर्णभेदात् तेन तेन वर्णपदविपर्यासात्मनाऽवगम्यमानं तत्तद्वाक्यार्थमूलमिति। अयमपि निर्भागवाक्यवादो न सम्यक्प्रकार इति प्रतिभाति। सर्वलोकसिद्धभागावगमस्यापह्नोतुमशक्यत्वात्।

न च यथा वर्णात्मकभागज्ञानसंभवेऽपि एकपदावभासो भवति, अर्थज्ञानञ्च वर्णेभ्योऽनुपपन्नमिति भागप्रतिभासस्य मित्यात्वाद् निरवयवं पदं पदार्थस्य वाचकमङ्गीक्रियते तथैव वाक्यमपि निर्विभागमखण्डार्थाव-बोधकमेव भवति। वाक्ये एकत्वपरामर्शस्य नानात्वप्रतिक्षेपादिति वाच्यम्, दृष्टान्तासिद्धेः। वर्णातिरेकेण नास्त्यनवयवं पदम्। वर्णानामेव पदत्वात्। तथाहि भाष्यकारः[१]—

'अथ गौरित्यत्र कः शब्द' इत्यनुयोगे सति 'गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्ष' इत्युत्तरमाह।

देवताधिकारणे शारीरकभाष्येऽप्येवमुक्तं श्रीमद्भगवत्पादैः।

प्रत्यक्षत एव सकललोकप्रसिद्धत्वाच्छब्दस्य वर्णात्मकत्वमेव स्वीकृतम्। एवञ्च श्रोत्रग्राह्यत्वमेव शब्दलक्षणम्, न तु प्रत्यायकत्वम्। तस्य धूमादावपि विद्यमानत्वेन व्यभिचारात्। तथा चाह भगवान् भाष्यकारः[२]—

'श्रोत्रग्रहणे हि अर्थे लोके शब्दशब्दः प्रसिद्धः। ते च श्रोत्रग्रहणाः।' इति। श्रोत्रग्रहणाः श्रोत्रेण गृह्यन्त इत्यर्थः।

एवञ्च वैयाकरणैरपि पूर्वन्तावत् 'शब्दं कुरु शब्दं मा कार्षीः, अयं माणवकः शब्दकारी'ति लोकप्रसिद्धिमनुरुध्यैव 'वर्णा एव शब्द' इति पूर्वं स्वीकृत्य पश्चात् तेभ्योऽर्थप्रतिपत्तिरसंभविनीति पर्यालोच्य स्फोटात्मकः पूर्वापरक्रमशून्यो नादक्रमेण क्रमरूपतया भेदवानिव संलक्ष्यमाणः शब्दः परिकल्प्यते। तथा चोक्तं श्रीमद्भर्तृहरिणा—[३]

'नादस्य क्रमजन्यत्वाद् न पूर्वो न परश्च सः। अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिव जायते॥' इति।

एवं सति वर्णातिरेकिपदाभावेऽपि यदेकं पदमित्येकत्वप्रतिभासः स बहूनामप्येकार्थप्रतिपत्तिनिमित्तो न

---

१. शाबरभाष्ये १.१.५.

२. शाबरभाष्ये १.१.५.

३. वाक्यपदीये ब्रह्मकाण्डे, ४८.

विरुध्यते। बहूनामपि लोकशास्त्रयोरुभयत्रापि एकंकार्यनिबन्धनस्यैकत्वस्य परिदृश्यमानत्वात्। यथा लोके सेनेति। शास्त्रे राजसूय इति। स हि एकफलोपजननापूर्वकार्यवशादिष्टिपशुसोमेषु प्रवर्तत इत्युक्तं जैमिनीये चतुर्थे। अत एवार्थैकत्वमजानत एकपदत्वावमर्शाभावोऽपि संगच्छते।

एवञ्चार्थप्रतिपत्त्यापि पदस्य वर्णातिरिक्तत्वाभावाद् वर्णानन्तरजायमानाऽर्थसंविद् वर्णनिमित्तैवास्तीति निश्चीयते। तत्त्वान्तरभूतस्य स्फोटस्य प्रत्यक्षानुपलम्भनिरस्तास्तित्वस्य वाचकत्वनिरासे सति नान्यथानुपपत्त्यापि कल्पना भवितुमर्हति।

अत्र न च वाच्यं क्रमवर्तिनां वर्णानां साहित्यासंभव इति। अवान्तरव्यापारवशात् तत्साहित्यसंभवात्। पूर्वपूर्वस्य वर्णस्य समुपलभ्यमानस्य संस्काराख्यावान्तरव्यापारजनकत्वेन तत्सहितस्यान्त्यवर्णस्यार्थप्रतिपत्तिजनकत्वे नास्ति कोऽपि विरोधलेशोऽपि। श्रीभाष्यकारोऽपि[४]—

'न चाक्षरव्यतिरिक्तोऽन्यः कश्चिदस्ति समुदायो नाम यतोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात्। यदा गकारो न तदा औकारविसर्जनीयौ। यदा औकारविसर्जनीयौ न तदा गकारः। अतो गकारादिव्यतिरिक्तोऽन्यो गोशब्दोऽस्ति यतोऽर्थप्रतिपत्तिः स्या'दिति चोद्यानन्तरम्— 'पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णः प्रत्यायक इत्यदोष' इत्यनेन समाधानमाह।

एवं सत्यपि यदि स्फोटवादी कथयेद् यद् बहुसंस्कारकल्पनापेक्षया एकस्यैव स्फोटाख्यस्य तत्त्वान्तरस्य परिकल्पनमेवोचितमिति तत्रेदमुत्तरम्—

दृष्टोपपत्तये संस्कारकल्पनाया एवौचित्यमस्ति प्रत्यक्षानुपलम्भनिरस्तसत्त्वस्य सद्भावस्वीकारापेक्षयेति। अनेकमपि दृष्टोपपादकं परिकल्प्यते। दृष्टविरुद्धन्त्वेकमपि न कल्प्यते। अत्र विषयेऽस्मद्भाष्यकारोऽसकृत् स्फोटस्याप्रामाणिकत्वं ब्रूते। तथा हि[५]—

'न हि लौकिकं वचनमनुपन्नमित्येतावता प्रत्यक्षादिभिरनवगम्यमानोऽर्थः शक्यते उपगन्तुम्। इति

न शास्त्रकारवचनमपि अलमिममप्रमाणकमुपपादयितुम्। इति च।

न गौणः शब्दो मा भूदिति प्रत्यक्षादिभिरनवगम्यमानोऽर्थः शक्यः परिकल्पयितुम्। इति।

एवमुक्त्वानुपपत्तिसमाधानाय वर्णानामेवार्थप्रतिपत्तौ निमित्तत्वमप्युक्तं तैः अक्षरेभ्यः संस्काराः संस्कारादर्थप्रतिपत्तिरिति संभवति अर्थप्रतिपत्तौ अक्षराणि निमित्तमिति। एवञ्च वर्णा एव शब्द इति सिद्धं भवति।

यद्युच्येत नास्ति वर्णानामर्थप्रत्यायनसामर्थ्यम्। तेषामर्थप्रत्यायकत्वे वर्णत्वाविशेषात् सर्वार्थप्रत्यायकत्वं स्यात्। किञ्च, प्रत्येकं ते प्रत्याययेयुः संहत्य वेति विकल्पे न प्रत्येकम्। प्रत्येकमर्थप्रतीत्यदर्शनात्। क्रमवर्तिनां साहित्यासंभवात् संहत्यापि न तेषामर्थप्रत्यायकत्वं संभवति। अन्यथा न्यूनाधिकत्वे क्रमभेदे कर्तृभेदे च वर्णरूपाविशेषादर्थप्रतीतिः स्यादिति। अस्योत्तरमुक्तं वार्तिके। तथा हि[६]—

४. शाबरभाष्ये १.१.५.

५. शाबरभाष्ये १.१.५.

यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने।
वर्णा प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः॥

वाचकत्वस्य व्यवहारावगम्यत्वेनाऽस्मदिच्छावगम्यत्वाभावाद् यथादर्शनं तत्स्वीकाराद् नास्ति काचिदप्यनुपपत्तिः। यथोक्तं तैरेव[७]—

तेषान्तु गुणभूतत्वादर्थप्रत्यायनं प्रति।
साहित्यमेककर्त्रादिक्रमश्चापि विवक्षितः॥' इति।

स्फोटवादिनापि स्फोटाभिव्यक्तये सर्वमेतदङ्गीक्रियत एव। यथोक्तं पार्थसारथिमिश्रैः[९]—

'त्वयापि हि शब्दतत्त्वं कल्पयित्वा पुनः संस्कारकल्पनाऽवश्यं कर्तव्या। ध्वनयो हि न प्रत्येकं स्फोटमभिव्यञ्जन्ति। साहित्यञ्च क्रमवर्तिनां संस्कारद्वारमेवेति तुल्यं तत्कल्पनमिति। एवञ्चापेक्षित-क्रमविशेषानेकविजातीयनादसमुच्चयस्वीकारादवश्यमेव पूर्वनादाहितसंस्कारासहितान्त्यनादाभिव्यङ्ग्यः स्फोटो भवतीति संस्कारकल्पनायास्तुल्यत्वात्नातिरिक्तं शब्दतत्त्वं कल्पनीयतामर्हति। या च सामग्री स्फोटाभिव्यक्तये स्वीक्रियते साऽर्थप्रतिपत्तावेव स्वीकर्तव्या। उक्तमेतत् सर्वं वार्तिककारपादैरपि[१०]—

यस्यानवयवः स्फोटो व्यज्यते वर्णबुद्धिभिः।
सोऽपि पर्यनुयोगेन नैवैतेन विमुच्यते॥
तत्रापि प्रतिवर्णं हि पदस्फोटो न गम्यते।
न चावयवशो व्यक्तिस्तदभावान्न चात्र धीः॥
प्रत्येकं चाप्यशक्तानां समुदायेऽप्यशक्तता।
तत्र यः परिहारस्ते स नोऽत्रापि भविष्यति॥ इति।

अपि च, नास्मन्मतेऽक्लृप्तान्यसंस्कारस्य कल्पना भवति। स्मृतिहेतुत्वेन संस्काराः क्लृप्ता एव सन्ति। त एव संस्कारा अर्थप्रतिपत्तावप्युपायीभवन्ति। स्मृतानामेव वर्णानां वाचकत्वस्वीकारात्। एकस्यापि संस्कारस्य कर्मवत् संयोगविभागयोरेकत्र सामर्थ्यं न विरुध्यते। यथोक्तं तैरेव[११]—

यद्यपि स्मृतिहेतुत्वं संस्कारस्य व्यवस्थितम्।
कार्यान्तरेषु सामर्थ्यं न तस्य प्रतिषिध्यते॥ इति।

एवं सति स्मृतिहेतोरेव संस्कारस्यार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वमदृष्टं परिकल्प्यत इत्यपि नास्त्युपालम्भविषयः। स्फोटवादिनाऽपि स्फोटाभिक्तय एतत्स्वीकारादित्युक्तम्।

अपि च, स्फोटवादिन एव संस्कारान्तरकल्पनादोषः। अस्मन्मते तु स्मृतिहेतोरेव संस्कारादर्थाव-गतिरपि सिद्ध्यति। नैवं भवत्पक्षे संभवति। तथा हि[१२]—

---

६. शाबरभाष्ये १.१.५.
७. श्लोकवार्तिके स्फोटवादे, ६९.
८. श्लोकवार्तिके स्फोटवादे, ६९.
९. शास्त्रदीपिकायाम् (मयूख०) पृ० ९५.
१०. श्लोकवार्तिके स्फोटवादे ९१-९३.
११. श्लोकवार्तिके स्फोटवादे १०२
१२. वाक्यपदीये ब्रह्मकाण्डेय ७८, ८४.

इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्योभयस्य वा।
क्रियते ध्वनिभिर्वादास्त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम्॥
नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते॥

इति श्रीमद्भर्तृहरिप्रतिपादितदिशा अश्रावणत्वाद् नादानां ज्ञायमानतया स्फोटाभिव्यञ्जकत्वा-संभवात्, अगृहीतत्वादेव च स्मर्यमाणानामपि तथात्वाभावात् सत्तयैव श्रोत्रसंस्कारं कुर्वतां स्फोटाभि-व्यञ्जकत्वमायाति। क्रमवर्त्तित्वाद् युगपत् सत्ताऽभवात् संस्कारद्वारैव साहित्यं सम्पादनीयं भवतीत्य-वर्जनीयं संस्कारान्तरप्रकल्पनम्। अथवा ध्वनिसंयोगस्यैव श्रोतसंस्कारत्वात्, तस्य च भङ्गुरत्वादन्ये स्थायिनः संस्कारा अप्रामाणिकाः प्रकल्प्यन्ते, तथैव च वर्णातिरिक्तोऽप्रामाणिकः स्फोटाख्यः शब्दोऽपि परिकल्प्यत इति बह्वप्रमाणकपरिकल्पनापेक्षया दृढस्मृतिपथविपरिवर्तमानानां वर्णानामेव वाचकत्व-प्रकल्पनं गरीयः। लोकप्रसिद्धिरप्यस्मिन् पक्षेऽनुगता भवेत्। अत्र क्रमस्यापि अङ्गत्वस्वीकाराद् न व्युत्क्रमेण उच्चारितानां तेषां वाचकत्वप्रसङ्गः। क्रमोऽप्ययं नित्यानां विभूनां च वर्णानामसंभवाद् ध्वनिक्रम एव व्यङ्ग्येषु वर्णेषु समारोपितः स्वीक्रियते। यथोक्तं वार्तिककारपादैः[१३]—

तद्वशेन च वर्णानां व्यापित्वेऽपि क्रमग्रहः।
एवं ध्वनिगुणान् सर्वान् नित्यत्वेन व्यवस्थिताः॥
वर्णा अनुपतन्तः स्युरर्थभेदावबोधकाः॥ इति।

नन्वेवमपि स्फोटाभिव्यञ्जकैरेवार्थप्रतीतिमभ्युपगम्य स्फोटपरिहारो यदि तदा वर्णाभिव्यञ्जकैरेव ध्वनिभिरर्थप्रत्ययमङ्गीकृत्य कृतं वर्णाभ्युपगमेनेति ? मैवं वोचः। भवेदेवं भवदुक्तं सर्वं यदि वर्णवद् ध्वनयः प्रत्यक्षा भवेयुः, यदि वा स्फोटवद् वर्णा अप्यप्रत्यक्षा भवेयुः। तदुभयाभावाद् वर्णैरेव स्मृतिपथमारूढै-रर्थप्रत्ययो भवतीति स्वीक्रियते। 'गकारादीन्येव प्रत्यक्षाणी'ति वदता श्रीभाष्यकारेणैतत् तथ्यमाविष्कृतमेव।

स्फोटाभावसाधने वार्तिकोक्ता एते प्रयोगाः सन्ति—

पदवाक्ययोर्वर्तमाना वर्णा ध्वनयो वा न स्फोटाभिव्यञ्जकाः व्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत्।

पदवाक्ययोर्वर्तमाना वर्णा ध्वनयो वा न स्फोटाभिव्यञ्जकाः सत्त्वाद् घटवत्।

स्फोटो नार्थवाचकः वर्णातिरिक्तत्वाद् घटवत्। इति।

न चात्र धर्मिप्रसिद्ध्यप्रसिद्धिभ्यां व्याघातः। अविद्यमानेऽपि स्फोटे वाचकत्वाभावस्य दर्शयितुं शक्यत्वात्। न च बुद्धावनारूढः कथमभावेन विशेषयितुं शक्य इति वाच्यम्। वैयाकरणैर्वाचकत्वेन यः प्रकल्पितः स नास्तीत्याकारेण बुद्धावारोपयितुं शक्यतया सर्वथा बुद्ध्यनारूढत्वानभ्युपगमात्। वीणादिध्वनीनां स्फोटानभिव्यञ्जकत्वस्य तदिष्टत्वात् तदंशे सिद्धसाधनतापरिहाराय ध्वनौ पदवाक्ययोरिति विशेषणमुपात्तम्।

तृतीयप्रयोगे वर्णो न वाचकः सत्त्वाद् घटवदिति सप्रतिसाधनत्वमपि न वाच्यम्। वर्णोच्चारणा-

---

१३. श्लोकवार्तिके शब्दनित्यताधिकरणे ३००-३०१.

नन्तरमेवार्थप्रतिपत्तिदर्शनेन हेतोरनैकान्तिकत्वात्, अग्नावनुष्णत्वानुमानवद् दृष्टविरुद्धत्वाच्च। वर्णानामेवार्थबोधकत्व इदमनुमानमस्ति—

'अनन्यथासिद्धार्थप्रतीतिः वर्णजन्या वर्णप्रतिपत्त्यनन्तरं जायमानत्वाद् धूमादग्निप्रतीतिवत्'। इति।

गकारौकारविसर्जनीयाः गोत्वप्रतिपादकाः गोत्वप्रतिपादनात् प्राक् ध्रुवं प्रतीयमानत्वात् रूपे प्रदीपवत्। यत् पूर्वं यत् प्रतिपाद्यते तत्तस्य प्रतिपादकं यथा दीपारोपणं प्रतिपद्यमानस्य घटस्य प्रतिपादकमिति।

इत्थं वर्णानामेव हेतुत्वे स्थिते वाक्यार्थप्रतिपत्तौ किं सर्वेषामेव पदानां पदार्थद्वारा निमित्तीभाव उतैकस्यैव पदस्य साक्षादेवेति विचार्यते। अत्र पदार्थानामेव परस्परान्वितानां वाक्यार्थत्वात् ते तथाभूता एव स्वपदेनाभिधीयन्ते तेन च पदमेव वाक्यार्थस्य प्रमाणमित्यन्विताभिधानवादी गुरुराह। तथा हि—

सर्वत्र विशिष्टार्थविषयको व्यवहारो दरीदृश्यते, अतो व्युत्पित्सुना बालेन व्यवहर्तुर्विशिष्टार्थविषयिण्येव संविद् निश्चीयते। सा च पदश्रवणानन्तरमेव जायत इति तत्कारणिकैव निश्चीयते। यद्यपि विशिष्टार्थविषयकावगमः पदसंघातश्रवणात् पश्चादेव जायते तथापि अन्वयव्यतिरेकाभ्यां भागशोऽवगमात् तत्त्वेनैव वाचकत्वं प्रकल्प्यते। न चात्रानन्तानां वाक्यानां श्रूयमाणत्वाद् वाक्यार्थानामप्यानन्त्यात् कथं संबन्ध ग्रहणमव्यभिचारो वेति वाच्यम्। सन्निध्यपेक्षायोग्यत्वैरुपलक्षणलाभादन्वितानामानन्त्येऽपि संबन्धग्रहणस्य सुशकत्वात्। यद्धि आकाङ्क्षितं सन्निहितं योग्यञ्चार्थान्तरं तैनेवान्वितं स्वार्थं पदानि प्रतिपादयन्ति। एवञ्चान्यप्रकारके प्रयोगस्य प्रतिपत्तेश्चासंभवादव्यभिचारोऽपि सिद्धयति। यद्येवं नाङ्गीक्रियेत तर्हि वृद्धव्यवहारेऽन्वितप्रतिपत्तिर्निर्मूला स्यात्। एवञ्च गौरवादेवाभिहितान्वयवाद उपेक्षामर्हति। तत्र शक्तित्रयकल्पनैव गौरवम्। पदानां पदार्थाभिधानशक्तिः, अर्थानाञ्चान्वितप्रतिपादनशक्तिः पुनश्च पदानामेव तच्छक्त्याधायकताशक्तिरिति शक्तित्रयापेक्षया एकस्या एव पदानामन्वितगोचरायाः शक्तेः स्वीकारस्य लघीयस्त्वात्। एवञ्च वाक्यार्थप्रतिपत्तेः शाब्दत्वमपि समञ्जसं भवति, अन्यथा क्लेशः स्यात्। पदगतस्यैव सन्निधानस्यापेक्षितत्वाद् न प्रकारान्तरसन्निहितार्थान्वितस्वार्थाभिधायकत्वप्रसङ्गदोषोऽप्यायाति। एवमन्विताभिधायिपदमेव वाक्यार्थस्य प्रमाणमिति न्यायतः सिद्ध्यति। अस्मिन् पक्षे वाक्यार्थस्य वाच्यत्वमेव सिद्धं भवति।

नन्वेवमपि 'अर्थस्य तन्निमित्तत्वादि'ति सूत्रविरोधः स्यात्। एवमेव 'पदानि स्वं स्वमर्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराः, अथावगताः पदार्था वाक्यार्थं गमयन्ती'ति भाष्यविरोधोऽपि स्याद् याभ्यां पदार्थनिमित्तकत्वं वाक्यार्थावगमस्य प्रतिपाद्यते?

न स्यात् सूत्रभाष्यविरोधः। अन्विताभिधानपक्ष एव तयोः सङ्गमनीयत्वात्। अत्र वाक्यार्थपदेनाऽन्वयोऽभिधीयते, अर्थेन चान्वित इति। एवञ्चान्वयप्रतिपत्तावन्वितप्रतिपत्तिरेव निमित्तमुच्यते सूत्रभाष्याभ्याम्। सूत्रस्य व्याख्यायामयं बृहतीग्रन्थः[१४]—'व्यतिषक्ताभिधायि पदम्। न व्यतिषङ्गाभिधायि। व्यतिषक्ततोऽवगतेर्व्यतिषङ्गस्य' इति।

---

१४. बृहतीटीकायाम्-३८६ पृष्ठे।

अयमभिप्रायः—यथैव हि आकृत्या शब्देनाभिधीयमानया सह प्रतीयमाना व्यक्तिः शब्दप्रतीयमानया आकृत्यैवावगम्या भवति। अर्थात् आकृतिप्रत्ययो व्यक्तिप्रत्ययस्य निमित्तं भवति। एवमेव अन्विताभिधायिना शब्देन अन्वयं विना अन्वितस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् अन्वयोऽवगम्यमानः पदार्थनिमित्तक इत्युच्यते। भाष्ये पदार्थशब्देनान्वितस्य वाक्यार्थशब्देन चान्वयस्याभिधेयत्वादित्युक्तम्। एवञ्च पदार्था वाक्यार्थं बोधयन्तीत्यस्य अन्विता अन्वयं बोधयन्तीत्येवार्थः। एवञ्चान्वितप्रतिपादकत्वनिमित्तमन्वयप्रतिपादकत्वमित्येव सिद्ध्यति। व्यतिषिक्तोऽन्वितः। व्यतिषङ्गोऽन्वयः। तथा च नास्ति सूत्रभाष्यविरोधोऽपि। एवञ्च पदस्यैव शाब्दे प्रामाण्यसिद्धये तस्यैवान्विताभिधायित्वं गरीय इति सिद्धं भवति।'

अत्राभिहितान्वयवादिनस्तावदेवमाहुः—

भवदुक्ता क्लिष्टमार्गं स्वीकृत्यापि व्याख्या शोभमाना स्याद् यदि पदार्थानां वाक्यार्थे निमित्तभावः स्पष्टतयोक्तो न स्यात्। पदानामन्विताभिधायित्वपक्षस्य युक्तिदार्ढ्ये सत्येव क्लिष्टः पन्था आद्रियेत। पदैरभिहितानां पदार्थानामेव वाक्यार्थावबोधकत्वे सुस्थिते नैवासावाश्रयितुं युज्यते। अभिहितान्वयपक्षे पदानां पदार्थस्वरूपमात्र एकैव शक्तिः कल्प्या भवेत्। वाक्यार्थबोधस्य लक्षणयैवोपपत्तेर्न तत्र शक्तिप्रकल्पनम्। अन्विताभिधानपक्षे तु अन्विताभिधायित्वे पदानामवश्यमेव विशेषणभूतस्यान्वयस्याप्यभिधानमाश्रयणीयं भवति। अन्यथा अन्वितप्रतीतिरेव न स्यात्। एवञ्चान्वयान्वितविषयकशक्तिद्वयप्रकल्पनाददृष्टद्वयस्य गरीयसी कल्पना शिरसि आपतेत्। न चात्र एकैव शक्तिरन्वितपर्यन्ता स्यादिति वाच्यम्। शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावस्य सुस्थितत्वात्। तथा चोभयोरपि पक्षयोर्नियमादिप्रक्रियायां समानायामपि अन्विताभिधानपक्षे विशिष्टे शक्तिकल्पनारूपो दोषः, अभिहितान्वयवादपक्षे च पदार्थस्वरूपमात्रस्याभिधेयया तदभाव एव पर्यन्त आयाति। तथा चोक्तं पार्थसारथिमिश्रैः—

'पदस्य तु भवान् विशिष्टे शक्तिं कल्पयति। वयन्तु स्वरूपमात्र इति महान् विशेषः।[१५]' इति शक्तिकल्पनासाम्येऽपि पदार्थानामेव वाक्यार्थबोधनिमित्तत्वमानन्तर्याद् युज्यते, न तु पदानां पदार्थैर्व्यवधानात्। न हि अन्विताभिधानपक्षेऽपि अप्रतीतेषु पदार्थेषु वाक्यार्थावगतिः संभवति। तथा सति पदार्थानामेव तत्कारणत्वकल्पनं वरम्। पुनः पदानुसन्धाने प्रमाणाभावात्। दृष्टानुगुण्यमप्यस्मिन् पक्षे भवति। दीर्घतमेषु वाक्येषु पदानुसन्धानस्याशक्यत्वात्, पदार्थानुसन्धानमात्रेण च वाक्यार्थप्रतीतेः सर्वजनीनत्वात्। तथा चोक्तं श्रीवार्तिककारपादैः[१६]—

'आनन्तर्याद्धि वाक्यार्थस्तद्धेतुत्वं न मुञ्चति।' इति।

एवञ्चास्मत्पक्षे—

'प्रातिपदिकादुच्चरन्ती द्वितीयाविभक्तिः प्रातिपदिकार्थो विशेषक इत्याह' इत्यनेन भाष्यकारस्य प्रातिपदिकार्थोपलक्षितान्वयविशिष्टवाचकत्वं द्वितीयादिविभक्तेरिति प्रतिपादयतः प्रत्ययस्यैवान्विताभिधायित्वसमर्थनं संगच्छते। कथमन्यथा सर्वशब्दानामन्विताभिधायित्वे प्रत्ययस्यैव तत्कथ्यते। तथा च

१५. न्यायरत्नमालायाम्-१०६ पृष्ठे।

१६. श्लोकवार्तिके-८७८ पृष्ठे।

यत्रान्विताभिधायित्वं संभवति तत्रैव तत् स्वीकार्यम्। यत्र च न संभवति तत्र भाष्यग्रन्थानुगुण्यात् स्वरूपमात्राभिधायित्वं स्वीकरणीयम्। यथोक्तम्[१७]—

'इतरेषान्तु शब्दानां स्वार्थरूपमेवाभिधेयम्। अन्वितरूपस्तु वाक्यार्थः पदार्थगम्यः' इति।

न चैवं वाक्यार्थस्याशाब्दत्वप्रसङ्ग इति वाच्यम्। पदार्थद्वारा शब्दानामेव निमित्तत्वाच्छाब्दत्वोपपत्तेः।

तथा च सङ्गच्छत एव महर्षेर्जैमिनेर्वचनम्—

'अर्थस्य तन्निमित्तत्वात्।' इति।

✿

१७. न्यायरत्नमालायां वाक्यार्थनिर्णये।

सत् कार्यवादः

डॉ० शिवरामगङ्गोपाध्यायः
न्यायविभागाध्यापकः
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी

न्याय-वैशेषिकमतेनाविद्यमानास्य वस्तुन उत्पत्तिर्जायते। असत्कार्यवादः स्वीक्रियते। घटादिः सदसत्स्वभावश्च। उत्पत्तेः पूर्वमसत्पश्चात्सद् भवति। सदसतोरेकत्र कथं न विरुद्धत्वम्? कालभेदस्य समावेशात्। घटस्योत्पत्तेः पूर्वं धर्मिणोऽभावात् तस्य धर्मः कथमसन्? यादृशी देवता तादृशो भोगः। असतो धर्मो न सत्त्वरूपः, असतोऽसत्त्वमिति युक्तियुक्तम्। यत्पूर्वमसदासीत् तस्य कथं सत्वम्। कारणसामर्थ्यात् तुरीवेमादेरेकोऽपूर्वो महिमा, यदा तौ कर्मण्येकत्र प्रवृत्तौ स्तस्तदा असदपि पटः सद्रूपेणोत्पन्नो भवति। यतस्तन्तुजातीये वस्तुनि पटजातीयस्य वस्तुन उत्पादनस्य सामर्थ्यमस्ति। अयं कथं सम्भवः? तन्तौ पटो भवति सर्वत्र न। वस्तुनः स्वभावात् तदत्रापि भवति। अतएव उपादानो नियमः, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तज्जातीयस्य वस्तुन उत्पादनस्य शक्तिस्तज्जातीये वस्तुनि निश्चिता तिष्ठति[१]।

महर्षिकपिलप्रणीतेन सांख्यमतेन प्रकृतेः कारणसत्तायाः सिद्ध्यर्थं सत्कार्यवाद एव स्वीक्रियते। ईश्वरकृष्णेणोक्तमत्र—

१. न्यायकन्दली।

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥[२]

अर्थात्—असतोऽथवा अविद्यमानस्योत्पत्तिर्भवितुं नार्हति। यथा सिकतासु तैलाभावः। केनापि साधनप्रयोगेण सिकताभ्यः तैलोत्पत्तिर्भवितुं नार्हति। उदाहरणरूपेण तिलेषु तैलमव्यक्तरूपेण विद्यमानमस्ति, अनुकूलसाधनप्रयोगेण तद् व्यक्तं भवति। उपादानग्रहणहेतोः सिध्यति यत्कार्यमुत्पत्तेः पूर्वं सदस्ति। किमपि विशिष्टं कार्यं तत्सम्बन्धितविशिष्टोपादाने उत्पत्तेः पूर्वमव्यक्तरूपेण तिष्ठति। यस्मात्पदार्थात्कार्यरूपपदार्थस्योत्पत्तिर्जायते, तदेवोपादानमुपादानकारणं वा भवति। यथा तैलस्योपादानं तिलपदार्थः, दध्न उपादानं दुग्धं तथा मृण्मयघटस्योपादानं मृत्तिकेति। सत्कार्यवादिनां मते इदमुपादान-कारणं असत्कार्यवादिनां मते समवायिकारणमस्ति।

सर्वसम्भवाभावोऽर्थात् कस्मादपि पदार्थात्कस्यापि पदार्थस्य उत्पत्तिर्भवितुं नार्हति। अत उत्पत्तेः पूर्वं कार्यं सद् भवति नासत्। यतः पूर्वतोऽसत्कार्यस्योत्पत्तौ सत्यां कस्मादपि पदार्थात् कस्यापि पदार्थस्योत्पत्तिर्भवितव्या, सिकताभ्यः तैलमपि। तत्तु न सम्भवेत्।

शक्तमर्थात्कस्यापि कार्यस्योत्पत्तौ शक्तिमत्कारणं यतः समर्थमस्ति; अतो मन्यते यदुत्पत्तेः पूर्वं कार्यं सदस्ति। यतः कस्यापि विशिष्टकार्यस्य उत्पत्तौ कारणस्य या शक्तिरस्ति, तदेव कार्यं तस्मिन् समये कारणे स्थितं विद्यते। यथा तैलस्य तिलेऽवस्थितिरेव तैलस्योत्पत्तौ तिलस्य शक्तिः। पूर्वतो यदि तिलेषु तैलं न स्यात्तर्हि तिलस्य तैलोत्पादने शक्तिः कदापि भवितुं नार्हति। यथा सिकतासु तैलस्याभावात् कदापि तासु तैलस्योत्पादने शक्तिर्नास्ति।

कारणभावस्येदं तात्पर्यं यत्कार्यकारणयोरभिन्नत्वम्। कार्यं कारणात्मकमेव, उत्पत्तेः पूर्वं कार्यं कारणरूपेण सदस्ति। कारणकार्ययोः परस्परं सापेक्षत्वं विद्यते। परस्परसापेक्षत्वादेकस्य वस्तुनो रूपद्वयमेव प्रतिभाति। कार्यमविकसितरूपेण कारणं तथा कारणं विकसितरूपेण कार्यमस्ति। अतः कार्यं सदस्ति। यतो दधि स्वकीयस्य कारणस्य दुग्धस्य विकसितं रूपमस्ति। अतः असदकरणादिहेतुभिः सिध्यति यत्कार्यमुत्पत्तेः पूर्वं सदस्ति। सत्कार्यवादो निर्विरोधेन स्वीकर्त्तव्य इति।[३]

✿

---

२. सांख्यकारिका।

३. सांख्यतत्त्वकौमुदी।

पुराणं धर्मशास्त्रञ्च

डॉ० ददनउपाध्यायः
सहायकसम्पादकः, प्रकाशनसंस्थानस्य
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये, वाराणसी

पुराणस्य महिमा

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

(महा०, आदिपर्व १.२६७)

वेदविहितानां धर्माणां सरलसुबोधभाषायां समुपबृंहणायैव पुराणानि विरचितानि। तस्मात् पुराणानां धार्मिकदृष्ट्या महत्त्वमधिकम्। यदा वेदोक्ता अर्था लोकानां बुद्धौ नारोढुं प्रवृत्तास्तदा वेदोक्तार्थस्य ज्ञानं सर्वजनसुलभं कर्तुं पुराणानि विरच्यन्ते स्म। भारतीयसंस्कृतेः मूलाधाराणां वेदानामनन्तरं पुराणानामेव सम्मानपूर्णं स्थानमस्ति। पुराणमाध्यमेन वेदेषु वर्णितैरगम्यरहस्यैः जनसामान्योऽपि सुपरिचितो भवति। भक्तिरसपरिप्लुतानां पुराणप्रोक्तानां मङ्गलमयीनां शोकनिवारिणीनां ज्ञानप्रदायिनीनां दिव्यकथानां श्रवणमननं पठन-पाठनं च विधाय जनसाधारणोऽपि भक्तितत्त्वस्यानुपमं रहस्यं सहजरीत्या प्राप्नोति। यथोक्तं वायुपुराणे—

यस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत्स्मृतम्।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

(वा०पु० १.२०३)

महाभारतेऽप्युक्तम्—

पुराणसंहिताः पुण्याः कथा धर्मार्थसंश्रिता।

(आदिपर्व १.१६)

समाजस्य तात्कालिकस्वरूपबोधनायापि पुराणानां महानुपयोगः, पुराणेषु प्राचीनभारतस्येतिहासो निहितः। पुराणोक्तानामितिवृत्तानां प्रामाणिकत्वं शिलालेखादिभिरपि कर्तुमारब्धम्, अतो वैदेशिका अपि विद्वांसः पुराणे धृतादराः प्रतिभान्ति।

पुराणानि भौगोलिकसामग्रीमपि प्रस्तुवन्ति। काशीखण्डे काशीपुर्यास्तादृशं विस्तृतं वर्णनं विद्यते, येन तस्या मानचित्रमेव पुरत उपतिष्ठते। एवमेव केदारखण्डे देवभूमेः हिमालयक्षेत्रस्य भागैकस्य केदारखण्डस्य धार्मिक्यः, भौगोलिक्यः, सांस्कृतिक्यः, ऐतिहासिक्यश्च प्रवृत्तयो वर्णिताः सन्ति। तत्र हिमालयक्षेत्रं पञ्च भागेषु विभक्तमस्ति—नेपालखण्डः, मानसखण्डः, केदारखण्डः, जालन्धरखण्डः, कश्मीरखण्डश्च। यथोक्तम्—

तीर्थानि प्रवराण्येव श्वेताख्ये पर्वतोत्तमे।
अग्रे मानसप्रस्तावे तथा नेपालके मुने॥

कश्मीरे चैव प्रस्तावे जालन्ध्रे वै तथा पुनः।
तदा केदारप्रस्तावे कथितानि मयाद्य ते॥

(के० ख० २०४.५६-५७)

अन्यत्राप्यस्योल्लेखः प्राप्यते। तद्यथा—

खण्डाः पञ्च हिमालयस्य कथिता नेपालकूर्माचलौ।
केदारोऽथ जलन्धरोऽथ रुचिरः कश्मीरसंज्ञोऽन्तिमः॥

(गढ० इ०, पृ० १)

एवमेवान्येष्वपि पुराणेषु तेषां तेषां तीर्थानां तादृशं स्पष्टं वर्णनमुपलभ्यते, येन तत्परिचये सौकर्यमाधीयते।

वेदानां समुपबृंहणं पुराणम्

भारतीयसंस्कृतेः मूलाधारेषु वेदेषु शाश्वतसत्यस्य परमतत्त्वस्य सर्वोत्तमं प्रामाणिकं वर्णनं प्राप्यते। मन्वादिस्मृतिषु भारतीयसंस्कृतेः धर्माचारस्य च वर्णनमस्ति। मानवकर्तव्याकर्तव्यस्य ज्ञानं मन्वादिधर्मशास्त्रैर्भवति। ये सज्जनाः बुद्धिमान्द्यात्, प्रमादात्, करणापाटवात्, दुरितात्, विधिवच्छिक्षाभावाद् वा श्रुतिस्मृतीनां रहस्येण स्वकल्याणं कर्तुं न प्रभवन्ति, तेऽपि सुगमतापूर्वकं श्रुतिस्मृतीनामभिप्रायं पुराणमार्गेण हृदयङ्गमं विधातुं सक्षमा भवन्ति। श्रीमद्भागवतस्यैकादशे स्कन्धे भगवता श्रीकृष्णेनोद्धवाय तत्त्वज्ञानप्रदानस्य शैली एतादृशी सरसा, सरला साङ्गोपाङ्गहृदयङ्गमा अस्ति, यस्या माध्यमेन वेदानां ब्रह्मसूत्राणां च तात्पर्यं सामान्यजनोऽपि हृदयङ्गमं कर्तुं प्रभवति। वेदेषु **स्तेनानां पतये नमः** (रुद्रा० ५।२०) इत्यादिमन्त्रैः। गोपालतापिन्योपनिषदा, कृष्णोपनिषदा वा भगवतः श्रीकृष्णस्य चरित्रमत्यन्तं सूक्ष्मरूपेण प्रतिपादितमस्ति। परन्तु श्रीमद्भागवत-विष्णु-पद्म-ब्रह्मवैवर्तप्रभृतिपुराणेषु श्रीकृष्णलीलाया वर्णनं कृतकृत्यतामनुभावयति। वेदस्याज्ञा अस्ति—**सत्यं वद, धर्मं चर** (तैत्ति० १.११.१) इत्यस्य पूर्णरूपेण परिपालनं भवति राज्ञो हरिश्चन्द्रस्य, असुरराजस्य बलेः, भगवतः श्रीरामस्य चरित्रमाध्यमेन पुराणेषु। **अतिथिदेवो भव** (तैत्ति० १.११.२) इत्यस्योदाहरणानि सन्ति—राजा शिविः, रन्तिदेवप्रभृतयश्च। ब्रह्मचर्यपालनस्य वैदिक्या आज्ञायां अनुपमान्युदाहरणानि सन्ति—महर्षिकपिलः, हनुमान्, भीष्मः, अर्जुनः, शङ्कराचार्य-प्रभृतयः। अत एव कथितमस्ति, यद् इतिहासपुराणयोः साहाय्येन वेदानामर्थस्य विस्तारः समर्थनं च कुर्यात्। ये इतिहासपुराणाभ्यामल्पपरिचिताः सन्ति, तेभ्यो वेदो बिभेति, यतो हि अयं मां विद्रावयिष्यति इति।

इतिहासपुराणाख्यमुपाङ्गं च प्रकीर्तितम् (सीतोपनिषद्) इति वचनानुरोधेन इतिहासः पुराणं च मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्योपाङ्गे कथिते। पुराणेषु वेदानां व्याख्या विविधकथादृष्टान्तमाध्यमेन कृता। पुराणानां ज्ञानं विना वेदानां पूर्णरूपेणावबोधो नैव भवितुमर्हति। अत्र नारदपुराणस्य वचनं द्रष्टव्यमस्ति—

वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणेष्वेव सर्वदा।

(ना० पु०-२४.१८)

वायुपुराणेऽपि वचनमेतत् प्राप्यते यद् यो द्विजः साङ्गान् चतुरो वेदान् जानाति, परं पुराणानभिज्ञः, स कदापि पण्डितो भवितुं नार्हति। यथोक्तम्—

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चेत् पुराणं स विद्यात् नैव स स्याद् विचक्षणः॥ (वा० पु०-१.१.१८०)

श्रीमद्भागवते पुराणं पञ्चमवेदरूपेणाम्नातम्। यथा—

इतिहासं पुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः॥
(श्रीमद्भा० ३.१२.३९)

मत्स्यपुराणे तु कथितं यद् ब्रह्मणा समस्तशास्त्रेषु सर्वप्रथमं पुराणानि सस्मरिरे। तदनन्तरं तस्य मुखाद् वेदा निरगच्छन्। तद्यथा—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥
(म० पु० ५३।३)

वेदानामपेक्षया पुराणानि अधिकं लोकप्रियतां भेजुः, लोकभाषायां वर्णितत्वात्। वेदेषु प्रतिपादितानां सिद्धान्तानां व्याख्यानं मधुरातिमधुरैराख्यानैः कथाभिश्चाभवत्, तस्माद् राजप्रासादाद् उटजपर्यन्तं ज्ञान-प्रकाशः प्रसरति। राजनीतेः, धर्मनीतेः, समाजविज्ञानस्य, ग्रहनक्षत्रविज्ञानस्य, आयुर्वेदस्य, अलङ्कारस्य, व्याकरणस्य, भूगोलस्य, ज्योतिर्विद्याप्रभृतिसमस्तविद्यानां प्रतिपादनं पुराणेष्वभवत्। भारतीय-संस्कृतेर्विशिष्टज्ञानं पुराणद्वारा प्राप्यते। एतस्माद् भारतीयप्रतिभाया उत्कृष्टं फलं प्रतिफलितमस्ति पुराणेषु।

पुराणशब्दार्थः

पुराणशब्दस्यार्थः पुरातनं प्राचीनं वा भवति। मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदोऽनादिरपौरुषेयश्च। श्रीमद्व्यासविरचितानि पुराणानि अर्थतोऽनादीनि, परं पौरुषेयाणि सन्ति। प्रजापतिः ब्रह्मा सर्वप्रथमं पुराणानि सस्मार, पुनः वेदान्। अनेन प्रकारेण वेदानामपेक्षया पुराणानामभिव्यक्तिः पुरातनत्वात्, पुराणानि कथ्यन्ते। पौरुषेयापौरुषेयभेदेन पुराणं द्विविधम्। पौरुषेयं पुराणं श्रीवेदव्यासविरचितम्। अपौरुषेयं पुराणमष्टविधं ब्राह्मणात्मकत्वाद् वेदात्मकम्। ऋग्वेदः, यजुर्वेदः, सामवेदः, अथर्ववेदश्च, एते चत्वारः मन्त्रसमुदायः। इतिहासः, पुराणम्, विद्या, उपनिषद्, श्लोकः, सूत्रम् (वस्तुसङ्ग्रहवाक्यम्), अनुव्याख्यानं (मन्त्रविवरणं) व्याख्यानं (अर्थवादः) च एतानि अष्टविधानि ब्राह्मणानि सन्ति।

एतेषु 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तैत्ति० २.७.१) इत्यादिजगत्कारणख्यापकानि ब्राह्मणवचनानि पुराणानि सन्ति। शतपथब्राह्मण(११.५.१)प्रभृतेः पुरूरवोर्वशीसंवादः, प्राणादिसंवादादयश्च इतिहासलक्षणात्मकाः। चतुर्विधैः मन्त्रसमुदायैः सहितान्यष्टविधानि ब्राह्मणानि परमात्मनो बुद्धिप्रयत्ननिरपेक्षनिःश्वसितानि सन्ति। यथोक्तं बृहदारण्यके—

स यथार्द्रेन्धाग्नेरभ्याहितात् पृथग्भूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषद् श्लोकाः सूत्राणामनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निःश्वसितानि (बृहदा० २.४.१०)।

ऋषिप्रणीतौ रामायणं महाभारतं चेतिहासौ, विष्णु-ब्रह्मादीन्यष्टादशपुराणानि च पञ्चमो वेदः कथितः। एतेषां वर्णनं ग्रन्थेष्वनेन प्रकारेणोपलभ्यते—**ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं ....** (छान्दो० ७.१.२) **'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदः'** (न्यायदर्शने ४.१.६२ वात्स्यायनभाष्ये) **'इतिहासं पुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते'** (श्रीमद्भा० १.४.२०) **'इतिहासपुराणाख्यमुपाङ्गं च प्रकीर्तितम्'** (सीतोपनिषदि)। **'पुरा अपि नवं पुराणम्'** इत्यनेन पुरातनत्वे सति नावीन्यम्, तस्मात् पुराणम्। निरुक्तकारोऽपि व्याख्याति—**'पुराणमाख्यानं पुराणम्'**। अर्थाद् यस्मिन् प्राचीनान्याख्यानानि सन्ति, तत्पुराणमिति। वायुपुराणेऽपि प्रतिपादितम्—

यस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत्स्मृतम्।

(वा० पु० १.१.१८३)

पुराणस्य लक्षणम्

ज्ञातसत्यार्थभूतपञ्चलक्षणात्मकाख्यानोपाख्यानप्रबन्धकल्पनया युक्तो ग्रन्थः पुराणमिति। अस्मिन् सम्बन्धे सर्वेषु पुराणेषु प्रायः स्वल्पशब्दान्तरेण निम्नाङ्कितः श्लोकः प्राप्यते—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्।

(दे० भा० १.२.१८)

एते पञ्चविधविषया एव पुराणानां मुख्यरूपेण प्रतिपाद्याः सन्ति। किन्तु श्रीमद्भागवते ब्रह्मवैवर्तपुराणे च पुराणानां दशविधविषयान् परिगणयन् पञ्चलक्षणयुक्तान्युपपुराणानि, दशलक्षणात्मकानि च महापुराणानि कथितानि। श्रीमद्भागवते पुराणानां दशलक्षणान्येतानि कथितानि। तद्यथा—

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥
दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा॥

(भा० २.१०.१-२)

ब्रह्मवैवर्तपुराणेऽपि पुराणानि दशलक्षणात्मकानि कथितानि। यथा—

सृष्टिश्चापि विसृष्टिश्च स्थितिः तेषां च पालनम्।
कर्मणां वासना वाता मनूनां च क्रमेण च॥
वर्णनं प्रलयानां च मोक्षस्य च निरूपणम्।
तत्कीर्तनं हरेरेव वेदानां च पृथक् पृथक्॥

दशाधिकं लक्षणं च महतां परिकीर्तितम्॥

(ब्र० वै० ११३.८-१०)

पुराणम् : अनन्तज्ञानराशीनां भाण्डागारः

पुराणस्य साहित्यमत्यन्तं विशालं विद्यते। लौकिकानां पारलौकिकानां च ज्ञानविज्ञानस्य सर्वे विषया अत्र सुरक्षिताः सन्ति। आसृष्टेः अद्यावधेः भविष्यस्य चेतिहासं स्वकीये क्रोडे संयोजितम्। अद्यावधि येषां ज्ञानविज्ञानानां कलायाः विद्यायाः तासां शाखा-प्रशाखाणां चाविष्कारोऽभवत्, त्रिकालदर्शिभिः महर्षिभिः तेषां सर्वेषां सारांशः सूक्ष्मरूपेण पुराणेष्वेषु सन्निविष्टः। महर्षिव्यासस्येदमद्भुतं वैशिष्ट्यं यत् ते वेदादिशास्त्रेषु प्रतिपादितान् जटिलतमान् अपि विषयान् आख्यानोपाख्यानमाध्यमेन सर्वसाधारणेभ्यः बोधगम्यान् कृतवन्तः। यद्यपि पुराणेषूपपुराणेषु च कथाभागः आधिक्येन विद्यते, तथापि जिज्ञासुभ्यः अनेकाः विद्याः, कलाः, ज्ञानानि, विज्ञानानि, शास्त्राणि च पुराणशैल्यां सुस्पष्टानि बोधगम्यानि विवेचितानि। अग्निपुराणे तु सर्वासां विद्यानां सन्निवेशोऽस्ति इति कथितम्, यथा—

आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वा विद्याः प्रदर्शिताः।

(अग्निपु० ३८३।५१)

पुराणानां प्रामाणिकता

वेदान् इव पुराणान्यपि परमात्मनः निःश्वसितानि सन्ति। यथोक्तम्—

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो-ऽथर्वाङ्गिरसः इतिहासं पुराणम्।

(वाजसनेयि-ब्राह्मणोप० २.४.१०)

अथर्ववेदेऽप्युक्तम्—

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः॥

(अथर्व० ११.७.२४)

अन्यत्रापि कथितम्—

तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलत्।

(अथर्व० १५.६.११)

पुनश्च—

इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।

(अथर्व० १५.६.१२)

मत्स्यपुराणानुसारेण ब्रह्मपुराणं सर्वशास्त्राणि च प्रथमं सस्मार। यथोक्तम्—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥
(म० पु० ५३.३)

न्यायदर्शने इतिहासं पुराणं च पञ्चमं वेदं मन्यते। यथा—

इतिहासं पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्।
(न्या० द० ४।१।६२)

मनुस्मृतिः पितृभ्यः पुराणश्रावणायोपदिशति। यथा—

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च॥
(म० स्मृ० ३.२३२)

उपर्युक्तवेद-पुराण-न्यायदर्शन-स्मृतिप्रभृतिग्रन्थवचनैः पुराणानां परमप्राचीनता स्फुटं प्रतिभाति।

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।

इत्यथर्वमन्त्रे पुराणं प्रथमान्तं 'यजुषा' इति तृतीयान्तं पठितं। तेन वेदापेक्षया पुराणानां प्रधानता स्फुटं प्रतीयते।

शिवमहापुराणस्य वायवीयसंहितायामष्टादशविद्यानामादिकर्ता शूलपाणिः शिवः प्रतिपादितः। तेन विश्वयोनये प्रथमपुत्राय ब्रह्मणे विश्वसृष्ट्यर्थमिमाः विद्याः ददिरे। लब्धविद्येन तेन ब्रह्मणा प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं स्मृतम्। तदनन्तरं तस्य वक्त्रेभ्यो वेदाः विनिर्गताः। ततस्तन्मुखात् सर्वशास्त्राणां प्रवृत्तिर्बभूव। यथोक्तं तत्र—

अष्टादशानां विद्यानामेतासां भिन्नवर्त्मनाम्।
आदिकर्ता कविः साक्षाच्छूलपाणिरिति श्रुतिः॥
स हि सर्वजगन्नाथः सिसृक्षुरखिलं जगत्।
ब्रह्माणं विदधे साक्षात् पुत्रमग्रे सनातनम्॥
तस्मै प्रथमपुत्राय ब्रह्मणे विश्वयोनये।
विद्याश्चेमा ददौ पूर्वं विश्वसृष्ट्यर्थमीश्वरः॥
पालनाय हरिं देव रक्षाशक्तिं ददौ ततः।
मध्यमं तनयं विष्णुं पातारं ब्रह्मणोऽपि हि॥
लब्धविद्येन विधिना प्रजासृष्टिं वितन्वता।
प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम्॥
अनन्तरं तु वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः।
प्रवृत्तिः सर्वशास्त्राणां तन्मुखादभवत् ततः॥
(शि० पु०, वा० सं० पूर्वभागे, १.२७-३२)

उक्तोद्धरणेन स्पष्टं प्रतीयते यद् विभिन्नविषयप्रतिपादकानामष्टादशानां विद्यानां मूलप्रणेता भगवान् शिवः। 'वेद्यतेऽनया इति विद्या' ज्ञानार्थकविद्धातोः [१]क्यपि टापि च कृते निष्पन्नो विद्याशब्दः उमायाम्, शिवायाम्, दुर्गायाम्, मन्त्ररूपायाम्, देवताज्ञाने उपासनायाम्, विज्ञाने, श्रेयोविषयायाम्, ब्रह्मविद्यायाम्, अनावृत्त-संवित्तादात्म्यापन्नायां ब्रह्माकारान्तःकरणवृत्तौ आत्मसाक्षात्कारे, वेदार्थपरिज्ञाने, शास्त्रे, आन्वीक्षिकी-त्रयी-वार्ता-दण्डाख्यासु चतसृषु च प्रयुक्तः। यथोक्तम्—

आन्वीक्षिकीं त्रयीं वार्तां दण्डनीतिं च पार्थिवः।
तद्विद्यैस्तत्क्रियोपेतैश्चिन्तयेद्विनयान्वितः॥
आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ।
अर्थानर्थौ तु वार्त्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ॥
विद्याश्चतस्र एवैता योगक्षेमाय देहिनाम्।
विद्याविनीतो नृपतिर्न कृच्छ्रेष्ववसीदति॥ इति।

विश्वनिर्माणार्थं समस्ताष्टादशविद्या ब्रह्मणे भगवान् शिवः ददौ। ताश्चेमाः सन्ति—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादशस्मृताः॥

(विष्णुपु०)

अङ्गानि वेदस्य षट् कथितानि, तद्यथा—

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चितिः।
ज्योतिषञ्चेति विज्ञेयं षडङ्गं बुधसत्तमैः॥

चतुर्दशविद्यास्थाने धर्मशास्त्रम्

त्रयोदश-चतुर्दशविद्यास्थानेषु क्रमशो धर्मशास्त्रं पुराणं च गणितौ। तस्मादत्र धर्मशास्त्रोपरि दृष्टिनिक्षेपः क्रियते।

सनातनी भारतीया संस्कृतिर्वेदमूलिका। तस्या आधारो वेद एवास्ति। वेदस्त्वपौरुषेय एव। तस्य वेदस्य व्याख्या धर्मशास्त्रे प्राप्यते। धर्मस्य प्रतिपादकं शास्त्रं धर्मशास्त्रमिति कथ्यते। धर्म एव मानवस्याभ्युदयं कर्तुं शक्नोति। अत एव वैशेषिकधर्मसूत्रे धर्मस्य लक्षणं प्रतिपादितमस्ति—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

धर्म एव मानवं धारयति, रक्षति, पालयति च। तदेव प्रतिपादतं महर्षिणा बादरायणेन—

---

१. संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदषुञ्शीङ्भृञिणः (पा० सू० ३.३.९९) सूत्रेण भावे।

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

धर्मविषये वेद एव मानम्। यथोक्तं गौतमधर्मसूत्रे—वेदो धर्ममूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले (१.१.२)। वसिष्ठधर्मसूत्रेऽप्युक्तम्—श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्। शिष्टः पुनरकामात्मा (१.४.६)। मनुस्मृतिरपि प्रतिपादयति—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥
(मनु० २.३)

ग्रन्थकारैः स्मृतिर्धर्मशास्त्रस्य पर्यायत्वेन स्वीकृता। यथा मनुनाऽप्युक्तम्—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
(मनु० २.१०)

मन्वादिस्मृतीनां निर्माणं तु मानवधर्मस्य चरमोन्नतेर्निदर्शनमस्ति। श्रुत्या यथा संहिताब्राह्मणारण्यकोपनिषदादिग्रन्थानां बोधो भवति, तथैव स्मृत्या षड्वेदाङ्गानां धर्मशास्त्राणामितिहासपुराणानामर्थशास्त्राणां नीतिशास्त्राणाञ्चावगतिर्भवति।

धर्मशास्त्रस्य परम्परा

धर्मशास्त्रस्य परम्परा अतीव प्राचीना। दुर्गमं सरहस्यं वैदिकवाङ्मयं बोधगम्यं विधातुं तत्त्वचिन्तकैर्महर्षिभिः कल्पसूत्राणां निर्माणं कृतम्। येन वेदोक्तविधीनामवज्ञाने कण्ठस्थीकरणे च सौकर्यं समजायत। कल्पसूत्राणां प्रधानतया विभागत्रयं जायते—श्रौतसूत्राणि, गृह्यसूत्राणि, धर्मसूत्राणि च। श्रौतसूत्रेषु सामयज्ञादिधार्मिकानुष्ठानानां वर्णनमस्ति। गृह्यसूत्रेषु गार्हस्थजीवनविषयकधार्मिकानुष्ठानानां वर्णनं प्राप्यते। धर्मसूत्रेषु च पारलौकिकानां सामाजिकानां नैतिकानां क्रियाकलापानां प्रतिपादनं प्राप्यते।

मन्वादिस्मृतिषु भारतीयजीवनस्य सुदीर्घकालीनानां नियमानां क्रमबद्धरूपेण सङ्कलनमस्ति। अष्टादशपुराणानामिव स्मृतीनामपि संख्या अष्टादशैव मन्यते। एवं मन्वत्रिविष्णुहारीतादिप्रणीतं धर्मशास्त्रम्। कापिलपातञ्जलपाशुपतपाञ्चरात्रादीनामागमानामपि धर्मशास्त्र एवान्तर्भावः। प्रौढपाण्डित्य-पूर्णानां स्मृतिग्रन्थानामर्थावबोधाय टीकाग्रन्थानामपि प्रणयनमभवत्। तत्र मेधातिथिकुल्लूकभट्टप्रभृतयः प्रसिद्धा एव।

स्मृतिग्रन्थानां तदुपरि टीकोपटीकाग्रन्थानां निर्माणस्य परम्परा ससदशशताब्दीं यावत् प्रचलति। ततः परं तत्त्वचिन्तकैर्विद्वन्मनीषिभिः श्रुतिस्मृतीनां सुगमतया बोधाय सरलीकरणाय च गवेषणापूर्णनिबन्धानां प्रणयनं व्यधायि। तस्मिन् क्रमे जीमूतवाहन-लक्ष्मीधर-हलायुधप्रभृतयो विद्वांसः सन्ति श्रुतिगोचराः। धर्मशास्त्रविषयकनिबन्धग्रन्थानां निर्माणपरम्परा अक्षुण्णा प्रचलति। तद्यथा—द्वादशशताब्द्यां जीमूतवाहनेन धर्मरत्नमित्याख्यो निबन्धो व्यलेखि। तस्यामेव शताब्द्यां लक्ष्मीधरेण स्मृतिकल्पतरुः,

हलायुधेन च **ब्राह्मणसर्वस्वं** चालिख्येताम्। त्रयोदशशताब्द्यां रेवण्णभट्टेन **स्मृतिचन्द्रिका**, वरदराजेन **स्मृतिसङ्ग्रहः**, हेमाद्रिणा च **चतुर्वर्गचिन्तामणिः** अलिख्यन्ताम्। चतुर्दशशताब्द्यां विश्वेश्वरेण **मदन-पारिजातः**, चण्डेश्वरेण '**स्मृतिरत्नाकरः**', माधवेन '**कालमाधवीयः**' चेति निबन्धाः प्रणिनिन्यिरे। तस्मिन्नेव क्रमे पञ्चदशशताब्द्यां वाचस्पतिना '**चिन्तामणिः**', षोडशशताब्द्यां प्रतापरुद्रदेवेन **सरस्वती-विलासः**, रघुनन्दनेन '**अग्निपरीक्षा**', वैद्यनाथदीक्षितेन '**स्मृतिमुक्ताफलम्**' चेति निबन्धरत्नानि प्रानेषत। सप्तदशशताब्द्यां भट्टोजिदीक्षितेन **तिथिनिर्णयः**, कमलाकरभट्टेन **निर्णयसिन्धुः**, नीलकण्ठेन '**भगवन्त-भास्करः**', मित्रमिश्रेण '**वीरमित्रोदयः**' चेति धर्मशास्त्रनिबन्धग्रन्थाः निबबन्धिरे। अष्टादशशताब्द्यां नारायणात्मजेन त्र्यम्बकेणापि '**आचारेन्दुः**' '**आचारभूषणम्**' चेति ग्रन्थद्वयं विरचितम्। अस्मिन्नेव क्रमे श्रीविश्वेश्वरदत्तपण्डितेन सप्तत्यधिकोनविंशतितमे विक्रमाब्दे '**प्रदीपकलिका**' इत्यभिधासम्पन्नस्य धर्मशास्त्रनिबन्धग्रन्थस्य प्रणयनमकारि। यस्य प्रकाशनं सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य प्रकाशन-संस्थानेन चतुरधिकविंशतितमे ख्रीष्टाब्दे चक्रे।

आभिः ग्रन्थपरम्पराभिर्ज्ञायते यद्धर्मशास्त्रविषयकग्रन्थानां निर्माणपरम्परा अक्षुण्णा विस्तृता च वर्तते।

धर्मशास्त्रस्य प्रतिपाद्यविषयाः

प्रतिपाद्यविषयदृष्ट्या धर्मशास्त्रस्य चत्वारो विभागाः कर्तुं शक्यन्ते। तत्र १. आचारविषयकः, २. व्यवहारविषयकः, ३. कर्मफलविषयकः, ४. प्रायश्चित्तविषयकश्चेति। ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां चतुर्वर्गाणां ब्रह्मचर्यगार्हस्थ्यवानप्रस्थसंन्यासानां चतुराश्रमाणां सम्यग्रूपेण निर्वाहाय विधिनियमार्थं विशदं विश्लेषणं धर्मशास्त्रग्रन्थेषु प्रतिपादितमस्ति। सामाजिकव्यवस्थाविधीनां राजधर्माणां शासनसम्बन्धित-निर्देशानां विचारः यया सूक्ष्मदृष्ट्यात्राभवत्, तत्तु आश्चर्यकरमेव। मनुस्मृतिः, याज्ञवल्क्यस्मृतिश्चेति द्वौ ग्रन्थौ एतादृशौ स्तः, ययोः महत्त्वं सम्पूर्णे भारते समानरूपेणास्ति। संसारस्य संविधानानां तुलनायां भारतीयसंविधानस्य बृहद्रूपेण निर्माणस्याधारभूतावपि इमौ स्मृतिग्रन्थावेव स्तः।

धर्माचरणे प्रमाणम्

धर्मस्याचरणे प्रमाणं किमिति जिज्ञासायां महर्षिः याज्ञवल्क्यो धर्मस्य मूलमाह। यथा—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक्सङ्कल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्।

एतेषां विरोधे पूर्वपूर्वबलीयस्त्वमिति। यथोक्तं सङ्ग्रहे—

श्रुतिस्मृतिपुराणेषु विरुद्धेषु परस्परम्।
पूर्वं पूर्वं बलीयः स्यादिति न्यायविदो विदुः॥

स्मृत्याचारयोर्विरोधे स्मृतिरेव बलवती। यथा श्रुतिस्मृत्योर्विरोधे श्रुतिः। इदानीन्तनाचारेण स्मृतिः, स्मृत्या च श्रुतिः कल्पनीयेत्याचारस्य ह्यन्तरितप्रमाणेन प्रत्यक्षानुमानयोर्विरोधेऽनुमानस्यैव बहिरङ्गत्वेन दुर्बलत्वात्। अनेन प्रकारेण सविस्तरं धर्मप्रामाण्यं निर्धारितं धर्मशास्त्रग्रन्थेषु। धर्ममूलस्य सदाचारस्य प्रशंसायां पराशरस्य वचनमवलोकयन्तु सुधियः—

आचारमूलं श्रुतिशास्त्रतत्त्वमाचारशाखास्तु तदुक्तकृत्यम्।
आचारपर्णानि च यज्ञयोगा आचारपुष्पाणि यशोधनानि॥
आचारवृक्षस्य फलं हि नाकस्तस्मात्सुखस्वादुरसश्च मुक्तिः।
तस्मादनन्तं फलदं तु तत्त्वमाचारमेवाथ श्रयेत्प्रयत्नात्॥

सतामाचारः सदाचारः कथ्यते। तत्र के सन्त इति जिज्ञासायां हारीतस्य वचनं समुपस्थाप्यते—

साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः।
तेषामाचरणं यत्तु स सदाचार उच्यते॥

तत्र शिष्टाः सन्तः कथ्यन्ते। तेषां स्वरूपमाह बौधायनः—शिष्टाः खलु गतमत्सराः निरहङ्काराः, कुम्भीधान्याः अलोलुपाः दम्भदर्पलोभमोहक्रोधवर्जिता इति। तत्र कुम्भी घटी (गगरीति भाषायां) मात्रं धान्यं येषां ते कुम्भीधान्याः। सप्ताहपर्यन्तभोजनार्थं धान्यवन्त इत्यर्थः। तदेतत्सकलमभिप्रेत्योक्तं मनुना—

यस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
श्रुतिस्मृत्यविरोधेन सदाचारः स उच्यते॥

स्कान्देऽपि—

रागद्वेषविनिर्मुक्तैर्विद्वद्भिर्यदनुष्ठितः।
सदाचारः स विज्ञेयः धर्ममूलो मनीषिभिः॥

एवं श्रुतिः स्मृतिः पुराणं सदाचारश्च धर्मे प्रमाणानि सन्ति। तस्मादेते सर्वे धर्मस्य प्रतिपादकानि शास्त्राणि, धर्मे विचिकित्सायां प्रमाणानि स्वीकृतानि। यथा—केषाञ्चिद् विदेशगतानां कस्याश्चित्सूचनाभावाद् द्वादशवर्षपर्यन्तं प्राप्त्याशा, तदूर्ध्वं किं करणीयमिति जिज्ञासायां बृहस्पतिराह—

यस्य न श्रूयते वार्ता यावद् द्वादशवत्सरम्।
कुशपुत्रकदाहेन तस्या स्यादवधारणा॥

पुनश्च मृतं मत्वा कृतोर्ध्वदैहिकस्य जीवन्नागमने किं करणीयमिति जिज्ञासायां हेमाद्रौ वृद्धमनुराह—

अमृतं मृतमाकर्ण्य कृतं यस्योर्ध्वदेहिकम्। प्रायश्चित्तमसौ स्मार्त्तं कृत्वाग्नीनादधीत च॥
जीवन् यदि समागच्छेत् घृतकुम्भे निमज्य तम्। उद्धृत्य स्नापयित्वास्य जातकर्मादि कारयेत्।
द्वादशाहं व्रतचर्या त्रिरात्रमथवास्य तु। स्नात्वोद्वहेत तां भार्यामन्यां वा तदभावतः॥
(प्र० क०, पृ० १५१)

एकादशीव्रतकरणाकरणे धर्मशास्त्रस्य निर्णयमवलोकयन्तु धीधनाः—

अष्टवर्षाधिको मर्त्यो ह्यपूर्णाशीतिवत्सरः। एकादशीमुपवसेत पक्षयोरुभयोरपि॥

इति कात्यायनवचनात् सर्वेषां गृहस्थानामेकादशीव्रताचरणं धर्मः। तत्र चैकादशीव्रतं सूतकादिष्वपि न त्याज्यम्, तदुक्तं वायुपुराणे—

एकादश्यां न भोक्तव्यं पक्षयोरुभयोरपि। सूतके मृतके चैव अन्यत्किमप्यशौचके॥

एवं दुर्दिनयोगेनापि कर्तव्यतोक्ता विष्णुधर्मोत्तरे—

भृगुभानुदिनोपेता सूर्यसङ्क्रान्तिसंयुता। एकादशी सदोपोष्या पुत्रपौत्रप्रवर्द्धिनी॥

तथा च भृगुभानुवासरे सङ्क्रान्तौ तु पुत्रवतां तत्र ये व्रतनिषेधं कुर्वन्ति ते भ्रान्ता राक्षसा बोध्या इति महेशठक्कुरा आहुः। एवमपरिहार्यकरणीये एकादशीदिने यदि भार्या ऋतुमती भवेत्, पितृश्राद्धं च तत्रैव, तत्र त्रयाणामपरिहार्यत्वात् किं करणीयमिति विचिकित्सायामाह स्मृतिः—

एकादशीदिने यत्र भार्या ऋतुमती भवेत्। पितृश्राद्धं च तत्रैव उपायस्तत्र कथ्यते॥
एकादशीव्रतं कुर्यात् पिण्डाघ्राणं च श्राद्धकृत्। अर्द्धरात्रे व्यतीते तु ऋतुं दद्यान्न दोषभाक्॥

(कृत्यसारसमुच्चये, पृ० ४०)

एवं मानवजीवने धर्माधर्मनिर्णये पुराणानां धर्मशास्त्राणां परमोपयोगित्वमपरिहार्याङ्गत्वं स्वीकृतम्। अत एव धर्मशास्त्रे प्रत्यहं प्रातःकाले पुराणश्रवणं सर्वपापविमुक्तये करणीयमिति समुपदिष्टम्। यथाह चिन्तामणौ—

सर्वपापविनिर्मुक्तिकरणे यस्य मानसम्। वर्तते विधिवत्तेन पुराणं श्रूयते ध्रुवम्॥
प्रातःकाले समुत्थाय दन्तधावनपूर्वकम्। कृताह्निकं समाहूय वक्तारं शीलकोविदम्॥
सम्भाव्याऽऽसनदानेन नमस्कुर्यात्समञ्जसा॥

अनेन प्रातर्होमोत्तरं पुराणं श्रोतव्यमिति लभ्यते। दक्षस्तु कालान्तरमाह—

इतिहासपुराणाद्यैः षष्ठसप्तमकौ नयेत्। इति।

सर्वपुराणेषु श्रीमद्भागवतमवश्यं नित्यं श्रोतव्यम्। तदुक्तं पद्मपुराणेऽम्बरीषं प्रति गौतमेन—

अम्बरीष शुकप्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु। पठस्व स्वमुखेनापि यदीच्छसि भवक्षयम्॥ इति।

तस्मात्पुराणं धर्मशास्त्रञ्च मानवजीवनस्याभिन्नाङ्गं सदा सेव्यञ्च।

✿

रामानन्दवेदान्तदृष्ट्या उपास्यस्य स्वरूपम्

डॉ० शम्भुनाथशुक्लः
वेदान्तविभागः, सं० सं० वि० वि०, वाराणसी

अस्मिन् सिद्धान्ते ब्रह्म साकेताधिपतिः कल्याणगुणोदधिर्भगवाञ्छ्रीरामः। स एव जगन्नियामकः। उक्तञ्च गीतानन्दभाष्ये श्रीरामानन्दाचार्येण—'अथ दिव्यज्ञानानन्दैकरूपो निरस्तसमस्ताविद्यादोषगन्ध-स्वाभाविकापरिमितनित्यज्ञानबलैश्वर्यवीर्यतेजश्शक्त्याद्यखिलकल्याणगुणगणचणोऽप्रमेयाचिन्त्याद्भुत-पराक्रमोत्साहसमन्वितातिशयसौकुमार्यौदार्यधैर्यमाधुर्यलावण्यकारुण्यसौशील्यसौजन्यवात्सल्याद्य-सङ्ख्येयासाधारणगुणगणजलधिर्दृष्टचित्तापहारिशरव्यसत्यसन्धशरणागतवत्सलत्वादिधर्मविशिष्टः प्रचण्ड-मार्त्तण्डकोटिकान्तिकमनीयकलेवरो ब्रह्मादिस्थावरान्ताखिलजगदुदयविभवलयलीलो हिरण्यगर्भेन्द्राद्य-खिलदिविषद्वन्द्यपदारविन्दद्वन्द्वः प्रणतकल्पपादपोऽखिललोकलावण्यधामावनितनयार्चिताङ्घ्रिहनु-मत्सुषेणकुमुदाङ्गदादिनित्यसूरिपरिसेवितदिव्यमूर्त्तिरुभयविभूतिनायकःअपराजिताऽपरवैकुण्ठपदप्रधानार्थ-श्रीसाकेतनिकेतः परमपुरुषनारायणविष्णुवासुदेवादिपदवाच्यः पुरुषोत्तमः श्रीरामः। वशिष्ठसंहितायां—''यो वै परतमः श्रीमान् रामो दाशरथिः स्वराट्'।

भगवद्गुणे अनन्तत्वं च—'नित्यत्वे सति जड़चेतनव्यापकत्वे सति सर्वान्तर्यामित्वम्' त्रिविधपरिच्छेदशून्यत्वमनन्तत्वं वा।'यः सर्वज्ञः सर्ववित्''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्''आनन्दमयोऽभ्यासात्' इत्यादयः परमेश्वरस्य गुणाः नित्यतया सर्वदैवावस्थिता न केनापि कालेन परिच्छिद्यन्ते। अतः अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वेन कालपरिच्छिन्नेन कालापरिच्छिन्नः। अत्यन्ता-भावाप्रतियोगित्वमेव कालपरिच्छेदरहितत्वमिति कालापरिच्छिन्नत्वम्। तच्च नित्यानामेव भवतीति नित्यत्वादेव कालपरिच्छेदरहितः।'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्''यस्यात्मा शरीरं''यस्य पृथिवी शरीरं' इत्यादि वेदान्तानुमोदितसर्वान्तर्यामितया ब्रह्मणः सर्वप्रकारितया परमेश्वरस्य च प्रकार्यन्तराभावात्। ब्रह्म यदि क्वचिद् घटादिवत्तिष्ठेत् तदा यस्मिन् स्थास्यति स तस्य प्रकारी स्यात्। यथा भूतले विद्यमानस्य घटस्य प्रकारि भूतलम् प्रकारश्च घटो भवति। ब्रह्मणः व्यापकत्वेन व्यापकस्य चाधाराभावेन तथा स्वस्मिन् स्वस्य प्रकारत्वाभावेन सर्वदा परमेश्वरः प्रकारी एव भवति, न तु प्रकारः घटादिवत्। एवञ्च कालपरिच्छेद-देशपरिच्छेदवस्तुपरिच्छेदरहितत्वं रूपं नित्यत्वं ब्रह्मणः सिद्ध्यति।

✿

वेदेषु देवतातत्त्वविमर्शः

डॉ० महेन्द्रपाण्डेयः,
प्राध्यापकः-वेदविभागे,
सं० सं० वि० वि०, वाराणसी

वेदः विश्वस्य सर्वविधविज्ञानकोशः। वेदेषु देवानां वर्णनं अनेकधा संदृश्यते। देवताशब्दस्य प्रयोगः स्त्रीलिंगे समुपलभ्यते। दिव् धातुः क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुति मोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु दृश्यते। यांस्काचार्यानुसारेण तु देवो दानाद् दीपनाद् द्योतनात् इति[१] (नि० ७/४)। देवताशब्देन सह शक्तिविशेषस्यावबोधो जायते। एतस्मादेव देवताशब्दस्य स्त्रीलिङ्गे प्रयोगः। यास्काचार्येण तु ''यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति[२]'' (नि० ७/१) एतेन लक्षणेन सर्वमन्त्रेषु देवतोपलक्ष्या स्तुतिश्चतुर्विधा भवति। यथा-स्तुतिः—नाम-रूप-कर्म-बन्धुभिरिति। पुराकालादेव वैदिकऋषयः देवराधनज्ञापनेन यज्ञमाध्यमेन च विश्वशान्तिं परिपालयन्ति। सर्वेऽपि ऋषयः वैदिकदेवानां कल्याणोन्मुखमुत्कृष्टमादर्शरूपं ध्यात्वा धर्माचरणे प्रवृत्ताः। देवतातत्त्वमाध्यमेनैव ऋषीणां लक्ष्यमस्ति यत् सर्वेऽपि मनुष्याः आत्मनः उत्तरोत्तरं विकाशं कुर्युः। वैदिककर्मकाण्डसम्बद्धः तु वेदेषु यजुर्वेदः उदात्तभावनया ओतप्रोतः अस्ति। यथा—''विश्वानि देवसवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव'' (यजु० ३०/३)।[३]

देवतातत्त्वद्वारा हि धर्मस्य, दर्शनस्य, समाजस्य सर्वविधक्षेत्राणाञ्च ज्ञानं निहितमस्ति। देवताज्ञानमाध्यमेनैव अभ्युदयार्थिनः पुरुषाः प्रेयोधर्मे तिष्ठन्ति। मोक्षार्थिनः पुरुषाः च श्रेयोधर्मे प्रतितिष्ठन्ति। यथा—''श्रेयश्च प्रेयश्च मनुस्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः''[४] (कठो० १/२)। वैदिकदेवता-धर्मोदेशेन मनुनाऽपि उक्तम्—''वेदोऽखिलो धर्ममूलम्''[५] (मनु० २/६)। तत्र धर्म एव ज्ञानस्य साधनमस्ति। देवतातत्त्वविज्ञानविषये महर्षिपतञ्जलिनाऽपि उक्तम्—''ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च[६]'' [महाभाष्य पस्पशाह्निक)] वेदतत्वज्ञ एव पुरुषः ब्रह्मज्ञातुमर्हति। यथा—

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते[७]॥ (मनु० १२/१०२)

अस्मदीयपूर्वजाः धर्मोद्गतदेवसाहाय्येनैव अध्यात्मदर्शनस्य रहस्यं जानन्ति। अतएव बृहदारण्य-

१. निरु० ७/४.
२. निरु० ७/१.
३. वा० यजु० ३०/३.
४. कठो० १/२.
५. मनु० २/६.
६. पस्पशाह्निक (महाभाष्ये पतञ्जलि)।
७. मनु० १२/१०२.

कोऽप्याह—"स वायमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमयः आपोमया वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयः।"

सर्वेऽपि धर्मदर्शनप्रवर्त्तकाः देवयाननिरूपणमालोक्य एव पुण्यकर्मभ्यः ब्रह्मलोकं प्राप्नुवन्ति। धर्मनिरता एव सत्याचरणं ब्रह्मचर्यस्य रक्षणं, इन्द्रियाणां निग्रहणं, हिंसायाः परित्यजनं मातृदेव-पितृदेवातिथि-गुरुजनानामभ्यर्चनं, निन्दनीय-कर्मपरिवर्तनं, सांसारिकेषु विषयेषु विरजनं, अन्तःकरणस्य परिक्षालनं—एतानि कर्माणि कुर्वन्ति। सर्वे देवाः शब्दब्रह्मरूपेण वेदमन्त्रेषु स्थिताः सन्ति। अतः वेदाः परमात्मनो रूप एव। सर्वेऽपि देवाः श्रौतकर्मकाण्डसाहाय्येन आराध्यन्ते। अतः तत्र चतुर्णामपि वेदानां सर्वासाञ्च शाखानां कर्मकाण्ड-ज्ञानकाण्ड-उपासनाकाण्डभेदात् चत्वारोऽपि विषयाः वेदमन्त्रेषु उपनिबद्धाः सन्ति। तत्र कर्मकांण्डं गृहस्थानामुपयोगि, ज्ञानकाण्डं वानप्रस्थानामाश्रितानां तथा च उपासनाकाण्डं सन्यस्तानामुपयोगी कथयितुं शक्यते। तत्र देवयज्ञस्वरूपप्रतिपादको ब्राह्मणभागः, अरण्ये पठिताः देवयज्ञस्यात्मिकं रूपं अरण्यकानि। उपनिषदो ब्रह्मबोधिकाः मोक्षसाधनानि इति। वेदज्ञब्राह्मणः शक्त्यैव देवतासु शक्तिं सञ्चरति। तस्यैव शक्तिभूतत्वेन जगतः पदार्थाः शक्तिमन्तः जायन्ते।

देवानां संख्या—सम्पूर्णं जगदिदं त्रिषु विभागेषु विभक्तमासीत्। यथा—पृथ्वी, अन्तरिक्षः, आकाशश्चेति। त्रिष्वपि लोकेषु देवतानां निवासः अस्ति। अतः त्रिष्वपि स्थानेषु देवानां संख्याविषये पर्याप्तं मतभेदमस्ति। ऋग्वेदे (३/६/९) देवानां संख्या त्रयस्त्रिंशन्निर्दिष्टा[८]। एवमेव अथर्ववेदेऽपि[९] (१०/९/१२)। यथा पृथिव्यामेकादशानां, स्वर्गे एकादशानां, आकाशे च एकादशानामिति। यथा शतपथब्राह्मणे[१०] - एकादशरुद्राः, अष्टौ वसवः, द्वादशादित्याः, इन्द्रः प्रजापतिर्वा। ऐतरेयब्राह्मणे तु षट्षष्टिदेवाः सन्ति। यथा त्रयस्त्रिंशत् सोमपाः त्रयस्त्रिशदसोमपा देवा इति। वाजसनेयिशाखायाः शतपथब्राह्मणे[११] देवानां संख्या तु ३३३९ वर्तते। आधुनिके साहित्ये तु देवानां संख्या कोटिमधिगता। परन्तु मनसि भ्रान्तिर्न तथा स्यात् एवं निर्दिशति ऋग्वेदः[१२]। ऋग्वेदानुसारेण सन्देहस्य निराकर्तुं महत्त्वपूर्णसूक्ते कथितमस्ति जगतो मूले एकैव शक्तिर्विद्यमानाऽस्ति। तामेवैकां देवतां असंख्यरूपेण पुरुषाः स्तुवन्ति[१३]। तथा च निरुक्ते[१४]—

महाभाग्याद् देवताया एक एव बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति॥

यास्कमतानुसारेण तु अध्ययनसौविध्याय स्थानभेदात् साहचर्यभेदात् कर्मभेदात् देवानां संख्या तु तिस्त्र

८. ऋ० १/१३९/११.
९. अथर्ववेदे ३/६/९.
१०. शतपथब्राह्मणे - ११/६/३/५.
११. शतपथब्राह्मणे ११/६/३/४.
१२. ऋ० १/१६४/४६.
१३. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति— ऋ० १/१६४/४६.
१४. सुपर्णं विप्रा कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति— ऋ० १०/११४/५.

एवोल्लेखितम्। यथा—"तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः।" "अग्निः पृथिवीस्थानीयः। वायुर्वा इन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः"[१५]। बृहद्देवतायामपि तथैव[१६]। एवं स्थानक्रमेण ऋग्वेदेऽपि—

ये देवासो एकादशस्थ पृथिव्यामेकादशस्थ।
अप्सु क्षितौ महिनेकादशस्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥

देवानां स्वरूपविषये तु अनेकविधाः उल्लिखिता सन्ति। एके चेतनावदिति, अचेतनावदिति, तथा च उभयविधत्वमपि स्वीकुर्वन्ति। कश्चिद् द्विधा देवान् विभजति, यथा कर्मदेवा अजानदेवाश्च। कर्मणोत्कृष्टेन देवत्वं प्राप्ता कर्मदेवा इति, सृष्ट्या दुत्पन्ना अजानदेवा इति। सूर्यादय अजानदेवा इति। यज्ञानि साध्यसाधनवन्तः कर्मदेवा इति।[१८] असुरोऽपि देवानां अपरसंज्ञा अवबोध्यते। यथा—"तद् देवाय सवितुः असुरस्य प्रचेतसः[१९]"। एतावता देवताविषये देवाः एकधा अनेकधा वा जगति व्यवहृताः आसन्, यथा—"एक एव रुद्रः" असंख्याता रुद्राः वा व्यवहृतः मन्त्रेषु। अतः स्थान-साहचर्य-कर्मभेदादेव निबन्धेऽस्मिन् संक्षेपेणैव विवेचनमस्ति।

पृथिवीस्थानीयोदेवः—अग्निः, सोमः इति।

अग्निः—ऋग्वेदेषु अग्नेः स्तुतिः अनुमानतया द्विशतसूक्तेषु मिलति। सर्वेषां देवानां पुरोहितः पूतः, ऋत्विजः, धातारः[१९] इति अग्निनाम्ना बोध्यते। महर्षियास्कानुसारेण अग्नेः निर्वचनमित्थमस्ति—"अग्निः अग्रणी भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति सन्नममानः[२०]।" अग्नेरपरनाम घृतपृष्ठः, धूमकेतु, धृतमुखः, धृतकेशः, धृतलोह आदि। बृहस्पतिः—अयं ऋग्वेदस्य एकादशसूक्तेषु उल्लेखितः। अस्यापरनाम ब्रह्मणस्पतिः इति ज्ञायते।

सोमः—सोमस्य विवेचनं तु ऋग्वेदस्य विंशत्यधिकशतसूक्तेषु पठितमस्ति। सोमः स्वर्गस्य पुत्र इति बोध्यते, अतः देवेषु प्रसिद्धः देव इति। अयं ब्राह्मणानां राजा एवं वनस्पतीनां औषधिः अमृतस्य नाभिरिति।[२१] सोमस्य चन्द्रमसा सह अन्योन्यः सहसम्बन्धः। अयं देवः आधिपत्येन हिमालये सोमलातासु रसरूपेण निष्ठः।

अन्तरिक्षस्थानीयो देवः—इन्द्रः, रुद्रः, मरुत्, पर्जन्यः इत्यादयः।

इन्द्रः—अन्तरिक्षस्थानेषु इन्द्रः प्रमुखः एवं सर्वेषां देवानां राजा इति। ऋग्वेदे पञ्चाशत्दधिक-द्विशतसूक्तेषु अनेकरूपेण अस्य विवेचनमस्ति। इन्द्र एव वृत्रहन्ता आसीत्। यतोहि स्वपराक्रमेण लोकावृन्तं

---

१५. निरु० ७/१.

१६. वृह० १/६९-७३.

१७. ऋ० १/१६४/५०.

१८. ऋ० ४/५३-१.

१९. अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्। (ऋ० १.१.१)।

२०. नि० ७/४.

२१. निरु० १०/४.

वीरवत्रं शत्रुवृत्रं सैव जघान नाऽन्यः देवः। अस्य पिता द्यौः स्त्री इन्द्राणी इति। यास्कानुसारेण ''इन्द्र इरां दृणातीति वा इरां ददातीति वा, इरा दधातीति वा, इरा दारयते इति वा, इरा धारयत इति वा, इन्दवे द्रवतीति वा, इन्धो रमत इति वा इन्धे भूतानीति वा''[२२]

द्युस्थानीयो देवः—द्यौस्, वरुणः, सूर्यः, सवितृ, विष्णुः, इन्द्रादयः देवाः सन्ति।

सविता—सविता देवेषु श्रेष्ठः। विश्वस्य महत्प्रेरकत्वेन सूर्याय प्रयुक्तो भवति। सवितारं सर्वस्य प्रसवितारमिति महर्षियास्कः कथयति। स हि सर्वस्य कर्मणः प्रसविता अभ्यनुज्ञाता भवति। यथा मन्त्रे आयाति—

> **आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च।**
> **हिरण्येन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन्॥**[२३]

अर्थात् सविता देवः अस्मिन् विश्वे हरिण्मयेन रथेन आगच्छति। रात्रिलक्षणेन सह आवर्तमानः सर्वलोकान् पश्यन् प्रकाशयतीति।

एतावता देवतातत्वविमर्श इति शीर्षकं पुरस्कृत्य केश्चिद्देवानामेव विचारः मया प्रस्तुतः। कथितमपि ''एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्तीति शम्।

✿

---

२२. शुक्लयजुर्वेदे - १२/९८.

२३. ऋ० १/३५/२.

करपात्रस्वामिवर्याणां रामराज्यसिद्धान्तविषयका विचाराः

डॉ० शिवरामशर्मा

द्विजराजोत्तंसलसितः नागराजविभूषितः।
राजराजप्रियः शम्भुः राजतां मम मानसे॥ १॥
वेदवेदाङ्गव्याख्यातः सर्वकल्याणतत्परः।
जयत्यनुत्तमो लोके धर्मः सत्यसनातनः॥ २॥
कलाववनतं धर्ममुन्नेतुमवतारिणे।
सदाशिवस्वरूपाय करपात्रस्वामिने नमः॥ ३॥

संसारचक्रमिदमनादिकालात् प्रवर्तते। गुणत्रयात्मिकया भगवन्मायया नियन्त्रितेऽस्मिन् परिवर्तिनि संसारे कदाचित् सुखसमृद्धिसौराज्यं समुल्लसति कदाचिच्च दुःखदुर्गतिदुराचार-साम्राज्यमवचीयते। कृतयुगे सर्वत्र धर्माचरणैकप्रवणमानवबाहुल्यात् सर्वत्रानन्दोल्लसिताः प्रजाः परमकल्याणमातन्वते। त्रेतायुगे त्रिचरणात्मके धर्मेऽवशिष्यति एकपादात्मकेऽधर्मेचावतरति किञ्चिद् दुःखदैन्यचिन्तादीनामङ्कुरणं जनमानसे जायते। एवमेव क्रमशः द्वापरे कलियुगे च धर्महानिरधर्मोपचयश्च भवतीति शास्त्रपुराणे-तिहासादिभिरस्माभिरवज्ञायते। जगति धर्मे ध्वंसमाप्नुवति सत्यत्यागतपोदानाहिंसादयादाक्षिण्य-सौहार्द्रादिधर्माधारभूतेषु भावेष्ववलुप्तेषु तथा अधर्मे समृद्धिमाप्नुवति स्वार्थलोभमदमात्सर्यचौर्य-हिंसानाचाराद्यधर्मसचिवेषु जाग्रत्सु, परमकारुणिको जगन्नियामको भगवान् यथाकालं स्वयमवतीर्या-धार्मिकविनाशपुरःसरं धार्मिकान् रक्षति धर्मञ्च संस्थापयतीति स्वयमेवासौ वेदार्थसारभूतायां स्वमुखा-देव गीतायां गीतायां प्रतिपादयामास—"यदा यदा हि धर्मस्येत्यादिभिरुक्तिभिः।"

धर्मरक्षायै भगवान् कदाचित् स्वयववतरति कदाचिच्च निजांशभूतान् महामानवानवतारयतीति पुराणेषु प्रसिद्धमेवास्ति। परमपवित्रे प्रतिष्ठितवेदवेदाङ्गेऽस्माकं भारतवर्षे तु भगवत्प्रतिनिधिभूता धर्मध्वजवाहकाः केचन महापुरुषाः सदैव तिष्ठन्ति, वेदशास्त्राणि रक्षन्ति, सदुपदेशैश्च सदाचारं शिक्षयन्तो जाग्रति। विगतशताब्द्यां धृतावतारा धर्मसंरक्षणैकव्रतिनः करपात्रमहास्वामिनोऽप्येवंभूता भगवदंशभूताः महापुरुषा आसन्। जन्मत एव विलक्षणगुणगणगरिष्ठैरेभिर्यतिवर्यैः न केवलानि वेदवेदाङ्गादि समग्रशास्त्राण्यधीतानि अपितु तदुपदेशैः तदनुकूलाचरणैः प्रचारणैश्चानवरतं हीयमानस्य सत्यसनातन-धर्मस्य पुनः प्रतिष्ठापि कृता।

अनारतं तैरनुष्ठानाध्ययनाध्यापनैकनिरतस्वान्तैः करपात्रस्वामिपादैः न केवलं शास्त्रसंरक्षणे धर्मप्रतिष्ठापने च प्रयत्नोऽकारि अपितु सनातनधर्मविद्वेषिणां विधर्मिणां क्षुद्राण्यापातरमणीयानि मतानि विखण्ड्य धर्मस्य भारतीयसंस्कृतेश्च पुनरुद्धारः कृतः पतनोन्मुखा भारतीयाः स्वधर्मे दृढश्रद्धावन्तोऽपि विहिताः। किञ्च स्वातन्त्र्यानन्तरं भारते धर्मनिरपेक्षां शासनप्रणालीं प्रतिष्ठितामवज्ञाय गृहीतपतिव्रतेनाप्यनेन महापुरुषेण स्वाश्रममनुरुद्ध्य न तु मौनमवलम्बितं नैवोदासीनताङ्गीकृता, अपितु यथाशक्ति यथासाधनञ्च

प्रजातन्त्रात्मकशासनपद्धतावलम्ब्यमानानां धर्मसंस्कृतिविरुद्धानां विधानानां विरोधोऽकारि। स्वामिवर्यैः सर्वेषामाधुनिकराजनैतिकसिद्धान्तानां समाजशास्त्रीयविधानानां पाश्चात्यदर्शनानाञ्च गभीरमध्ययनं विधाय तेषां सोदाहरणं सतर्कञ्च खण्डनं कृतम्। करपात्रस्वामिभिरवधारितं यत् सर्वेऽप्येते राजनैतिकाः सामाजिकाश्च सिद्धान्ततः तात्कालिकसमस्यासमाधाने तु समर्थाः सन्ति किन्तु कालान्तरे इतोऽप्य-धिकगहनसमस्योत्पादनबीजत्वमुपयास्यन्ति अतस्तैः ''मार्क्सवाद और रामराज्य'' इत्याख्ये हिन्दीभाषायां विरचिते ग्रन्थे पाश्चात्यदार्शनिकराजनैतिकसामाजिकसिद्धान्तानां विस्तरेण समीक्षणं विधाय तेषामनुपयोगितानेकदूषणवत्ता मानवाहितकारिता च संसाधिता। ग्रन्थेऽस्मिन् न केवलं मार्क्सवादस्यापि त्वन्येषामप्याधुनिकानां वादानां विस्तरेण विदारणं विधाय यतिवर्यैः वैदिकधर्मानुशासितभारतीय राजनैतिक सामाजिक-व्यवस्थैव सार्वकालिकमानवहितसम्पादिनीत्यपि सिद्धान्तितम्। स्वामिपादैः स्वजीवनेऽनेकेषां वेदशास्त्रव्याख्यानविलसितानां ग्रन्थानां प्रणयनमकारि किन्तु वार्तमानकालिकीं विश्वराजनीतिं सामाजिकव्यवस्थाञ्चाकलय्य प्रणीतोऽयं ग्रन्थः तेषां विलक्षणप्रतिभानवत्तां विश्वतोमुखं पाण्डित्यं धर्मरक्षणप्रसारणप्रवणामसत्पक्षखण्डने बद्धपरिकरताञ्च विज्ञापयति। परिष्कृतहिन्दीभाषायां सन्दृब्धेऽस्मिन् दीर्घकाये ग्रन्थे यतिवर्यैः प्रतिपादिता विचाराः पाश्चात्यविचारखण्डनानि च सामान्यजनमति-गोचरतामाप्नुयुरिति धिया निबन्धेऽस्मिन् स्वामिपादप्रतिपादितविचारसार उपस्थाप्यते। सम्पूर्णस्य ग्रन्थस्यालोडनं विधाय स्वामिपादानां मतान्यत्रातिसंक्षिप्ततयोपस्थापितानि, अतः कुत्रापि प्रकरणसन्दर्भादि-निर्देशो न कृतः।

पाश्चात्यदर्शनविषये करपात्रस्वामिनां विचाराः

पाश्चात्यराजनैतिकाः सामाजिकाश्च सिद्धान्तास्तत्रत्येन दर्शनेन प्रभाविता विद्यन्त अतस्तत्रत्य-राजनीतेः समीक्षणात् पूर्वं दर्शनस्य समीक्षणमावश्यकमिति धिया स्वामिपादैः स्वग्रन्थे विस्तरेण पाश्चात्यदर्शनस्य समीक्षा कृता। तदनुसारं पाश्चात्यदेशेषु दर्शनं फिलासफीपदेनाभिधीयते। यूनानीभाषाया ज्ञानप्रेमार्थकेन 'फिलाफस' शब्देनाङ्गलभाषायाः फिलासफी शब्दो व्युत्पाद्यते। यद्यप्यस्य शब्दस्यार्थो भवति सविस्तरा मीमांसा विवेचना वा किन्तु विषय-विशेषस्य संक्षिप्तविचारदर्शनायापि शब्दोऽयं प्रयुज्यते। अधुना तु दर्शनस्य प्रत्येकशाखाकृते विशिष्टविचारसरणिकृते च फिलासफीशब्दस्य व्यवहारो भवति। अनेके कम्युनिष्टाख्याः साम्यवादिनस्तु जीवनदृष्टिकोणमेव फिलासफीत्वेन दर्शनत्वेन वाभ्युपगच्छन्ति। तन्मते दर्शनं युगधारायास्तस्यां जातानां विशिष्टविचाराणाञ्च परिचायकं भवति। युगसंघर्षाद् दर्शनमुत्पद्यते। भवति च तस्य सम्बन्धस्तत्प्रवर्तकस्य जीवनघटनाभिः सह। यथा 'प्लेटो' राजकुले शिक्षक आसीदतस्तस्य दर्शने राजकुलस्यासाधारणः प्रभावोऽवलोक्यते। 'हेराक्लिटिस्' दलितवर्गे समुत्पन्नोऽतस्तद्दर्शने परिवर्तनप्रवर्तकविचाराणां बाहुल्यं विलोक्यते। ''कार्लमार्क्स'' असाधारण-विप्लवकाले जनिं लेभे फलतः तस्य जीवनं दर्शनञ्च क्रान्तिप्रवर्तकं बभूव। इत्थं प्रायः सर्वाण्येव पाश्चात्यदर्शनानि कालेन घटनाभिः व्यक्तिविशेषेण वा प्रभावितानि सन्त्यत एषांदर्शनत्वमशत एवोचितं न तु सर्वतो भावेन।

वस्तुतस्त्वेतेषां पाश्चात्यविचाराणां दर्शनमित्यभिधानमेव भवितुं नार्हति यतोह्येतेषु भावनानां

प्राधान्यमस्ति शाश्वतचिन्तनस्य तु न। न खलु परिस्थितिप्रभाविता एता भावनाः सर्वतोभावेन दर्शनस्य यथार्थं स्वरूपं व्याप्नुवन्ति। यथा पित्तरोगोपहतेन्द्रियो न शक्नोति शर्करामाधुर्यमनुभवितुं, तथैवासौ शशिशुभ्रं शङ्खमपि पीतमेव पश्यति। एवमेव सर्वविषाक्रान्तो नरो निम्बे तिक्ततां नानुभवति, धारित-नीलोपनेत्रः सर्वं नीलमेव पश्यति तथैव परिस्थितिविशेषजन्यभावनाप्राबल्येनोद्भूता विचारास्तात्कालिकीं परिस्थितिसापेक्षां विचारसरणिमेवोद्धारयन्ति न तु दर्शनत्वाधानानुकूलतामर्हन्ति। यथा हि लवण-पर्वतवासिनी पिपलीलिका न यावल्लवणकणान् मुखान्निःसारयति न तावद् गुडमाधुर्यमवज्ञातुमीशा भवति, तथैव तपसा, योगेन, सदाचारेणेन्द्रियनिरोधेन च काम-क्रोधलोभमोहादिविकारान्निरस्य विचारको यावत् परिस्थितेः वातावरणस्य च प्रभावाद् विमुक्तो न भवति तावत्तस्य विचारा दर्शनत्वं नोपयान्ति। अतः पाश्चात्यैः स्थापिता विभिन्ना एते वादा यथार्थदर्शनमार्गपराङ्मुखा वाग्जालभूता एव सन्ति।

करपात्रस्वामिमते भारतीयदर्शनसारः

वैदिके वाङ्मये पवित्रा विचारा, जीवजगतोः तत्कर्तुश्च यथार्थस्वरूपविवेचनमेतेषां पारस्परिकः सम्बन्धः विचारः, वस्तुतत्त्वस्य, परमसत्यस्य च निर्दोषप्रमात्मकज्ञानसम्पादका विचाराः दर्शनमिति कथ्यन्ते—"दृश्यते वस्तुयाथात्म्यमनेनेति दर्शनम्"। प्रमाणमज्ञातज्ञापकं भवति न त्वकृतकारकम्, किञ्च यथा कर्म पुरुषाधीनं भवति न तथा ज्ञानम्। पुरुषः कर्म कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं वा स्वतन्त्रो भवति, किन्तु ज्ञानविषये नैतद् वक्तुं शक्यते। प्रमाणप्रमेययोः जाते पारस्परिके सम्बन्धेऽभावेपीच्छाया दुर्गन्धादीनां ज्ञानं भवत्येव। दर्शनं प्रमाणपरतन्त्रं भवति। प्रमाणानि चानुरोधकानि विरोधकानि चेत्युभयविधानि भवन्ति। प्रत्यक्षानुमानागमप्रमुखेषु प्रमाणेषु आगमप्रमाणस्यैवान्ते निर्णायकताङ्गीकरणीया यतः क्वचित् प्रत्यक्षानुमानादीनि प्रमाणानि अयथार्थज्ञानहेतुतामप्युपयान्ति। साक्षादीश्वरप्रदत्तज्ञानस्वरूपान् वेदान् तदनुगामीनि शास्त्राणि च पुरस्कृत्य प्रवर्तितभारतीयं दर्शनमन्तत आगमप्रमाणेन प्रमाणितं भवत्यतोऽत्र भ्रमस्य पक्षपातस्यैकाङ्गिविचारस्य देशकालपरिस्थितिप्रभावितानां मतानां सम्भावना सर्वथा निरवकाशा भवति। पाश्चात्यदर्शने किमपि निरस्तभ्रमार्षं प्रमाणितं ज्ञानं मूले नास्ति, अतः तद्दर्शनं यथार्थ ज्ञान-प्रतिपादकमेवास्तीति वक्तुं न शक्यते। भारतीयं दर्शनं सम्पूर्णस्यास्य जड-चेतनात्मकस्य जगत्प्रपञ्चस्यास्य कर्त्तुः परब्रह्मणश्च यथार्थं स्वरूपं प्रतिपाद्य प्राणिनां परमकल्याणमार्गं निर्दिशतीति अस्यैव वस्तुतो दर्शनत्वमुचितं न पाश्चात्यैः कृतानां तर्कवितण्डाविजृम्भितानां विचाराणाम्।

वेदान् प्रमाणीकृत्य प्रवृत्तेष्वपि भारतीयदर्शनेषु यद्यपि क्वचित्पारस्परिकं वैमत्यमवलोक्यते किन्तु मूलसिद्धान्तेषु नास्ति क्वचिदपि विमतिः। तदनुसारं परब्रह्मपरमेश्वरः चिदानन्दघनः ज्ञानस्वरूपः, तदंशभूतो जीवात्मापि ज्ञानस्वरूप एव, आत्मनो भिन्ना मनश्चित्ताहंकारदयः प्राकृतिकाः, पञ्च ज्ञानेन्द्रि-याणि पञ्चकर्मेन्दियाणि च प्राकृतिकसूक्ष्मतत्वविनिर्मितानि। पाञ्चभौतिकात् स्थूलशरीराद् भिन्नानि पञ्चप्राणसहितानिं मनोबुद्धिचित्ताहङ्कार शसहितानि ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि सम्मिलितानि सूक्ष्मशशीरतामुप-यान्ति। नष्टेऽपि स्थूलशरीरे नैतत् सूक्ष्मशरीरं नश्यति। इदमेवाधारीकृत्यात्मनो गगनागमनादिकं भवति। एतस्माद् भिन्नमेकं सत्त्वप्रधानमविद्यात्मकं कारणशरीरमप्यङ्गीक्रियते। तद्धि तत्त्वसाक्षात्कारेणावबुद्ध्यते।

इदञ्चानादि सान्तं भवति। मूलप्रकृतिरप्यनादिः सान्ता च विद्यते। भिन्नेषु कारणेषु स्वकार्यानुकूला शक्तिः भवति। परब्रह्मण्यपि सर्वप्रपञ्चौत्पादिनी शक्तिर्विद्यते, इयमेव मूलप्रकृतिरित्युच्यते।

चेतन ईश्वरः सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी चास्ति। सः मूलप्रकृतिस्वरूपया स्वमाययेदं जगत् सृजति, रक्षति संहरति च। मूलप्रकृतिः सत्वरजस्तमोमयी विद्यतेऽत इदं जगदपि तत्प्रभावात् सुख दुःखमोहात्मकं वर्तते। जीवात्मा यथाकर्म तत्तच्छरीराणि धारयति संसरति च तत्तद्योनिषु। शरीरसद्भावे कर्मवत्ता सत्सु कर्मसु च तत्फलत्वेन शरीरान्तरोपलब्धिः। अस्माज्जन्ममरण चक्राद् विनिर्मुक्तिरेव जीवस्य परमं प्राप्तव्यम्। सर्वतत्त्वज्ञानपूर्वकेश्वरज्ञानेनेयं मुक्तिः सम्पाद्येति सर्वदर्शनसिद्धान्तसारः करपात्र स्वामिभिः प्रतिपादितः।

पूर्वोक्तानां सर्वेषां तत्त्वानां सूक्ष्मं प्रमाणिकञ्च विवेचनं भारतीयदर्शनमतिरिच्यान्येषु दर्शनेषु नोपलभ्यतेऽतः कपोलकल्पिताप्रामाणिकपदार्थविवेचनविस्तृताः परस्परविरुद्धमतमतान्तरोपचिता पाश्चात्यविचारा दर्शनत्वेनाङ्गीकर्तुं न शक्यन्ते।

करपात्रस्वामिमते धर्मस्य महत्त्वम्

"एकोऽहं बहु स्याम" इति संकल्पनया जगत्सर्जने प्रवृत्तेन परमात्मनात्र समुत्पादितेषु विभिन्नेषुजीवेषु मानवस्य सर्वतोभावेन श्रेष्ठता निरधारि। आहाराद्यनेकासु क्रियासु भयादिभावेषु चान्यैर्जीवैः साम्यमुद्वहन्नपि मानवो ज्ञानेन विवेकेन विशेषतश्च धर्मेणान्यैर्भिद्यते श्रेष्ठताञ्चोद्वहति। द्वैतभावापन्नेऽस्मिन् संसारे परस्परविरुद्धपदार्थानां संहतिर्विलोक्यते। स्त्रीपुंमासौ धर्मधर्मौ, जयाजयौ, लाभालाभौ ज्ञानाज्ञाने, सुखदुःखे, जीवनमरणे चेत्यादयोऽनन्ताः परस्परविरुद्धाः भावा जगति जाग्रति। एतद्विरुद्धभावजालनिबद्धो जीवः सुखावाप्तयेऽनवरतं प्रयतते। मानवेन क्रियमाणं किं कर्मात्मकल्याणसम्पादकं किञ्च विनिपातोत्पादकमित्यापाततः केनापि निर्णेतुं न शक्यते। अतः परमकारुणिकेन परमात्मनानन्दविशुद्धज्ञानराशिस्वरूपो वेदः मानवाय प्रदत्तः। वेदस्तदङ्गभूतानि शास्त्राणि, तदनुगताः स्मृतयः पुराणानि अन्यच्च सर्वं वेदानुप्राणितं वाङ्मयं मानवान् कर्तव्याकर्तव्यविवेकं शिक्षयत् परमानन्दोपलब्धिमार्गमुपदिशति। तदनुसारं धमार्थकाममोक्षरूपपुरुषार्थचतुष्टयोपलब्धिः मानवजीवनस्य परमं प्रयोजनमस्ति। धर्मनियान्त्रितार्थकामोपसेवता मानवेन मोक्षो लक्ष्यीकर्त्तव्यः। दुःखत्रयात्मकेऽस्मिन् संसारे लौकिकोपायैश्चिन्तानिवृत्तिः परमानन्दावाप्तिश्च सर्वथासम्भवा। पुराणेतिहासदिभिः ज्ञायते यदनन्तकालादेव मानवो लौकिकानुपायायानवलम्ब्य दुःखं दूरीकर्त्तुं प्रयतते किन्तु नाद्यावधि कोऽपि तादृशो लौकिकोपाय उपलब्धो येन दुःखानामात्यन्तिकी निवृत्तिः स्यात्। सम्प्रत्यपि विविधवैज्ञानिकसाधनान्यवलम्ब्यानारतं दुःखोन्मूलनाय प्रयतमाना जना न दुःखाद्विमुक्ता दृश्यन्ते। प्रत्यहं जगति कामक्रोधलोभमोहमूलानि दुःखानि प्रचीयन्ते। अतः वेदशास्त्रप्रदिष्टं मार्गमवलम्ब्यैव मानवो दुःखविरहितं जीवनं व्यतीत्यान्ते परमानन्दमाप्तुं शक्नोतीति सर्वैरास्तिकनास्तिकैरङ्गीकरणीयम्।

वेदमार्गस्याधारोऽस्ति धर्मः, स च शास्त्रेषु पदे पदे व्याख्यातोऽपि न मलिनमतिभिखगन्तुं शक्यते।

तपोऽनुष्ठानाद्युपायैः परिशोधितमतिभिः यतिभिः सततमीश्वराराधनपरैर्महर्षिभिरन्यैश्च महापुरुषैर्गहन चिन्तनेन यद्धर्मस्वरूपमुद्घाटितं तद् "धृतिक्षादमोऽस्तेये" त्यादिभिर्धर्मलक्षणैर्ज्ञायते। "यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस्सिद्धिः स धर्मः अहिंसा परमो धर्मः" इत्यादिभिरनेकैर्लक्षणै धर्मं लक्षयतां जगज्जीवनरहस्यञ्च प्रतिपादयतां शास्त्राणां मनीषिणाञ्च वचनानां साररूपेणेदमवधार्यते यत्—

जगदिदं नश्वरम्, जीवनं मरणान्तं लौकिका भोगा दुःखपरिणामिनः, रागादयो भावा अपि दुःखहेतवः, रागापेक्षया विरागः श्रेयान्, बन्धनात्मिकेयं शरीरोपलब्धिर्मोक्षाय न तु भोगाय, यावच्छरीरं सत्कर्माणि कुर्वन् तथा प्रयतितव्यं यथा न स्यात् पुनः शरीरबन्धनमित्यादि।

एतेषा सर्वेषां ज्ञानानां निश्चयः स एक एव कर्त्तुं पारयति यः धर्मं विजानाति तदनुकूलञ्च व्यवहरति। अतो भूमण्डले यदि सर्वे जनाः धर्मं पुरस्कृत्यार्थकामसेवनपरायणाः स्युः जीवनञ्च नश्वरं मन्यमाना यथोपलब्धपदार्थैः सन्तुष्टाः स्युः, आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषां समाचरेत् इति स्मृतिवाक्यमनुपालयन्तः परस्परं प्रेमदयादाक्षिण्यविलसितान् व्यवहारन् कुर्युस्तदैव दुःखनिवृत्तिः सौराज्यस्थितिश्च सम्भवेत् अन्यथा तु यथा यथोपचारस्तथा तथा रोग-वृद्धिरिति कथनमेव चरितार्थं भवति।

करपात्रस्वामिनां राजनैतिका विचाराः पाश्चात्यरानैतिकसिद्धान्तसमीक्षा

उपलब्धेतिहासानुसारं पाश्चात्यदेशेषु यूनानदेशे सर्वप्रथमं व्यवस्थितराज्यशासनपरम्परारब्धा बभूवेति निर्धार्यते। तत्रत्यहोमराख्यकविकृतयोः "इलियड्-ओडेसी" इत्याख्ययोर्महाकाव्ययोर्वर्णितेन जीवनदर्शनेन तत्रत्यराज्ञां स्वरूपं ज्ञातुं शक्यते। वर्णनमिदं महाभारतीयराजपुरुषैः सहात्यन्तं साम्यमावहति। तत्रस्थवर्णनेनेदमवधार्यते यत्-प्रजापालनं, दण्डविधानं राज्य-संरक्षणञ्च राज्ञः कर्तव्यमासीत्। यद्यपि राज्ञः पदं जनसमर्थनाधारितमासीत् किन्तु सामान्यजनव्यतिरिक्तो राजा अधिकारप्रयोगेऽन्तिमनिर्णये च स्वतन्त्र आसीत्। यूनानदेशीयैः 'प्लेटो-अरस्तू' प्रभृतिभिर्दार्शनिकैर्या राजनीतिः व्याख्याता तदनुसारं राजनीतेः सारतत्वानीमान्यासन्-आदर्शराज्यं, राज्ये ज्ञानस्य सद्गुणानाञ्च प्राधान्यं समादरश्च, योग्यतानुसारंकर्म कर्मानुसारञ्च भोगपदार्थोपलब्धिरिति।

करपात्रस्वामिभिरस्या यूनानीराज्य-व्यवस्थाया भारतीयराज्यव्यवस्थ्या सह यावत् साम्यं तावत् प्रशंसा कृता यावच्च वैषम्यं तावन्नानुमोदनं विहितम्।

रोमनसाम्राज्यस्य पतनानन्तरं यूरोपीयराजनीतावनेकानि परिवर्तनानि बभूवुः। ततः सङ्कुचित-विचारोपचितेन तत्रत्यधर्मेण राज्यसत्ताऽऽक्रान्ता बभूव। उभयोः संघर्षे समुत्पन्ने, जाते च राजनीतौ भ्रष्टधार्मिकप्रभावे, जनेषु विलासिनां भ्रष्टधार्मिकाणां पोपादीनां प्रत्याक्रोशः प्रादुर्बभूव। क्रमशो राष्ट्रियभावनाया उदयेन विवेकिनां समवाये सङ्कुचितधार्मिक विश्वासान् प्रति अनास्थोदियाय, फलतश्च राजनीतौ धर्मस्य हस्तक्षेपो निराकृतो बभूव। किन्तु धर्मनिरपेक्षशासनव्यवस्थायामुदितायामपि जनसमस्यानां समाधानं नाभूत्। हिंसात्याचारभ्रष्टाचारशोषणादिदुराचाराणां प्राबल्यमेव बभूव। फलतः सुशासनमधिष्ठातुं पूर्वं लोकतन्त्रस्य ततश्च केषुचिद्देशेषु समाजवादसाम्यवादादिशासनप्रणाली नामाविर्भावो बभूव।

करपात्रस्वामिभिरेतासामाधुनिकशासनपद्धतीनां विस्तरेण समीक्षणं विधाय, तासु सर्वासु च दोषाबाहुल्य-मुद्धाट्य अन्ते वेदमार्गानुगता धर्मनियन्त्रिता रामराज्यात्मिका शासनपद्धतिरेवानुमोदिता।

तन्मते यावच्छासकानां शास्यानाञ्च विचाराचारेषु धर्मानुकूलता नायास्यति, यावद् धृतिक्षमादि-दशविधधर्मलक्षणानि सर्वे न धारयिष्यन्ति, यावद् धर्मनियन्त्रितार्थकामोपलब्धिः सर्वसमर्थिता न भविष्यति, यावच्च त्यागतपोदानदाक्षिण्यशमदम सदाचारादिगुणगणानां पालने स्पर्धा अनुपालकानाञ्च समाजे सम्मानं न भविष्यति, तथा च यावद् धर्मविरुद्धासत्याहिंसाचौर्यार्थसंग्रहपरायणानां दण्डविधानां तिरस्कारश्च सुनिश्चितो न भविष्यति, तावद् भूमण्डले कृतेष्वप्यनन्तोपायेषु सुखशान्तिव्यवस्थापनमसम्भवमेवास्ति। प्राच्येतिहासादिकञ्च विलोक्य सर्वैरिदमवधारणीयं यद् धर्मं बिना कोऽपि जगत्कष्ठनिवारको नास्ति।

करपात्रस्वामिनामाधुनिकराजनीतिविषयका विचारा

इदानीं विश्वे सर्वाः शासनपद्धतयोऽर्थकामौ पुरस्कृत्य प्रवर्तन्ते। अर्थकामयोरियत्ताया अभावात् कोऽपि तयोरर्जनाद् विरतो भवितुंनार्हति। फलतः सन्तोषाभावात् स्पर्धया ईर्ष्यया च प्रेरिता जना अनवरतमर्थकामार्जने संलग्नाः सन्ति। किञ्च सन्मार्गेणार्थर्जनेऽसमर्था जना असन्मार्गाविलम्बनमपि कुर्वन्ति। धर्मनिरपेक्षा एते दयादाक्षिण्यादिसद्गुणान् तिरस्कृत्य यथाकथञ्चिदपि स्वर्थसाधने संलग्ना विलोक्यन्ते। साधनहीनाः मन्दमतयः कपट-विरहिता सन्मार्गिणश्च जीवनयापनोचितसाधनोपलब्धिमपि कर्तुं न पारयन्ति। कृतेष्वपि बहुविधेषु प्रयत्नेषु भ्रष्टाचारानाचारादिनिरोधो न भवति।

यद्यपीदानीं न्यायविधानप्रक्रिया, दण्डविधानोद्योगश्च सर्वत्र सुदृढतामानीयते। प्रतिजनपदं न्यायालयः स्थापितो वर्तते, पदे पदे राजपुरुषा नियुक्ताः सन्ति, प्रतिग्रामं विद्यालयेषु शिक्षा प्रदीयते, राष्ट्रे सर्वत्र सुव्यवस्थां सुशासनञ्च विधातुं नैका योजनाः प्रचलन्ति, केन्द्रे राज्येषु च तत्तद्विभागनधिकृत्यानेका मन्त्रिणः सचिवाः शासनाधिक्करणिश्च नियुक्ताः सन्ति, जनपदेषु ग्रामेषु चानन्ता राज्याधिकारिण लोककल्याणयोजनाः सम्पादयन्ति, किन्तु न क्वचिदपि सौराज्यं न च सुखशान्तिर्विलोक्यते। सर्वत्रासन्तुष्टा जनाः स्वीयं दैन्यं दुःखं दुर्दशामर्थाभावञ्च कीर्तयन्तः शासकान् शासनपद्धतिञ्च निन्दन्ति। एतस्य सर्वस्य वैषम्यस्य कारणमस्ति धर्महानिः। धर्मं तिरस्कृत्य कैवलै र्लौकिकोपायैः समस्यासमाधानप्रयासो घृतेनाग्नितर्पणमिव निरर्थक एव भवति।

धर्मानुशासितानां कार्याकार्यविवेकिंनां पापपुण्यविचारशालिनां दयादाक्षिण्यत्यागसन्तोषादिभावना-मावितान्तःकरणानां धर्मनियन्त्रितापेक्षितार्थकामसंग्रहपरायणानां मुक्तिं परमप्राप्तव्यत्वेनाङ्गीकुर्वतां "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्" इति वेदवाक्यरहस्यं विजानतां चातुर्वर्ण्यव्यवस्थानुसारं स्वस्वकर्माभिरतानां समाज एव सुखस्य शान्तेः सर्वजीवनसंरक्षणस्य प्रकृतिसंरक्षणस्य च सम्भावना सुनिश्चिता भवितुमर्हति।

करपात्रस्वामिभिः समर्थिते रामराज्ये सर्वत्र धर्मं पुरस्कृत्यैव शासनव्यवस्था समाज-व्यवस्था च निर्धारिता वर्तते। तन्मते अन्धैः नीयमानानामन्धानां विनिपातो यथा सुनिश्चितो भवति तथैवा धार्मिकैः नेतृभिः शासितानां जनानामपि दुर्गतिः सुनिश्चितैवास्ति।

प्रजातन्त्रदूषणानि

पुरा सर्वत्र भूमण्डले राजतन्त्रात्मकं शासनमासीत्। भारतवर्षे तु राजतन्त्रात्मकस्य शासनस्य विस्तृता परम्परासीदिति पुराणेतिहासैर्ज्ञायते। राजनि देवानां देवभावनासीत्, सः दिगीशवृन्दांशविभूतिः भवतिस्म। वेदशास्त्रोक्तं धर्मं पुरस्कृत्यात्मीयं स्वार्थञ्च विस्मृत्य सः कर्तव्यधिया प्रजापालनतत्परो भवतिस्म। धर्मानुकूलसदाचारप्रभावात्तस्य प्रतापस्याग्रे शासनसत्तामाक्रान्तुं प्रवृत्ता जना कदापि साफल्यं नाप्नुवन्तिस्म। कालान्तरे राज्यशासने धर्मच्युतिः बभूव तया च राज्ञां प्रतापे मालिन्यमागतं, फलतो विरोधिभिः पराजितास्ते शासनबहिस्कृता बभूवुः। विरोधिनोऽपि शासनाधिकारमवाप्य धर्मं प्रजापालनञ्च विस्मृत्य भोगे प्रसक्ताबभूवु, तेषामपि पतनमभूत्। राजपदं भोगसाधनमभून्न तु प्रजापालनपरं सौराज्य-संस्थापकञ्च। पाश्चात्यदेशेषु तु निर्दयैः शासकै प्रजोत्पीडनमप्यारब्धम्। शनैः शनैः कर्तव्यच्युतैः शासकैः राजपदप्रतिष्ठा समाप्तिं नीता, फलतः जनैः सम्भूय उच्छृङ्खलस्य स्वार्थपरायणराजतन्त्रस्य समापनं कृतं तत्स्थाने च प्रजातन्त्रं प्रतिष्ठापितम्। प्रजातन्त्रे जनैर्निर्वाचिताः प्रतिनिधयः शासनमनुतिष्ठन्ति राजसत्ता व्यक्तिविशेषे केन्द्रिता न भवति। जनापेक्षाः पुरयितुमसमर्था शासको निश्चितकालान्तरं शासनाद्दूरीक्रियन्ते पुनर्निर्वाचनेन चान्येषां शासकानां चयनं भवति। इत्थं प्रजातन्त्रे यद्यपि सन्ति बहवो गुणाः किन्तु ते धर्मे सत्येव सच्छासनं प्रतिष्ठापयितुमीशा-भवितुमर्हन्ति। धर्माभावे निर्वाचिता जनप्रतिनिधयः सत्तालोलुपाः स्वार्थपरायणाः सन्तः, जनेषु पारस्परिकभेदमीर्ष्यां घृणां शत्रुताञ्च सम्वर्धयन्ति। भारते त्वेतेषां कुकर्मणां सम्भावनाधिका विद्यते यतोह्यत्र विभिन्नधर्मावलम्बिनोऽनेकजातिविभक्ता जना निवसन्ति। स्वामिपदानामेतानि वचनानि साम्प्रतमक्षरशः सत्यतामावहन्ति। इदानीं नेतारः संस्कृतिं प्राच्यज्ञानं परम्पराश्च विस्मृत्य बहुमताप्तये जनेषु धर्मं जातिं वाश्रित्य परस्परविद्वेष-माविष्कुर्वन्ति। अतः प्रजातन्त्रस्य साफल्यं तदैव भवितुमर्हति यदा जनाः सार्वभौमं सत्यसनातधर्मं पुरस्कृत्य शासनं सञ्चालयेयुः।

करपात्रस्वामिभिः स्वकीयेऽस्मिन् ग्रन्थे मार्क्सवादस्यान्येषाञ्च धर्मविमुखानां पाश्चात्यवादानां विस्तरेण समीक्षणं विधाय वेदशास्त्रप्रतिपादितस्य धर्मनियन्त्रितस्य शासनस्य सर्वत्र समर्थनमकारि।

✿

धर्म्मरक्षणविचक्षणाः समाजपरिमार्जनपटीयांसश्च धर्मसम्राट्-करपात्रस्वामिनः

आचार्य्य-रमाशङ्करमिश्रः
आचार्य्योऽध्यक्षश्च साहित्यविभागे,
सं० सं० वि० वि०, वाराणस्याम्

धर्म्म-ध्वज-समुत्तान-ध्वंसित-ध्वान्त-दुर्मतिम् ।
वागीशं योगिराजेन्द्रं धर्म्मसम्राजमीमहे ॥ १ ॥
निरञ्जन-ब्रह्मपदोच्चरिष्णवे शुकादि-योगीश्वर-कीर्ति-जिष्णवे।
श्रुति-स्मृति-प्रोज्ज्वल-धर्म्म-विष्णवे महामहिम्ने करपात्रिणे नमः ॥ २ ॥

(क) करपात्र-स्वामिनामवतरण-पीठिका

धर्म-कर्म्म-मर्म्म-भव्यभावभूति-भाजनायमानेयं भारतभूमिः स्व-कुक्षितः चिरन्तन-कालात् नैकान् सदाचार-सञ्चारपूतान् पुत्ररत्न-निचयान् समुत्पादयामास, ये हि सुधा-माधुरी-सम्भृत-वचो-राशिभिः श्रुति-स्मृति-पुराणानुगामि-क्रिया-कलाप-प्रचारणैः, माया-दम्भ-पाखण्डादि-खण्डन-परक-विचारणाभिः सन्मार्ग-सदाचार-यज्ञानुष्ठानादि-लोकोपकारि-सत्कार्य-प्रचारणैः, सनातन-धर्म्मोन्नायक-वेद-रामायण-महाभारतादि-सम्बद्ध-भक्ति-ज्ञान-वैराग्यादि-सूचक-पुस्तक-पटल-प्रणयन-प्रणयैः नास्तिक-मतर्मदन-विचार-व्यूह-सम्बद्ध-नैक-ग्रन्थ-रचनैश्च त्रिताप-परितप्तानां प्राणिनां पीडापनोदनं शान्ति-सौमनस्य-संस्थापनञ्च यथासमयं निस्सन्देहं व्यदधुः।

वस्तुतस्तु चिरसंस्तुतमेवेदं तथ्यं यद् दोदूयमान-धर्मध्वजोत्तोलनाय दोधूयमानाधर्म्म-दण्ड-खण्डनाय च श्रुति-स्मृति-वचन-भङ्गी-मर्यादामनुपालयन् चराचरात्मा परेशः स्वयमेव महामानवो भूत्वा विविधनदी-नद-जल-सुधा-कण-पावितां वृन्दारक-वृन्द-वन्दितां तामिमां भारतमेदिनीं निजावतरणेन स्वीय-पाद-पङ्कज-पराग-निक्षेपणैश्च निर्मलीकरोति 'धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे'। अनादिकालत एव भारते गृहीत-जन्मनां मनु-भरत-व्यास-शुक-नारद-शङ्कराचार्य-रामानुजाचार्यादीनां सदाचारप्रबोधनक्षम-चरितैः नूनमेव भारतीया संस्कृतिः परिपोषिता।

अस्मिन्नेव क्रमे ख्रीस्तीयाब्दस्य विंशशताब्द्यामवतीर्णाः प्रतापगढ़-वसुन्धरोदर-रत्नकल्पाः, भक्ति-ज्ञान-वैराग्य-मूर्तयो धर्म-सम्राजः स्वामि-करपात्रदेवा अपि स्वकीयजन्मना मलिनप्रायां सनातन-धर्म-मर्यादां, वैमत्य-रेणु-रूषितां श्रुति-स्मृति-तात्पर्य-तरङ्गिणीं, लुप्तप्रायां च यज्ञ-परम्परां पुनरपि सम्मानोच्च-शिखरमध्यतिष्ठिपन्। अहो! धन्याऽस्माकमक्षुण्ण-धर्मरक्षण-परम्परा, महापुरुषाणाञ्चा-कारण-करुणापरा परोपकार-परायणता च!

स्वामिनां प्राकट्य-लीला

चतुःषष्ट्यधिकैकोनविंशतिशततमे विक्रमाब्दे सप्ततितरैकोनविंशतिशततमे च ख्रीस्तीयाब्दे श्रावण-मासे शुक्लदले ब्रह्मतिथौ (द्वितीयायां) भानुवासरे प्राप्तजन्म-कुण्डली-निर्देशेन १२-८-१९०७ दिनांके कर्कलग्ने पूर्वाफाल्गुनीनक्षत्रस्य चरम-चरणे ५८/८ इष्टकाले देवर्षि-मुनि-जन-वन्दित-पाद-पीठानां वेद-शास्त्रादि-मर्मज्ञान-पावितान्तःकरणानां श्रीकरपात्र-स्वामिनां प्राकट्यं भारतवर्षस्योत्तरप्रदेश-प्रान्तान्तर्गत-प्रतापगढ़नामके जनपदे कालाकांकर-राज्य-शासिते 'रामपुरबावली'-नेदिष्ठे 'भटिनी' नामकग्रामरत्ने जातम्।

स्वामि-करपात्रदेवानां बाल्यकालिकं नाम 'हरनारायण' इत्यासीत्। अस्य द्वावग्रजौ यथा-क्रमं 'हरिहरप्रसादः' हरिशङ्करश्च बभूवतुः। हरिहरप्रसादस्य पुत्रास्त्रयः रामशङ्कर-माताप्रसाद-माता-दयालनामकाः सञ्जाताः। हरिशङ्करस्य चैक एव तनयः शिवहर्ष-नामा प्रादुरभूत्।

स्वामि-करपात्राख्यया परवर्तिकाले प्रख्यातस्य हरनारायणस्य तु केवलमेकैव तनया भगवतीनाम्नी भगवती-स्वरूपा समजनि यस्याः समुद्वाहः भटनी-समीपस्थ-केदौराग्रामे रविरत्न-त्रिपाठि-तनूजेन श्रीमहादेवत्रिपाठिना सार्द्धमभूत्। भगवतीदेव्याः पारिवारिक-निकरः श्री-स्वामिश्वसुरालये प्रतापगढ़ीये खण्डवा-ग्रामे साम्प्रतमपि समुल्लसतितराम्।

स्वामिकरपात्रदेवानां पितृपादाः श्रीरामनिधि-ओझा महोदया आसन्। जननी च श्रीमती शिवरानी देवी आसीत्। श्रीरामनिधि-महोदयाः श्रीअमानराजस्य पौत्राः श्रीचण्डीप्रसादस्य च सुपुत्रा आसन्। एते बोधनारायणस्यानुजाः रामनक्षत्र-रामनारायणयोश्चाग्रजा आसन्। तथा च स्वपितुः पुत्र-चतुष्टये द्वितीयस्थानापन्नः श्रीरामनिधि-महोदयः निसर्गतः सदाचारी रुद्राभिषेकादि-शिवाराधनैकधनः सौम्यस्व-भावश्च दृश्यतेस्म। विदाङ्कुर्वन्त्येव विदितवेदितव्या विद्वत्तल्लजा यत् सरयूपारीणाः ब्राह्मणाः प्राच्यकालत एव सनातन-धर्मध्वज-रक्षण-बद्धपरिकराः सन्ति। तेषु सरयूपारीण-कुलेषु परममाहेश्वरस्य प्रदीप्त-प्रताप-प्रकाशितस्योपमन्युमहर्षेः वंशे करैलीनामक 'ओझोपाह्व'-विप्र-कुले गोरखपुरान्तर्गत 'ओझौली'-ग्रामे श्रीकरपात्र-स्वामिनां पूर्वजाः ससम्मानं निवसन्ति स्म। 'ओझौली' ग्रामश्च बड़हलगंज-नेदीयान् सरयूतरङ्गोत्तरंगितश्चास्ति।

ओझा-कुल-प्रसूतानां मनीषि-प्रवराणां करपात्रपूर्वजानां प्रतिक्षणं परिवर्द्धमान-वैदुष्य-कीर्ति-वैजयन्ती सोल्लासं गगनाजिरं चुचुम्ब। अत एव प्रभावित-चित्ताः कालाकाङ्कर-महाराजाधिराजाः पूर्वसांसद-श्रीदिनेशसिंह-पूर्वजाः श्रीस्वामि-करपात्रिणः पितामह-महोदयं श्रीचण्डीप्रसादं प्रतापगढ-जनपदान्तर्गते भटनीग्रामे पर्याप्त-भू-भवनादि-दान-पुरस्सरं सप्रतिष्ठं प्रतिष्ठापयामासुः।

अस्मिन्नेव ग्रामेऽप्रतिहत-प्रखर-पाण्डित्य-प्रतिभासितात्मा लोकोत्तर-लेखक-ललामो वशीकृत-श्रीरामो भुवनाभिरामो विश्ववन्द्यः करपात्रदेवः स्वजन्मना बाल्यचपल-केलि-तरङ्गितैः प्रारम्भिक-विद्यालये वर्षप्राय-परिच्छिन्न-पठन-कर्मणा च स्वजीवनस्य कतिपयानि दिनानि सोयनीचकार।

(ख) प्रारम्भिकमध्ययनम्

बाल्यावस्थायामेव ललाम-स्वरूप-प्रभाभिः विनिर्जित-मनोजोऽपि कामनीयक-कलित-कायोऽयं विनय-निकायो हरनारायणो बाल्योचित-सहज-चापल्य-विरहितो वृद्धजनोचित-गाम्भीर्य-मुद्रितः, शान्ति-विरक्ति-भावितात्मा चासीत्। वर्षत्रयावस्थापन्नस्याप्यस्य चेतसि सांसारिकीक्षणभङ्गुरता, निस्सारता, वैराग्य-भावना च भृशं चमत्कृता आसीत्।

पूर्वजन्मार्जित-विचित्रमेधा-सम्पन्नोऽयं बालो भटनीग्रामस्थायां प्रारम्भिकपाठशालायां प्रथम-द्वितीय-कक्षोत्तर-वर्तिन्यां साक्षात् तृतीयकक्षायां ४-९-१९१८ दिनांके लब्धया-प्रवेशः छात्रकोटिं प्रपेदे। किन्तु हृदयतल-निहित-लोकशास्त्रोभय-निखिल-ज्ञान-रत्नाकरस्यास्य चित्तवृत्तिर्न रेमे प्रारम्भिकीषु कक्षासु। अत एव कक्षासु-अनुपस्थितप्राया इमे १३-९-१९१९ दिनांके प्रारम्भिक-पाठशालातः विच्छेदित-नामानो बभूवुः।

प्रारम्भत एव संस्कृताध्ययन-व्यसन-लोलुपा इमे पितृपादानां श्रीरामशिवादि-भक्ति-परम्परया प्रभाविताः संस्कृतगद्य-पद्यादि-वाक्येषु दत्तादरातिशया आसन्।

अत एव पितृ-पादैर्बालको हरनारायणः संस्कृताध्ययन-पिपासां शमयितुं सर्वप्रथमं ग्राम-समीपवर्तिनि कपूरीपुरग्रामे सदाचार-मूर्ति-परमवैयाकरण-श्रीपुल्लू-मिश्राख्यस्य पण्डितप्रकाण्डस्य सान्निध्ये, तदनन्तरं च ढिंगवस-राज्याधीशराजभवनान्तश्चालिते तदानीन्तने सुविदिततमे संस्कृत-विद्यालये, लालगञ्जाझारा-नेदिष्ठ-भिभैरा-ग्रामवास्तव्य-श्रीनागेशदत्तमिश्राख्य-वैयाकरण-महारथस्य च सामीप्ये नैकान् व्याकरण-ग्रन्थान् अन्य धर्म-सदाचारादि-ग्रन्थांश्च सोल्लासं हृदयसाच्चकार।

(ग) उद्वाहः

प्राक्तन-जन्म-प्रवाहितां वैराग्य-परम्परां मुहुर्मुहुः लिप्सोरस्य बालकस्य मनः प्रायः नश्वर-संसार-लीला-विरक्तमिव धर्म्म-रक्षणानुरक्तमिव च बाभासमानं दृश्यते स्म। अत एवास्य वैराग्य-भावनानिर्मूलनाय सरस-संसार-राग-रस-रञ्जनाय च पित्रा बालकोऽयं प्रारम्भिक-पाठशाला-प्रवेशात्प्रागेव नववर्षीय-बाल्यावस्थायामेव विवाह-सूत्रे निबन्धितः।

१९१६ खीस्तीयाब्दे ढिंगवस-पत्रालय-समीपस्थे खण्डवाग्रामे ब्राह्मण-प्रवर-श्रीरामसुचितस्य सुपुत्र्या महादेव्या सार्द्धं श्रीहरनारायणः परिणयसूत्रमापेदे। किन्तु वैराग्य-भाव-प्रशमनाय पितृपादैः कृतोऽयं प्रयासो विपरीत इव जाज्वल्यमानां विरक्तिधारामेव परिवर्धयामास। नैकधा नैकदा च गृहीत-सूत्र-जलपात्रोऽयं सुकुमारगात्रो बालकः गृहाद् बहिः निश्चक्राम, परं पितृपादानां मातुश्च सोच्छ्वासं कृतैः सक्रन्दन-चुम्बितैः निवेदनैः मुहुर्मुहुः बहिर्गतोऽपि गृहमागतो, गृहागतोऽपि बहिर्गत इति गृहवन-गतागत-परम्परा न शब्दैर्वर्णनीया न च कैश्चन गणनीया।

येषां यतिमूर्धन्यानां धन्य-धान्यानां भक्ति-रस-प्रतिष्ठापनानामाविर्भाव एव भ्रमपंकनिमग्नस्य धर्म-

पङ्कजस्य समुद्धारायाधर्मजाल-निर्मूलनाय च विधात्रा निर्धारितपूर्वः, नैते बन्धनकोटिभिरपि बन्धनीयतां तुच्छजननिन्दनीयतां च व्रजन्त्यपितु व्रजन्त्येव विश्वविदित-विद्वद्वृन्दवन्दनीयताम्।

कदाचिद् गृहाद् बहिः निष्क्रान्तोऽयं पित्रा मात्रा च सनेत्राम्बु-प्रवाहं निवेद्यमानः स्वीयमन्तिमं वैराग्यभावं वेद-वेदान्त-वचन-गुम्फैः प्रकटीचकार। तत्रैव विकल-विकलो जनकः स्वीयमन्तिमं प्रणयवचनं प्रकटयन् यत्—'हे सुपुत्र! स्व-पाणिगृहीतायां भार्यायां काञ्चित्कां सन्ततिमुत्पाद्य पितॄणमुक्तो भूत्वा यथेच्छसि तथा वैराग्यराग-रसिको भव भक्तिनिष्ठः।'

बाल्यकाले वैराग्य-भावोद्वेलितस्यापि हरनारायणस्य चित्त-तलं पुनःपुनः गृहोन्मुखीनीकर्तुं पितृ-भक्तिरेव समर्थासीत्। अत एव सन्ततिसमुत्पादनानन्तरं पितृ-निवेदनमपि नैनं निवारयितुमलं बभूव। एकदा लोक-मङ्गलोल्लोल-कल्लोल-करम्बितस्यास्य वैराग्य-भाजनस्य महाजनस्य कर्णद्वयाभ्यन्तरे चर्चेयं श्रौती सूक्तिरिव प्रवाहिता यत्—'यतिवर! तव-गेहे कन्यकैका प्रजाता।' इति।

साम्प्रतं च पितुर्मातुश्च चरणेन्दीवर-परागेषु प्रणिहित-भालपट्टोऽयमेकोनविंशतिवर्षदेशीयो विरिंसुः नवोदित-कन्याधनां काञ्चन काञ्चनमयीमिव कमनीयां विनय-नमनीयाञ्च ललनां वीक्ष्यापि जन्मस्थान-परिसरं क्षणमपि निरीक्षितुं, परीक्षितुञ्च चिराय परात्मतत्त्वं सत्वरं समङ्गलस्वरं दूराद्दूरतरं परिवव्राज।

एवञ्च रुदति पारिवारिक-जन-पटले सधैर्यं मङ्गलध्वनि-गुञ्जनपरायाञ्च धर्मपत्न्यां गृहान् निष्क्रान्तो वैराग्यमूर्तिरयं तेजस्विनां विरक्त-पुरुषाणां दर्शनार्थं जन्मान्तरागतामपि परापरा-विद्यां करतलामलकीकर्तुं नैष्ठिकब्रह्मचर्य-चर्या-सपर्या-परिपालनार्थं चान्ते संन्यास-ग्रहणाय च विविधनदीनदतीरेषु हिंस्र-जन्तु-शत-संकुलेष्वपि कान्तारोदरेषु भयावह-कन्दरि-कन्दर-कदम्बेषु च सोल्लासं सानुष्ठानं प्रतिष्ठानं विदधौ।

(घ) विद्यार्जनम्

पारिवारिक-परिकरं जन्मभू-जालञ्च परिहाय परानन्द-निकेतने ब्रह्मणि निमग्न-मानसो मुमुक्षुरयं ज्ञाताज्ञातैः सम-विषम-मार्ग-समापतितैः नगर-ग्राम-तीर्थ-मन्दिर-दुर्गम-कान्तार-तटिनी-तटादि-भिर्यात्रां वितन्वन् भगवतीं विन्ध्य-वासिनीं लोचन-निवासिनीं चकार। ततः त्रिवेणी-तरलतरङ्गपावितं प्रयागं प्रणमन् मध्यप्रदेश-पथवर्तिनि वीरसिंहपुराख्ये ग्रामे वट-वृक्षस्याधस्तनं भूभागमध्यासीनं कौपीन-धारिणं समाधिस्थं दण्डमण्डितं प्रताप-विकस्वर-मुख-मण्डलं वशीकृत-ब्रह्मानन्दं स्वामिब्रह्मानन्दं सानन्दं ददर्श।

उद्घाटित-लोचने स्वामिनि तदीय-चरणान्तिक-विन्यस्त-भालोऽयं बालः संन्यास-दीक्षाकांक्षां प्रकटीचकार। स्वामिनां कमल-दलायत-लोचन-पातैः पाविताङ्गो गौराङ्गोऽयं तरुणः स्वामि निर्देशेनैव नैष्ठिक-ब्रह्मचर्य-दीक्षामाप्तो हरिहरचैतन्य-संज्ञां समालिङ्गन् बुलन्दशहरजनपदान्तर्गतं नरवर-स्थानं प्राप्य तत्रत्ये संस्कृत-महाविद्यालये षड्दर्शनाचार्य-दण्डि-स्वामि-श्रीविश्वेश्वराश्रम-सान्निध्ये च भारतीय-शास्त्राणां, विशेषतो व्याकरण-न्याय-वेदान्तानां सुगभीरमध्ययनं विधातुमनुमन्दाकिनी-कूलं कौपीन-कटिः करैश्च दुर्वारया गत्या प्रतस्थे।

स्वल्पेनैव कालेन नरवरं प्राप्य नरवरोऽयं विद्वद्वराणां पण्डित-जीवनदत्त-महोदयानां सामीप्यमासाद्य व्याकरण-विद्यामामूलचूलं रसनाग्र-नर्तकीं विदधौ। अहो! परस्सहस्रवर्षेष्वपि असाध्या पद-विद्या एकादशमासेष्वेव हरिहरचैतन्यं स्व-बल्लभमिव वव्रे।

ततश्च पूज्यापादानां विश्वेश्वराश्रम-महाराजानां सान्निध्ये त्रयोदश-मास-पर्यन्तं वेदान्तादि-षड्दर्शनानां, श्रीधरी-टीकोपेत-श्रीमद्भागवतादि-पुराण-रत्नानां, मधुसूदनी-चुम्बित-गीता-प्रभृतीनां प्रगाढमनुशीलनं कृतवान्। अध्ययनकाल एवायं रामभद्र-रुद्र-कृष्णादीनां पूजनार्चन-ध्यान-धारणादि-पुरस्सरमाध्यात्मिकीं साधना-सम्बद्धां च तपश्चर्यां साश्चर्यं वितेने। क्वचित्तु गङ्गाकूलेऽनुकूले कलितफल-मूले घृतैक-दुकूलोऽयं ब्रह्ममूलो विरक्तः चतुर्विंशतिहोरात्मकम् एकपादावस्थानपूर्वकं तपोऽनुष्ठानं विधत्ते स्म। आहार-व्यवहार इव पठन-पाठन-क्रमोऽप्यस्य नैष्ठिक-ब्रह्मचर्य-पालन-पुरस्सरमेव भैक्ष्य-याचनाद्यवलम्ब्य प्रवर्तते स्म।

(ङ) तपोऽनुष्ठानम् (परमहंस-पद-प्राप्तिश्च)

विविधेषु एकादशी-पूर्णिमादि-पर्वसु निर्जल-व्रतोपासनादि-निरतः स्वभावतश्च वीतरागो ब्रह्मदिदृक्षया तपः-परिपाकेच्छया च स्वेच्छया मन्दं-मन्दं गुरुकुलासक्तिमपि दूरीकृत्य गङ्गा-तट-मार्गेणैव पदातिः पर्यटन् तुहिनाच्छादितस्य तुहिनाचलस्य चूडासु पादन्यासमापेदे। तत्रत्योपत्यका-धित्यकाकन्दरादिषु निहितकाय-दण्डोऽयमखण्डं वत्सरत्रयं तपश्चचार। भगवद्दर्शन-जन्य-परमानन्द-निःस्यन्द-सान्द्र-स्वान्तोऽयं विचित्रतेजश्चमत्कृताननः सहसैव समाधिक्षणेषु विलक्षणं दिव्यसन्देश-वाक्यं हृदयपथिकीचकार यत् 'योगिराज! तपः-परिपक्वोऽसि, अधर्म-दोदूयमानां दयनीयां देश-दशां पश्य, आपन्नं धर्मं विलोकय। अतश्च तापसेन भवता जगत्कल्याण-धिया न स्वदेशः परिहर्तव्यः, धर्मरक्षार्थं धर्म-प्रचारार्थं च प्राणिषु सद्भावनां पूरयितुं विश्वकल्याण-मार्गञ्च प्रदर्शयितुं शास्त्र-मर्यादा-पालन-पुरस्सरं लोक-प्रवृत्ति र्विधेया।' इति।

ब्रह्म-वाक्यमिदं दुर्निवारं जगत्कल्याणमूलञ्चाकलय्य नगाधिराजपार्श्वतः तापसोऽयं १९३१ खीस्ताब्दे पुनरपि नरवराश्रमं प्रपेदे। दिव्य-तेजःपुञ्ज-बाभासमानोऽयं करतलामलकीकृत-निखिल-वेदान्तबोधो यतिवर आश्रमस्थ-गुरुवैरस्सतीर्थ्यैश्च सोत्साहं परमहंस-सम्बोधनेन समभिनन्दितः।

श्रीविश्वेश्वराश्रम-चरण-परागेषु समर्पितश्रद्धा-कुसुमोऽयं पुनरपि न्यायशास्त्रादीनां समीक्षां विधाय श्रीमद्भागवतस्य रस-पानं कृतवान् कारितवांश्च। अन्ततस्तु वेदान्तमात्र-निरत-चित्तोऽयं परमहंसः सकलामपि शास्त्रकलां सफलां कृतवान्।

(च) करपात्रीति-पदावाप्तिः

विचित्र-ब्रह्मचर्येण अनितर-साधारण-वैराग्येण, प्रचण्ड-शास्त्राभ्यासेन, शास्त्रनिमयपरिपालनेन च परमहंसोऽयं हरिहर-चैतन्यः गङ्गातट-मार्गतः पदातिरेव विचरन् प्रतिग्रामं प्रतिनगरं, प्रतिजनपदं

प्रतिप्रान्तञ्च नितान्तं कान्तं च निर्मलं यशश्चुचुम्ब। प्रवर्धमान-कीर्ति-कौमुदी-करम्बितोऽयं करतल-धृतभोजनः सर्वत्रापि विद्वज्जनानां धार्मिकाणाञ्च समाजे लोकोत्तरां प्रतिष्ठां प्रपेदे। अत एव प्रतिक्षणं करपात्र इति, करपात्रीति वा भूत्वा जनेषु विचित्रादर-भाजनी-भूतोऽयमभूत-पूर्वः परमहंसः प्रयागं प्रति पुरतः प्रतस्थे।

(छ) संन्यास-दीक्षा दण्ड-ग्रहणञ्च

नरवरतः प्रयागं प्राप्य तेजस्विनं तपस्विनं ब्रह्मानन्दं प्रणम्य स्वकीय-विचित्र-वैदुष्य-विलक्षण-वैराग्य-कठोर-तपोभिश्च प्रसाद्य गुरुजनानां सान्निध्ये शास्त्रानुशीलनपरिशीलनादिकं परिपोषितवान्।

अनन्तरम् अनाथ-नाथस्य विश्वनाथस्य नगरीं काशीं प्रत्यपद्यत तापसमणिरयम्। काशीस्थैः पण्डित-प्रकाण्डैर्धर्म-धनैर्जनैश्च भस्मोद्भासित-भाल-पट्टो धृतकरमृद्भाण्डो गैरिकाच्छन्नगात्रः पाणिपात्रस्तपस्वी ज्ञान-वैराग्यमूर्तिरिव सानुरागो वन्दितोऽभिनन्दितश्च। विद्या-मदान्धान् विविधशास्त्रेषु लब्धकीर्तीन् विविधान् विद्वद्वरान् वाद-विवाद-महासमरेषु पराजय-पथिकीकृत्य पाण्डित्यपताकां गगन-चुम्बिनीं चकार। तरुण-तापसोऽयं शास्त्रानुरागिणं मालवीयं, प्रचण्ड-दार्शनिकं हरिहरकृपालुं, दण्डि-स्वामिनमनन्ताश्रमं, कमलनाभाश्रमं च प्रखर-दुर्धर्ष-तर्कोपस्थापनैः पराभूय काशी-पण्डित-मण्डलाखण्डलतामखण्डां प्रपेदे।

पण्डितम्मन्या अपि दण्डिनो ब्रह्मचारिणः संन्यासिनो गृहस्थाश्च विद्वांसो निस्सङ्कोचं करपात्र-चरणसान्निध्ये विविधां निरवद्यां विद्यां समध्यगच्छन्। परिपूर्णां प्रतिष्ठां प्रापयितुं चेष्टमानेन विद्यागुरुणा श्रीविश्वेश्वराश्रम-महोदयेन भृशं प्रेरितोऽयं महात्मा मनोनिहित-गुरूणां स्वामिब्रह्मानन्द-सरस्वती-महोदयानां सान्निध्ये १९३१-३२ खीस्ताब्दकाले चतुर्विंशतिकल्पावस्थायां विश्वेश्वरनगर्यां दुर्गा-कुण्ड-निकटस्थ-शिव-मन्दिरस्थाने सविधिदण्ड-ग्रहण-पुरस्सरं संन्यासदीक्षामङ्गीचकार। परमानन्दम-मन्दमविन्दत भगवती काशी तत्रत्या पण्डित-मण्डली च यति-चक्र-चूडामणिं तपोमूर्तिं शङ्कराचार्य-स्वरूपं करपात्र-स्वामिनं संन्यासिनं प्राप्य।

ततस्तु समग्रैव वसुमती 'विजयतां यतिचक्रचूडामणिः धर्म-सम्राट् हरिहरानन्दाख्यः स्वामिकरपात्रदेव' इति गगनाजिर-चुम्बनपरैः सुस्वरैर्गुञ्जिताभूत्। अहो! कियान् प्रमोद-भर-निर्भर-आसीत् स दीक्षा-दिवसो धर्मधुरन्धरायाः हिन्दुवसुन्धरायाः कृते।

'धर्मसम्राट्-कृता धर्मरक्षणोपक्रमाः समाज-परिष्काराश्च'

(क) धर्म्म-संघ-स्थापनम्

'नैव राज्यं न राजाऽऽसीन्न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥'

परतन्त्र-भारतस्य वैदेशिक-दुर्भाव-दूषिते स्वतन्त्रभारतेऽपि धर्मानभिज्ञ-शासकजन-प्रशासिते

भारतवसुमतीतले नितरां प्रवर्द्धमानां हिन्दु-मुस्लिम-संघर्षलीलां, स्वधर्मं प्रति हिन्दु-जन-मानसोल्लासिनीं वेदनां परमेश्वर-परलोक-पुनर्जन्मादि-खण्डनात्मिकां, तुच्छजनानुपालितां धर्मविरुद्ध-दुर्भावनां च विलोक्य गोमुखतः गङ्गासागरं यावत् कृतगङ्गा-कूल-दुकूल-सेवनेन, सेवित-पावन-हिमालयोपवनेन स्वामिकरपात्र-देवेन १९३७ ईशाब्दे प्रवर्तमाने हरद्वारस्थे महाकुम्भ-पर्वोत्सवे धर्म-प्रचार-प्रयोजन-प्राणभूतं धर्मसङ्घं संस्थापयितुं विपुल-विद्वद्वृन्दमध्ये महीयान् सङ्कल्पो विहितः।

१९४० ईशाब्दे विजयदशमी-दिवसे प्रवर्तितः समुद्घाटन-परिपाकञ्च प्रापितः सोऽयमखिल-भारतीय-धर्मसङ्घः। ततस्तु मेरठ-वृन्दावन-दिल्ली-प्रभृतिषु भारतभूभागेषु शाखा-बाहुल्यमुपेतोऽयं धर्मरक्षणैकपरिकरः धर्मसङ्घः। अत्र संस्कृतपाठशालाः, श्रीरामदुर्गा-महेश्वरादिदेवालयाः, गोशालाः विद्वज्जनादीनां कृते धर्मशालाः अतिथिनिवासाश्च विलसन्तितराम्।

(ख) धर्मप्रचाराभियानानि

(१) धर्मो रक्षति रक्षितः। (२) धर्मेण शासिते राष्ट्रे शास्त्रचर्चा प्रवर्तते। (३) न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः।

स्वामिपादैः सनातन-धर्मस्य शास्त्रानुमोदितस्य रक्षायै श्रुति-स्मृति-पुराण-प्रतिपादित-रीति-पालन-पुरस्सरं धर्मप्रचारिण्यो धर्मयात्राः समनुष्ठिताः। हरद्वारतः गङ्गासागरं यावत्, गङ्गासागरतः पुष्करं यावत् प्रतिनगरं प्रतिग्रामं प्रतिजनञ्च सनातन-वेदधर्मानुमोदित-धर्मरहस्य-चर्चास्तेन चर्चिताः। सर्वत्रापि स्वामि-प्रवर्तितोऽयं लोकप्रियो नादः भाषणात्प्राक् संसेव्यमान आसीत्, 'धर्मस्य जयो भूयात्' अधर्मस्य च पराजयः स्यात्, प्राणिषु सद्भावना जृम्भताम्, विश्वस्य कल्याणं प्रवर्तताम्, हर हर महादेव' इत्याकारकः। अमरनाथं यावत् पदातिरेव परिभ्रमन्नयं जम्बू-काश्मीर-क्षेत्रे पंचाप-क्षेत्रे च धर्मसङ्घ-शाखां समारोपितवान्। धर्म-विरुद्धानां भ्रामक-दुर्बुद्धि-व्यामोहित-कुतर्क-विगलितानां मतानां प्रखर-पाण्डित्य-प्रसूत-तर्कोपन्यासैः समूलोन्मूलनं श्रौत-स्मार्त-धर्मानुमोदनञ्च स्वामिनां तत्प्रवर्तित-धर्मसंघस्य च मौलिकभूतं लक्ष्यमासीत्।

मन्त्रोच्चारणे कीर्तने च प्रणवस्य ग्राह्याऽग्राह्यत्व-निर्णयमधिकृत्य स्वामिपादैः 'सङ्कीर्तनमीमांसा और वर्णाश्रम-मर्यादा' इति नामको ग्रन्थो हिन्दी-भाषायां सर्वजन-सुगमो निरमायि।

गीताप्रेस-प्रकाशिते 'कल्याण' पत्रे शाङ्करभाष्य-सम्बद्ध-भ्रान्ति-जनक-लेख-खण्डनायैव स्वामिना 'शाङ्कर सिद्धान्तों पर किए गए आक्षेपों का समाधान' इत्याख्ये सर्वग्राह्ये ग्रन्थरत्ने पाण्डित्यपूर्णाः शङ्कर-तर्कराशयः प्रस्फोटिताः।

(ग) 'सिद्धान्त-सन्मार्ग' पत्रद्वय-प्रवर्तनम्

स्वामिकरपात्रपादैः देशकालोचित-वृत्तज्ञैः तात्कालिकीं परिस्थितिं विलोक्य धर्मविचारोपस्थापनाय नास्तिकानुकूल-कुधर्म-विध्वंसनाय, कुतर्क-खण्डनाय शास्त्रोक्त-विचार-प्रचारणाय च 'सिद्धान्त'

नामकं पत्रं संस्कृत-हिन्दी-लेखोल्लासितं काशीतः प्रवर्तितम्। किन्तु द्वारे द्वारे जने जने च धर्मचर्चायाः सुचारु-संचालनाय, अधर्म-वादस्य च विमर्दनाय सद्यः प्रचारैक-साधनीभूतं 'सन्मार्ग' नामकं दैनिकं हिन्दी-समाचारपत्रमपि विद्वज्जनसम्पादकत्वे काशीतः प्रख्यापितं तेन।

(घ) स्वामि-सहयोगिनः केचन धर्म-धौरेयाः

सनातनधर्म-प्रचारस्तम्भ-भूतस्य धर्मसङ्घस्य समुच्छ्वासानां सनातन-धर्म-प्रचारकार्याणां गोरक्षादि-समर्थकानां गोवध-निरोधाद्यनुष्ठानानां यज्ञयुग-प्रवर्तनानाञ्च महनीय-कार्यकलापानां प्रचार-प्रसारार्थं केचन शास्त्रैक-लोचनाः धर्माध्वनीनाः महापुरुषाः स्वामिकरपात्र-मतानुयायिनः सञ्जाताः। तेषु धर्म-धुरन्धरेषु स्वामि-सहयोगिषु अनन्याः सन्तीमे—

म० म० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी, शास्त्रार्थमहारथी पं० माधवाचार्यशास्त्री, रामानुजाचार्यपदभाजो देवनायकाचार्याः, ज्योतिष्पीठ-शङ्कराचार्यपादाः स्वामिनः श्रीकृष्णबोधाश्रम-महाराजाः, गोवर्द्धन-पीठाधीश्वराः पुरीस्थाः शङ्कराचार्य श्री निरञ्जनदेवतीर्थमहाराजाः, काशीसुमेरुपीठाधीश्वराः शङ्कराचार्याः श्रीमहेश्वरानन्द-महाभागाः, श्रीसन्तशरणवेदान्तिनः (अधुना सदानन्दस्वामिनः), ज्योतिष्पीठ-द्वारकास्थ शारदापीठोभय-शङ्कराचार्यः श्रीस्वरूपानन्द-महाराजाः, श्रीस्वामिनन्दनन्दनानन्द-सरस्वतीपादाः, विद्या-वाचस्पतयः श्रीब्रह्मचारिलक्ष्मणचैतन्यमहोदया इत्यादयः।

(ङ) यज्ञ-युगावतारः करपात्रस्वामी

'श्रीशङ्कराचार्य-नवावतारं विद्वद्-वरेण्यञ्च यतीन्द्र-वर्य्यम्।
कलौ युगे यज्ञ-युग-प्रवर्तकं नमामि तं श्रीकरपात्रिणं गुरुम्॥'

धर्मसङ्घस्य निखिलभारतीयस्य विराट्सभासु मन्द-मन्द-मेघ-मेदुरित-गर्जन-धनाढ्येन प्रवचन-वन-मृगेन्द्रेण स्वामिकरपात्रपादेन नैकधा नैकदा च धर्मानुष्ठानानां वैदेशिक-दुर्बुद्धि-विलुप्त-यज्ञा-नुष्ठानानाञ्च शास्त्रोक्त-वीथ्या परिपालनाय समर्थनाय सम्बर्द्धनाय च सदुपदेशाः प्रदत्ताः। नेमे सदुपदेशाः सैद्धान्तिकमेव परिधानं प्रत्युत प्रायोगिक-व्यवहारक्षेत्रेऽपि लब्धप्रसराः समवतारिताश्च यथाकालम्।

समग्रेऽपि भारतभूतले धर्मसङ्घ-सङ्कल्पमुल्लासयन् स्वामि-सद्वचनोपजीवितः सोऽयं विविध-यज्ञ-प्रवर्तनोपक्रमः सर्वत्रापि प्राप्तोच्छ्वासो दोधूयमान-होमधूम-लेखाजाज्वल्यमानश्च सञ्जातः। सोनीपतनगरे रुद्रमहायागः, गढ़मुक्तेश्वरे च रुद्रमहायागः, मेरठनगरे द्विःकृतौ सहस्रचण्डी महायज्ञौ, नेहरू-हृदयाजिरे दिल्लीनगर एव प्रधानमन्त्रिणा निषिद्ध्यमानोऽपि महता समारोहेण अनुकालिन्दीकूलं लब्धवितानः शतमुख-कोटि-होमात्मको रुद्र-महायज्ञः, कर्णपुरेऽपि कोटि-जनोत्कण्ठा-पिपासा-प्रशान्तये पुनरप्यनुष्ठितः स एव शतमुख-कोटिहोमात्मको महायागः, ततस्तु काश्यां कराल-कलिकालस्य सर्वप्रथम-कोटिकः सार्द्धलक्ष्य-कोटि-होमात्मक एकविंशत्युत्तरशतमुख-सर्ववैदिक-शास्त्रीय-रुद्रमहायागः, लखनऊनगरे, उदयपुरनगरे, मुम्बईनगरे च त्रिः सम्पादिताः लक्षचण्डी-महायागाः, बीकानेरे

अमृतचण्डी-समारोहः, नैकेषु प्रमुखतम-नगरेषु विश्व-कल्याण-निमित्तकाः महारुद्राभिषेक-शतचण्डी-सहस्रचण्डी-प्रभृतयो यागाः स्वामिपादैः सानन्दं सबहुदानं सविद्वत्सम्मानञ्च समायोजिताः।

(च) अधर्म-विरोधः

स्वामिकरपात्र-पादैः वैदेशिक-जन-प्रेरित-विधर्म-निवारणाय सनातनधर्म-प्रवर्तनाय च धर्म-सङ्घादिमाध्यमेन विरुद्धमत-खण्डनात्मकं-ग्रन्थरचना-चातुर्येण धर्मसम्मेलनैः सर्ववेदशाखासम्मेलनैश्च धर्मोद्धारः कृतः। 'हिन्दु ला कमेटी' माध्यमेन वैदेशिक-भारत-सर्वकारैः बलात् समारोपितानां हिन्दुजन-पीडाकराणां विधानानां 'हिन्दू-विवाह तथा तलाक बिल' इति नामकस्य अप्रदत्तोत्तराधिकारबिल इति नामकस्य च शासनादेश-पत्रकद्वयस्य प्रगाढमध्ययनं कृतवद्भिः स्वामिपादैः उक्तानामधार्मिक-पत्रकाणां विरोधः कृतः। अदम्योत्साह-धनैः स्वामिभिः यौतुक-प्रथायाः, ऋण-परम्परायाः, विवाह-पत्रकाणाञ्च निर्भयता-पुरस्सरं प्रतिवादः कृतः।

(छ) गोवध-विरोधः

अघ्न्या-पदेन स्तूयमानानां गोपाल-कृष्ण-कर-कमल-पल्लव-प्रणय-परिपालितानां निःस्वार्थ-सुधावधीरण-स्तन्य-दानैः जीवनदायिनीनां कृषकोपयोगि-वृषभवृन्द-जननीनां धेनूनां निःसंकोच-हननोत्पीडनादि-जन्यां हिन्दु-जन-विरुद्धां यातनावलीं दर्शं दर्शं, स्मारं स्मारं च गोवधरूपकं महापातकं प्रखर-धर्मयुद्धरूपेण गोवधनिरोधान्दोलनानि स्वामिपादैः व्यापीनि प्रवर्तितानि। शङ्कराचार्यादि-साधु-कोटि-समाटीकितानि चैतानि गोवध-निरोध-कार्याणि सर्वकार-निद्रापहरणक्षमाणि जातानि।

(ज) पाकिस्तान-निर्माण-विरोधः

स्वामिकरपात्रपादैः वैदेशिक-सर्वकार-प्रवर्धितानां हिन्दुमुगल-विभेदानां नियन्त्रणाय भारतैक्य-संसाधनाय पृथक्-पाकिस्तान-विरोधनाय च स्वीय-धर्म-सभासु नभश्चुम्बी निनादः प्रसारितः। राष्ट्रभक्तेन तेन पाक-विरोधाय देशस्य अखण्डतायै च परस्सहस्रं विचार-प्रस्तावाः प्रस्ताविता; प्रेषिताश्च धर्मानभिज्ञ-भारत-राजनेतॄणां समक्षम्। किन्तु त्रिकालज्ञस्य स्वामिनो विचार-नैपुणीमपरिचिन्वन्तः टण्डन-गान्धि-नेहरू-मालवीय-प्रभृतयस्तदानीं स्वामि-प्रस्तावान् अनङ्गीकुर्वन्तोऽपि पश्चात् घटिताभिः दुष्परिणाम-घटनाभिः कृतप्रायश्चित्ताः कृतान्तनिकेतनातिथयो जाताः।

(झ) शिक्षामण्डल-स्थापनम्

श्रुति-स्मृत्यनुमोदितानां मर्यादानुकूल-भारतीय-परम्परा-पालन-पराणां शिक्षा-वल्लरीणां समीचीनपल्लवनाय अखिल-भारतीय-धर्मसङ्घ-शिक्षामण्डलस्य साटोपं संस्थापनं स्वामिपादैः समाचरितम्। काश्यां, दिल्लीनगरे, वृन्दावने, हिसारक्षेत्रे, विठूरक्षेत्रे, मेरठ-नगरे, चुरूनगरे, बीकानेरनगरे, जम्बूकाश्मीर-क्षेत्रे च धर्मसङ्घ-परिसरेषु प्रवर्द्धिताः शिक्षामण्डल-सम्बद्धाः विद्यालया अद्यापि राजकीय-वित्त-साहाय्यमुपेक्ष्यापि द्विगुणितोत्साह-सम्पदा प्राप्तसम्मानाः सन्ति।

(ञ) धर्म-वीर-दल-प्रवर्तनम्

तरुण-विचार-धनाढ्येन तरुण-यति-चक्रवर्तिनानेन विहारस्थच्छपराजनपदे १९४५ ईसाब्दे सम्पन्नेऽखिल-भारतीय-धर्मसङ्घ-पञ्चम-महाधिवेशने समस्तमपि भारतं व्यापक-धर्म्मदृष्ट्या ऐक्यसूत्रे समुपबद्धुं सुमहान् आयासो विततः, अखिलभारतीय-धर्म-वीर-दलस्य संस्थापनापि कृता। दलस्य परश्शताः शाखा अधिभारतं समुच्छलन्ति। 'धर्मज्योति' नाम्नी हिन्दी मासिकपत्रिकापि धर्मवीर-दल-संवर्द्धनाय प्रवर्तिता तेन।

(ट) अखिल-भारतीय-सनातन-दल-सङ्घटनम्
अखिलभारतीय-रामराज्य-परिषत्-प्रवर्तनञ्च

नीतिधर्मयोः सामंजस्य-स्थापनार्थं लोकाभ्युदयपरक-धर्म-वर्धनार्थं, नास्तिक्यमर्दनार्थञ्च धार्मिक-जनानां राजनैतिक-क्षेत्रे प्रवेशनार्थं प्रेरणा प्रदत्ता स्वामिपादेन। हिन्दु-हित-सम्पादनाय तेन १९४५ ईसाब्दस्य सितम्बरमासे अखिलभारतीय-सनातन-दलस्य प्रवर्तनं कृतम्। सर्वैरपि तदानीन्तन-धर्म-धुरन्धरैर्जनैः समर्थितमिदं दलम्। ततः परं रामराज्य-परिषदादि-धार्मिकदलमाध्यमेनापि भारतीयता-परिरक्षणाय धर्म-युद्ध-सञ्चालनाय च तेन बहुशः कृताः प्रयत्नाः नितरां महनीयाः।

(ठ) स्वामिकरपात्र-करकमल-विगलिता ग्रन्थराशयः

१. वेदविषयका ग्रन्थाः

वेदार्थपारिजातः, वेदस्वरूप-विमर्शः, वेद-प्रामाण्य-मीमांसा, वाजसनेयी-माध्यन्दिनी शुक्ल-यजुर्वेदसंहिताभाष्यम् इत्येते संस्कृत-बद्धा ग्रन्थाः। 'वेद का स्वरूप और प्रामाण्य' इत्यको हिन्दीबद्धो ग्रन्थः।

२. भक्ति-परिपोषका ग्रन्थाः

संस्कृते—भक्तिरसार्णवः (एकादशप्रकरणात्मकः)

हिन्दीबद्धा ग्रन्थाः—भक्ति-सुधा, पिबत भागवतं रसमालयम्, भागवत-सुधा, श्रीराधासुधा रासपञ्चाध्यायी, वेणु-रव, माँ के श्रीचरणों में, रास और प्रयोजन, रामायण-मीमांसा, श्रीभगवत्तत्त्व, अहमर्थ और परमार्थ-सार, गीता का हुवमनामा, संकीर्तन-मीमांसा और वर्णाश्रम-मर्यादा, गीताजयन्ती और भीष्मोत्क्रान्ति इत्यादयः।

३. श्रीविद्योपासना-ग्रन्थाः

महात्रिपुरसुन्दरी-वरिवस्या, श्रीविद्यारत्नाकरः, श्रीविद्यावरिवस्या। इत्यादयः।

४. अशास्त्रीय-मत-खण्डनात्मका ग्रन्थाः

रामायण-महाभारत-कालमीमांसा-विदेशयात्रा—शास्त्रीय पक्ष, क्या सम्भोग से समाधि, राहुल जी की भ्रान्ति, शाङ्कर सिद्धान्तों पर किये गये आक्षेपों का समाधान, शाङ्करसिद्धान्त-समाधान, हिन्दू-कोडबिलः प्रमाण की कसौटी पर इत्यादयः।

५. राजनीति-ग्रन्थाः

मार्क्सवाद और रामराज्य, सङ्घर्ष और शान्ति, पूँजीवाद, समाजवाद और रामराज्य, बदलती दुनियाँ, ये राजनीतिक दल, धर्म और राजनीति, गम्भीर विचार की आवश्यकता, जाति, राष्ट्र और संस्कृति, रामराज्य, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और हिन्दूधर्म, रामराज्य परिषद् और अन्य दल, आधुनिक राजनीति और रामराज्य परिषद्, राजनीति में भी ईमानदारी--व्यक्तिगत या सामूहिक, समन्वय, साम्राज्य संरक्षण, इत्यादयः।

६. सदाचार-परका ग्रन्थाः

विचार-पीयूष, धर्मकृत्योपयोगि-तिथ्यादिनिर्णयः, कुम्भ-निर्णयश्च, चातुर्वर्ण्य-संस्कृति-विमर्श इत्यादयो ग्रन्थाः स्वामिकरपात्र-पाण्डित्य-कीर्तिपताकामिव समुत्तोलयन्तोऽद्यापि स्वप्रासङ्गिकतां न जहतीत्यत्र नास्ति कश्चनापि संशयलेशावकाश-प्रकाशोऽपि।

स्वामिनां महायात्रा (ब्रह्म-लयः)

कलौ युगे धर्मयुग-प्रवर्तकाः यज्ञवताराः वेदार्थ-पारिजातादि-वेदभाष्यकारा अभिनवशङ्कराचार्याः धर्मसम्राट्-करपात्रस्वामिनः, वेद-धर्म-यज्ञादि-संरक्षण-दायित्वं निभाल्य राजनीतावपि धर्मौचित्यं प्रतिपाद्य शास्त्रार्थ-महारथीति पदमधिकृत्य तपःपुञ्ज-मञ्जुकायास्ते लोकजीवनं नात्युपयोगि मन्यमानाः ब्रह्मनिष्ठाधिष्ठापित-वृत्तयः, विविधानुरागिजनोपस्थितौ नयक्कृतचिकित्साप्रपञ्चाः, महेश्वरत्रिशूलोपरि राजमानायां केदार-खण्ड-मण्डितायां काशीधरायां १९८२ ईसाब्दस्य (फरवरी-मासस्य) सप्तम-तिथौ माघ-शुक्ल-चतुर्दश्यां भानुवासरे प्रभाते पुष्यनक्षत्रे सर्वार्थसिद्धियोगेत्रिपुर-सुन्दरी-सौन्दर्य-सारोल्लास-मन्दिरीभूते सुन्दरे श्रीयन्त्रे निष्कम्पामनुकम्पासहचरीं दृष्टिभ्रमरीं निर्भ्रमं संयोजयन्तः श्रीसूक्त-वैदिक-मन्त्रानुच्चारयन्तः, शिव! शिव! शिवेति सतारस्वरमुच्चारयन्तः सनातनधर्म-विद्वन्मण्डलैक-मार्तण्ड-बिम्बोपमाः, निबद्ध-पद्मासनाः, प्रदीप्तपद्माननाः, समाराधित-पद्मासनाः, केदार-खण्डस्थे करपात्र-घट्ट-वर्तिनि वेदशास्त्रानुसंधानसंस्थानीभूते विजय-नगर-नरेन्द्रभवने स्वायत्तीभूते तृतीय-भवनखण्डे स्वेच्छया पार्थिव-लीला-संवरणमूरीकृत्य कीर्ति-कायतां प्रापद्यन्त।

धर्म-रक्षण-सक्षणाः विलक्षण-विचक्षण-मूर्धन्याः प्रवचन-लेखन-योगानुष्ठान-समाराधनादि-धर्मन्धन्या अनन्याः धर्मसम्राट्-वाचस्पति-प्रभृति-नैक-पद-प्रतिष्ठिताः विविध-सारस्वत-सम्मान-श्रीसमेधमान-मानाः करपात्रस्वामिनः ध्रुवमेव ज्ञान-प्रवर्तनाय साङ्गोपाङ्ग-वेद-संरक्षणाय च शिवाव-

तारा:, यज्ञ-युग-प्रवर्तनाय वेदोद्धाराय च शङ्कराचार्यावतारस्वरूपाश्च अद्यापि विश्व-वर्तिभिश्चिन्तन-धनैर्विद्वज्जनैर्निरक्षरैरपि भक्तैः, विद्यार्णव-पारगामिभिरपि सूरिभिः शङ्कराचार्यादिपदाधिष्ठितैरपि धर्म-पीठाधिपतिभिः ससम्भ्रमं सानुनयं सभाल-प्रणिपातं च प्रत्यहं प्रणम्यन्ते। अन्ते निपीयतां सुधाबिन्दुत्रयी—

चतुसृषु खलु दिक्षु स्फीत-धर्मध्वजानां।
मुखमहित-मठानां शाङ्कराणामधीशाः॥
अतनु-तनु-विकम्पं यस्य वाचः पिबन्तो।
रस-सरिति लुठन्ति स्तौमि तं पाणिपात्रम्॥ १॥

रिङ्गत्तरङ्गपरिसर्पदखर्वगर्वसञ्चर्वणानत-विपक्षिगणप्रणम्याः ।
आमन्द्रमन्थरपयोधरगर्जनाभा आभां दिशन्तु गिरि मे करपात्रवाचः॥ २॥

त्रिपथगा-तट-तीव्र-तपोऽनल-ज्वलित-पातक-पुञ्ज-महावनम् ।
विकट-नास्तिकधीभिरवञ्चितं भजति सूरि-समा करपात्रिणम्॥ ३॥

(आचार्य्य-रमाशङ्करमिश्रकृत—'करपात्रपूजाञ्जलितो निर्गलिता बिन्दुत्रयीयम्')

॥ शिवम्॥

✿

अंशुबोधिनीपरिचयः

आचार्यो मनुदेवभट्टाचार्यः,
नव्यव्याकरण उपाचार्यः,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी

प्रत्यूषेऽपि प्रदोषे निखिलभुवनजन्मस्थितिह्रासलीला
सप्ताश्वः प्रत्यहं ध्यानमहिमवशतो यस्य तद्वर्णपूर्णा।
शश्वद्भृङ्गायमाणाऽमरगणमुकुटस्तूयमाना समन्ताद्
देव्या वोऽव्यात्सदाऽसावहमहमिकया पादपद्मद्वयश्रीः॥

सकलपरिव्राजकसमाजसम्राजां श्रीश्रीकरपात्रस्वामिश्रीचरणानाम् **'मार्क्सवाद और रामराज्य'** नामके ग्रन्थ एकत्र पादटिप्पण्याम्[१] **'अंशुबोधिनी'**तिनामा कश्चिद् ग्रन्थ उल्लिखितः। तत्प्राप्तिप्रसङ्गः पश्चाद् विवेक्तव्यः। बहोः कालात् परं वाराणस्यां बॉसफाटकस्थाने सार्वभौमसंस्कृतप्रचारकसंस्थान-संस्थापकाध्यक्षैः पण्डितश्रीवासुदेवद्विवेदमहोदयैः स्वसङ्ग्रहत एव अंशुबोधिनीग्रन्थो मह्यं प्रादायि। ग्रन्थोऽयं महावैज्ञानिक-तत्त्वरत्नरहस्यप्रतिपादको वेदमूलक आर्ष इत्यस्ति पारेगिरां मोदस्थानम्।

एतदनुसारं सृष्टिरियं सूर्येण कृतेति, अत एव तन्नाम सविता। **'अंशुबोधिनी'**ग्रन्थं निर्माता महर्षिभरद्वाजः।

भरद्वाजो हि देवराजेन्द्रकृपाप्रसादप्राप्तचतुःकल्पायुः स्वतपोभिर्ब्रह्माणं प्रसाद्य प्रत्यक्षीकृत-सकलशास्त्ररहस्यामृतसिन्धुः वेदविज्ञानं भूलोके स्थापयामास, यथाकालञ्च तत्रभवान् भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनः श्रौतप्रयोगऋत्विग्गणविभागानुसारम् आध्वर्यवौद्गात्रब्राह्महोत्रकर्मानुसारं यजुस्सामाथर्वऋचम् सकलवाङ्मयसामान्येन गद्यपद्यगानात्मकत्वेन तां त्रयीमेव चतुष्टयीमपि सतीं वैशम्पायन-जैमिनि-सुमन्तु-पैङ्गलाऽऽत्म-शिष्यप्रधानानवबोधयामास, पश्चाच्च तत्परम्परायां कश्यपाङ्गिरसभृगुबोधायनाश्वलायनापस्तम्बयाज्ञवल्क्यादय ऋषयो वेदोपबृंहरणं चक्रुः।

तेषु च ग्रन्थेषु आ च सृष्टेराप्रलयं विषया वर्णिताः। सृष्टिक्रमे च सम्प्रति श्वेतवाराहकल्पः प्रचलतीति ज्योतिर्विदां समयः, तत्र सप्तकल्पाः, प्रतिकल्पञ्च चतुर्दश मन्वन्तराणि[२], प्रतिमन्वन्तरञ्च एक सप्ततिर्दिव्ययुगानि इति पुराणसमयः।

---

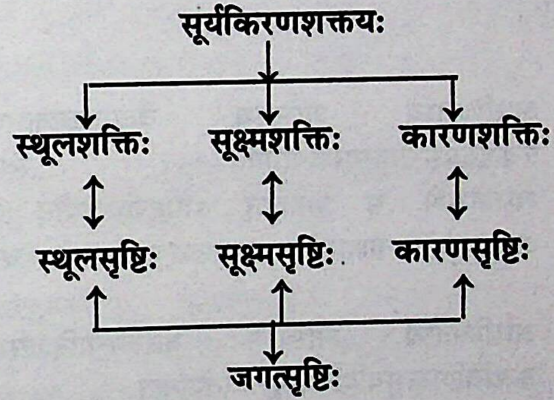
१. द्र.— 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' प्रकरणस्य त्रयोविंशत्यधिकचतुश्शततमपृष्ठादिकाऽष्ट-पञ्चाशदुत्तरचतुश्शततमपृष्ठान्तस्य सप्तत्रिंशाष्टत्रिंशाधिकचतुश्शततमपृष्ठयोः। (द्वि. संस्क. २०१९ वि. स.)

२. अत्र स्वायम्भुवः, स्वारोचिषः, उत्तमौजास्तामसो रैवतश्चाचुषो वैवस्वतः सप्तम एतदधिकारोऽधुना, परमतः सावर्णिदक्षसावर्णि-ब्रह्मसावर्णि-धर्मसावर्णि-रुद्रसावर्णि-रौच्य-भौत्यास्सप्त मनव एकस्मिन् कल्पे। 'मन्वन्तरं तु दिव्यानां युगानामेकसम्प्राप्तिः' (अ. को.) तत्र सप्तममन्वन्तरसप्तविंशतिर्महायुगानि गतानि, अधुना अष्टाविंशे महायुगेऽष्टाविंशः कलिः। ३०८५७१४२८ व. मन्वन्तरस्य (द. अ. केरि. ६६) ६ मा. २५ दि. ४२/घ. ५१ वधिककालः।

तत्रभवान् भरद्वाजोऽपि महर्षिमण्डलान्यतमो महावैज्ञानिकः सृष्टिविज्ञानरहस्यं वेदादाविश्चकार, तद्विषयकञ्च अंशुबोधिनीग्रन्थं प्रणिनाय, तदुक्तम्—

त्रयीहृदयसन्दोहसाररूपां सुखावहाम्।
कूटस्थविवृतरूपसृष्टिविज्ञानदायिनीम् ॥
यन्त्रतन्त्रोपकरणकार्यनिर्णयबोधिनीम् ।
सूर्यांशुभेदनात्तद्शक्तिप्रभेदप्रदर्शिनीम् ॥
वैदिकीं सर्वलोकानां भुक्तिमुक्तिप्रदायिनीम्।
अधिकारसहस्रैश्च[३] द्वादशाध्यायसंयुताम्॥
वर्णसङ्क्लृप्तसाङ्केतसूत्रैः सम्यग्यथाक्रमम्।
सर्वलोकोपकाराय प्रवक्ष्याम्यंशुबोधिनीम्॥

सूर्यस्य सृष्टिकर्तृत्वे वैदिकं मूलन्तु—'सूर्याद्वै खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इत्याथर्वणिकी सूर्योपनिषदेवेत्याचार्यो भरद्वाजो जग्रन्थ। अस्मिन् मन्त्रे भरद्वाजैः शोधः (REASERCH) विहितः, तदनुसारमित्थं सिद्धान्तः स्थापितस्तैर्यत् सूर्यकिरणेषु तिस्रः शक्तयः, ताभिश्च त्रिधा जगत्सृष्टिः, तथाहि—



एवञ्च—

१. सूर्यकिरणस्थितस्थूलशक्तिभिः स्थूलजगत्सृष्टिः।

२. सूर्यकिरणस्थितसूक्ष्मशक्तिभिः सूक्ष्मसृष्टिः।

३. सूर्यकिरणस्थितकारणशक्तिभिः कारणसृष्टिरिति विवेकः।

एतत्त्रितयबोधाय च तत्र उपाया इत्यपि भरद्वाजस्य समयः, तथा हि—

---

३. एवञ्च—अंशुबोधिनीग्रन्थे शतमधिकाराः, द्वादशाध्याया आसन्, अत्र 'द्वादशाध्याया शतमधिकाराः' इत्युक्ते अध्यायान्तर्गता अधिकारा इति निश्चेतुं शक्यम्, एवञ्च- प्रत्यध्यायं कतिचिदध्यायाः। तत्रापि अष्टौ नव वेति विवेक्तुं शक्यम्। एतत्पूर्वत्रापि स्पष्टम्। परं हा हन्त अधुना प्रथमाध्याय एवोपलब्धः, तदुक्तमन्ते—इत्येतत् प्रथमाध्यायसङ्ग्रहार्थो निरूपितः। तस्मात् सृष्ट्यधिकारित्वं सूर्यस्यैवेति निर्णयः॥ इत्यंशुबोधिनीशास्त्रे भरद्वाजकृते क्रमात्। समाप्तिमगमत् प्रथमोध्यायः श्रुतिपोषितः॥ इति।

१. मणिदर्पणयन्त्रौषधादिस्थूलोपकरणैः **स्थूलसृष्टिक्रमबोधः**,

२. योगशास्त्रोक्तसंयमनादिसूक्ष्मोपकरणैः **सूक्ष्मसृष्टिक्रमबोधः**,

३. वेदान्तशास्त्रोक्तविचाराद्युपकरणैश्च **कारणसृष्टिक्रमबोध** इति **विवेक**; तत्रापि शब्दलभ्यता परस्परं भिद्यते इति **बोधानन्दवृत्तिकारः**, तथा हि—,

१. **स्थूलकिरणशक्तिः**,

२. **सूक्ष्मकिरणप्रकाशसृष्टिबीजशक्तिः**,

३. **कारणसृष्टिबीजकरणप्रकाशशक्तिः** इत्थमिति बोध्यम्।

एतान् विषयान् सङ्कलय्य **केवलसूर्यकिरणप्रधानम् 'अंशुबोधिनी'ति**- नामकं शास्त्रं भरद्वाजः प्रणिनाय, तदुक्तम्— **'केवलसूर्यकिरणप्रधानमंशु-बोधिनीशास्त्रं द्वादशाध्यायपरिमितं सहस्राधिकारैः सूत्ररूपेण रचयामास।'**

अंशुबोधिनीं व्याख्यायकाः श्रीबोधायनाचार्या[४] 'बोधानन्दवृत्ति'नामिकां व्याख्यामंशुबोधिनीग्रन्थे रचयामासुः।

तदुक्तम्—

आरम्भितस्य शास्त्रस्य वेदमूलत्वकारणात्।
त्रयीहृदयसन्दोहसाररूपामिति स्वयम्॥
शास्त्रारम्भे स भगवान् भरद्वाजोऽब्रवीद् यतः।
अतोंऽशुबोधिनीशास्त्रं[५] व्याख्यानाऽर्हकतां व्रजेत्॥

अपि च—

आरम्भितस्य शास्त्रस्य करकल्पादिशास्त्रवत्।
आर्थर्वणिकसूर्योपनिषन्मूलत्ववर्णनात् ॥

---

४. अयं बोधानाचार्यो भरद्वाजप्रणीतयन्त्रसर्वस्वनामकमहाग्रन्थीयचत्वारिंशाध्यात्यामकसकलविमानापेक्षितयन्त्रोपयन्त्राङ्गप्रावारजातिभेदलोहभेदाशनप्रकार-द्वात्रिंशद्रहस्य-पञ्चावर्तैक-त्रिंशदङ्ग-तत्तद्भेदविशिष्टगतिविचार-पाकभेदकृतराजलोह-प्रभृत्यखिलविषयोपविषय-परिबृंहित-वैमानिकप्रकरणाख्यपुस्तकेऽपि अंशुबोधिनीवत् पद्यमयीं बोधानन्दनाम्नीं वृत्तिं निर्ममे। वृत्तिश्च-कर्णाटकंत आंग्लानुवादसचित्रा, दिल्लीतो हिन्दीसहिता प्रकाशितेत्यपि शोधचुञ्चुभिर्बुधेलिमम्।

५. अत्र अंशुबोधिनीनामके ग्रन्थे यथा खलु पूर्वमुक्तम्— यत् प्रत्यध्यायमधिकाराः कतिचन भवेयुः तदैव सहस्रमधिकाराः सङ्गच्छन्ते। अत्रेदं चिन्त्यते— अत्र 'अधिकारशब्दोऽयम्' अधिकरणशब्दार्थकः, किम्? यतो हि भरद्वाजीययन्त्रसर्वस्वान्तर्गतवैमानिकप्रकरणेऽपि, तथाहि तत्र— सूत्रैः पञ्चशतैर्युक्तं शताधिकरणैस्तथा। अष्टाध्यायसमायुक्तम् ....
वैमानिकप्रकरणं कथ्यतेऽस्मिन् यथामति॥ इति।
वृत्तिकारो बोधानन्दस्तु— अधिकाराधिकरणशब्दौ पृथक् पृथक् प्रयुयुजे, तथाहि—
'..............यन्त्रसर्वस्वरूपकम्।
तस्मिंश्चत्वारिंशतिकाधिकारे सम्प्रदर्शितम्। वैमानिकप्रकरणम्.......................... ॥

एतत्साङ्केतकमपि शास्त्रं वेदप्रमाणतः।
भवेद् व्याख्यानाऽर्हकत्वं शिष्टानुग्रहहेतुतः॥

अन्यच्च—

पाणिनीयादिशास्त्रप्रामाण्यदूराण्यपि क्रमात्।
श्रुतिमूलानि चेत्? सांकेतकशास्त्राण्यथाविधि॥
भवन्ति व्याख्यानार्हाणीति च व्यासेन धीमता।
उक्तत्वात् प्रवचनाधिकारे[६] पुनर्यथाक्रमम्॥
शास्त्रमानर्थक्यमिति यदुक्तं पूर्वमेव तत्।
दूरतोऽपास्तमेव स्याद् वेदव्यासोक्तितः क्रमात्॥
अतः पूर्वाचार्यमतमनुसृत्य यथाविधि।
पूर्वोक्तसांकेतकशास्त्रप्रमाणैरेव केवलम्॥
सतां मोदाय विधिवद् लोकानुग्रहकांक्षया।
सङ्ग्रहेणांशुबोधिन्याः व्याख्यानं क्रियते मया॥

ग्रन्थकारोऽयं भरद्वाजो यद्यपि भौतिकदृष्ट्या सूर्यात् सृष्टिं प्रतिपादयति अंशुबोधिनीग्रन्थे, तथाऽप्यास्तिक्यमनुसृत्य शिष्टाचारपरम्पराप्राप्तं मङ्गलं यथाशास्त्रमित्थमाचरति—

यज्ज्योतिषां ज्योतिरिति प्रचक्षते
यदं— शुभिः सर्वजगत्प्रकाशः।
यद् भासते सर्वहृदि सयंप्रभा
तमेव भान्तं प्रणतोऽस्मि नित्यम्॥
यदंशुमथनाद् दिव्यमुदुत्यं[७] जातवेदसम्।
वहन्ति केतवो नित्यं तन्नत्वांशुप्रभाकरम्॥

इदं तु मङ्गलाचरणमेवेत्यत्र नास्ति सन्देहः, बोधानन्दवृत्त्याख्यव्याख्यायां तथैवोपपादनात्, तथा हि—

'प्रारिप्सितस्य ग्रन्थस्य निर्विघ्नेन यथाक्रमम्।
परिसमाप्तिप्रचयगमनाभ्यां यथाविधि॥'

---

६. प्रवचनाधिकार इति। कोऽयं प्रवचनाधिकारः ? यदि नाम अधिकारशब्दोऽत्र अधिकरण-परो गृह्येत, तदानीमपि ब्रह्मसूत्राणांमधिकरणमयत्वेऽपि तत्र प्रवचनाधिकरो दृश्यते नहि। किमपि ग्रन्थान्तरम्, कुत्रचिद् ग्रन्थे वा प्रकरणविशेषः, परं वैयासकत्वाव्यभिचरित्वेन तन्निर्णयोऽपेक्ष्यते।

७. तथा च मन्त्रवर्णः— 'उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥' इति। मन्त्रोऽयं बहुत्र-ऋ. १.५०.१/ साम ३१/अथर्व १३.२.१६/२०.४७.१३/यजु. ७.४१/८.४१। ३३.३१/तै. सं. १.२.८.२/४.४३.१/नि. १२/१५/अत्रत्यः सायणमाधवीयो वेदार्थप्रकाशो-यथा— 'उदुत्यम्-' इति त्रयोदशर्चं सप्तमं सूक्तम्, प्रस्कण्वस्यार्षं सूर्यदेवत्यम्। आदौ नव गायत्र्यः, शिष्टाश्चतस्रोऽनुष्टुभः। तथा चानुक्रान्तम्— 'उदुत्यं सप्तोना सौर्यं नवाद्या गायत्र्य इति। आश्विनसत्रे सौर्ये क्रतौ उदुत्यमित्यादयो नवर्चः शंसनीयाः। संस्थितेष्वश्विनायेतिखण्डे सूत्रितम्— सूर्यो नो दिव उदुत्यं जातवेदसमिति। आ. ६/५ इति। केतवः=प्रज्ञापकाः सूर्याश्वा यद्वा सूर्यरश्मयः। सूर्यम्=सर्वस्वप्रेरकमादित्यम्। उद्=ऊर्ध्वं वहन्ति। उ इति पादपूरणः।

शिष्टाचारपरिप्राप्तमङ्गलाचरणं स्वतः[८]।
अनुष्ठाय यथाशास्त्रं शिष्यशिक्षार्थमादरात्॥
यंज् ज्योतिषां ज्योतिरितीत्यादिश्लोकद्वयेन हि।
स्वेष्टदेवनमस्काररूपमङ्गलमातनोत्॥
अर्थात् सूचयति ग्रन्थे अनुबन्धचतुष्टयम्।
अतिगोप्यमिदं शास्त्रं वेदस्य हृदयं यतः॥

व्याख्याकारो बोधानन्दोऽपि नितरामास्तिकः, यतः स किल **भौतिकान्** विषयान् विवृण्वन्नपि शिष्टाचारपरम्परां परिपालयन्, ग्रन्थादौ आशीर्नमस्क्रियारूपे मङ्गले अतिक्रम्य स्वेष्टदेवतानमस्काररूपं मङ्गलमाचरति, तथा हि—

महादेवं महादेवीं बाणीं गणपतिं गुरुम्।[९]
शास्त्रकारं भरद्वाजं प्रणिपत्य यथामति॥
पूर्वाचार्यान् नमस्कृत्य तद्ग्रन्थानवलोक्य च।
स्वतस्सिद्धं न्यायशास्त्रं वाल्मीकिभणितं तथा॥
परिभाषाचन्द्रिकाञ्च तथा नामार्थकल्पकम्।
समालोड्य विशेषेण तत्प्रमाणानुसारतः॥
सांकेतकरहस्यानुसारेणैव विशेषतः।
बालानां सुखबोधाय बोधानन्द[१०]यतीश्वरः॥

उक्तञ्च–मिताक्षरेष्वनर्थकाः कमीमिद्विति (नि. १/९) किमर्थम्? विश्वाय= विश्वस्मै भुवनाय। दृशे=द्रष्टुम्। यथा सर्वजनाः सूर्यं पश्यन्तु (पश्यन्ति?) तथोर्ध्वं वहन्तीत्यर्थः। ....अत्र निरुक्तम्– 'उद्वहन्ति जातवेदसं देवमश्वाः केतवः=रश्मयो वा सर्वेषां भूतानां सन्दर्शनाय (नि. १२/१५)। अत्रेदं वैज्ञानिकं रहस्यम्=केतवः=रश्मय इत्यर्थ एव युक्तः, एवञ्च सूर्योदयात् पूर्वमेव तत्किरणैरधस्तनः सूर्य उपरि नीयते इति आधुनिकविज्ञानस्यापि समयः, स च आर्षः प्रत्न एव। (द्र. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, ले. म. म. गिरिधरशर्मा चुतर्वेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् प्रकाशनम्, द्वि. सं. पृ. १४।)

८. एवमेव वै. प्रकरणेऽपि— प्रारीप्सितस्य ग्रन्थस्य निर्विघ्नेन यथाक्रमम्। परिसमाप्तिप्रचय– गमनाभ्यां यथाविधि॥ शिष्टाचारपरिप्राप्तमङ्गलाचरणं स्वतः। अनुष्ठाय यथाशास्त्रं शिष्य–शिक्षार्थमादरात्॥ यद्विमानगतास्सर्वेत्युक्तश्लोकाद्यथाक्रमम्। स्वेष्टदेवनमस्काररूपमङ्गलमातनोत्॥ अर्थात् सूचयति ग्रन्थादनुबन्धचतुष्टयम्। ब्रह्मानुग्रहसंलब्धवेदराशिः कृपाकरः॥

९. इत्थमेव मङ्गलश्लोकानुपूर्वी वैमानिकप्रकरणारम्भेऽपि, उभयत्र मूलकारो भरद्वाजः, वृत्तिकारो बोधानन्दः।

तुलना कार्या द्वयोः, तथाहि— महादेवं महादेवीं, वाणी गणपतिं गुरुम्। शास्त्रकारं भरद्वाजं प्रणिपत्य यथामति॥ स्वतस्सिद्धं न्यायशास्त्रं बाल्मीकिभणितं तथा। परिभाषाचान्द्रिकाञ्च पश्चान्नामार्थकल्पकम्॥ पञ्चवारं विचार्याऽथ तत्प्रमाणानुसारतः। बालानां सुखबोधाय बोधानन्दयतीश्वरः॥ संग्रहाद् वैमानिकाधिकरणस्य यथाविधि। लिलेख बोधानन्दवृत्त्याख्यां व्याख्यां मनोहराम्॥ व्याख्या लक्षणरीत्यास्य पाणिनीयादिमानतः। पारिभाषिकरूपत्वाद् व्याख्यातुं नैव शक्यते॥

१०. अयं बोधानन्दो लल्लाचार्याद् चित्सुखाचार्याच्च पाश्चात्कालिकः, स्ववृत्तौ तयोः स्पष्टमुल्लेखात्। तत्र लल्लप्रामाण्यन्तु वैमानिकप्रकरणस्य अंशुबोधिन्याश्च बोधानन्दवृत्तौ 'तदुक्तं लल्लेन' इत्युद्धृत्य असकृत् स्वीकृतम्। चित्सुखाचार्योल्लेखस्तु अत्रैवाग्रे स्फुटी भविष्यति। अनयोः कालं ऐतिहासिकदृष्ट्या निश्चितप्रायः। घुण्डिनाथ (ढुण्डिनाथ) नारायण–विश्वनाथ–गर्ग–वाचस्पति–शाकटायन–चाक्रायणिप्रभृतीनां कालोऽनिर्णीतः। शौनकसूत्रमुभयत्र समान–शैलीकमसकृदत्र स्मृतम्, यत्र वैदिकप्रयोगा बहुत्र, वृत्तावपि बहुत्र तथा— यथा— 'त्रीण्यथाक्रमम्' इत्यादीनीति दिक्। किञ्च— लल्लेन–'पट्टिकानिबन्धनम्', 'यन्त्रकल्पतरुः' इति ग्रन्थौ अपि रचितौ। (द्र. पृ. १२३; २४३)। अयं लल्लो ढुण्ढिनाथात् प्राक्, ढुण्ढिनाथकृते सन्धानपटलनामके ग्रन्थे लल्लस्मरणात्—

सङ्ग्रहेणांशुबोधिन्याः श्लोकरूपाद् यथाक्रमम्।
लिलेख बोधानन्दवृत्त्याख्यां व्याख्यां मनोहराम्॥
व्याख्या लक्षणरीत्याऽस्य पाणिनीयादिमानतः।
पारिभाषिकरूपत्वाद् व्याख्यातुं नैव शक्यते॥

अत्र काचिद् शङ्का—

ननु भौतिकदृष्ट्या सृष्टिवर्णनं कदाचिद् वेदविरुद्धं भवेत्, यतो हि— 'स भूरिति व्याहरद्, भुवमित्यसृजद्' इत्यादिश्रुतिषु सृष्टिवर्णनस्य स्पष्टत्वात्। न पुनः **'सूर्यकिरणात् सृष्टिः'**, इति भौतिकवादः कथन्तरां तन्यते? एवञ्च— सूर्यकिरण-सृष्टिवादस्य श्रुतिविरुद्धत्वाद् तत्प्रतिपादकस्य अंशुबोधिनीग्रन्थस्य न व्याख्यानार्हत्वमस्तीति चेद्? अत्र व्याख्याकारो बोधानन्दो बोधानन्दाख्यवृत्तिप्रारम्भे स्वयमेवैतदाशङ्क्य, तदुत्ततार, तथा हि—

श्रुतेर्विरुद्धं यच्छास्त्रं श्रुत्यङ्गानां तथैव हि।
तच्छास्त्रं दूरतस्त्याज्यं व्याख्यातुं नार्हति ध्रुवम्॥
पाण्डित्यादर्थलोभाद् वा प्रमादात् साहसाद् बुधः।
वेदवेदाङ्गदूरस्य शास्त्रस्य स्वीयबुद्धितः॥
व्याख्यानं यदि कुर्वीत रौरवं नरकं व्रजेत्।
इत्युक्तं प्रवचनाधिकारनिर्णयशास्त्रके॥
वेदव्यासेन मुनिना[११] वेदतत्त्वार्थवेदिना।
तस्मादारम्भितं शास्त्रं निरर्थकमितीरितम्॥

उक्तं हि ढुण्ढिनाथेन तदेवात्र निरूप्यते।
विमानप्रतिबन्धक-चण्डवातनिरूपणम्॥
लल्लोक्तपद्मसन्धोदेव स्यान्नान्यथा भवेत्॥ (द्र. पृ. १२४)

सम्प्रति हेलीकॉप्टरोपरिस्थितं यन्त्रवदित्यनुमेति दिक्।

एवमेव वैमानिकप्रकरणे वृत्तौ अंशुबोधिनी असकृत् स्मर्यते, अंशुबोधिन्यां वृत्तौ च तदुल्लेखदर्शनादनयोः पौर्वापरी अनुमातुमशक्येति। यथा- नागेशग्रन्थेषु-उद्द्योत-बृहच्छेखर-लघुशेखर-परिभाषेन्दुशेखर-परमलघुमञ्जूषा-लघुमञ्जूषा-बृहन्मञ्जूषासु पौर्यापर्यनिर्धारणमद्याप्यशकम्, सर्वत्रैव 'इत्यन्यत्र विस्तरः', इत्युक्तिषु तच्छिष्यवैद्यनाथपायगुण्डेकृतव्याख्यासु समेषामुल्लेखात्॥ पुराणानां पौर्ववर्यविषयेऽपीयं स्थितिः यथा- श्रीमद्भागवतमाहात्म्यस्य स्कन्दपद्मपुराणयोर्दर्शनात्, तस्य एतत्पाश्चात्यत्वसम्भऽपि '........। तत्र तत्रापरितुष्यमाण........' इत्यादि भागवतभावदीपोक्तिव्याकोपप्रसङ्गादिति दिक्।

११. वेदव्यासेनेति— श्रीवेदव्यासकृतं किमिदं प्रवचनाधिकारनिर्णयशास्त्रम्? तत्र वैयासका ग्रन्थास्त्विमे प्रसिद्धाः—

१. महाभारतम्।

२. ब्रह्मसूत्राणि।

३. व्यासभाष्यम्।

४. व्यासस्मृतिः।

५. व्यासशिक्षा।

६. व्यासप्रातिशाख्यम्।

निरर्थकस्य शास्त्रस्य कथं व्याख्यातुमर्हति ?
इति चेत्! सम्प्रवक्ष्यामि व्याख्यानर्हत्वकारणम्॥
आरम्भितस्य शास्त्रस्य वेदमूलत्वकारणात्।
त्रयीहृदयसन्दोहसाररूपामिति स्वयम्॥
शास्त्रारम्भे स भगवान् भरद्वाजोऽब्रवीद् यतः।
अतोंऽशुबोधिनीशास्त्रं व्याख्यानार्हकतां व्रजेत्॥

अत्र किञ्चिद्—

अंशुबोधिनीग्रन्थः किंस्वरूप इत्यत्र किञ्चिदुच्यते, तथाहि—

१. सार्वभौमसंस्कृतप्रचारसंस्थानग्रन्थालयाध्यक्षपण्डितश्रीवासुदेवद्विवेदमहोदयलब्धः,

२. श्रीभरद्वाजप्रणीतयन्त्रसर्वस्वनामकमहाग्रन्थचत्वारिंशाध्यायात्मकवैमानिकप्रकरणोल्लिखितः,

३. श्रीत्परिव्राजकसम्राट्करपात्रस्वामिचरणकृतरामराज्य और मार्क्सवादग्रन्थाधस्तनपादटिप्पणी-समुल्लिखितश्च।

एतेषामैक्यानैक्यविचारः[१२]

तत्र प्रथमग्रन्थस्य इत्थम्परिचयः—

'अंशुबोधिनीशास्त्रम्'

(प्रथमाध्यायः)

बोधानन्दसरस्वतीस्वामिविरचितवृत्तिरूपव्याख्यानसहितम्, **कल्याणनगरस्थितपण्डिततोगेरे-सुब्रायशास्त्रिणा** लिखितम्, तत्पादपद्मपांसुना **गो. वेङ्कटाचलशर्मणा** कृतया आंग्लभाषाटीकया सहितम्, श्रीमत्- स्वयम्प्रकाशाखण्डैकरस-भूमानन्दपरमेश्वरभारतीस्वामिन आज्ञानुसारेण मुम्बापुरी-वास्तव्यन्यायवादाधिकाराग्रेसर-**फरेदुन् के दादाचान्जी**, अपि च रणणीकलाल-रतनलाल-

---

७. ब्रह्माण्डसारः।

८. वृद्धव्याससमृतिः।

९. लघुव्याससमृतिः।

१०. पुराणानि।

अत्र 'प्रवचनाधिकारः' इति शास्त्रं क्रान्तर्भवतीति चिन्त्यम्, एतद्भिन्नं वा तदिति। न चायं व्यासो महर्षेरन्यः कश्चिदन्य आधुनिक इति शङ्क्यम् 'वेदव्यासेन मुनिना वेदतत्त्वार्थवेदिना' इत्युक्तौ 'मुनिना' इत्युक्त्यैव निरासात्।

१२. अत्रेदं बोध्यम्— प्राचीनभारते केचित् केवलसूत्रमयाः, केचित् केवलकारिकामयाः, केचिदुभयात्मानः ग्रन्था भवन्ति स्म, यथा— अष्टाध्यायी, साङ्ख्यकारिका, सङ्ग्रह इति। 'संग्रह एतत्प्राधान्येन निरूपितम्' इति भाष्ये— 'सङ्ग्रहो लक्षश्लोकात्मको ग्रन्थ इति प्रसिद्धि'; इति पण्डितश्रीनागेशभट्टाचार्यकृतोद्द्योत उक्तम्। अत्र— 'लक्षश्लोकात्मकः= लक्षश्लोकपरिमितः' इत्यर्थः। तत्र तत्र उद्धृतेषु पण्डितश्रीयुधिष्ठिरमीमांसकसङ्कलितेषु सङ्ग्रहवाक्येषु गद्य-पद्योभयात्मकदर्शनात्। तद्वद् यन्त्रसर्वस्वम्, अंशुबोधिनी च भातोरूपम्।

मोदीनामक-भगवद्भक्ताग्रेसरैः प्रकटीकृतम्। एकत्रिंशदधिकैकोनविंशे ख्रीष्टवर्षे **कल्याणनगरे वे. वि. सुब्बय्या एण्ड सन्स इलेक्ट्रिकमुद्राक्षरशालायां** मुद्रापितम्।

इदञ्च अंशुबोधिनीशास्त्रं श्रीमद्भगवत्सृष्ट्यन्तर्गत-सकलवस्तुसंशोधक-लोकोपकारिभौतिक-शास्त्रप्रवर्तकानां वस्तुसंशोधकविद्वन्मणीनामत्यन्तोपकृतये जगत्सृष्टिस्थितिलयकारक-शक्तिस्वरूप-प्रदर्शनोपयुक्त-सकलोपकरणप्रदर्शकं सूर्य- किरणप्रधानभूतं.........भौतिकशास्त्रान्तर्गतम्।

अस्मिन् ग्रन्थे **भरद्वाजसूत्राणि स्वतस्सिद्धन्यायसूत्राणि** च सन्ति, तथाहि—

भरद्वाजसूत्राणि

१. अथ कल्पसृष्टिरात्मत्वात् सूर्येण (अध्याय १, सूत्रम् १)

२. आत्मसिद्धिरधिष्ठानात् तत्**पञ्चदशन्यायेन** (अध्याय १, सूत्रम् ९ अ)

३. तत्सृष्टिरसङ्गाच्चिच्चैत्याभ्यामूर्णनाभिवत्। (सूत्रम्-२)

४. तस्यां यदीषत्स्पन्दनमग्नीषोमाभ्याम्, तच्चैत्यशक्तिरिति। (सूत्रम्-३, पृ. २७)

५. तद्वेगोत्क्षेपणात् तत्सम्भवस्तस्या दीपवत्। (सूत्रम्-४, पृ. ३३)

६. भवत्यस्यां त्रिगुणसाम्याद् चित्प्रतिबिम्बाकर्षणं दर्पणवद्, **एकोनत्रिंशन्न्यायेन**। (सूत्रम्-५, पृ. ३९)

७. तत्संयोगादत्यन्तभ्रमणस्तद्गुणानाम्। (सूत्रम्-६, पृ. ५९)

८. तस्माद् शक्तिसम्मेलनं परस्पर**मेकादशन्यायेन**। (सूत्रम्-७, पृ. ६०)

९. शक्त्योरन्योन्याकर्षणादावरणद्वयं प्रकाशस्य, तस्माद् रुद्र इति। (सूत्रम्-८, पृ. ६५)

१०. तन्महावेगात् कञ्चुकतमोऽपकर्षणम्, तमसि पूर्ववत्, **त्र्यशीति-न्यायेन**। (सूत्रम्-९, पृ. ६८)

११. ध्वान्तद्वयसंयोगे चित्सान्निध्यात् त्रैविध्यं तमसः। (सूत्रम्-१०, पृ. ८३)

१२. तदावरणादव्यक्तत्वं चितेः। (सूत्रम्-११, पृ. ८६)

१३. जन्यत्वादावरणत्वं जडत्वादप्रकाशत्वञ्च तमसः। (सूत्रम्-१२, पृ. ९०)

१४. ध्वान्तोपाधिलयात् तत्रत्यप्रतिबिम्बयोरेकत्वं पूर्वस्मिन्। (सूत्रम्-१३, पृ. ९३)

१५. तेजोऽधिकोऽतः। (सूत्रम्-१४, पृ. ९५)

१६. तस्माद् भ्रमणमव्यक्तचितश्चत्वारिंशन्न्यायेन। (सूत्रम्-१५, पृ. ९६)

१७. प्रतिबिम्बे भ्रमणे सत्यप्यधिकप्रकाशकत्वमसिद्धम्,
बिम्बप्रतिबिम्बयोरेकत्वात् **सप्ताशीतिन्यायेन**। (सूत्रम्-१६, पृ. ९८)

१८. तदधिकत्वमुपाधिभेदाद् रञ्जिकादित्यवत्। (सूत्रम्-१७), पृ. १०२

१९. तस्मात् तद्विगुणतमसोऽपकर्षणं पूर्ववत्। (सूत्रम्-१८, पृ. १०९)

२०. अतः पूर्वस्मादप्यष्टांशाधिकत्वं त्रयोदशन्यायेन। (सूत्रम्-१९, पृ. १११)

२१. निरंशत्वात् तमप्रकाशयोरन्योन्यव्यापकत्वावकाशः, त्र्युत्तरशत-न्यायेन।
(सूत्रम्-२०, पृ. ११४)

२२. अत एव स्यात् परस्परं व्याप्तिरुभयत्र। (सूत्रम्-२१), पृ. ११६

२३. आपोऽत एव। (सूत्रम्-२२, पृ. १२१)

२४. विद्युत्प्रकाशयोः परस्पराकर्षणमेकस्वरूपत्वाद् उभयत्र एकोन-नवतितमन्यायेन।
(सूत्रम्-२३, पृ. १२७)

२५. तयोः प्रतिफलनमतस्तस्मिन् दर्पणादिःयकिरणवत्। (सूत्रम्-२९, पृ. १२९)

२६. तस्मात्तदुपर्यनन्तसृष्टिपथरेखाप्रसारणं सर्वत्र। (सूत्रम्-२५, पृ. १३२)

२७. शक्तयो नव। (सूत्रम्-२६, पृ. १३४)

२८. तच्छक्त्यपकर्षणाद् ध्वान्तसम्मेलनं सर्वत्र। (सूत्रम्-२७, पृ. १३५)

२९. तच्छक्तिसंयोगाद् रोहिण्याविर्भावः, तस्मिन् षोडशोत्तरद्विशत-न्यायेन।
(सूत्रम्-२८, पृ. १३६)

३०. तत्संयोगाद् घनत्वं तच्छक्तीनाम्। (सूत्रम्-२९, पृ. १३८)

३१. विद्युच्छक्त्पकर्षणात् तासु घनत्रयव्याप्तिः सर्वत्र। (सूत्रम्-३०, पृ. १४१)

३२. शक्तित्रयसंयोगाद् ब्रह्माण्डाविर्भावः, तासु जलबुद्बुदवत् षोडशोत्तरद्विशतन्यायेन।
(सूत्रम्-३१, पृ. १४२)

३३. तद्घनशक्त्यां तदितर-शक्तांश-सम्मेलनात् तस्मिन् प्रसारित-रेखानुसारेण।
(सूत्रम्-३२, पृ. १४४)

३४. एतत्पञ्चदशात्मकः कुण्डलिन्याम्। (सूत्रम्-३३, पृ. १४७)

३५. शतकोटयोजनमेतत्प्रमाणमेतत्। (सूत्रम्-३४, पृ. १५१)

३६. अथोच्यते शक्तिपञ्जरमस्मिन्। (सूत्रम्-३५, पृ. १५३)

३७. ध्वान्तसंयोगत्वात् पिण्डत्वं तस्य। (सूत्रम्-३६, पृ. १५३)

३८. तच्छक्त्या तदण्डभेदनं कालविपाकाद् नारिकेलवत्। (सूत्रम्-३७, पृ. १५७)

३९. ततस्तच्छक्त्या तदूर्ध्वाधस्तत्कपालयोः प्रतिष्ठा। (सूत्रम्-३८, पृ. १५८)

४०. तदाकर्षणात् तमप्रकाशयोर्द्वैविध्यमव्यक्तस्य। (सूत्रम्-३९, पृ. १६१)

४१. तदुभयसङ्घर्षणाद् कश्यपज्योतिः। (सूत्रम्-४०, पृ. १६२)

४२. एवमव्यक्तध्वान्ताधःकपालशक्त्योः सङ्घर्षणात् कूर्मपीठम्। (सूत्रम्-४१, पृ. १६५)

४३. तदुभयशक्तिसङ्घर्षणाद् वातस्कन्धः। (सूत्रम्-४२, पृ. १६६)

४४. कश्यपवातस्कन्धशक्त्योः संयोगात् सृष्टिगर्भोत्पत्तिः, तद् 'अदितिः' इति।
(सूत्रम्-४३, पृ. १६७)

४५. गर्भास्सप्त। (सूत्रम्-४४, पृ. १६८)

४६. भूतकिरणाः पञ्च तत्संयोगात्। (सूत्रम्-४५, पृ. १६९)

४७. एवमारोगादयः सप्त किरणाः कश्यपकिरणगर्भयोः सङ्घर्षणात्। (सूत्रम्-३६, पृ. १७६)

४८. तच्छक्त्याकर्षणात् तदुभयप्रतिष्ठा तस्मिन्। (सूत्रम्-४७, पृ. १७८)

४९. अथाऽभवन् तदुभयशक्तिसम्मेलनात् तस्मिन्नसङ्ख्याकास्सृष्टिशक्तयः कूर्माद्याकश्यपान्तम्।
(सूत्रम्-४८, पृ. १७९)

५०. तत्सम्मेलनाच्छक्तिपञ्जरम्। (सूत्रम्-४९, पृ. १८०)

५१. सृष्टिः सूर्यकिरणेभ्यश्चिच्चैत्यविभागेन। (सूत्रम्-५०, पृ. ४८४)

स्वतस्सिद्धन्यायसूत्राणि

१. शक्तित्रयविशिष्टत्वे सत्येकस्मिन्नात्मन्यधिष्ठानान्तराभावात् सर्वाधिष्ठानभूतब्रह्मात्मना स्याद् विवृताधिकारश्च स्वस्मिन्। (स्वतस्सिद्धं न्यायसूत्रम्-१५)

२. स्वयम्प्रकाशत्वे सत्येकस्मिन् वस्तुनि स्वप्रकाशाद् चित्त्वम्, सर्वावभासकत्वाद् चिच्छक्तित्वञ्च सहजं स्यात्, सूर्यवत्। (७-स्वतस्सिद्धं न्यायसूत्रम्)

३. यत्र चिच्छक्तिः, तत्र चैत्यशक्तिसम्भवस्सहजं स्याद्, बीजाङ्कुरवत्।
(१७-स्वतस्सिद्धं न्यायशास्त्रम्)

४. शक्तेश्चलनत्रैविध्यम्, स्वोष्णतरङ्गघर्षणाद्, अग्निवत्। (२०-स्वतस्सिद्धं न्यायशास्त्रम्)

५. यस्मिन्नत्यन्तवेगः, तस्मिन् 'य'-'र' योस्तादात्म्यात् स्वशक्त्यान्यशक्त्यपकर्षणं सहजं स्याद् चित्रकवत्। (१९-स्वतस्सिद्धं न्यायशास्त्रम्, पृ. ६१)

६. यस्मिन्न्यूनाधिकत्वं शक्तिद्वयस्य, तस्मिन्नधिकाद् न्यूनग्रहणं सजहम्।
(८३-स्वतस्सिद्धं न्यायशास्त्रम्, पृ. ८२)

७. स्वस्य स्वव्यतिरिक्ताभावात् स्वत्वं न। (५-स्वतस्सिद्धं न्यायसूत्रम्, पृ. ८९)

८. शक्तिद्वयसंयोगे पूर्वस्यां ग्रहणं सहजम्। (२४-स्वतस्सिद्धं न्यायसूत्रम्, पृ. ९७)

९. स्वप्रकाशात् स्वस्य प्रतिबिम्बत्वसम्भवेऽपि तस्य प्रकाशाधिक्यसम्भवो न स्यात्, सूर्यप्रतिबिम्बवत्। (८७-स्वतस्सिद्धं न्यायसूत्रम्, पृ. १०१)

१०. विभाजितनिरंशवस्तुनोः परस्परापकर्षणं सहजम्।(१३–स्वतस्सिद्धं, न्यायशास्त्रम्, पृ. ११२)

११. विजातीयस्वरूपत्वेऽपि निरंशवस्तुनोरन्योन्यव्यापकत्वं सहजम्।

(१०३–स्वतस्सिद्धं न्यायसूत्रम्, पृ. ११६)

१२. भिन्नवस्तुत्वेऽपि स्वरूपशक्त्येकत्वे तयोः परस्पराकर्षणं सहजम्।

(८९–स्वतस्सिद्धं न्यायसूत्रम्, पृ. ११९)

१३. शक्तिद्वयसंयोगे शक्त्यन्तराविर्भावस्सहजम्।

(२१६–स्वतस्सिद्धं न्यायशास्त्रम्, पृ. १३८)

तदेवमत्र **अंशुबोधिन्यां प्रथमाध्यायस्थितानि भरद्वाजप्रणीतानि सूत्राणि,** अज्ञातप्रणीतानि **स्वतस्सिद्धन्यायसूत्राणि** कानिचनोद्धृतानि। सूत्रान्तराण्यपि कानिचित्सन्ति, तद्विवेचनं पश्चाद् विधास्यते। एतत्प्रकाशक आह—'The withim work Amsu Bodhini venerable by sage Bharadwaj hes been reproduced by Pandit T. Subbrya Shastri of Banglore in the original sanskrit and a translation There of there of has been made in English under his personal directions. This work is not current in the our world, so far as we have been informed. The process of writing of original sanskrit has been accomplished in the Traditional yogic manner by the insrtumentaly of Dhyana, which is unknown in the present time to any but a very few, who have found entrance into the inner court. The publication has been made in deference to the wishes of Panditji T. Subbaya Shastri and his revered Mahatma Guruji.

As publishers we make no claim whatsoever in regard to the original or the Traditional, which we are in formed are needed for the enlightenment of the scintific world at large, of the present day. The work leristles with numerous suggestions, many of which might lead to disconeries, by the scientists of the present day. It is for the men of srine to estimate the worth of this work. Heavy with age. The work which is but a portion only, represents the ideas of ancient scientist of india in the particular directions and the scientific world will de able to estimade to estimate to what height science had reached in the very ancient times, when the work was penned.

Medows street
Bombay, 16th March, 1931

Paredun k. Dadachanji
Ramniklal R. Mody

अत्रेदं बुधेलिमम्— **श्रीदादाचानजीमहोदयस्तु–जन्मना पारसीकः, अपरत्र मोदीमहोदयस्तु हिन्दुः। एष च मुम्बईउच्चन्यायालयीयः।** एतैस्तावद् भारतीयविज्ञानग्रन्थाः प्रकाममनुसन्धाय यत्र तत्र विकीर्णास्ततस्ततः सङ्गृह्य व्यंवस्थापिताः, तेषां सङ्गृहीतानां शास्त्राणां तत्कर्तृणाञ्च विवरणं यथा—

	शास्त्राणि		कर्तारः
१.	शक्तितन्त्रम्	—	अगस्त्यः
२.	सौदामिनीकला	—	अगस्त्यः

३.	शुद्धविद्याकल्पः	—	आश्वलायनः
४.	ब्रह्माण्डसारः	—	व्यासः
५.	अण्डकौस्तुभः	—	पराशरः
६.	कौमुदी	—	सोमनाथः
७.	मेघोत्पत्तिप्रकरणम्	—	आङ्गिरसः
८.	आकाशतन्त्रम्	—	भरद्वाजः
९.	लोकसङ्ग्रहः	—	विवरणाचार्यः
१०.	अगतत्त्वलहरी	—	आश्वलायनः
११.	प्रपञ्चलहरी	—	वशिष्ठः
१२.	लोहतन्त्रम्	—	शाकटायनः
१३.	खेटसर्वस्वम्	—	जैमिनिः
१४.	कर्माब्धिसारः	—	आपस्तम्बः
१५.	धातुसर्वस्वम्	—	बोधायनः
१६.	रुग्हृदयम्	—	अत्रिः
१७.	नामार्थकल्पः	—	अत्रिः
१८.	वायुतत्त्वम्	—	शाकटायनः
१९.	वैश्वानरतन्त्रम्	—	नारदः
२०.	धूमप्रकरणम्	—	नारदः
२१.	ओषधिकल्पम्	—	अत्रिः
२२.	करकप्रकरणम्	—	अत्रिः।

एतेषां ग्रन्थानां वैज्ञानिकत्वविषये **वेंगलूरुजनपदीय-पण्डितश्रीतोगेरे-सुब्रायशास्त्रिणा** लिखितम्—

'The name of these Shastras are suggestive of the subject matter traeated in them. **These Shastras are full of scientific research and achiavements of ancient India,** such as **VAYU-VEGA** or travelling as fast as the wind or mind, flying in the sky[13]................'

---

१३. अंशुबोधिनीभूमिका, नवमे पृष्ठे।

अत्र किञ्चित्—

सूर्यस्य जगत्स्रष्टृत्वं वेदादिषूक्तमेव, अत एवैष भगवान्— **'सविता'** इति **वैज्ञानिकैः ऋषिभिर्गीयते** क्रियासमभिहारेण। विषयममुं विशदयन् आचार्यो **भरद्वाज** इत्थं सूत्रयामास—

'अथ कल्पसृष्टिरात्मत्वात् सूर्येण।' चतुर्दशमन्वन्तरेषु व्यतीतेषु एकःकल्पः पूर्णो भवति इति पुराणसमयः। पुराणेषु एको विषयो भिद्यते चेत्तदानीम्- कल्पभेदात्तद् व्यवस्थापयन्ति आस्तिकाः पुराणप्रामाण्यवादिन इति प्रसिद्धमेव। अत्र तु **वृत्तिकारो बोधानन्दः** महाकल्पान् उदीरयति—

पराशक्त्याद्यासदाशिवकल्पान्तं यथाक्रमम्।
महाकल्पाः चतुष्षष्टिरिति शास्त्रस्य निर्णयः॥
जगत्सृष्टिः क्रमात्तेषु तत्तत्कल्पाधिकारिभिः।
तत्तत्कल्पश्रुतिप्रोक्तरीत्या नानाप्रकारतः॥
अन्नाऽन्नादप्रभेदेन सृज्यते पूर्वकल्पवत्।
एवं हि श्वेतवाराहकल्पश्रुत्यनुसारतः॥
एतत्कल्पाधिपतिना सूर्येणात्मस्वरूपिणा।
श्वेतवाराहकल्पेऽस्मिन् सृष्टिकर्म समग्रतः॥

अत्र— **'अथ कल्पसृष्टिरात्मत्वात् सूर्येण'** इति सूत्रे **'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'** इति श्रुत्या— **'आत्मत्वात्'**, इति पदमुपन्यस्तम्, तदुक्तम्— **'आथर्वणश्रुतिप्रोक्तात्मत्वं सूर्यस्य दर्शितम्।'**

एतस्माद् श्वेतवाराहकल्पात् पूर्वं पाद्मकल्पसृष्टिरासीत्, तथाहि—

'पाद्मकल्पान्तरितश्वेतवाराहकल्पके ।
तस्मात्सृष्टिरभूत् सूर्येणात्मत्वाद् विवृतत्त्वतः॥'

सूर्यात् सृष्टिं मन्वानस्य भरद्वाजस्येदं दर्शनम्—

'सङ्कल्पमकरोत् स्त्रष्टुं परमात्मा निरञ्जनः।
जगदाकारतः स्वात्मानामेति विवृतक्रमात्॥
तथाऽपि निर्विकारत्वात् स्वशक्त्योपाधिमन्तरा।
न शशाक जगत्सृष्टिं स्वयं कर्तुमथ क्रमात्॥

नन्वेवं कथं सृष्टिः प्रावर्तत ? इत्यत्र समाधत्तेंऽशुबोधिनीकारः—

स्वशक्त्यैकांशतस्त्रयीमण्डलोपाधिमद्भुतम् ।
अकल्पयत् सृष्टिबीजमयमत्यन्तभास्वरम्॥
पुनस्स्वशक्त्यैकांशेनादित्यमत्यन्ततापदम् ।
निर्माय तन्मण्डलेऽथ सन्दधे परमेश्वरः॥
तदादित्यान्तरे पश्चात् स एव जगदीश्वरः।
प्राविशत् सूर्यरूपेण सृष्ट्यर्थं जगतः क्रमात्॥[१४]

पश्चाद् शिरःपाण्याद्यङ्गैर्युक्तो मूर्तित्वमाप सः।
हिरण्यगर्भ इत्याह तमेव हि सनातनी[१५]॥
ब्रह्मेति विश्वसृडिति प्रजापतिरिति क्रमात्।
वेदशास्त्रपुराणेतिहासादिषु विशेषतः॥
एतद् हिरण्यगर्भात्मानमेवाहुर्महर्षयः।
कल्पाधिपतीनां मध्य एष एव दिवाकरः॥
श्वेतवाराहकल्पाधिपतिरित्याहुरास्तिकाः।
सूर्य आत्मेत्यतः प्राह श्रुतिः साक्षात् सनातनी॥

अत्र किञ्चित्—

पूर्वमत्र सृष्ट्यर्थं परमात्मनः शक्त्यपेक्षा साधिता, तत्र सर्वशक्तिमतः परमेश्वरस्य जगत्सृष्ट्यर्थं षट्शक्तिमयत्वमंशुबोधिन्यां वृत्तौ[१६] स्वीकृतम्, ताश्च षट् शक्तय इमाः—

---

१४. तथा च श्रुतिः— 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इति।

१५. सनातनी=नित्या, श्रुतिरिति यावत्।

१६. वृत्तौ— 'षट्शक्तिस्वरूपमुक्तं सृष्टिविलासे' इत्थमस्ति, एवञ्च— 'सृष्टिविलासनामकाद् ग्रन्थादिदमुद्धृतम्। 'सृष्टिविलास'नामक इदङ्ग्रन्थः किङ्कर्तृकः? किम्विषयको वा इत्येतन्नाज्ञायि मयका। एवं हि तत्रानुपूर्वी—

'अधिष्ठानत्वमात्मत्वमुपादानत्वमेव च।
निमित्तत्वं विवृतत्वं निरूपाधित्वमेव च॥
यस्यास्ति सततं एताः शक्तयः: षट् स्वभावतः।
तस्यैव सृष्टिकर्तृत्वाधिकारत्वं प्रकीर्तिम्॥'

एतद्विवरणं वेङ्गलूरजनपदीयकल्याणनगरस्थित-पण्डितश्रीतोगेरे-सुब्रायशास्त्रिमहोदय- चरणानुगत-पण्डितश्री गो. वेङ्कटाचलशर्मणांऽऽग्लभाषायामित्थमन्ववादि, तथाहि—

According to **'sristivilasa'** the agant of creation should inherently possese the folloing six characteristies viz—

(I) **'Abhishthanatwa'** or the quality of being the support of creation, just as a wall is the support of pictures on it.

(II) **Atmetwa** or copicity to to romein eternal and chargeless in the presnee or the absenee of creation which hes to perish.

(III) UPADANATWA or the copacity of being the chief or material couse of creation

(IV) NIMITTATWA or the powor of being the instrumental couse of cretion.

(V) VIVRITATTWA or the powor of projecting himself into the from of the universe.

(VI) NIRUPADHITTWA or the proprty of not being attached to UPADHI or any object other then himself.

Without these six characteristics agency of creation can be justified to any.

१. अधिष्ठानत्वम्।

२. आत्मत्वम्।

३. उपादानत्वम्।

४. निमित्तत्वम्।

५. विवृतत्वम्।

६. निरूपाधित्वम् इति च।

ननु—

उपर्युक्तषट्शक्तिमत्त्वस्यैव सृष्टिकर्तृत्वोपपादनात् परमेश्वरस्यैव तत्कर्तृत्वमुपयुज्यते, न सूर्यस्येतीति चेद्? अत्रोच्यते—

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इतिश्रुत्या सूर्यस्यापि परमात्मत्वरूपत्वाविरहात् सर्वशक्तिमयत्वं सिद्ध्यतीति, तदुक्तम्—

ननु सृष्ट्यधिकारत्वं निर्विकारपरात्मनः।
षट्शक्तिमयहेतुत्वाद् शास्त्रेषूक्तं महर्षिभिः॥
'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमल्पयत्।
इत्यादिश्रुतिवाक्येभ्यः कल्पितत्वं रवेः स्मृतम्॥
कल्पितस्यास्य षट्शक्तित्वमतो नैव विद्यते।' इति।
अग्रे च पूर्वपक्षं द्रढयन्नाह वृत्तिकारः—
'तस्मात्-सृष्ट्यधिकारत्वं कथन्नु घटते रवेः।
अतः सूत्रे[१८] जगत्सृष्टिः सूर्येणेति यदीरितम्॥
तदसिद्धं भवेत् तस्मादेतच्छास्त्रं निरर्थकम्।
निरुपाधिको वा सोपाधिको वात्मा महेश्वरः॥
नित्यत्वादेकरूपत्वादखण्डत्वाद् निरन्तरम्।
तस्य सृष्ट्यधिकारत्वं षट्शक्तित्वं तथैव च॥
अधिष्ठानत्वमात्मत्वं वर्तत्येवेति[१९] हि स्फुटम्।

---

१८. 'अथ कल्पसृष्टिरात्मत्वात् सूर्येण'
इति प्रथमाध्यायाप्रथमसूत्रे इत्यर्थः। एवञ्च—
सृष्टिशब्देनात्र कल्पसृष्टिर्ग्राह्या इति दिक्।

१९. वर्तत्येव—' इति। वर्तति एवेत्यर्थः। ननु वृतु वर्तते (भ्वा. आ. से) धातोरस्यात्मनेपदित्वात्कथमित्थं प्रयोगः- तथाहि—

(क) वृतु वर्तने, भ्वा. आ. से.-धातुसंख्या-७५९

(ख) वृतु वरणे— दि. आ. से. धातुसंख्या ११८५

(ग) वृतु भाषायाम्— चु. उ. से. धातुसंख्या १८०५

एवमेतदेवोपबृंहयति—

अत एव स्वतः साक्षात् क्रमादाथर्वणश्रुतिः।
[२०]सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चेत्यादिभिस्तथा॥
[२१]सूर्याद्वै खल्विमानीत्यादिवाक्यैश्च यथाक्रमम्।
सूर्यस्य सृष्टिकर्तृत्वमात्मत्वं च स्वभावतः॥

('पट-पुट-लुट-तुजि-मिजि-लिजि-लुजि-भजि-लघि-त्रसि-पिसि-कुसि-दर्शि-कुशि-घट-घटि-बृहि-बर्ह-वह्ल-गुप-धूप-बिच्छ-चीव-पुथ-लोकृ-लोचृ-णद-कुप-तर्क-वृतु-वृधु भाषार्थाः' इत्थ हि मूलपाठः।) तस्मादित्थं प्रयोगश्चिन्त्यः।

ननु— वृद्भ्यः स्यसनोः (१/३/९२) इत्यनेन पञ्चानां वृतादीनाम्। [वृतु वर्तने, वृधु वृद्धौ (भ्वा. आ. से.), शृधु शब्दकुत्सायाम् (भ्वा. आ. से.), स्यन्दू प्रश्रवणे (भ्वा. आ. से.), कृपू. सामर्थ्ये (भ्वा. आ. से.)] पाक्षिकपरस्मैपदविधानेन निस्तारः, तस्य स्य-सनोरेव-विधानात्। इति चेद्? अत्रोच्यते— चक्षिँङ् वक्तायां वाचि, अनुदात्त इँकारो ङकारश्चेतौ, तत्र आद्यस्य फलमात्मनेपदं अनुदात्तादेश्च हलादेः (३/४/१२४) इति युच्च, एवञ्च ङकारेत्त्वं व्यर्थं सद्-अनुरात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदं न नित्यं ज्ञापयतीति।

तेन— स्फायत्रिर्मोक इति वत् 'वर्तति' इत्यपि साध्विति दिक्।

२०. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चेति— मन्त्रस्यायं चतुर्थः पादः, सम्पूर्णमन्त्रस्तु इत्थम्—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आ प्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ इति।

मन्त्रोऽयं वेदसंहितास्वनेकत्रायातः, तथा— ऋक्संहितायामष्टकक्रमे १/८/६। मण्डलक्रमे १/११५/१। ऐ. आ. ३.९। अथर्व १३/२/३५। २०/१०७/१४। वाजः ७/४२/१३/४६। तै. सं. १/४/४३/१। २/४/१४/४। तै. ब्रा. २/८/७/३। तै. आ. १/७/६। २/१३/१। नि. १२/१६।

मन्त्रस्यास्य पदपाठ इत्थम्—

चित्रं/देवानां/उत्/अगात्/अनीकं/चक्षुः/मित्रस्य/वरुणस्य/अग्नेः।
आ/अप्राः/द्यावापृथिवी इति। अन्तरिक्षं। सूर्यः। आत्मा। जगतः। तस्थुषः। च।

अत्रत्यवेदार्थप्रकाशो यथा—

'चित्रम्—' इति षडृचं दशमं सूक्तं कुत्सस्यार्षं त्रैष्टुभं सूर्यदेवताकम्, तथा चानुक्रान्तम्— 'चित्रं षट् सौर्यम्' इति। आश्विनशस्त्रे सूर्योदयादूर्ध्वं सौर्यारिण सूक्तानि शंसनीयानि, तत्रेदं सूक्तं शंसनीयम्, सूत्रितञ्च— 'चित्रं देवानां नमो मित्रस्य।' आ. ६/५ इति॥

आदितस्तिस्र ऋचः सौर्यस्य पशोर्वपापुरोडाशहविषां क्रमेणानुवाक्याः, ततो द्वे वपापुरोडाशयोर्याज्ये, तथा च सूत्रितम्— 'चित्रं देवानामुदगादनीकम्—' इति पञ्च शं नो भव चक्षसा शं नो अह्ना— आ. ३८ इति॥ अतिमूर्तिनाम्नि एकाहे शुनासीर्ये पर्वणि च हविषः 'चित्रं देवानाम्—' इत्येषा याज्या, सूत्रितञ्च— तरणिर्विश्वदर्शतः 'चित्रं देवानामुदगादनीकम्'— इति याज्यानुवाक्याः— आ. ९/४ इति॥ अग्रे— '........जगतः=जङ्गमस्य। तस्थुषः= स्थावरस्य च आत्मा=स्वरूपभूतः। स हि सर्वस्य स्थावर— जङ्गमात्मकस्य कार्यवर्गस्य कारणम्। कारणाच्च कार्यं नातिरिच्यते, तथा च, पारमार्षं सूत्रम्—

'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र. सू. २/१/१४)।

२१. 'सूर्याद्वै—' अयं मन्त्रः पूर्वोक्तश्च सूर्योपनिषदि लभ्यते, तथाहि— '......सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। सूर्याद्वै

यत्तु पूर्वमवादि—

'सूर्याचन्द्रमसौ[२२] धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
इत्यादिश्रुतिवाक्येभ्यः कल्पितत्वं रवेः स्मृतम्॥' इति।

तत्तु— सर्वमपि पूर्वपक्षायमाणमिति पूर्वमेव प्रत्यपादि, एतत्सर्वं द्वितीयसूत्रे[२३] स्फुटमिति, तच्च—

'आत्मसिद्धिरधिष्ठानात् पञ्चदशन्यायेन।'[२४] (१/९)

अस्तु तावत्। अधुना कोऽर्थः सूत्रस्यास्येति विमृश्यते, तथाहि—

'आत्मसिद्धिरधिष्ठानात् तत्पञ्चदशन्यायेन' इत्यत्र आत्मन एकत्वमनेकत्वं वेति विमृश्यते, तदुक्तम्—

'तत्रादावात्मविषयविचारः सम्प्रकीर्त्यते।
एकमेवेत्यादिवाक्यैः आत्मा वेत्यादिभिस्तथा॥

खल्विमानि भूतानि। (द्र. सूर्योपनिषद्, पृ. ५०९ मो. ब. प्रकाशनम्-पूर्वार्धम्। उपनिषदियमाथर्वणी, अतः, 'भद्रं कर्णेभिः—' इति शान्तिपाठः, (द्र. मुक्तिकोपनिषत्-१/५), अतश्च पूर्वत्रोक्तम्— 'आथवर्णश्रुतिप्रोक्तात्मत्वं सूर्यस्य दर्शितम्' इति।

२२. 'सूर्याचन्द्रमसौ—' इति। सम्पूर्णमन्त्रस्तु इत्थम्—
'ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥
समुद्रादर्णवादधि सम्वत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता. यथा पूर्वमकल्पयत्॥
(अ. ८/८/४०, म. १०/१९१/१-३)
मन्त्रस्यास्य वैज्ञानिकमर्थं ज्ञातुम् सारस्वत्यां सुषमायां प्रकाशितो वैदिकविज्ञानाविष्कारक-जयपुरनरेश-महाराजमाधवसिंहराजसभाध्यक्षपण्डितश्रीमधुसूदनविद्यावाचस्पतिशिष्यान्यतममहामहोपाध्याय - वाचस्पतिपण्डितश्रीगिरिधरशर्मचतुर्वेदलिखितः 'ऋतञ्च सत्यञ्च' इति नामको लेखो मननीयः। हा हन्त, एतेषां वैज्ञानिकमन्त्राणां केवलभाषार्थं विधायैव केचन सन्तोषं लेभिरे। किमायुर्वेदस्य विषयज्ञानं विना केवलं संस्कृतभाषार्थज्ञानमात्रेण चिकित्सा स्यात्। एषैव स्थितिः वास्तु-रसायन-विमान-गजाश्व-गो-वृक्षायुर्वेद-शिल्प-भू-जल-खनिशास्त्रादीनामिति दिक्।

२३. तदुक्तम्—
द्वितीयसूत्रतः शास्त्रे सर्वमेतद् यथाक्रमम्।
विशदीक्रियते सम्यक् श्रुतिवाक्यप्रमाणतः॥

२४. पदानि त्रीणि सूत्रेऽस्मिन्नात्मसंसिद्धिनिर्णये।
तत्रादिमदेनात्मनिर्णयः सम्प्रकीर्तितः॥
अधिष्ठानस्वभावत्वं द्वितीयपदतः स्मृतम्।
स्वतस्सिद्धप्रमाणत्वं तृतीयपदतस्तथा॥
एवम्पदत्रयैः सम्यक् सूत्रेऽस्मिन् सप्रमाणतः।
ऊक्तः स्यादात्मसंसिद्धिः सुविचार्य यथाविधि॥

सूर्य आत्मेति[२५]चाकाश आत्मेत्याद्यैरनेकधा।
आत्मप्रभेदं[२६]श्रुतयो बहुधा सङ्गिरन्ति हि॥
आत्मसंसिद्धिरेतेषु श्रुतिर्लोकहितैषिणी।
एकस्यैवात्मनो ब्रूते उतानेकात्मनामिति॥
संशये समनुप्राप्ते सिद्धान्तान् सम्प्रचक्षते।

तदेवमत्र इमे पक्षाः सम्भवन्ति—

१. एकमेबाद्वितीयं ब्रह्म।

२. आत्मा वै ब्रह्म।

३. सूर्य आत्मा जगतस्तथुषश्च।

४. आकाश आत्मा।[२७]

तदेवमत्र आत्मन एकत्वानेकत्वविषये पूर्वपक्षमुद्भाव्य सिद्धान्तयति—

सत्यज्ञानानन्तरूपः परमात्मा निरञ्जनः।
सृष्ट्यादावेक एवासीद् नान्यत् किञ्चित् मनागपि॥

एवञ्च— एतावता विवेचनेन आत्मन एकत्वमेव सिद्ध्यतीति सिद्धम्, इतोऽग्रे तु—

स एवात्मा स्वमायोपाधिमङ्गीकृत्य[२८] हि स्वयम्।
गुणमूर्त्यादिभेदेनानेकात्मत्वमवाप हि॥

एवञ्च— आत्मा मूलत एको निर्मायः, परन्तु मायिकत्वे तदनेकत्वं सिद्ध्यत्येव, एवञ्च— मायोपाधिवशादेवात्मनोऽनेकत्वमिति, तदुक्तम्—

('पदत्रयैः' इति प्रयोगो मृग्यः, 'पदत्रयेण' इत्यस्यैवोचित्यात्। 'द्वौ ब्राह्मणौ' इतिवद् अनुवादकविभक्तिकल्पनया वा साधुत्वमाश्रयणीयम्। आर्षत्वमाश्रित्य वा वचनव्यत्ययः इति बोध्यम्।) अत्रैवाग्रे— 'उक्तः स्यादात्मसंसिद्धि.........।' इत्यत्र 'उक्तं स्याद्—' इत्यादिः मुद्रितः पाठः।

२५. '....आत्मेति नः काश' इत्युपलब्धः पाठः।

२६. 'आत्माप्रभेदं श्रुतये' इत्युपलब्धः पाठः।

२७. Sruti in its different passages deseribes 'ATMA' differently as follows-
(a) BRAHMA (ATMA) is one, there being Nothing else.
(b) At first ATMA alone and nothing else existed.
(c) SURYA or the SUN is ATMA.
(d) AKASA is ATMA.

२८. अत्र यतिभङ्गपादभङ्गादयः कान्तासम्मितोपदेशे काव्ये एव प्राधान्यतः सहृदयोद्वेजकत्वेन दोषा इति प्रकृते सन्तोष्टव्यम्, अत एव—
नीतिग्रन्थे—
'लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्',
'न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्।'
इत्यादिप्रयोगाः परम्परास्वीकृता एवेति दिक्॥

उपाधिग्रहणात् पूर्वमखण्डैकरसात्मनः।
आत्मसिद्धिः स्वतस्सिद्धेत्याह साक्षात् सनातनी॥
उपाधिग्रहणादूर्ध्वं स एवात्मा निरंशकः।
विवृतत्त्वं समासाद्य स्वस्मिन्नेव स्वयं क्रमात्॥
अनेकात्मत्ववद् भाति भ्रान्तिमात्रात् स्वतो नहि।
तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदित्यादिवाक्यकैः॥
तदात्मानं स्वयमकुरुतेतिवाक्यतश्च हि।

एवञ्चेत्थम् 'एक आत्मा' इत्यपि पक्षः, 'अनेक आत्मा' इत्यपि पक्ष इति व्यवस्थाभेदात् सिद्ध्यति, परन्तु तथापि आत्मनः स्वरूपं मूलन्तु एकं निरंशकमेवेति ध्वनितम्, अनेकत्वं तु मायोपाधिवशादेवेति न तत्तस्य मूलं स्वरूपम्। एवञ्च— 'अवस्थाभेदाद् व्यवस्था' इत्यास्था स्थापनीयात्रेति सम्प्रति सम्प्रतिभाति, तदुक्तम्—

विवृताविवृताभ्यामेकस्यैव हि चिदात्मनः।
एकानेकात्मसंसिद्धिं श्रुतिराह सनातनी॥' इति।

अत्र पक्षान्तरेणापि व्यवस्था, तथा हि—

(क) 'आत्मा एकः' इति मुख्यः प्रयोगः।

(ख) 'आत्माऽनेकः' इति भाक्तः प्रयोगः।

तथा चोक्तम्—

आत्मसिद्धि र्द्विधा प्रोक्ता मुख्यगौणविभागतः।
श्रुत्यामनेकात्मपरा [२९]वाक्यास्स्युर्गौणसञ्ज्ञकाः॥

एवमग्रेऽपि इदमेव तात्पर्यं द्रढयन् स्पष्टमुक्तम्—

एकात्मबोधका ये स्युर्वाक्यास्ते मुख्यसञ्ज्ञकाः।
तात्कालिकात्मसंसिद्धिर्गौणवाक्यैरुदाहृता॥
स्वतस्सिद्धात्मसंसिद्धिर्मुख्यवाक्यैरुदाहृता।
असिद्धिर्गौणसंसिद्धिरितिवेदानुशासनम्॥

अत्रेदं रहस्यं बुधेलिमम्—

वस्तुतोऽनेकात्मवादपक्षोऽपि शाखाचन्द्रन्यायेन, स्थूलारुन्धतीन्यायेन पञ्चकोशन्यायेन वा एकात्मवादपक्षमेव साधयति, एवञ्च— आत्मानेकत्ववादस्यापि आत्मैक्ये एव तात्पर्यं गुडजिह्विकान्यायात्, तथाहि—

---

२९. वाक्या इति। यद्यपि 'वचोऽशब्दसञ्ज्ञायाम्' इति सूत्रात् शब्दसञ्ज्ञायान्तु 'वाक्यम्' इत्येवेति प्राञ्चः, परन्तथापि 'परं विरोधे शेषे तु ज्ञेयं शिष्टप्रयोगतः' इत्यभियुक्तोक्त्या 'ओलस्जी व्रीडे' इति प्रयोगात् पुंस्त्वस्येव प्रकृते गतिश्चिन्त्यताम्।

एकात्मसंसिद्धिमेव लक्ष्यीकृत्य श्रुतिः स्वयम्।
अनेकात्मत्व-संसिद्धिं प्राह शास्त्रेष्वनेकधा॥
उपाधिनिरुपाधिभ्यामेकस्मिन् परमात्मनि।
एकानेकात्मसंसिद्धिर्घटत्येव न संशयः॥

तदेवम्— आत्मन एकत्वे सिद्धे तत्स्वरूपविषय इदं ध्यातव्यं यद् आत्मनि वक्ष्यमाणा **दश धर्माः** स्वभावतस्तिष्ठन्ति, ते च इमे—

१. जगत्सृष्टि-स्थिति-लयकारणत्वम्।

२. व्यापकत्वम्।

३. असङ्गत्वम्।

४. अद्वितीयत्वम्।

५. निरधिष्ठानरूपत्वम्।

६. निर्गुणत्वम्।

७. सर्वाधिष्ठानरूपत्वम्।

८. निरंशत्वम्।

९. सच्चिदानन्दरूपत्वम्।

१०. नित्यत्वम्।[३०]

आत्मगतानि धर्मान्तराण्यपि तत्रैवोक्तानि, तथाहि—

१. निमित्तत्वम्।[३१]

---

३०. आत्मविषये बहुधा विवेचनं स्पष्टं बोधानन्दवृत्तौ, तत्रैतत् प्रथमम्, तथा चाह वृत्तिकारः—
'तदुक्तमात्मव्याख्याने—
जगत्सृष्टिस्थितिलयकारणत्वं तथैव हि।
व्यापकत्वमसङ्गत्वमद्वितीयत्वमेव च॥
निरधिष्ठानरूपत्वं निर्गुणत्वमतः परम्।
सर्वाधिष्ठानरूपत्वं निरंशत्वं स्वभावतः॥
सच्चिदानन्दरूपत्वं नित्यत्वं च यथाक्रमम्।
एते दश स्वभावेन यस्यास्ति (?) सततं स्वतः॥
स आत्मेतिविशेषेण ज्ञानिभिः परिकीतितः॥

३१. तथाहि—
'निमित्तत्वमुपादानकारणत्वं तथैव च।
साक्षित्वं चैव क्रमशो जगत्सृष्ट्यैव केवलम्॥
स्वे महिम्नि स्वयं स्थित्वा स्वस्मिन्नेव स्वयं क्रमात्।
स्वेक्षणेन स्वशक्त्या च स्वप्रवेशेन तत्त्वतः॥

२. उपादानकारणत्वम्।

३. साक्षित्वम्।

४. स्वे महिम्नि स्थितिमत्त्वम्।

५. स्वेक्षणेन स्वस्मिन् प्रवेष्टृत्वम्।

वस्तुतः आत्मा स्वयं स्वस्मै सर्वं सम्पादयतीति—

'यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावः तस्माद् आत्मेति कीर्त्यते॥'

अथेदानीम्, सूत्रे—

'आत्मसिद्धिरधिष्ठानात्

पञ्चदशन्यायेन' इत्यत्र

कोऽयं पञ्चदशन्यायः ?

किंस्वरूपः ? किमर्थकः ?

किमभिप्रायकः ? इत्यादिविषये

किञ्चिदुपाचर्यते, तथाहि—

'स्वतस्सिद्धं न्यायशास्त्रम्' इति पूर्वमुदलेखि।

नूनं कस्यचिद् ग्रन्थस्य सञ्ज्ञेयम्। एवञ्चैतन्नामके ग्रन्थे यः पञ्चदशो न्यायः, स एवात्र विवक्षितः, तन्न्यायस्वरूपञ्चेत्थम्—

'शक्तित्रयविशिष्टत्वे सत्येकस्मिन्नात्मन्यधिष्ठानान्तराऽभावात् सर्वाधिष्ठानभूतब्रह्मात्मना स्याद् विवृताधिकारश्च स्वस्मिन्।' दशपदं सूत्रमिदम्। तथा हि—

१. शक्तित्रयविशिष्टत्वे— ससम्येकवचनान्तम्।

२. सति— ससम्येकवचनान्तम्।

३. एकस्मिन्— ससम्येकवचनान्तम्।

४. आत्मनि-पूर्ववत्।

५. अधिष्ठानान्तराऽभावात्— पञ्चम्येकवचनान्तम्।

६. सर्वाधिष्ठानभूतब्रह्मात्मना— तृतीयैकवचनान्तम्।

७. स्यात्— प्रथमैकवचनान्तम्।[३२]

उपाधिनिरुपाधिभ्यां यदात्मेति स्वभावतः।
तदात्मेति विशेषेण प्रवदन्त्यात्मवेदिनः॥

८. विवृताधिकारः— प्रथमैकवचनम्।

९. च— अव्ययम्

१०. स्वस्मिन्— सप्तम्येकवचनान्तम्

अस्यायमर्थः—

सूर्यरूपे परमात्मनि तिस्रः शक्तयः—

(१) विवृतशक्तिः।

(२) व्यापकशक्तिः।

(३) चिच्छक्तिः।

एतत्त्रयविशिष्टे ब्रह्मणि एव सर्वाधिष्ठानत्वं सूत्रकृदभिमतमिति। तदुक्तम्—

'[३३]शक्तित्रयविशिष्टत्वादेकस्मिन् परमात्मनि।
अधिष्ठानाऽन्तराऽभावात् स्वस्मिन्नेव स्वभावतः॥
सर्वस्याधिष्ठानरूपाद् ब्रह्माकारेण केवलम्।
विवृतत्वाधिकारत्वं सहजं स्यादितीरितम्॥'

---

३२. प्रथमैकवचनान्तम् इति। अत्र यथाप्रसिद्धि 'प्रथमपुरुषैकवचनान्तम्' इत्येव बहूनामीप्सितं स्यात्, परन्तु— पाणिनिना 'प्रथमः', मध्यमः, उत्तमः' इत्येव सञ्ज्ञाः, तद्विधानञ्च विहिते, 'पुरुष' पदं तत्र नास्ति, तथा च पाणिनीयमनुशासनम्—
(क) 'तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः।
(ख) प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च।
(ग) अस्मद्युत्तमः।
(घ) शेषे प्रथमः।
(च) युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः।
(छ) णलुत्तमो वा।
एषु पुरुषपदप्रयोगः पूर्वाचार्यानुरोधेनेति कल्पयितुं निश्चेतुं वा शक्यम्, प्रसिद्धतमत्वाच्च पाणिनीयेऽपि तथा प्रयोग इति प्रतीमः, तत्त्वादेव च पर्यायप्रयोगोऽपि, यथा—
'सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणाम्.......' इत्यादि सिद्ध्यतीति साम्प्रतं सम्प्रति सम्प्रतिभातीति दिक्। (द्र० मत्कृतबृहद्वैयाकरणरूपालीभूमिका)

३३. शक्तित्रय—' इति। एतच्च बोधानन्दवृत्त्युद्धृत आत्मशक्तिविलासे स्पष्टम्, तथाहि—
'अत्यद्भुताः स्वतस्सिद्धा नानाचित्रविचित्रकाः।
शक्तयस्सन्त्यसङ्ख्याकाः चिन्मये परमात्मनि॥
आत्मनः सहजा नित्या महावेगप्रकाशकाः।
प्रधानशक्तयः, तासु मुख्यास्तिस्र इतीरिताः॥
एतासु विवृता शक्तिः प्रथमेतिप्रकीर्तिता।
द्वितीया व्यापिका शक्ति चिच्छक्तिस्स्यात्तृतीयका॥

(१) अथ विवृतशक्तिः विव्रियते—

विवृता शक्तिस्तावत् तथा भवति, यथा तरङ्गादयः सूर्यस्पर्शं न कृत्वाऽपि सूर्यस्य सहस्रभेदं जनयन्ति, तथैव परमात्मानमस्पृष्ट्वाऽपि तस्य बहुविधत्वसम्पादिका शक्तिः विवृता शक्तिः।[३४]

(२) अथ व्यापिका शक्तिर्विव्रियते—

जडे पदार्थे चैतन्यापादिका नाम व्यापिका शक्तिः, अर्थाद् सा नाम व्यापिका शक्तिः, या जडेऽस्मिञ्जगति स्वयमनासज्य स्वप्रसङ्गात् चैतन्यं[३५] सम्पादयति।

(३) चिच्छक्तिविवरणम्

स्वप्रकाशेन या जगद् भासयति सा चिच्छक्तिः[३६]। तदेवम्— तिसृणामपि शक्तीनां कार्यं पृथक् पृथक् अस्ति, तथाहि—

(१) विवृतशक्त्या रूपान्तरप्रतीतिः।

(२) व्यापकशक्त्या जडे जगति चैतन्यापादनम्।

(३) चिच्छक्त्या च सर्वाभासकत्वम् इति।

तदुक्तम्—

यतः स्वविवृतशक्त्या जगद्रूपं जडात्मकम्।
यतो व्यापकशक्त्याऽथ जगच्चैतन्यरूपकम्॥

इत्युक्तं चित्सुखाचार्यैः एता एव विशेषतः।
प्रोक्ताः शक्तित्रयमिति न्यायसूत्रे यथाक्रमम्॥'

३४. यथा जलतरङ्गाद्या अस्पृष्ट्वा सूर्यमण्डलम्।
तस्य नानाविकारेण कुर्वन्ति विवृतत्त्वताम्॥ (?)
तथैव विवृता शक्तिः तमस्पृष्ट्वा महेश्वरम्।
विवृतत्त्वं कल्पयन्ति तस्यैव परमात्मनः॥ *(द्र.- अं. बो., पृ. ११)*

३५. चैतन्यमिति, तदुक्तम्—
'तथैव व्यापिका शक्तिः निश्चैतन्ये जडात्मके।
विवृताऽऽकाररूपेऽस्मिञ्जगति स्वीयतेजसा॥
प्रविश्यासङ्गभावेन तद्व्याप्याकाशवत् क्रमात्।
दत्त्वा स्वसन्निधानेन चैतन्यं जगतः स्वयम्॥
अहङ्कारं पुरस्कृत्य व्यवहारादिषु क्रमात्।
स्वतः प्रवृत्तिं सर्वत्र प्रकल्पयति नाऽन्यथा॥'

३६. च्छिक्तिरिति, तदुक्तम्—
'चिच्छक्तिर्विवृताकारं जगदेतच्चराचरम्।
पश्चात्तदन्तर्बहिश्च स्वभासा भासयेत् पुनः॥
स्वप्रकाशादेव स्वस्मिन् साक्षिरूपेण संस्थिता।
सद्भावत्वमभावत्वं वस्तुनः पश्यति स्वयम्॥'

सर्वाभासकत्वं च चिच्छक्त्याऽथ यथाक्रमम्।
यतो भवेत्ततोऽधिष्ठानान्तत्वं परात्मनः॥

एतावता प्रबन्धेन सूत्रस्य—

'शक्तित्रयविशिष्टत्वे सत्येकस्मिन्नात्मनि' इयानंशो व्याख्यातः। सम्प्रति—

'अधिष्ठानान्तराऽभावात्' इत्यंशो विवेचनीयः, तथा हि—

स्वीयशक्तित्रयाधिष्ठानत्वेन अन्याधिष्ठानाभावत्वं ब्रह्मणः सिद्ध्यति, इदमेव—

अधिष्ठानान्तराभावत्वम् इति बोध्यम्।

एवञ्च—

अन्यद् अधिष्ठानम्-अधिष्ठानान्तरम्[३७], तदभावात्=**अधिष्ठानान्तराभावात्**, तदुक्तम्—

'द्वितीयवस्त्वभावत्वाद् नास्त्येवेति निरूपणात्।
स्वतोऽधिष्ठानसंसिद्धिर्घटेतैव न संशयः॥'

अथेदानीम्—

अधिष्ठानपदार्थो विविच्यते—

अधिष्ठानपदार्था बहवः।

तथा हि—

१. स्वभावत एव सर्वजगदधिकर्तृत्वम् अधिष्ठानत्वम्।

२. यद् जगद् बिभर्ति, परन्तु जगद् यद् न बिभर्ति, तदप्यधिष्ठानम्।[३८]

३. स्वमायोपाधिवशाज्जगत् सृष्ट्वा तत्र प्रविश्यासङ्गो-

धारयति यत् तदप्यधिष्ठानम्[३९]—

४. लक्षणान्तरन्तु— यस्य सदा स्वभावत एव निमित्तत्वादिषड्धर्माः सन्ति, तदप्यधिष्ठानम्।[४०]

---

३७. **अधिष्ठानान्तरमिति—मयूरव्यंसकादित्वादस्वपदविग्रहो नित्यसमासः, 'अविग्रहो नित्यसमासः' इत्युक्तेः। ननु— विग्रहाभावे समास एव कथम्? परार्थाभिधानं वृत्तिः, वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः, कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातूनां वृत्तित्वादिति चेद्? अविग्रहः=लौकिक-विग्रह-रहित इत्यर्थः। अलौकिकविग्रहस्तु समासमात्रे भवति, तत्रैव समासप्रवृत्तेः, लौकिकविग्रहस्तु वृत्त्यर्थावबोधनाय प्रवर्तते, न तत्र समासः प्रवर्तते, तदुक्तं बृहद्भूषणे—अविग्रहो लौकिकविग्रहरहितः।**
(द्र.—रूपालीसहितमस्मत्सम्पादितं संस्क.)

३८. **तथा च बोधानन्दवृत्तिः—**
'तदुक्तमात्मतत्त्वप्रकाशिकायाम्—
अधिकृत्य जगत् सर्वं वर्तते यत् स्वभावतः।
तदधिष्ठानमित्याहुः शास्त्रेषु बहुधा बुधाः॥' इति।

३९. **लक्षणान्तरं सृष्टिविलासोक्तं तत्रैव—**

एतावता प्रबन्धेन सूर्यस्य स्वशक्त्यधिष्ठानत्वम्, आत्मत्वञ्च साधितमिति।[४१]

इदानीम्— सूर्य एव आत्मेति सिद्धे,

सूर्यस्य=आत्मनः, द्वाभ्यां शक्तिभ्यां जगत्सृष्टिक्रमः प्रदर्श्यते, ते च द्वे शक्ती—

(क) **चिच्छक्तिः,**

(ख) **चैत्यशक्तिः** इति बोध्ये।

तथा च सूत्रम्—

'तत्सृष्टिरसङ्गाद् चिच्चैत्याभ्यामूर्णनाभिवत्।'

अथ पदार्थः—

१. **तत्सृष्टिः**=जगत्सृष्टिः।

२. **असङ्गात्**=निर्लेपात्।

३. **चिच्चैत्याभ्याम्**=निमित्तोपादानशक्तिभ्याम्।

४. **ऊर्णनाभिवत्=ऊर्णातन्तुवत्।** स्वभावत इत्यर्थः। अयं भावः-आत्मशक्तिः (सूर्यशक्तिः) द्विधा—

(१) 'चित्' इति नाम्नी।

(२) 'चैत्य' इति नाम्नी च। तथा चोक्तम्—

'चिच्छक्तिश्चैत्यशक्तिश्चेत्यात्मशक्तिर्द्विधा मता।
ताभ्यामसङ्गभावेन परमात्मा निरञ्जनः॥

'यद् बिभर्ति जगत्सर्वं जगद् यद् न बिभर्ति हि।
तदधिष्ठानमित्याहुर्ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥' इति।

००. यत् स्वमायोपाधिशक्त्या जगदेतच्चराचरम्।
सृष्ट्वा तदन्तरे पश्चादन्तर्यामितया स्वयम्॥
स्थित्वा सन्धारयेत् सर्वमसङ्गत्वेन केवलम्।
तदेवाधिष्ठानमिति प्रवदन्ति मनीषिणः॥ इति।
इति प्रपञ्चलहर्याम्।

४०. 'अपि च—
निमित्तत्वमुपादानत्वमात्मत्वं तथैव हि।
निराधारस्वभावत्वं सर्वाधारत्वमेव च॥
सर्वावभासकत्वं च यस्यास्ति सततं स्वतः।
तमेवाधिष्ठानमिति प्रवदन्ति मनीषिणः॥' इति।

४१. 'रवेरधिष्ठानसिद्धिमात्मसिद्धिं च सङ्ग्रहात्।
एवमुक्त्वा जगत्सृष्टिक्रमस्तत्र निरूप्यते॥'

अनेककोटिब्रह्माण्डाकारेणैतद् जगत् स्वयम्।
स्वसन्निधानमात्रेणैवोर्णनाभिरिवासृजत् ।'

विषयोऽयं **श्रीमद्भागवते** समुपबृंहितः।

अथेदानीमुपस्थाप्यते— का नाम चित्? का च चिच्छक्तिः?[४२] इति। तत्रेदं बोध्यम्— **स्वयम्प्रकाशस्वप्रकाशयोस्सामानाधिकरण्यं चित्त्वम्,** तथात्वे सूर्य इव सर्वावभासकत्वाच्चिच्छक्तित्वं सहजं भवति—

'स्वयम्प्रकाशत्वे सत्येकस्मिन् वस्तुनि
स्वप्रकाशाद् चित्त्वम् सर्वावभासकत्वाद्
चिच्छक्तित्वं च सहजं स्यात् सूर्यवत्।'

एतदर्थो यथा—

'रवेः स्वयम्प्रकाशत्वं यथा, तद्वत् स्वभानतः।
सर्वावभासकत्वं च सहजं स्यात् स्वभावतः॥
तथैवात्मनि चित्त्वञ्च चिच्छक्तित्वमपि क्रमात्।
स्वतस्सम्भवतीत्यस्मिन् सूत्रे सम्यक् प्रदर्शितम्॥'

विस्तरेण यथा—

'स्वयम्प्रकाशाऽखण्डैकरसब्रह्मैव केवलम्।
सूत्रेऽस्मिन् वस्त्विति प्रोक्तं सङ्केतत्वेन च क्रमात्॥
द्वितीयवस्त्वभावत्वात् स्वान्यत् तस्यैव वस्तुनः।
स्वयम्प्रकाशमानत्वमेकत्वञ्च यथाक्रमम्॥
घटत्येव स्वभावेन श्रुतिमानानुसारतः।
यतः स्वयम्प्रकाशत्वं ततश्चित्त्वं परात्मनः॥
सर्वावभासकत्वं तच्छक्तेर्यस्मात् स्वभावतः।
तस्माद् चिच्छक्तित्वमपि ब्रह्मणः सहजं भवेत्॥'

एतद् बोधनायैव सूर्यवदिति[४३] दृष्टान्तः।

सूर्यः स्वयम्प्रकाशोऽस्ति, स्वप्रकाशोऽप्यस्ति।

एवञ्च— एकोऽयं परामात्मा एव तादशः।[४४]

---

४२. चैत्यशक्तिविचारः पश्चात् प्रस्तोष्यते।

४३. यदुक्तं सूर्यवदिति दृष्टान्तः स इति स्मृतः।

४४. स्वयम्प्रकाशमानत्वे सत्येकस्मिन् परात्मनि।
द्वितीयवस्त्वभावाद् एकत्वं तद्वदेव हि॥
सर्वावभासकत्वाद चिच्छक्तित्वमपि क्रमात्।
प्रकाशान्तरराहित्यात् स्वयंभानत्वमात्मनः॥

अथ चैत्यशक्तिनिरूपणम्—

स्वयम्प्रकाशाधिकरणे स्वप्रकाशे सति चित्त्वम्, तद्वद् यत्र चिच्छक्तिस्तत्रैव चैत्यशक्तिरपि स्वभावतः सम्भादिति, यथा सति बीजेऽङ्कुरोत्पत्तिः स्वाभाविकी।

तथा चोक्तम्—

'यत्र चिच्छक्तिस्तत्र चैत्यशक्तिसम्भवः
सहजं[४५] स्याद् बीजाङ्कुरवत्।'

एतद्विवरणं यथा—

'बीजे यथाऽङ्कुरोत्पत्तिः सहजं स्यात्तथैव हि।
स्वतोऽस्ति यत्र चिच्छक्तिस्तत्र कर्मविपाकतः॥
चैत्यशक्तेः सम्भवोऽपि सहजं स्यादितीरितम्।
तस्माद्-चिच्छक्तिवद् चैत्यशक्तिरप्यात्मनः स्वतः॥
सहजं स्यादिति सप्तदशन्यायविनिर्णयः।
शक्तिद्वयमात्मनोक्तमेवं न्यायद्वयेन हि॥'

बीजाङ्कुरन्यायविषये सम्पादक इत्थं स्पष्टयति—

Just as it is natural that a sprout comes out of a seed, of course under suitable conditions, so also it is natural that CHAITYA SHAKTI evoloes out of CHIT SHAKTI on account of the ripening of the fruit of actions (KARMAVASANA) of creatures, which were melted in it (CHIT SHAKTI) during the Past dissolution (PRALAYA). Thus the 17th axiom eslablishes that Paramatme naturally Passesses chaity shakti as well as chitshakti.

अथ यदुक्तं यद् यथा बीजेऽङ्कुरोत्पत्तिः स्वाभाविकी, तद्वत् चिच्छक्तौ चैत्यशक्त्युत्पत्तिरिति, सा कथन्तरां सम्भवति?

इत्यत्राह—

'तस्यां यदीषत्स्पन्दनमग्नीषोमाभ्यां तच्चैत्यशक्तिरिति।'

(सप्तपदं सूत्रमिदम्)

अत्र तस्याम्=चिच्छक्तौ।[४६]

स्वभावादेव सहजमिति न्यायनिरूपणम्॥

४५. तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (३/४/४५) इतिवत् प्रयोगः।

४६. एवं न्यायद्वयाद् शक्तिद्वयमुक्त्वा परात्मनः।
इदानीं चैत्यशक्तिस्वरूपमत्र निरूप्यते॥
चैत्यशक्तिस्वरूपप्रबोधकानि यथाक्रमात्।
पदानि सप्त सूत्रेऽस्मिन् निर्णीतानि यथाविधि।
तेष्वादिमपदाद् चिद्शक्तिस्वरूपं प्रदर्शितम्॥

'ईषद्' इति स्पन्दनविशेषणम्।'[४७]

अत्रायं ग्रन्थकारीयसिद्धान्तप्रक्रियाप्रकारः—

१. प्रलयकाले प्राणिनां कर्मवासनाः स्वभावेन पृथक् पृथक् सत्त्व-रजस्तमोरूपाः अग्नीषोमशक्तौ प्रविशन्ति।

२. तत्र प्रवेशे सति साम्यावस्थां लभन्ते।

३. कर्मवासनालिङ्गितैवाग्नीषोमशक्तिः चिच्छक्तौ लीयते।

४. चिच्छक्तौ प्रतिबिम्बरूपा चित् स्वयमेव बिम्बरूपे चिति स्वस्वरूपेण सह लीयते।

५. काले गते बहुतिथे अग्नीषोमान्तर्गतकर्मवासनाः पक्वा भवन्ति।

६. ततः सूक्ष्मरूपेण विकसन्ति।

७. ततः कर्मगर्भशक्तिसहितास्तास्ता वासना भवन्ति।

८. अतः परम्— चिति लीनस्य प्रतिबिम्बांशुप्रकाशस्य बालाग्रशत-भागस्य दशैकांशप्रमाणतः[४८] अंशक्रमात् सूरणमार्गेण (सूर्यमार्गेण?) आकर्षयन्ति।

९. पश्चात्ताः कर्मवासनाः तत्तच्छक्तियुता एव अग्नीषोमीयमण्डलं प्रविशन्ति।

१०. अयञ्च प्रवेशोऽतिवेगेन भवति, यथा आदिनं यत्र तत्र भ्रामं भ्रामं पक्षिणः सायं स्वनीडं रभसेन प्रविशन्ति, तद्वत्।

११. ततः अग्निश्च सोमश्चेति द्विधा पृथक् पृथक् विभज्यते।

१२. तदनन्तरम् वामभागे सोमस्थितिः, दक्षिणभागे चाग्निस्थितिरिति विवेकः।

१३. पश्चात् तयोर्भ्रामणं महता वेगेन भवति।

भ्रामणस्य वेगस्तु इत्थम्—

शतकोट्यष्टलक्षत्रिसहस्त्रत्रिशतं क्रमात्।
निमेषमात्राद् भ्रमणमग्निशक्तेः स्वभावतः॥
तथैव सोमशक्तेश्च प्रभवत्यतिवेगतः।

१४. एवं द्वयो र्भ्रामणे वृत्ते तदा झटिति स्वान्तर्गताग्नीषोमीयशक्तिभ्यां चिच्छक्तिः क्षुभिता भवति।

---

४७. द्वितीयपदतः प्रोक्तं स्पन्दनस्य विशेषणम्।
तृतीयपदतः शक्तेरीषत् स्पन्दनमीरितम्॥
चतुर्थपदतोऽग्नीषोमशक्तिद्वयमीरितम्।
तथैव पञ्चमपदादुक्तं चैत्यविशेषणम्॥
तदुत्तरपदाद् चैत्यशक्तिरूपं प्रदर्शितम्।

४८. As much as one tenth of a hundredth part of the tip of a hair.

१५. अनेन क्षोभेण चिच्छक्तौ अत्यन्तसूक्ष्मस्पन्दनं भवति।

१६. इदमेव— 'तस्यां यदीषत् स्पन्दनमग्नीषोमाभ्यां तच्चैत्यशक्तिरिति' इति सूत्रतात्पर्यम्।

१७. इदमीषत्स्पन्दनमेव— 'चैत्यशक्तिः' इति सूत्रे निरूपितम्—

एवमग्नीषोमीयमण्डलेऽस्मिन् भ्रमणं तयोः।
यदा भवति वैचित्र्यात् तदा चिच्छक्तिरञ्जसा॥
स्वान्तर्गताग्नीषोमीयशक्तिभ्यां क्षुभिता भवेत्।
तेनेषत् स्पन्दनं तस्यां भवत्यत्यन्तसूक्ष्मतः॥
यदीषत् स्पन्दनं तस्यां तदेवात्र विचारतः।
चैत्यशक्तिरिति प्रोक्तं सूत्रेऽस्मिन् सम्प्रदायतः॥

उपर्युक्तं सर्वमपि विषयजातमित्थं बोध्यम्—

प्रपञ्चप्रलये सर्वप्राणिनां कर्मवासनाः।
शुक्ल-कृष्णा-रजोरूपाः स्वभावेन पृथक् पृथक्॥
प्रविश्याग्नीषोमशक्त्यां[४९] साम्यावस्थां व्रजन्ति हि।
तैस्सहाग्नीषोम[५०]शक्तिश्चिच्छक्त्यामथ लीयते॥
तदन्तर्गतचित्प्रतिबिम्ब[५१]श्चापि स्वयङ्क्रमात्।
बिम्बरूपे चिति ततः स्वस्वरूपेण लीयते॥
पश्चादग्नीषोमशक्त्यन्तर्गतं कर्मवासनाः।
क्रमात् कालविशेषेण परिपक्वं गता यदि॥
अत्यन्तसूक्ष्मरूपेण विकासत्वं भजन्त्यपथ।
पश्चात्तद्वासनास्स्वस्वशक्तिभिः कर्मगर्भितैः।
चिल्लीनप्रतिबिम्बांशुप्रकाशांशमतः परम्।
बालाग्रशतभागस्य दशैकांशप्रमाणतः॥
क्रमात् सूरणमार्गेण कर्षयन्ति.........।
पश्चात्तच्छक्तिसंयुक्तास्तेऽग्नीषोमीयमण्डलम्।
प्रविशन्त्यतिवेगेन स्वनीडमिव पक्षिणः॥
तत्रत्याग्नीषोमशक्तिद्वयं व्याप्य द्विधा क्रमात्।
स्वसन्निधानमात्रेण विभज्याऽथ पथाक्रमम्॥
वामे सोमं दक्षिणेऽग्निं स्थापयामासतुः[५२] क्रमात्।
पश्चात्तयोर्भ्रामणत्वं विंशतिन्यायतो भवेत्॥

---

४९. अग्नीषोमशक्तिः=मूलप्रकृतिः।

५०. देवता द्वन्द्वे (२/२/९४४), अग्नेस्तुत्स्तोमसोमाः (८/४/४८)।

५१. CHITPRATIBIMBA is the image of ATMA, seen in Prakriti just as the image of an obejeet refleet in a looking glass.

तद्भ्रामणप्रमाणन्तु सङ्ख्ययाऽत्र प्रदृश्यते ॥[५३]

अथ यदुक्तमग्नीषोमशक्त्योर्भ्रामणमिति, तद्विमर्शस्त्वित्थम्, तत्रेदं सूत्रम्—

'शक्तेश्चलनत्रैविध्यं स्वोष्णतरङ्गघर्षणाद्, अग्निवत्।' इति।

सूत्रमिदं पुरुषार्थवृन्दमिव चतुष्पदम्। अत्रेदं विवेचनम्—

शक्तिस्तावद् रूपद्वयाढ्या[५४], यथा—

शक्तिः (चिच्छक्तिः)

लोहितम्	चपलम्
पुंशक्तिः तापनाख्या	स्त्रीशक्तिः
अचला, तापसंयुक्ता	उष्णा, तपनोद्गारिता
नित्या, सूक्ष्मा	
सर्वव्यापिका	

अत्रायं विशेषः—

पुंरूपतपनाशक्तिसान्निध्यादेव चपलाशक्तौ उष्णाधिक्यं भवति, अयं किल तदीयः स्वभावः, ततश्च— सूक्ष्मास्तरङ्गाः प्रादुर्भवन्ति। कियति काले कियन्तस्तरङ्गा; सम्भवन्ति ? इति प्रश्ने इदमुत्तरं यत्—

छोटिकावच्छिन्नकाले[५५] प्रभवन्ति यथाक्रमम्।
एकादशोत्तर-त्रिशतसङ्ख्याः सर्वतोमुखाः ॥
तपनाशक्तिसान्निध्याद् एतच्छक्त्यां स्वभावतः।
उष्णाधिक्यं भवेत्तस्मात् तरङ्गाः सूक्ष्मरूपिणः ॥
त्रिविधं चलनं पश्चात् तत्सङ्घर्षणतः क्रमात्।
भवत्येवाग्निवत् तस्यामितिन्याय[५६]विनिर्णयः ॥

(द्र. अं. बो., पृ. ३०)

---

५२. अत्र कर्तृपदं मृग्यम्। अग्नीषोमीयशक्ती ? इति किम्

५३. भ्रामणसङ्ख्या तु पूर्वं प्रत्यपादि।

५४. रूपद्वयं भवेच्छक्तेर्लोहितं प्रथमं तयोः।
द्वितीयरूपं चपलमिति प्राहुर्मनीषिणः ॥
यल्लोहितं स्वरूपं स्यात् तत्पुंशक्तिरिति स्मृता।
तपनत्वात् तापनेति प्रवदन्ति मनीषिणः ॥
अचलातापसंयुक्ता नित्या सूक्ष्मस्वरूपिणी।
स्वभावात् तपना शक्तिः सर्वत्र व्याप्य तिष्ठति ॥
शक्तेश्चलनरूपं यत् तत्स्त्रीशक्तिरितीर्यते।
तपनोद्गारितोष्णस्वरूपा सेति प्रकीर्तिता ॥

५५. छोटिका=चुटकी हिन्दीभाषायाम्, एवञ्च
छोटिकावच्छिन्नकाले=छुटकीभर में इत्यर्थः।

[अत्र सर्वतोमुखाः=तरङ्गा इति। यद्यपि—

'आपस्त्री भूम्नि वार्वारि सलिलं कमलं जलम्।
पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम्॥
कबन्धमुदकं पाथः पुष्करं सर्वतोमुखम्।
अम्भोऽर्णस्तोय-पानीय-नीरक्षीराम्बुशम्बरम् ।

इति नामलिङ्गानुशासनेऽमरोक्त्या नपुंसक एवायम्, तथाऽपि

'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाद् लिङ्गस्य' इत्युक्तेर्जागरूकत्वाद् निराधिः समाधिः स्पष्ट एव।]

तरङ्गशब्दार्थविवेचनम्

अत्र यद्यपि=

'भङ्गस्तरङ्ग ऊर्मिर्वा स्त्रियां वीचिः—' इति श्रीमदमरसिंहकृत- काण्ड-त्रयगताऽनेकवर्गगर्भ-नामलिङ्गानुशासनाख्यजगत्प्रसिद्धमहाकोशवारिवर्गे प्रसिद्धम्, परमथाप्यत्र तरङ्गशब्दः पारिभाषिकः तद्विवरणञ्चेत्थङ्कारं बुधेलिमम्—

'प्रथमोद्गारिता शक्तिः लोहितेन स्वभावतः।
उच्यते तपन इति शास्त्रेषु ज्ञातवित्तमैः॥
तपनत्रयमुष्णं स्यात् तदुष्णत्रयमुल्बणम्।
पञ्चोल्बणात् स्पन्दनं स्याद् चलनं स्पन्दनत्रयम्॥
तत्पञ्चकं तरङ्गः स्यात् तत्त्रयं लिङ्गमुच्यते॥'

वेङ्गलूरजनपदीयकल्याणनगरस्थित-ब्रह्मश्रीपण्डित-**तोगरेसुब्रायशास्त्रि**-पादपांसूत्तमश्रीगो. **वेङ्कटाचलशर्मणा** प्रघट्टकस्यास्याङ्ग्लानुवाद इत्थमकारि—

That much of power which is anitially and naturally emitted by LOHITA or the mascutine energy is known as TAPANA. (After that-)

(1) 3-TAPANAS	Make	1-USHNA
(2) 3-USHNAS	"	1-ULBANA
(3) 5-ULBANAS	"	1-SPANDANA
(4) 3-SPANDANS	"	1-CALANA
(5) 5-CHALANS	"	1-TARANGA
(6) 3-TARANGAS	"	1-LINKA

यत्तु—

सूत्रे उक्तम्— **शक्तेश्चलनत्रैविध्यम्** इति, किन्नाम तत्? कियद्वा तत्? किं रूपं वा तत्? कथं वा

५६. विंशस्वतस्सिद्धोन्यायः 'शक्तेश्चलन—' इति पूर्वमुक्तः

तद्? इत्यादिशङ्कावितानतानसन्तानैकतानं इदङ्किल निरङ्कं निरन्तरं निरन्तरायं निरन्तरालं निरामं निरातङ्कमुत्तरं जागर्तिरूपमाचार्यस्य बोधानन्दस्य—

आतश्च स आचार्यः पूर्वोक्तशक्तितन्त्रानुसारमेव चलनत्रैविधीं यथाशक्ति निर्वक्ति—

'बाह्यप्रयत्न'[५७]स्त्रिविधश्शक्ति-वेगोन्मुखे क्रमात्।
प्रयत्नोन्मुखचलनाश्चेति शक्तित्रयं बुधैः॥
एतत्तरङ्गसङ्घर्षणादुष्णस्येति कीर्तितम्।
वेगप्रयत्नमीषत्स्पन्दनमित्युच्यते बुधैः॥
पूर्णस्पन्दनमेवात्र वेगोन्मुखमितीरितम्।
वेगारम्भश्चलनमित्युक्तं शास्त्रविदाम्वरैः॥

(द्र०— अं. बो., पृ. ३१)

अत्रायं विवेकः—

बाह्यप्रयत्नस्त्रिविधो भवति—

१. शक्तिः (वेगप्रयत्नो वा)

२. वेगोन्मुखः

३. प्रयत्नोन्मुखचलनः

इमे त्रयोऽपि बाह्यप्रयत्ना एव 'शक्तित्रयम्' इति कथ्यते। इदञ्च शक्तित्रयम्— उष्णस्य (=तपनत्रयस्य) तरङ्गसङ्घर्षणाद्भवतीति सम्प्रति सम्प्रतिभाति। तत्रापि—

१. शक्तिः (वेगप्रयत्नः)=ईषत् स्पन्दनम्।

२. वेगोन्मुखम्=पूर्णस्पन्दनम्।

३. प्रयत्नोन्मुखचलनः=वेगारम्भः इति—तथाहि—

बाह्यप्रयत्नः

शक्तिः	वेगोन्मुखम्	प्रयत्नोन्मुखचलनम्
(वेगप्रयत्नः)	पूर्णस्पन्दनम्	वेगारम्भः
ईषत् स्पन्दनम्		

एतासां तिसृणां शक्तीनां कालप्रमाणमपि शक्तितन्त्र एव स्पष्टम्—

(१) ईषत्स्पन्दनस्य (=वेगप्रयत्नस्य) एकनिमेषकालः।

---

५७. बाह्यप्रयत्न—' इति। अत्रेदमाकूतम्— अथ कोऽयं बाह्यप्रयत्न इति। प्रसिद्धः खलु व्याकरणे बाह्यप्रयत्नः, आतश्चाधिकौमुदि— 'यत्नो द्विधा आभ्यन्तरो बाह्यश्च। तत्र वर्णोच्चारणाव्यवहितप्राक्कालिक आभ्यन्तरः, तदुच्चारणपश्चात्कालिको बाह्यः।

(२) वेगोन्मुखस्य (=पूर्वास्पन्दस्य) निमेषत्रयकालः।

(३) चलनस्य (वेगारम्भस्य) षड्निमेषकालः।

(४) वेगः = चलनत्रय (अष्टादशनिमेष) कालः।

(५) अतिवेगः=दशवेग (अशीत्युत्तरशतनिमेष) कालः।

(६) अत्यन्तवेगः= दशअतिवेग (अष्टशतोत्तरैकसहस्त्रनिमेष) कालः।

(७) महावेगः= शतात्यन्तवेग (अशीतिसहस्त्राधिवलक्षनिमेषकालः)।

बोधसौकार्यायेत्थमपि ज्ञाव्यम्—

१-निमेषकालः	—	**ईषत्स्पन्दनम्।**
३-ईषत्स्पन्दनानि	—	**१-वेगान्मुखम् (३ निमेष)**
२-वैगोन्मुखानि	—	**१-चलनम्**
३-चलनानि	—	**१-वेगः**
१०-वेगाः	—	**१-अतिवेगः**
१०-अतिवेगाः	—	**१-अत्यन्तवेगः**
१०-अत्यन्तवेगः	—	**१-महावेगः**

अथ कैमरा (चित्रग्राहकयन्त्र) विधिर्विमृश्यते—

अद्यत्वे कैमरा अर्थात् चित्रग्राहकयन्त्रं जगत्प्रसिद्धम्, आ च एकस्मात्मनुष्यात् दूरदर्शन–ओडियो–वीडियो–फिल्म–सिटी–हालीवुड–वालीवुडप्रभृतिषु चित्रग्रहंणं सर्वत्र प्रसरीसरीति सरीति।

विषयोऽत्र अंशुबोधिन्यां वैमानिकप्रकरणे च विवृतः, परविमानस्थवस्तु चित्रग्रहणादीनि क्वचित् क्वचिद् विवृतानि। **प्रथमन्तत्रांशुबोधिनीस्थो विषयो** विमृश्यते— तत्र **बोधानन्दाचार्यो रूपाकर्षण-तन्त्रमुद्धृत्य व्याख्याति—**

> **'स्थावराणां जङ्गमानामष्टशक्तिभिरेव हि।**
> **स्याद्रूपाकर्षणं यन्त्रात् प्रतिबिम्बस्वरूपतः ॥'** इति।

कास्ता अष्टशक्तयः ? इति प्रश्ने सौदामनीकलाग्रन्थे इत्थं सूत्रितम्—

'र-व-स-न-भ-ज-य-क-शक्तिसंयोगात् प्रतिबिम्बाकर्षणम्'। अत्र— **'र-व-स-न-भ-ज-य-क' इमेऽष्टौ वर्णाः तत्तत्पदार्थानां साङ्केतकाः** सन्ति, ते च पदार्थाः यथाक्रममित्थं सन्ति—

१. सूर्यकिरणः	=	**'र'।**
२. षड्द्रावकशक्तिः	=	**'व'।**
३. अष्टौ अन्धकारशक्तयः	=	**'स'।**

४. आकाशशक्तिः = 'न'।

५. पञ्च उष्णशक्तयः = 'भ'।

६. तिस्रो विद्युच्छक्तयः = 'ज'।

७. षोडश वायुशक्तयः = 'य'।

८. पञ्च प्राणक्षारशक्तयः = 'क'।

एतन्नियमविधिश्चेत्थम्—

'एतास्वेकैकशक्तिसंयोगाद् यन्त्रादिषु क्रमात्।
द्रावकालेपकादर्शोपरि सम्यक् स्वभावतः॥
बिम्बस्य प्रतिबिम्बत्वं बिम्बवद् भवति क्रमात्।
प्राणक्षारजलेनाऽथ चालयित्वा मुहुर्मुहुः॥
आतपे स्थापयेदेवं वारं वारं यथाक्रमम्।
यावत् सम्पूर्णरूपप्रकाशः स्फुटतरं भवेत्॥
तावत् प्रक्षालयेत् तद्वद् आतपे चापि निक्षिपेत्।
एतत्संस्कारतः सम्यक् प्रतिबिम्बः प्रकाशते॥' इति।

एवंरीत्या बिम्बात् प्रतिबिम्बे जाते सति तस्य, जलादिभिः नाशो यथा न स्याद्, यथा अद्यत्वेऽपि **फोटो** जले पतितेऽपि न विकारं प्राप्नोति, तत्साधनाप्रकारमाह—

'एतद्रूपं स्थिरीकर्तुं पश्चात् सम्यक् यथाविधि।
चुल्लीपुष्कल[५८]मञ्जूषाद्रावकैः सप्रमाणतः॥
संस्कारं कारयेत् सम्यक् पुनः शास्त्रविधानतः॥' इति।

तत्र— **प्रतिबिम्बः (फोटो)** कथं जलाद्यनाश्यो भवति? इति प्रश्न उत्तरमाह आचार्यो विश्वम्भरः—

चुल्लीद्रावकतः सप्तवारं पुष्कर[५९]द्रावकात्।
दशवारञ्च विधिवद् मञ्जूषाद्रावगतः पुनः॥
क्रमात् पञ्चदशवारं सम्यक् संस्कारयेत् तथा।
सम्यक् प्रक्षालयित्वा[६०]ऽथ घटिकार्धं पुनः पुनः॥
आतपे विन्यसेत्, पश्चाद् जलपूर्णे घटे न्यसेत्।
पश्चात् तस्मिन् द्रावकाणां शतैकांशप्रमाणतः॥
मेलयित्वा कुम्भिनीव्यासटिकायां दृढं यथा।
संस्थाप्य सार्धघटिकापर्यन्तं कमलाग्निना (?)॥

---

५८. रलयोरभेदादुभयथा निर्देश उपपद्यते। द्रव्यान्तरं वा?

५९. 'द्राकात्' इत्युपलब्धः पाठः।

६०. प्रक्षालयित्वेति। 'त्वाऽपि च्छन्दसि'; यजमानं परिधापयित्वेतिवच्छान्दसः प्रयोगः। ग्रन्थेऽत्र बहुधा बहुत्रैवम्प्रयोगः।

सम्पाचयेद् देवदारुकाष्ठैरेव यथाविधि।
ततः तस्मात् तमाहृत्य पट्टवस्त्रेण वेष्टयेत्॥
तत् सङ्गृह्य पुनः शालीतुषामध्ये नियोज्य च।
चन्द्रिकायां त्रयोदश्यां द्वित्रिरात्रं न्यसेद् यदि॥
अच्छेद्यत्वमदाह्यत्वमनाश्यत्वं तथैव हि।
दुर्गमत्वञ्च कीटाद्यैर्वम्रिभिश्च[६१] तथैव च॥
लगुडाद्यैरभेद्यत्वं चिरञ्जीवित्वमेव च।
सम्प्राप्य बिम्बवत् सम्यक् प्रकाशति[६२] न संशयः॥

आचार्यः शौनकस्तत्रभवानमुमेवार्थमित्थमवृणोत्— 'अथातः स्थावर-जङ्गमानां बिम्बस्य प्रतिबिम्बाकर्षणविधिं व्याख्यास्यामः। तैल-दर्पण-काच-मणि-शिला-लोह-दारु-जिन्-मौक्तिक-नवरत्न-पत्र-पुष्प-फल-त्वग्-अभ्रक-पञ्चभूतेषु पञ्चविंशत्[६३]— संस्कारैः संस्कारितेषु शक्त्यष्टकसंयोजनात् प्रतिबिम्बा-कर्षणं भवति। अथ संस्काराणि[६४]— तैलानां नव, जलानां दश, दर्पणानां षोडश, मणीनां त्रयोदश, शिलानामेकादश, लोहानां पञ्चदश, दारूणामेकोनविंशतिः, जितां द्वाविंशतिः, मौक्तिकानां चतुर्दश, रत्नानामष्टादश, पत्राणां सप्तदश, पुष्पाणां द्वाविंशतिः, फलानामेकविंशतिः, वस्त्राणां द्वाविंशतिः, त्वचां पञ्चविंशतिः, अभ्रकस्य दश, पृथक् पृथक् भूतानां पञ्चविंशतिः।

एतेषां प्रतिवस्तु विभागादीत्थम्बुधेलिमम्—

वस्तूनि (The Subslance)	भागाः (Howmany times the 25 treatments should be repeated)
(१) तैलम् (Oil)	नवभागाः (9 times)
(२) सामुद्रजलम् (SEA WATER)	१२ भागाः (11 times)
(३) दर्पणः (GLASS)	१६ भागाः (16 times)
(४) काचः (KACHA)	२० भागाः (20 times)
(५) मणिः (MANI)	२० भागाः (20 times)
(६) शिला (STONE)	११ भागाः (11 times)
(७) लोहः (METAL)	१५ भागाः (15 times)

६१. वम्रिभिः ?
६२. प्रकाशति=प्रकाश इव आचरति, प्रकाशयतीत्यर्थः।
६३. अत्र सर्वत्र विँशति' इत्येवोपलब्धः पाठः, तच्चार्षत्वाच्छन्दोऽनुरोधेन, एतावताऽपि छान्दसप्रयोगाः अत्र सोढव्याः। आतश्च— प्रक्षालयित्वादयो मन्तव्याः (द्र. पृ. ७५ टि. ३)। शौनकसूत्रान्ते पदद्वित्वमपि तथैवास्ति मूले।
६४. संस्काराणि इति। उक्तोत्तरत्वादेव लिङ्गव्यत्ययः।
'सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलचस्वरकर्तृयङाञ्च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषा सोऽपि च सिद्ध्यति बाहुलकेन॥

(८) दारुः (WOOD)	१९ भागाः (19 times)
(९) जित् (VEGETABLE WAX)	२२ भागाः (22 times)
(१०) मौक्तिकम् (PEARL)	१४ भागाः (14 times)
(११) नव रत्नानि (THE 9 KINDS OF) (PRECIOUS STONE)	१८ भागाः (18 times)
(१२) पत्रम् (LEAVES)	१७ भागाः (17 times)
(१३) पुष्पम् (FLOWERS)	२२ भागाः (22 times)
(१४) फलम् (FRUITS)	२१ भागाः (21 times)
(१५) त्वक् (CLOTH)	२२ भागाः (22 times)
(१६) चर्म (EATHER)	२५ भागाः (25 times)
(१७) अभ्र (MICH)	१० भागाः (10 times)
(१८) मृत् (MUD)	२५ भागाः (25 times)
(१९) जलम् (ORDINARY WATER) (PURE WATER)	२५ भागाः (25 times)
(२०) अग्निः (LIGHT)	२५ भागाः (25 times)
(२१) वायुः (AIR)	२५ भागाः (25 times)
(२२) [६५]आकाशम् (SKY)	२५ भागाः (25 times)

'क'=पञ्चप्राणक्षारशक्तिः—

पूर्वन्तु— अष्टशक्तीनां साङ्केतकशब्देषु र-व-स-न-भ-ज-य-क रूपेषु 'क' इति पञ्चप्राणक्षारशक्तिः इत्यवोचाम, तत्र प्राणक्षारविवेचनमाङ्ग्लानुवादकेनेत्थमकारि—

(1) The acid of Alum which contains 7 powers
(2) The acid of Salt Petro which contains 11 powers
(3) The acid of Common Salt which contains 8 powers
(4) The acid of Borox which contains 3 powers
(5) The acid of M Pure Soda which contains 16 powers.

All these fire substances are called 'PRANAKSHARAS' or LAVANAS in this shastra.

(द्र. अं. बो., पृ. ४३)

---

६५. Each of these 22 things, after undergoing 25 preparatory and purificatory treatments will be fit, like glass, for receiving the likeness of anything on it.
By the action of the & powers mentioned above, on any one of these articles after the necessary treatments the likeness or image of any objects is produced.
It has been said that each of the above 22 things has to undergo 25 treatments. Each of them requires these 25 treatments to be repeated a particular number of times.

(विश्वम्भरवृत्तिः, पृ. ४१)

प्रतिबिम्बाकर्षणसिद्धान्तस्य श्रुत्युपजीव्यत्वम्

यत्खलु पूर्वं शौनकीयसूत्रमुद्धृतम्, तद् विवृण्वन् मान्यश्रीविश्वभारार्यस्तस्य श्रुतिमूलकत्वं व्याख्यन् दृश्यते। तथाहि—

'रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूवेति स्ववाक्यतः।
श्रुतिर्मदाह तत् सम्यक् शास्त्रोक्तविधिना क्रमात्॥
सुविचार्य यथाकामं शौनको भगवानृषिः।
स्थावराणां जङ्गमानां बिम्बरूपाकृतेः क्रमात्॥
श्रुत्युक्तप्रतिबिम्बाकर्षणोपायविधिं स्वतः।
बालानां सुखबोधाय[६६] सूत्रेऽस्मिन् वक्ष्यति क्रमात्॥

प्रतिबिम्बग्रहणाय उपयुक्तस्थानानि

श्रीमातङ्गाचार्यस्तावत् येषु स्थानेषु प्रतिबिम्बाकर्षणं Fotografy सारल्येन सिद्धानि तानि सञ्जग्राह, आतश्च बोधानन्दवृत्तौ विश्वम्भरो वक्ति—

तत्रादौ प्रतिबिम्बाकर्षणस्थाना[६७]न्यथा क्रमम्।
महर्षिमातङ्गमतानुसारेणात्र संग्रहात्॥
निरूप्य पश्चात् तत्संस्कारविधिः सम्प्रक्षते[६८]॥

प्रतिविम्बाकर्षणाय सर्वथोपयुक्तानि अष्टादश स्थानानि सन्ति—

(१) तैलम् (षड्विधम्)

(२) जलम्[६९] (शतधा)

(३) दर्पणः (अष्टाविधः)

(४) काचः (द्वात्रिंशतिधा)

(५) मणिः (षड्धा)

(६) शिला[७०] (द्वादेशप्रकाराः)

(७) लोहः[७१] (ससभेदाः)

---

६६. अर्थसंग्रहपरिभाषेन्दुमङ्गलश्लोकस्तुलनास्पदम्।

६७. प्रतिविंम्बाकर्षणस्थानान्यथा इति। स्थानानि यथा इत्यर्थः। पूर्वोक्तादशाऽऽर्षत्वाद् लिङ्गत्यत्ययेन, 'शेषछन्दसि बहुलम्' इति लोपे वा साधु, 'ता ता पिण्डानाम्', 'विश्वा भुवनानि जज्ञिरे', '....सर्वाभूतानि।', 'वाक्परिमिता पदानि', इत्यादिवत् प्रयोगे उभयथा साधु।

६८. सम्प्रक्षते। उक्तहेतोरेव व्यत्ययेन कर्तरि लकारः कर्मणि अर्थेऽत्र बुधेलिमम्।

६९. तत्र जले प्रतिविम्बदर्शनप्रसङ्गो यथा—
रामचरितमानसे—नारदमोहप्रसङ्गे

७०. शिलापदमत्र स्फटिकशिलापरमिति भाति, यत्र प्रतिविम्बदर्शनं जगत्प्रसिद्धम्।

७१. लोहे यथा खड्गादौ वीराणां रणाङ्गणप्रस्थानात् पूर्वं प्रतिविम्बदर्शनम्।

(८) दारु (द्वादशविधम्)

(९) लाक्षा (त्रिविधा)

(१०) मुक्ता (अष्टविद्या)

(११) रत्नम् (नवधा)

(१२) पत्रम् (षड्धा)

(१३) पुष्पम् (सप्तधा)

(१४) फलम् (अष्टधा)

(१५) पटः[७२] (द्वादशधा)

(१६) चर्म (पञ्चधा)

(१७) अभ्रक (भागलयम्)

(१८) पञ्चभूतानि

एतेषु पदार्थेषु प्रतिविम्बः साधु फलतीति सर्वप्रत्यक्षम्।

पूर्वोक्तं सर्वमपि न्यक्षेण महर्षिमातङ्गमतानुसारं यथासारं विश्वम्भर आचार्य उदाजहार—

'तैलषट्कं जलशतं दर्पणाष्टकमेव च।
द्वात्रिंशत् काचभेदाश्च मणिषट्कं तथैव हि॥
शिलाद्वादशकं तद्वद् लोहसप्तकमेव च।
दारुद्वादशकं लाक्षात्रयं चैव यथाक्रमम्॥
मुक्ताफलाष्टकं रत्ननवकं च तथैव हि।
पत्रषट्कं तथा पुष्पसप्तकं च फलाष्टकम्॥
पटद्वादशकं चर्मपञ्चकं चाभ्रकत्रयम्।
भूतपञ्चकमित्यष्टादशस्थानान्यथाक्रमम्[७३] ॥
प्रतिविम्बाकर्षणार्हाणीति प्राहुर्मनीषिणः।

अत्रेदं बोध्यम्—

एतद्विवरणे श्रीगो.वेंकटाचलशर्मणाऽऽङ्ग्लानुवादे किञ्चिदधिकं विवृतम्, तच्चातीव भौतिकं वैज्ञानिकं रहस्यमिति यथामति निश्चित्यात्र सङ्गृह्यते, तथाहि—

(1) OILS- Out of 64 kinds of oils only the 6 kinds such as the oil of 'TILA'

७२. परे प्रतिविम्बदर्शनं यथा पटप्रसारणयन्त्रे अर्थात् राडारयन्त्रे, चलचित्रादीनां पटे प्रदर्शनं लोकसिद्धमेव। तैल-दर्पण-काच-मणि-मुक्ता-रत्नानि प्रतिविम्बग्राहकाणि प्रसिद्धानि, शेषं मृग्यमिति दिक्।

७३. शेश्छन्दसि बहुलम् इति लोपे रूपम्। पूर्वत्राप्यत्र इत्थमार्षाः प्रयोगा अबोभुवन् (द्र. पृ. ५१) तत्रहि— 'प्रतिविम्बाकर्षणस्थानान्यथाक्रमम्' इति प्रयोगः, द्र. तत्रत्यटिप्पणीति दिक्।

or the seeds of sesemum, costs oil, the oil of Jyotismaka (ofyotismati?) seeds and so on.

(2) WATER- Out of 100 varieties of water described in 'APTAWAPRAKASHIKA' onle the 12 kinds such as 'DRAVA-GARBHA' 'PANCHAVARNA', 'SURABHI' and so on.

(3) Out of the 1914 of grass, only the 8 varieties such as- 'RASAGARBH', 'BHAMUKHA', 'SOONYGARBHA', 'SWACHHGARBHA' etc. Described in 'DARPANA PRAKARANA'.

(4) Out of the 407 kinds of KACHA or glass of a particular composite on, only the 32, varieties such as 'CHHAYA' GRAHAKA', 'ANVGRAHAKA', SOOKSHMA GRAHAKA etc. Described in 'KACHKALAKAUSALA'.

(5) The six kinds of manis, such as- 'VARNAGRA-HAKA', 'ROOPAGRAHAK', 'SOOKSH MAGRAHAKA' etc. mentioned in 'MANIKALPATARU'.

(6) The varieties of stone such as- 'SPATIKA', 'AMRIT', 'JYOTSNAMUKHA', 'CHANDRAKANTA' etc. Described in 'SHILODAYAPRAKASHIKA'.

(7) The seven classes metals such as gold, shandal silver, BHRAJIKA etc. Described in 'LOHATANTRA'.

(8) The 12 species of trees such as- 'BRIHT KSHEERE', 'SURABHEE', 'VYAGHRA GHNEE', 'SHANKHA-RAVA' etc. Described in 'AGATATALAHARI'.

(9) The 9 kinds of lac or vegetable wax known as 'RANJIKA', 'DHARA VAHAKA' and 'SHAKTIMUKHA' in the above work.

(10) The 8 kinds of pearls such as VENUJA or pearls produced in bomboos. Sarpaja or those that ar produced from snakes. Matsyas or those that are produced fish, jalaja or those prodneed from water etc. Described in 'VAJRA-KALPA'[७४].

(11) The 9 varities of precious stones. (Jeavasatnes) such as 'ANURAKSHAKA', 'PRANAPRAKASHAKA' etc. Described in 'RATNAKARA'.

---

७४. अत्रेदं बोध्यम्—

(क) मुक्ताफलोत्पत्तिविषयेऽयं गारुडपुराणसमयः

'द्विपेन्द्र-जीभूत-वराह-शङ्ख-
मत्स्याऽहि-शुक्त्युद्भव-वेणुजानि।
मुक्ताफलानि प्रथितानि लोके,
तेषान्तु शक्त्युद्भवमेव भूरि॥ इति।

(ख) चतुष्षष्टिकलास्वपि अन्यतमा—
'मणिरत्नपरीक्षा' (त्रिपञ्चाशी कला)

(ग) पूर्वोक्तगारुडवाक्ये मरकतमणिर्न चर्चित इति। उपलक्षणास्पदं सा गणनेति गणयामि। मरकतमणिस्तु 'मकरद्रंष्टात उत्पद्यते' इति सौन्दर्यलहरीव्याख्यायां लक्ष्मीधरभट्टाचार्य-कृतायाम्— 'मरकतं मकराज्जातम्' इति— 'प्रसह्य मणिमुद्धरेद् मकरभोगि-द्रंष्टामुखात्....।' इत्यादिनीतिशतके वदन्तो भर्तृहरिपादा अप्यत्रानुकूला इति दिक्।

(12) The 6 kinds of leaves such as 'SWETA KADLEE' or white plantain, 'PANCHAJYO TEE', 'PARVANIKA'[७५] etc. Described in 'AGATATTA LALARI'.

(13) The 7 kinds of flowers such as 'RAJAPUSPA' 'KUSUMAJYOTIPUSPA', 'JYOTIRMUKA PUSPA' etc. Described in the last named work.

(14) The 8 kinds of fruits such as 'LIKUCHA', 'DAIVA' (1) 'MANDALA' 'JAMBOO' etc. Descrived in the some work.

(15) The 12 varieties of cloth such as VRIKSHAJA PATTA VASTRA or cloth made of silk produced from trees. 'AVIKALOMAVASTRA' or cloth made of sheep wood.

'KARPASAVASTRA'[७६] or cotton cloth etc. Described in PATAKALAA MAHDDHAḌHI.

(16) The fair kinds of hides or leather such as the skin of 'SWETANAKRA' or the white crocodile, of 'JALVYALEE' or a large water snake of green colour of 'PAVAKASANEE' or a bird which devonrs sparks of fire, etc. Described in 'CHARMASHASTRA'.

(17) The 3 kinds of mica known as 'RASAGARBHA', 'PRABHAMUKHA' AND 'RANJANIKA'. Described in 'ABHRAKALAA'.

(18) Lastly the fire elements viz- MUD, WATER, LIGHT, AIR, SKY.

अथैतेषां संस्कार (परिष्कार) विधिः

सर्वेषामप्यमीषां शिल्पशास्त्रदर्शनदशादशदिशा संस्कारः (शोधनम्) अपेक्ष्यतेतमाम्, तदर्थञ्च पञ्चाविंशतिः[७७] संस्काराः शिल्पाचार्यैरुपदिष्टाः, तथाहि—

---

७५. पार्वणिकेति। लतेयं वैमानिकप्रकरणव्याख्यायामपि बोधानन्देनोल्लिखिता, किन्तु— तत्र 'पार्वणी' इति नाम लभ्यते। स्वार्थप्रत्ययान्तत्वे (न सामिवचने ५/४/५ सूत्रज्ञापितस्य स्वार्थकप्रत्ययस्य, भाष्येततस्त्र प्रत्याख्यानाद् यावादिभ्यः कनाकृतिगणत्वात्समाधेयम्।
पार्वण्येव पार्वणिका। सोमलतावदस्य परिचयः। एतञ्च मयका 'वेदेही' षाण्मासिक पत्रिकाया स्तार्तीयाकाङ्के हिन्दीभाषायां न्यरूपिरूपम्। शुक्ले कृष्णे च यथा पञ्चदशानां पत्राणामुत्पत्त्या विनाशेन च सोमलता परिचीयते, पार्वण्यपि तथैव, कदाचित् सोमलता-पर्यायः पार्वणीशब्द इत्यनुमातुं शक्यम्। कृष्णपक्षे सिनीवालीकुह्वोः पलशातने भेदस्तत्रेति दिक्।

७६. अत्रायै— 'आविकं च सुखस्पर्शं शतं दास्यामि सञ्जय' इति महाभारतीयोद्योगपार्वण-भगवद्यानपर्वणि धृतराष्ट्र कर्तृके श्रीकृष्णसममीविषयके सञ्जयोद्देश्यके वाकप्रयोगो न विस्मर्तव्यः।

७७. पञ्चविंशतिसंस्कारैः संस्कृतेषु यथाविधि।
एतेषु षड्द्रावकाणां संयोगः स्याद् यदि क्रमात्॥
विम्बस्य प्रतिबिम्बाकर्षणं भवति हि ध्रुवम्।
प्रतिविम्बस्याष्टादशस्थानान्युक्तान्यथाक्रमम्॥
संस्कारनिर्णयस्तेषां पृथक् पृथङ् निरूप्यते।
वस्तुसंस्कारकल्पे तु संस्कारा बहवः स्मृताः॥

१. निर्मलसंस्कारः ।

२. प्रकाशसंस्कारः ।

३. रसगर्भसंस्कारः ।

४. प्रसारणसंस्कारः ।

५. व्यापकसंस्कारः ।

६. चुम्बकसंस्कारः ।

७. किरणाकर्षणसंस्कारः ।

८. आकाशग्रहणसंस्कारः ।

९. शक्तिग्राहकसंस्कारः ।

१०. वर्णग्रहसंस्कारः ।

११. चित्ररेखासंस्कारः ।

१२. रूपसङ्ग्रहसंस्कारः ।

१३. गर्भप्रवेशसंस्कारः ।

१४. अन्तःप्रवेशसंस्कारः ।

१५. लयनसंस्कारः ।

१६. अन्तःप्रदर्शकसंस्कारः ।

१७. निश्चलसंस्कारः ।

१८. दृग्ग्रहसंस्कारः ।

१९. अणुसङ्ग्रहणसंस्कारः ।

२०. द्विमुखीकरणसंस्कारः ।

२१. विजातीयपरिग्रहसंस्कारः ।

२२. असङ्गसंस्कारः ।

२३. उष्णसंस्कारः ।

२४. शीतलसंस्कारः ।

२५. बिम्बपरिग्रहसंस्कारः ।

अग्रे ग्रन्थकार आह—

इत्युक्ताः पञ्चविंशतिः संस्कारा वस्तुशोधकाः ।
सतैः पूर्वोक्तसङ्ख्यानुसारेणैव यथाक्रमम् ॥

प्रतिबिम्बाकर्षणोपयुक्तानां वस्तुनां[७८]क्रमात्।
संस्कारयेद् यथाशास्त्रं पृथक् पृथक् पुनः पुनः॥
संस्कारितेषु तैलादिपञ्चविंशतिवस्तुषु।
प्रतिविम्बाकर्षणार्हयन्त्राण्यपि पृथक् पृथक्॥

आंग्लभाषानुवादकाचार्यः **श्री गो. वेंकटाचलमहोदय** एनान् पञ्चविंशतिं संस्कारान् विवृण्वन्नेतदाह—

These are the 25 puriticatory treatments that the articles on which the likeness of objects can be reproduced, have to undergo. The number of treatments that each of these articles in to be given so that in many become fit to receive the image reflected on it, has already been mentioned.

These 25 articles have as many different apparatuses for reproducing image on them.

ततो व्याख्याकृद्बोधानन्दैः 'कैमरा' यन्त्रे प्रतिविम्बाकर्षणे चिकीर्षिते वर्णाढ्यचित्रे (coulerd Film) जिघृक्षिते, तत्र कृष्ण-रक्तोज्ज्वलवर्णग्रहणाय उपाया इत्थं भेदविशिष्टं निरूपिताः, तथाहि—

षोडशालिप्रमाणेन तमः प्रोक्तं तथैव हि।
पञ्चलिङ्गप्रमाणेन रक्तवर्ण इति क्रमात्॥
प्रकाशोऽष्टाविंशतिं भ्राजिमान इति स्मृतः।

एतद्विवरणमपि इत्थं विवृतम्—

Again the three colours- Black, Red and White, should be mixed with the articles for reproducing image on them. The quanity of each of these is fixed as follows-

(A) DARKNESS (कृषणः) — 16 Aleekas

(B) Redness (रक्तः) — 05 linkas[७९]

प्रतिविम्बाकर्षणार्थं वस्तुसंस्कारकर्मणि।
तैलादिपञ्चभूतान्तवस्तूनां पञ्चविंशतिः॥

७८. वस्तुनामिति— 'अपि माषं मषं कुर्याद् छन्दोभङ्गं न कारयेत्।' इति न विस्मर्तव्यम्।

७९. 'लिङ्क' प्रमाण विशेषः, तत्परिमाप यथा शक्तितन्त्रे स्पष्टम्, तथाहि—
'प्रथमोद्गारिता शक्तिर्लोहितेन स्वभावतः।
उच्यते तपन इति शास्त्रेषु ज्ञानविक्रमैः॥
तपनत्रयमुष्णं स्यात्, तदुष्णत्रयमुल्बणम्।
पञ्चोल्बणात् स्पन्दनं स्याद् चलनं स्पन्दनत्रयम्॥
तत्पञ्चकं तरङ्गं स्यात्, तत्त्रयं लिङ्कमुच्यते॥
एवञ्च— उष्णतामापकपरिमाणविशेषवाचका एते तपन-उष्ण-उल्बण-स्पन्दन-चलन-तरङ्ग-लिङ्क शब्दा इति सम्प्रति सम्प्रतिभाति। श्रीब्रह्ममुनिपरिव्राजकमहाशयैर्वैमानिकञ्च-प्रकरणस्य हिन्द्यनुवादे लिङ्कशब्देन 'डिग्री' इति गृहीतम्। उष्णता-शीततामानकपरिमाणशब्दा अपि संस्कृतवाङ्मयं विभूषयन्तीत्यहो विज्ञानं प्राचाम्। विषयोऽयं पूर्वमपि निरूपितः। (द्र. पृ. १७९)

(C) BRIGHINESS (प्रकाशः) — 28 Bhrajikas

प्रतिविम्बाकर्षणे विद्युत् सर्वथाऽद्यतनै वैज्ञानिकैरपेक्ष्येति जगत्प्रसि-द्धम्, परन्तु तां विनाऽपि प्रतिबिम्बाकर्षणे सम्भवतीति पक्षान्तरमपि आर्षवाङ्मये स्थितमिति, तथाहि—

'एतत्त्रयं कौलियन्त्रमुखात् तत्तत्प्रमाणतः।
प्रतिविम्बाकर्षणादौ तत्प्रदेशे प्रसारयेत्॥
पश्चात्—तैलादिवर्गेषु[८०] प्रतिविम्बापकर्षणे।
पूर्वोक्तषड्द्रावकाणां[८१] शक्तयः सन्नियोजयेत्॥
विद्युत्संयोजनं कृत्वा प्रतिविम्बं समाहरेत्।

विद्युच्छक्तिं विनाऽपि फोटोग्रहणम्—

'विद्युच्छक्तिं विना केचित् प्रवदन्ति मनीषिणः।'

एवमेव—

'द्रावकाणि विना केचित् तथैव प्रवदन्तिहि।'

---

८०. तैलादिवर्गेषु-इति। ते च- तैल-समुद्रफेन दर्पण-काच-मणि-शिला-लोह-दारु-जिद्-मौक्तिक-नवरत्न-पत्र-पुष्प-फल-त्वग्-चर्म-अभ्रक-पृथिवी-जल-तेजो-वायु-व्योमरूपद्वाविंशतिः। एतञ्च— 'र-व-स-न-भ-ज-य-क शक्ति संयोगात् प्रतिविम्बाकर्षम् इति अष्टशक्तिनिरूपकसौदामनीकलाख्यग्रन्थीयसूत्रव्याख्यानप्रसङ्गे श्रीविश्वम्भराचार्येण विवृतम्, श्रीशौनकाचार्यैश्च शौनकीयसूत्रे व्याख्यातम्, तत्परिमाणादिकञ्च प्रत्येकमत्र समुपस्थापितं पूर्वत्रेति संक्षेपः।

—(द्र. पृ. ५० मूले)

८१. पूर्वोक्तषड्द्रावकाणामिति—

इदम्— 'र-व-स-न-भ-ज-य-क शक्तिसंयागात् प्रतिविम्बाकर्षणम्' इति सौदामनी-कलाख्य ग्रन्थस्य सप्तपरिच्छेदे एकादशे सूत्रे उक्तेषु अष्टसुशक्तिषु द्वितीयया 'व' शक्त्या संकेत्यते। तदुक्तम्— 'वकारात् षड्द्रावकाणां शक्तयः सम्प्रकीर्तिताः।' इति। द्रावकषट्कं यथा— वर्चुलद्रावकम्, पौण्ड्रकद्रावकम्, प्राणक्षारद्रावकम्, चूलीद्रावकम्, पुष्कल-द्रावकम्, मञ्जूषाद्रावकम् इति भाति।

अत्रेदं बोध्यम्—

तन्त्रशास्त्रे बीजमन्त्रप्रसङ्ग आद्याक्षरस्य वाचकता भवति। आंग्लभाषादिषु प्रसिद्धेयं प्रक्रिया यथा— I. I. T. BOB. BHEL इत्यादि। वस्तुतस्तान्त्रिकीयं पद्धतिः, अत एव प्रथमाक्षरेणं न्यासादिकमपि सङ्गच्छते। व्यवहारेऽपि शतक्रतु-शक्र, शुक्लदिनम्-शुदि। बहुलदिनम्-बदि। हिमालयादिन्दुसरोवरं यावद्-हिन्दुः। अकारात् दामरं यावत् अदा इत्यमनेकत्र। एवमेव— आद्यन्ताभ्याम्, केवलेन अद्येन वा निर्देशः प्रसिद्धः व्याकरणेऽपि अष्टाध्यायायाम् वृद्धिरादैच् इत्येतद्घटित्वेन— वृद्धिपादः, 'भूवादयो धातवः' इति घटितत्वेन भूपादः, उपनिषत्स्वपि— ईशोपनिषद्, ईशोवास्योपनिषद्, केनोपनिषद्, इति प्रथमपदघटितत्वेन तत्तन्नामानि ख्यातानि। अन्यत्रापि— 'रकारादीनि नामानि शृण्वतो मम पार्वति। महान् हि जायते हर्षो रामनामविशंप्सया' इति प्रसिद्धम्। हिन्द्यामपि— श्रीकेशवाचार्यप्रणीतरामचन्द्रिकायाम्— 'तोड़ौ रा यह कहथहि समझऊ रावण राऊ' इति दृश्यते। आङ्ग्लभाषायामपि Group करणे प्रथमवर्ण माश्रित्यैव प्रायोनिर्देश इत्येतत्सकलसन्दर्भे इत्थमनुमातुं शक्यं यद्— 'वर्चुल[१]-पौण्ड्रक[२]-प्राणक्षा[३]र-चूली[४]-पुष्कल[५]-मञ्जूषा[६]द्रावकाणा समूहस्तावत् प्रथमद्रावकस्य वर्चुलस्य प्रथमाक्षरेण 'व' कारेर निर्दिश्यते— आतश्चोक्तम्—

'व' कारात् षड्द्रावकाभंशक्तयः परिवर्तिताः' इति।

तदेवमतिसमासेन महर्षेः भरद्वाजस्य मतमाश्रित्य 'सूर्यादेव सृष्टिः' इति विषये भौतिकपक्षा उद्भाविताः। यथा खलु प्रथमं सूत्रम्—

'अथ कल्पसृष्टिरात्मत्वात्, सूर्येण', इति।

तथैवात्रान्तिमं सूत्रमपि—

'सृष्टिस्सूर्यकिरणेभ्यश्चिच्चैत्यीभावेन' इति॥

ग्रन्थेऽत्र उष्णतामापकयन्त्राणीव तमोमापकयन्त्राण्यपि कीर्तितानि, तत्र सूत्रम्— **'तन्महावेगात् कञ्चुकतमोऽपकर्षणं तमसि पूर्ववत् त्र्यशीतितमन्यायेन।'** इति। अत्र कञ्चुकशब्दार्थो मृग्यः। तथाहि— **'ध्वान्तप्रमाणे कञ्चुकाब्दः सूत्रेऽभिवर्णितः।**

तस्य कञ्चुकशब्दस्य निर्णयार्थं समासतः॥
तमःप्रमापकविधिं किञ्चिदत्र निरूप्यते।
तमः प्रमापकविधौ सन्ति शास्त्राणि पञ्चधा।
तेषु शारिकनाथोक्तध्वान्तविज्ञानभास्करे॥
तमःप्रमापकविधिर्यथोक्तः स्वानुभूतितः।
तदेवात्र समासेन यथाशास्त्रं निरूप्यते॥'' इति।

विषयेऽमुष्मिन् **श्रीशारिकनाथाचार्यकृतध्वान्तविज्ञानभास्कर-नामकग्रन्थउक्तम्—**

ध्वान्तप्रमापकं यन्त्रं नवोत्तरशतात्मकम्।
द्वात्रिंशदङ्गसंयुक्तं तमोभेदप्रदर्शकम्॥
उक्तं हि यन्त्रसर्वस्वौ[८२] भरद्वाजेन धीमता।
तस्य त्रयोदशाङ्गेन प्रभातुं तमसो भवेत्॥

---

८२. यन्त्रसर्वस्व इति। अंयमपिग्रन्थो भरद्वाजकृत इति, तदलाप्युक्तम्। अत्रोल्लेखात् बोधानन्देन वृत्तिकृताऽसौग्रन्थो-ऽधीत इति निश्चितम्। एवमेव— यन्त्रसर्वस्वीयबोधानन्द वृत्तावपि मध्ये मध्ये-अंशुबोधिनी प्रामाण्योल्लेखो लभ्यते। एवञ्च— वृत्ति उभावधीव्य उभयोवृत्ती अकारिषतेति निश्चितम्। व्याख्याप्रारम्भेऽप्युमयत्र समानप्रसङ्गा-धुल्लेखादम्मङ्गलाचरणव्या-ख्यायासाभ्याद् वृत्तिप्रकारसाम्याच्च उभयोर्ग्रन्थयोर्हन्तिकार एक एव बोधानन्दः। तत्र व्याख्यातुर्बोधानन्दस्य काल निर्णये चिकीर्षिते इत्थें बोध्यं यत् स्ववृत्तावनेन श्रीचित्सुखा-चार्यः स्मृतः—
'इत्युक्तं चित्सुखाचार्यैरेता एव विशेषतः।'
सोऽयं चित्सुखाचार्य ऐतिहासिकोऽद्वैत वेदान्तप्रतिपरक आचार्यः। यथा 'मल्लिनाथी' रामरुद्री, दिनकरी, माथुरी, जागदीशः, गादाधरी, कृष्णाकान्ती, जागदीशी, नारायणी लादशब्दः तत्तद् ग्रन्थव्याख्यावोचिका कर्तृव्या-पदेशात्स्वत्स्वपि सञ्जीवनी घण्टापथ-सर्व-कडूयादितत्तमामसु, तद्वत्य चित्सुखाचार्यप्रतीतत्वेन एतत्कृताया मामतीव्याख्यायाश्रित्सु-खीति नाम समेषां चित्सुखास्पदं पदमित्यस्मतं मतमिति निर्विशयो विषयोऽस्तीति निर्विकारो वादो हि निरङ्कं निरातङ्कं निरन्तरालंनिरक्रराद्यं निरामं निसंशयनिर्भयं निरभयं निर्माणनिष्कलुषं निर्विचिकित्सं निष्प्रत्यूहं निरन्तरं निर्वक्तुं शक्यतेरूपमिति। एवञ्च— चित्सुखाचार्यात् परकालिको बोधानन्द एषः। ग्रन्थेऽनेन लल्लाचार्योऽप्यसकृत् स्मृतः, एवमेव— वाचस्पति घुपिडनाथौ स्मृतौ।
वैमानिकप्रकरणद्वाराधिकरणे— रोटीशब्द आगतः। वाचस्पतिः कोशकम् लल्लोगणितज्ञः, घुण्डिनाथः. सर्वेषां समया निश्चिता, सर्वान्.सङ्गृह्य एतत्कफलो निबन्धान्तरे। निर्वेतास्मि॥

तस्मादत्र समासेन तदङ्गं प्रविविच्यते।

एवञ्च— तमोमापकयन्त्ररिय नवाधिकं शतम्, द्वात्रिंशद् अङ्गानि पिनद्धानि भवति। तेषु द्वात्रिंशति अङ्गेषु त्रयोदशेन अङ्गं न तमः प्रमातुं शक्यम्। एतच्च त्रयोदशमङ्गं द्वादशात् अङ्गात् पूर्वस्मिन् भागे विधेयम्। एतत् तमोपहारकं यन्त्रमेव मन्येऽधुना **'The apparatus to measure the quantity of darkness.'** इति शब्देन व्यवहर्तुं शक्यम्॥

सम्प्रति तमःप्रमापकेनसङ्ख्यासङ्केता निरूप्यन्ते, तथाहि—

तमःपरिमाणवाचकाः ऊनविंशतिः शब्दा अत्र निरूपिताः, यथा—

१. अलिकम्।

२. कौलिकम्।

३. रन्ध्रम्।

४. मण्डम्।

५. बिम्बोकम्।

६. वीचकम्।

७. तामसम्।

८. रौनिकम्।

९. कुटम्।

१०. स्तम्भम्।

११. शम्बरम्।

१२. मच्छूरम्।

१३. गुच्छुकम्।

१४. कुट्टपम्।

१५. गुलिकम्।

१६. छेटिकम्।

१७. पद्मम्।

१८. मण्डलम्।

१९. कञ्चुकम्।

एतेषामुत्तरोत्तरं वृद्धिरिति वैज्ञानिकः समयः। तत्परिचयस्तु महाभारतीयादिपर्वणि अक्षौहिणी-परिमाणनिरूपणशैलीमनुसृत्य वृत्तिकारो जग्रन्थ— अक्षौहिणीपरिमाणनिरूपणशैलीमनुसृत्येति।

अयंभावः- सेनायाः महत् परिमाणम् अक्षौहिणी, लघुमम्— 'पत्ति' इति, तत्रादौ लघुपरिमाणं निरूप्य, ततस्तद्वृद्ध्या— तद्वृद्ध्येत्यादिकम्रेण अक्षौहिणीपरिमाणंनिरुक्तिः, तद्वत्प्रकृतेऽपि तमसः लघिष्ठं परिमाणम् '**अलोकम्**' इति, ततस्तद्वृद्ध्या, पुनस्तद्वृद्ध्यां तमसः महत्परिमाणं कञ्चुकं निरूप्यते। तत्र तमःपरिमाणानि मूले निरूपतान्येव, अक्षौहिणी निरूपकं यथा—

१. २५०० कक्ष्यं (कोटिंकं) यत् तमो भवति सः— विन्दुः।

२.	०५—	विन्दुवः	=	१ अलीकम्।
३.	०३—	अलीकानि	=	१ कौलिकम्।
४.	०५—	कौलिकानि	=	१ रन्ध्रम्।
५.	०८—	रन्ध्राणि	=	२ मण्डम्।
६.	१०—	मण्डानि	=	१ विम्बोकम्।
७.	२०—	विम्बोकानि	=	१ वीचकम्।
८.	१०—	वीचकानि	=	१ तामसम्।
९.	०८—	तामसानि	=	१ रौणिकम्।
१०.	१२—	रौणिकानि	=	१ कुटम्।
११.	१०—	कुटानि	=	१ स्तमम्।
१२.	१४—	स्तमानि	=	१ शबरम्।
१३.	१८—	शबराणि	=	१ मंछूरम्।
१४.	१८—	मंछूराणि	=	१ गुच्छम्।
१५.	२०—	गुच्छानि	=	१ कुड्डुपम्।
१६.	२८—	कुड्डुपानि	=	१ गुलिकम्।
१७.	३०—	गुलिकानि	=	१ छेटिकम्।
१८.	२३—	छेटिकानि	=	१ पद्मम्।
१९.	३२—	पद्मानि	=	१ मण्डलम्।
२०.	२८—	मण्डलानि	=	१ कञ्चुकम्।

तेदवमत्र संक्षिप्याधिसृष्टि पुरातनि आर्षी दृष्टिरत्यल्पं प्रस्तुता। अतोऽग्रे-ऽमुष्मिन्नेव ग्रन्थे जलाद् विद्युत उत्पत्तेः प्रकारः, श्रौतस्मार्तप्रामाण्योपस्थापनपूर्वकं न्यरूपि, तद्विवेचनं निबन्धान्तरे विधातास्मि।

एतद्ग्रन्थाध्ययनेनेत्थं प्रतीयते यत् अदिति-कश्य-कूर्मपीठ-प्रभृतयो वैज्ञानिकाः पदार्थाः सन्ति।

स्वीकृतश्चायम्प्रकारो वैदिकविज्ञानाविष्कारक-**मधुसूदनविद्यावाचस्पतिमहोदयैः**। यथा— वैज्ञानिकानामृषीणां यन्मण्डलं—

निपुणमनुसन्धाय **'सप्तर्षिमण्डलम्'** आविश्चक्रे, तदृषिमण्डलं सप्तर्षि-मण्डलनाम्नाऽद्यापि प्रथतेतराम्। बुधग्रहाविष्कारे चन्द्रस्य गहनमनुसन्धानं विधाय अत्रिऋषिः समस्तं चान्द्रमधिकरोतिस्म, स **'चन्द्रपिता'**, चन्द्रश्चात्रिपुत्र इति पौराणिकसमयः। अत्रिरयं चक्षुषा चन्द्रग्रहणमिदम्प्रथमतयाऽऽविश्चक्रे, तेन दशसु दिक्षु तद्यशोऽबीभवदिति— **'नेत्राभ्यां वारि सुश्राव दशधा द्योतयद् दिशा'** इत्यादिः पौराणिकः समयः, एवं बहुत्र यत्र तत्रानेकत्र सर्वत्रेति यत्किञ्चिदेतत्।

विद्युदुत्पादकजलस्य विवेचनं विदुषां रुच्यनुसारं पश्चात् यथाकालं विधातास्मीति निश्चप्रचं निश्चायंनिश्चायश्चायज्ञनो नामन्नाममत्रभवतो विरमतीति शम्।

राजारामस्य वैयाकरणभृगपतेरस्ति पौत्रः कनिष्ठो
वीणापाणौ तथा श्रीपशुपतिबुधतोऽवाप्तजन्मा द्विजो यः।
सम्पूर्णानन्दनामान्वितविबुधवचोविश्वविद्यालयीयः -
चक्रे प्राध्यापकस्तत् सपदि ऋषिभरद्वाजरीत्याऽत्र सृष्टिम्॥ १॥

वीणापाणिरसौ सतीमणिरलं माता मदीया मता
वेदव्यासकृपात आविरकरोच्छ्रीव्यासकूटान्यहो।
रराष्टि स्म यदीयचित्तकमले श्रीमन्महाभारतं
तातो मे सुकृतीश्वरः पशुपतिस्ताभ्यामुभाभ्यां नमः॥ २॥

भाग्ये चन्द्रबलस्य दुःस्थितिवशाच्छेदस्तु वृत्तेर्मम
द्वासप्तत्यधिकोनविंशतितमे हा ख्रीष्टवर्षेऽभवत्।
तस्मादेषु महत्सु सत्सु विषयेष्वग्रे न शोधो गतः
क्षम्यो मे ह्यपराध एष नितरां वाग्देवि! तुभ्यं नमः॥ ३॥

हा निर्वृत्तिक एष आसमहकं लब्ध्वाऽन्नपानादिकं
सत्सु ज्येष्ठसहोदरेषु च कनिष्ठावुत्तगेहे तदा।
पूर्वं सुन्दरमंशुबोधिनिमहाग्रन्थं पठित्वाऽप्यहो
शक्तो नाऽभवमत्र किन्तु लिखितुं निर्विण्णचेतोधनः॥ ४॥

✿✿✿

यज्ञ का महत्त्व एवं प्रासंगिकता

प्रो० युगलकिशोर मिश्र
पूर्व प्रतिकुलपति-सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
पूर्व-सदस्यसचिव-म० सा० राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान
(मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार)

भारतीय मान्यता के अनुसार 'यज्ञ-विद्या' सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आत्मतत्त्व है, अत एव यज्ञ भारतीय संस्कृति का प्राण है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण का वचन है—

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वं एष वो स्त्विष्टकामधुक्॥ (गीता ३.१०)

अर्थात् प्रजापति ने प्रजाओं के सृजन के साथ ही समस्त कल्याण-सम्पदा को प्रदान करने वाले यज्ञतत्त्व की सृष्टि की। फलतः सृष्टि, यज्ञ और प्रजा का अत्यन्त निकट सम्बन्ध है, यह बात सिद्ध होती है। आज मानव जाति यज्ञ से दूर हो गई है, जिसके फलस्वरूप वह विभिन्न दुःखों से पीड़ित है।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में देवगणों ने जो यज्ञ अनुष्ठित किया था, उसके ही धर्म यज्ञ-विद्या में अनुस्यूत होते हैं; क्योंकि वे प्रथम धर्म थे। इस यज्ञ के प्रभाव से ही देवगणों को श्री, यश और अनन्त सुख की प्राप्ति हुई। पुरुषसूक्त के अनुसार देवगणों ने जो यज्ञ अनुष्ठित किया था, उसमें वसन्त ऋतु आज्यस्थानीय थी, ग्रीष्म ऋतु इध्मस्थानीय थी और शरद् ऋतु हविष्यस्थानीय थी। वस्तुतः यह देवगण द्वारा प्रकृति के उपादानों से किया जाने वाला एक विशिष्ट प्रकार का 'प्राकृत-यज्ञ' था; जो कि प्रकृति में निरवच्छिन्न रूप से अनुष्ठित होता रहता है।

यज्ञ शब्द यज् धातु से निष्पन्न होता है। यज् धातु तीन अर्थों में प्रयुक्त है—देवपूजा, संगतिकरण और दान। अपने आराध्य को श्रद्धाभाव से जो कुछ अर्पण किया जाता है, वह देवपूजा के अन्तर्गत आता है। यज्ञ के सन्दर्भ में दूसरा अर्थ—'संगतिकरण' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रकृति के साथ व्यष्टि का संगतिकरण और समष्टि का व्यष्टि के साथ संगतिकरण होने का माध्यम यज्ञ है। अतः मानवमात्र के लिए यज्ञ एक अपरिहार्य तत्त्व है।

यज्ञ के तीन मुख्य अङ्ग हैं—१. देवता, २. द्रव्य एवं ३. त्याग। प्रायः हमारी यह धारणा है कि देवतत्त्व एक अचिन्त्य व अलौकिक शक्ति है। वैदिक वाङ्मय के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि देवतत्त्व मनुष्य के साथ प्रतिक्षण रहने वाला तत्त्व है, जो कुछ दृष्टियों से मनुष्य पर आश्रित भी है। यद्यपि देवतत्त्व महनीय है; साथ ही वह मानव का अग्रज एवं सर्वैश्वर्यसम्पन्न है। शतपथ ब्राह्मण में एक सन्दर्भ के अनुसार प्रजापति ने देवगण एवं मनुष्यों की सृष्टि की और कहा कि स्वर्ग का साम्राज्य देवगणों के अधीन होगा तथा पृथ्वी का साम्राज्य मनुष्यों के अधीन रहेगा। पार्थिव साम्राज्य के अधिपति होने के कारण समस्त पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, नदी-पर्वत आदि के संरक्षण का दायित्व भी मनुष्य पर है। पृथ्वी के ऊर्ध्वस्थ लोकों का आधिपत्य देवगणों के पास होने के कारण उनके संरक्षण का दायित्व देवों का है।

शास्त्रों एवं पुराणों के अनुसार स्वर्ग में यद्यपि अनन्त सुख हैं; किन्तु भोज्यान्न का अभाव है; जबकि पृथ्वी पर अनन्त कष्ट होने पर भी भोज्यान्न की प्रचुर मात्रा में सुलभता है। अतः मनुष्य को प्रजापति ने यह निर्देश दिया है कि वह अपने अग्रजन्मा देवगणों को यज्ञ के माध्यम से हविष्यान्न प्रदान करता रहे। यह मानव का नैतिक उत्तरदायित्व है। अतएव श्रुति का वचन है—'इतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति'। श्रीमद्भगवद्गीता का भी कथन है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ (गीता ३.११)

अतः यज्ञ देवतत्त्व और मनुष्य को जोड़ने या संगतिकरण का एक साधन है, जिसे सर्वदा अनुष्ठित किया जाना चाहिए।

सृष्टि में देवतत्त्व की सत्ता है या नहीं? यह प्रश्न बराबर किया जाता है। दूसरा प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि देवतत्त्व अदृश्य है; अतः उसकी सत्ता एवं शक्ति की महत्ता को कैसे सिद्ध किया जाय? इस सम्बन्ध में शास्त्रीय समाधान इस प्रकार है—

(क) प्रकृति को देखने पर यह अनुभव होता है कि सम्पूर्ण प्रकृति एक निश्चित एवं मर्यादित व्यवस्था में अनन्त काल से चल रही है। निश्चित एवं मर्यादित व्यवस्था के पीछे किसी चेतन-तत्त्व का होना आवश्यक होता है; अन्यथा कुछ काल के बाद वह व्यवस्था स्वतः समाप्त हो जाती है। प्रकृति की व्यवस्था नियमित एवं मर्यादित संचालित है; अतः यह मानने की बाध्यता है कि समस्त सृष्टि-प्रपञ्च के संचालन के पीछे निश्चित ही कोई चेतन-तत्त्व है।

(ख) अदृश्य चेतन-तत्त्व, जिसे हम ईश्वर या देवता के नाम से जानते हैं, वह अत्यन्त सूक्ष्म एवं अगोचर होते हुए भी सर्वाधिक शक्तिशाली एवं पूरे ब्रह्माण्ड का नियंत्रक है। जिस प्रकार पञ्चमहाभूतों से बना मनुष्य का शरीर एवं उसकी कर्मेन्द्रियाँ प्रत्यक्ष हैं; किन्तु उनका संचालन अदृश्य एवं सूक्ष्म मन के द्वारा होता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का संचालन अमूर्त किन्तु निरतिशय शक्तिसम्पन्न 'ईश्वर' द्वारा होता है। अतः यह सिद्ध है कि स्थूल (= प्रत्यक्ष) से अधिक शक्तिशाली सूक्ष्म (= अमूर्त) है, जो कि स्थूल का न केवल नियंत्रण करता है; अपितु संचालन भी करता है।

आचार्य यास्क ने अपने ग्रन्थ निरुक्त में 'देव' शब्द का निर्वचन करते हुए कहा है कि—'देवो दानाद् वा, द्योतनाद् वा, दीपनाद् वा'। अर्थात् ब्रह्माण्डीय शक्तियाँ, जो सृष्टि के समस्त जड़-चेतन तत्त्वों का पोषण करती हैं, उन्हें यथायोग्यता ऊर्जित करती हैं एवं विकसित करती हैं, वे देवतत्त्व हैं। हमारे इस पिण्ड शरीर का देवतत्त्व द्वारा ऊर्जित होने का एक प्रमाण यह है कि जब मनुष्य थक कर सोता है और उसके बाद जब प्रातःकाल उठता है तो वह अपने को स्फूर्त अनुभव करता है। यह ऊर्जा उसे रात्रि-देवता के माध्यम से प्राप्त होती है। इसलिए पिण्ड शरीर को स्फूर्त अथवा ऊर्जित करने वाली शक्तियाँ ही देवतत्त्व के रूप में परिभाषित की गई हैं।

शास्त्रों के अनुसार यज्ञ तीन स्तरों पर अनुष्ठित होता है—१. ब्रह्माण्ड के स्तर पर, २. पिण्ड शरीर

के स्तर पर और ३. भौतिक स्तर पर। सृष्टि के स्तर पर परात्पर पुरुष द्वारा वसन्त ऋतु रूप आज्य, ग्रीष्म रूप ईन्धन और शरद् ऋतु रूप हविष्य के द्वारा अहर्निश सम्पन्न किया जा रहा है। पिण्ड शरीर के स्तर पर आत्मतत्त्व के द्वारा प्राणादि वायु के ग्रहण एवं त्याग (श्वास लेने एवं श्वास छोड़ने आदि) रूप से अनुष्ठित होता है। भौतिक स्तर पर मनुष्य द्वारा यज्ञ शास्त्रविहित विभिन्न पदार्थों के मंत्रपूर्वक अग्नि में प्रक्षेपण एवं त्याग द्वारा अनुष्ठित होता है।

तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो 'यज्ञ' परात्पर पुरुष के द्वारा विराट्-तत्त्व के लिए उसी के द्वारा प्रदान किये गये द्रव्यों द्वारा अनुष्ठित होता है। अतः मानव का उसमें कोई कर्तृत्व नहीं रहता। अतएव शास्त्र का कथन है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना॥ (गीता ४.२४)

श्लोक के उपर्युक्त आशय को दृष्टिगत रखते हुए ही यज्ञादि सभी कर्मों की समाप्ति पर यजमान द्वारा 'इदं न मम' कहने का विधान है।

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार यज्ञों के तीन भेद हैं—१. श्रौत यज्ञ, २. तान्त्रिक यज्ञ तथा ३. मिश्र यज्ञ। साक्षात् श्रुति द्वारा प्रतिपादित एवं कल्पसूत्रों द्वारा निर्दिष्ट यज्ञ 'श्रौत यज्ञ' कहे जाते हैं। आगमोक्त विधियों द्वारा अनुष्ठित यज्ञ 'तान्त्रिक यज्ञ' कहलाता है। श्रुति, स्मृति एवं आगम मिश्रित विधियों द्वारा अनुष्ठित होने वाले यज्ञ 'स्मार्त या मिश्र यज्ञ' कहे जाते हैं। शास्त्र का निर्देश है कि यज्ञ के माध्यम से मनुष्य ऐहिक एवं आमुष्मिक सभी प्रकार के फल प्राप्त कर सकता है; किन्तु शर्त यह है कि यज्ञ की सारी विधियाँ शास्त्रों के अनुसार अनुष्ठित होनी चाहिए। यज्ञ की किसी भी विधि में किञ्चित्-मात्र भी यदि त्रुटि रह जाती है तो फलोत्पत्ति की सम्भावना संदिग्ध हो जाती है। अतएव श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ (गीता १६.२३)

उपर्युक्त श्लोक के निहितार्थ पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि यज्ञ एक वैज्ञानिक तत्त्व है। जिस प्रकार रसायन-विज्ञान जल के उत्पत्तिसूत्र— H_2O को बताते हुए यह संकेत करता है कि हाइड्रोजन की दो मात्रा और आक्सीजन की एक मात्रा के सम्मिश्रण से जल की एक बूँद बनती है; किन्तु यदि इन दो तत्त्वों की मात्राओं में थोड़ा भी विपर्यय हो जाय तो जल की उपलब्धि नहीं होगी; ठीक इसी प्रकार यज्ञविधियों में थोड़ी-सी भी त्रुटि से उसकी फलोत्पत्ति संदिग्ध हो जाती है। अतः यज्ञानुष्ठान करते समय इस बात की ओर विशेष सावधानी रखनी चाहिए।

प्रायशः प्रत्येक यज्ञ में 'वेदि' बनाई जाती है। वेदि के महत्त्व के विषय में **शतपथ ब्राह्मण** में यह प्रतिपादित किया गया है कि पुरा काल में आसुरी शक्तियों ने देवगणों को परास्त कर सम्पूर्ण पृथ्वी पर आधिपत्य कर लिया तथा असुरों ने परस्पर पृथ्वी का बँटवारा भी प्रारम्भ कर लिया। तब देवताओं ने

वामन रूप भगवान् विष्णु के नेतृत्व में असुरों से जाकर कहा कि हम आपके भ्राता हैं; अतः पृथ्वी के बँटवारे में हमें भी हिस्सा मिलना चाहिए। असुरगण पहले तो राजी नहीं हुए; किन्तु बाद में अन्यायपूर्ण ढंग से कहा कि हम पृथ्वी का उतना हिस्सा मात्र ही आपको दे सकते हैं जितने हिस्से में यह वामन विष्णु लेट जायेगा। देवताओं ने भगवान् वामन के कहने पर इसे स्वीकार कर लिया और उस छोटे से भूखण्ड को प्राप्त कर उसे यज्ञवेदि के रूप में परिणत कर यज्ञानुष्ठान करने लगे। श्रद्धाभाव से यज्ञानुष्ठान करते हुए कालान्तर में देवताओं ने यज्ञ के प्रभाव से सम्पूर्ण पृथ्वी पर आधिपत्य प्राप्त किया और असुरों को पराभूत कर दिया। इस आख्यायिका के द्वारा वेद यह संकेत करता है कि 'विद्लृ लाभे' धातु से बने हुए वेदि शब्द का अर्थ है—जिससे अनन्त लाभ एवं कल्याण प्राप्त किया जा सकता है, उसका नाम वेदि है। तात्पर्य यह है कि यज्ञवेदि यद्यपि अत्यल्प भूखण्ड है; किन्तु श्रद्धाभाव से उस पर शास्त्रोक्त विधिपूर्वक यज्ञ सम्पादित किये जायँ तो उससे हमें अनन्त लाभ एवं कामनाओं की सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

वेद में यह भी निर्देश किया गया है कि यज्ञवेदि को अपवित्र भाव से या अपवित्र अवस्था में न तो स्पर्श करना चाहिए और न ही उस पर स्थित होना चाहिए। इस विषय में भी **शतपथ ब्राह्मण** में एक आख्यायिका के माध्यम से बताया गया है कि पुराकाल में मनुष्य यज्ञ करने पर भी दुःखी रहने लगे एवं दारिद्र्य को प्राप्त होने लगे। तब मनुष्यों ने यज्ञ करना बन्द कर दिया। इसके कारण देवताओं को हविष्यान्न मिलना बंद हो गया और वे भूख से व्याकुल हो उठे। देवताओं ने बृहस्पति को दूत बनाकर मनुष्यों के पास भेजा। बृहस्पति ने मनुष्यों से यज्ञ चालू रखने के लिए कहा तो मनुष्यों ने कहा कि यज्ञ करने से तो हम उत्तरोत्तर विपन्नावस्था में पहुँच गये। तब बृहस्पति ने कारण बताया कि आपलोगों ने यज्ञवेदि को पवित्र नहीं रक्खा; अतः आपको विपरीत फल की प्राप्ति हुई। इस आख्यायिका द्वारा यह संकेत दिया गया है कि यज्ञानुष्ठान के समय पवित्र होकर यज्ञवेदिका में स्थित होना चाहिए और पवित्र भाव से यज्ञानुष्ठान करना चाहिए; तभी वह लाभदायक होता है।

यज्ञ के सन्दर्भ में वेदों का यह भी उपदेश है कि मनुष्य और देवताओं में मात्र यही अन्तर है कि मनुष्य अपने जीवन में सर्वदा सत्य पर आश्रित नहीं रहता; जबकि देवगण सर्वदा सत्य पर आश्रित रहते हैं। अतः मनुष्य जब यज्ञ का संकल्प लेता है तो उसे यह भावना लेनी पड़ती है कि मैं कम से कम यज्ञानुष्ठान तक असत्य का परित्याग कर सत्य की भूमिका में प्रतिष्ठित रहूँ। सत्य की भूमिका में प्रतिष्ठित होकर यज्ञानुष्ठान करने से मानव उतने काल तक देवत्व की भूमिका प्राप्त कर लेता है। धीरे-धीरे यदि मनुष्य सत्य के संस्कार को बढ़ाता जाता है तो वह शीघ्र ही देवत्व कोटि को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार भारतीय चिन्तन में 'यज्ञ' मनुष्यत्व से उठकर देवत्व के संगतिकरण की एक अद्भुत प्रक्रिया है, जो निश्चय ही कल्याणदायक है।

✿

वेदान्तशास्त्र

डॉ० मुरलीधर पाण्डेय,
बी० २/४७, भदैनी, वाराणसी

विश्व में सभी वस्तुओं का विभाजन सूक्ष्म और स्थूल दो रूपों में किया जाता है। दोनों तरह की वस्तुओं के ज्ञान के लिये भिन्न-भिन्न दार्शनिक एक से लेकर नौ तक का प्रमाण मानते हैं; इन सबों का प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—इन तीनों प्रमाणों में अन्तर्भाव हो जाता है; किन्तु जो इन्द्रियातीत हैं, वे प्रत्यक्ष तथा अनुमान की परिधि से बाहर होते हैं, उनके ज्ञान के लिये शब्द प्रमाण की आवश्यकता होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक ऐसी वस्तु है, जो प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण से बाध्य नहीं है। वह विश्वातीत है और विश्वानुस्यूत है, उसको जानने के लिये अपने-अपने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में ईश्वरपुत्र या पैगम्बर आदि की वाणी से बोध कराने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु यह सत्य है कि वाणी से बोध कराते समय बुद्धि का योग होना परम आवश्यक है। बुद्धि से चिन्तन करने के बाद ही चेतन (आत्मा) का सहयोग पाकर बुद्धि, मन, प्राण एवं इन्द्रियाँ वाणी-रूप में अर्थ को प्रकाशित करती हैं। इसलिए जैसी बुद्धि होगी, जैसा मनन होगा, उसी प्रकार की वाणी भी होगी। इसलिये कोई कितना ही बड़ा महापुरुष हो, पैगम्बर हो, ईश्वरपुत्र हो, उसको बुद्धि के अनुसार ही वाणी के द्वारा परम तत्त्व का प्रकाशन करना पड़ेगा। बुद्धि त्रिगुणात्मक है। उसमें सत्, रजस् और तमस् का अंश रहेगा ही। इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए। बुद्धि के त्रिगुणात्मक होने से ईश्वरपुत्र, पैगम्बर और महापुरुष की वाणी में भी त्रिगुण की सत्ता माननी पड़ती है। हम मान लें कि पैगम्बर, महापुरुष आदि की बुद्धि में त्रिगुण की सत्ता ९८%-९९% हो, जो सामान्य व्यक्तियों से बहुत अधिक हो; किन्तु मनुष्य होने के कारण बुद्धिपूर्वक वाणी होने के कारण तथा बुद्धि के त्रिगुणात्मक होने के कारण उत्तम से उत्तम तथा दिव्य वाणी में भी रज, तम का कुछ अंश अवश्य रहेगा ही; जिसके कारण परम सत्ता का परम शुद्ध रूप बताना सम्भव नहीं है। इसीलिए परम सत्य को समझने के लिए भारतीय मनीषियों ने वेद को मुख्य साधन माना है; यतः वेद बुद्धिसापेक्ष इन्द्रियजन्य अभिव्यक्ति नहीं है। वेद को कहा जाता है कि यह परमात्मा का निःश्वास है—**यस्य निश्वसितं वेदाः**। निःश्वास के लिए किसी आयास की आवश्यकता नहीं होती। निःश्वास ही प्राण तथा स्पन्दन का परिचायक होता है। उस अद्वितीय एक तत्त्व का निःश्वास वेद है, जिसको प्रथम जीव हरिण्यगर्भ ने सुना और समझा तथा अपने मानसपुत्रों के द्वारा श्रुति-परम्परा से संरक्षित किया, जिससे पराशक्ति के ज्ञान को परमतत्त्व को श्रुति या वेद कहते हैं। इसीलिए कहा गया है कि—

प्रत्यक्षेण वानुमानेन यद्धि बोद्धुं न शक्यते।
बुध्यते तद्धि वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

वेद का यही वेदत्व है कि जिस तत्त्व का ज्ञान प्रत्यक्ष तथा अनुमान से नहीं होता, उस तत्त्व को वेद बता देता है।

इस वेद को ऋचाओं और मन्त्रों में संगृहीत किया गया है। मुख्यत: वेद एक है, किन्तु प्रयोजन के अनुसार, क्रिया के अनुसार तीन भाग—ऋक्, यजु:, साम तथा अथर्व चार भागों में विभक्त है। अर्थ के अनुसार इन वेदों को कर्मकाण्ड, उपासना तथा ज्ञानकाण्ड में विभक्त किया जाता है। पतञ्जलि के अनुसार प्राचीनकाल में वेद की ११३० शाखायें उपलब्ध थीं। आजकल केवल आठ अथवा नौ शाखाएँ ही प्राप्त हो रही हैं। सभी शाखाओं के अन्तिम भाग को उपनिषद् कहा जाता है। इस उपनिषद् को 'वेदशिर:' भी कहा जाता है। 'उपनिषद्' और 'वेदशिर:' का अर्थ होता है—परम तत्त्व को समझने की विधि और इसी विधि को 'वेदान्त' भी कहते हैं। अत: वेदों का अन्तिम भाग उपनिषद् है और उपनिषद् के गूढ़ अर्थों को प्रकाशित करने वाला शास्त्र 'वेदान्तशास्त्र' है। श्री सदानन्दस्वामी ने अपने 'वेदान्तसार' के आरम्भ में कहा है—'उपनिषत्प्रमाणो हि वेदान्त:'।

इन उपनिषदों की बहुत बड़ी संख्या है। वैसे आजकल छोटी-बड़ी उपनिषदों की संख्या कुल ३०० तक है। इनमें ग्यारह उपनिषद् ही प्रमुख रूप से विवेच्य हैं—ईश, केन, कठ, ऐतरेय, तैत्तिरीय, मुण्डक, माण्डूक्य, प्रश्न, श्वेताश्वतर, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक।

इन पर भगवत्पाद शङ्कराचार्य के द्वारा किया हुआ अविकल भाष्य प्राप्त हो रहा है। (श्वेताश्वतरोपनिषद् के शाङ्करभाष्य के सन्दर्भ में विद्वानों में मतैक्य नहीं है।) पूर्वोक्त सभी उपनिषदों के सार को ग्रहण करके द्वैपायन व्यास जी ने 'ब्रह्मसूत्र' की रचना की थी। इस 'ब्रह्मसूत्र' की सूचना श्रीमद्भगवद्गीता में प्राप्त होती है—**ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव** (गीता १३/४)। व्यासजी से लेकर 'उपनिषद्' और 'ब्रह्मसूत्र' पर व्याख्या और टीका लिखने वाले अनेक ऋषियों तथा विद्वानों की सूचना मिलती है। सूत्रों में भी अनेक ऋषियों के नाम आते हैं। उनके सिद्धान्तों में मतभेद प्राप्त होते हैं, जिनकी तरफ व्यास जी ने सङ्केत किया है और इन महापुरुषों के सिद्धान्तों को 'आर्षवेदान्त' कहा जाता है। उनके नाम इस प्रकार प्राप्त होते हैं—

रामानुज वेदान्त के 'सिद्धित्रय' ग्रन्थ के पृष्ठ ५ में आचार्य टङ्क, भक्तिप्रपञ्च, भर्तृमित्र, भर्तृहरि, ब्रह्मदत्त, शङ्कर, श्रीवत्साङ्क, भाष्कर आदि के नाम मिलते हैं। इसी प्रकार 'वेदार्थसङ्ग्रह' पृ० १५४ में 'भगवद्बोधायनटङ्कद्रमिडगुहदेवपर्दिभारुचिप्रभृत्यविगीतशिष्टपरिगृहीतपुरातनवेदवेदान्तव्याख्यान सुव्यक्तार्थश्रुतिनिकरनिदर्शितोऽयं पन्था:' तथा 'यतीन्द्रमतदीपिका' के पृष्ठ २ में 'व्यासबोधायनगुहदेव भारुचिब्रह्मनन्दिद्रविडाचार्यश्रीपराङ्कुशनाथयामुनमुनियतीश्वरप्रभृतीनां मतानुसारेण....।' इन आचार्यों के नाम मिलते हैं।

इन सभी के सिद्धान्तों का अविकल रूप प्राप्त नहीं होता है, किन्तु टीकाग्रन्थों में इनके सिद्धान्तों का वर्णन प्राप्त होता है।

वेदान्त के तीन प्रस्थान माने गए हैं—उपनिषद् प्रस्थान, सूत्र प्रस्थान तथा श्रीमद्भगवद्गीता प्रस्थान। आजकल सर्वप्राचीन व अविकल इन तीनों पर भगवद्पाद शाङ्करभाष्य उपलब्ध है, जिसके अनुसार स्वजातीय, विजातीय, स्वगतभेदशून्य निर्विशेष ब्रह्माद्वैतस्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है।

शङ्कराचार्य के बाद इस प्रस्थानत्रयी पर भाष्य की रचना करते हुए कुछ नये-नये वेदान्त की स्थापना हुई है। इन आचार्यों की नामावली, भाष्य और काल इस प्रकार है—

	आचार्यनाम	भाष्यनाम	सिद्धान्त
१.	शङ्कर (७८८-८२० ई०)	शारीरकभाष्य	निर्विशेष अद्वैत
२.	भाष्कर (१०००)	भास्करभाष्य	भेदाभेद
३.	रामानुज (११४०)	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत (नारायण)
४.	मध्वाद्वैत (१२३८)	पूर्णप्रज्ञभाष्य	द्वैत (श्रीकृष्ण)
५.	निम्बार्काचार्य (१२५०)	वेदान्तपारिजात	द्वैताद्वैत (श्रीकृष्ण)
६.	श्रीकण्ठ (१२७०)	शैवभाष्य	शैव-विशिष्टाद्वैत
७.	श्रीपति (१४००)	श्रीकरभाष्य	वीरशैव-विशिष्टाद्वैत
८.	वल्लभाचार्य (१४७९-१५४४)	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
९.	विज्ञानभिक्षु (१६००)	विज्ञानामृत	अविभागाद्वैत
१०.	बलदेव (१७२५)	गोविन्दभाष्य	अनित्य भेदाभेद
११.	श्रीरामानन्दाचार्य (१३५६-१५३२)	आनन्दभाष्य	विशिष्टाद्वैत (श्रीराम)

अनेक शास्त्रों में 'सूत्रग्रन्थ' प्राप्त है और उनके अर्थ में भी यत्किञ्चित् भेद सम्भव होता है। जैसे—पूर्वमीमांसा जैमिनिसूत्र, पाणिनिसूत्र, वैशेषिकसूत्र आदि। किन्तु आश्चर्य है कि इस ब्रह्मसूत्र में भिन्न-भिन्न आचार्यों के मत में कई सूत्र भी भिन्न-भिन्न हैं। इस भेद के अनुसार भाष्य एवं सिद्धान्त में भी भेद है, जो ऊपर दिखलाया गया है।

इनमें सूत्रों की संख्या में व अधिकरणों की संख्या में भी भेद है। जैसे—शाङ्करभाष्य में ५५५ सूत्र। तथा १९९ अधिकरण है। रामानुजमत में ५४५ सूत्र और १६० अधिकरण हैं। माध्वमत में ५६४ सूत्र और १३१ अधिकरण हैं। निम्बार्कमत में ५४९ सूत्र और १६१ अधिकरण हैं। श्रीकण्ठ के मत में ५४४ सूत्र और १४२ अधिकरण हैं। वल्लभमत में ५१४ सूत्र और १७१ अधिकरण हैं।

इनमें अद्वैत दर्शनपरक श्रीशङ्कराचार्य-निर्मित भाष्य पूर्ण रूप से प्राप्त हो रहा है; किन्तु श्री द्वैपायन व्यास से पूर्व भी अद्वैत दर्शन के अनेक आचार्य हो चुके हैं। श्रीबादरायण ने अपने सूत्रों में उन लोगों का उल्लेख किया है—

१. आत्रेय
२. आश्मरथ्य
३. औडुलोमि
४. कार्ष्णाजिनि
५. काशकृत्स्न
६. जैमिनि

७. बादरि ८. आचार्य काश्यप

उनके सिद्धान्तों में भी भेद है। इन भेदों का वर्णन 'शङ्करात्पूर्वमद्वैतवाद:' इस ग्रन्थ में किया गया है। इसी प्रकार शङ्कराचार्य से परवर्ती 'भास्करभाष्य' के भेदाभेद सिद्धान्त का उल्लेख शङ्करपूर्व आचार्य भर्तृप्रपञ्चनिर्मित 'बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य' में लगभग १५ स्थलों पर किया गया है। शङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में संक्षेप में इन पन्द्रह स्थलों का उल्लेख किया है। बाद में सुरेश्वराचार्य ने 'बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक' में बड़े विस्तार के साथ आलोचनापूर्वक 'भेदाभेदवाद' का खण्डन किया है। इसकी व्याख्या में आनन्दगिरि ने बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया है। शङ्कर के परवर्ती जितने भी भास्कर, रामानुज, माध्वाचार्य आदि हुए हैं, उनके सिद्धान्तों में अद्वैत तत्त्व किसी न किसी रूप से प्रविष्ट है। वह चाहे द्वैताद्वैत (भेदाभेद), विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि कोई भी हो। केवल आचार्य मध्व शुद्ध ही रूप से द्वैत मत का प्रतिपादन करते हैं।

इनके अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र २/२/३७ के भाष्य में भगवान् शङ्कर ने कुछ और आचार्यों का उल्लेख किया है। उनका स्पष्टीकरण उक्त सूत्र की 'भामती टीका' और 'रत्नप्रभा' टीका में किया गया है—

१. कारुणिक सिद्धान्त २. कालामुख

३. पाशुपत ४. शैव

५. शैव कालामुख ६. कापालिक

विशेषत: इन मतों को 'शैवागम' सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। इस माहेश्वर सम्प्रदाय के सिद्धान्त में भी द्वैतपरक (शिवतन्त्र), द्वैताद्वैतपरक (रुद्रतन्त्र), अद्वैतपरक (भैरवतन्त्र) है। इनके और भी अवान्तर भेद प्राप्त होते हैं। इन सबों के अतिरिक्त अद्वैतवादी प्रत्यभिज्ञादर्शन बहुत प्रसिद्ध है। इसको 'ईश्वराद्वैतवाद' अथवा 'काश्मीरक' अद्वैतवाद भी कहा जाता है। पाशुपत, प्रत्यभिज्ञादर्शन आदि आगमिक अथवा तान्त्रिक द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत कहे जाते हैं।

पूर्व में यह लिखा जा चुका है कि परम तत्त्व बहुत सूक्ष्म है, गूढ़ है। उसके ज्ञान के लिए शब्द से अतिरिक्त कोई भी प्रमाण समर्थ नहीं है। इसलिए परमात्मा के नि:श्वासभूत वेद के अन्तिम भाग उपनिषद् को प्रमाण मानकर उपस्थापित वेदान्त दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ है। श्रीविद्यार्णव ग्रन्थ में अद्वैत के आदि आचार्यों की गणना इस प्रकार की गई है—

नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च
व्यासं शुकं गौड़पदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्।
श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम्
तत्त्रोटकं वार्त्तिककारमन्यानस्मद्गुरुं सन्ततमानतोऽस्मि॥

इन आचार्यों नें चारो वेदों की चार उपनिषदों से महत्त्वपूर्ण चार महावाक्य उद्धृत कर उनके आधार पर अद्वैत वेदान्त की मान्यता दी है। जैसे—

१. प्रज्ञानं ब्रह्म, (ऐतरेय उपनिषद् ५/३८, ऋग्वेद)

२. तत्त्वमसि (छान्दोग्योपनिषद् ६/८/७, सामवेद)

३. अहं ब्रह्मास्मि (बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१०, यजुर्वेद)

४. अयमात्मा ब्रह्म (माण्डूक्योपनिषद् २, यजुर्वेद)

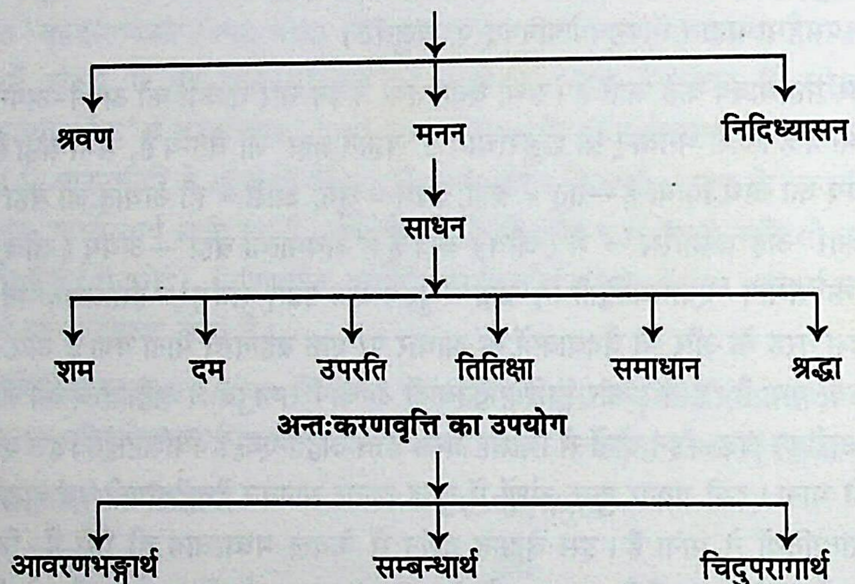
ये चार महावांक्य कहे जाते हैं। सभी वेदान्तियों ने इन चार वाक्यों को अपने-अपने वेदान्त दर्शन का आधार माना है। जैसे भगवान् श्री शङ्कराचार्य ने 'प्रज्ञानं ब्रह्म' जो चैतन्य है, सभी ब्रह्म है। 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का अर्थ किया है—तत् = ब्रह्म, त्वम् = तुम, असि = हो अर्थात् जो ब्रह्म है, वही जीव है। उसी प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' = मैं (जीव) ब्रह्म हूँ। 'अयमात्मा ब्रह्म'—अयम् (जीव) ब्रह्म है। इन महावाक्यों के समान 'एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म' 'पुरुष एव इदम् सर्वम्', 'ईशावास्यमिदं', 'एकोऽहम् बहुस्याम' इस तरह के और भी वेदवाक्यों के आधार पर एक ब्रह्मतत्त्व माना गया है और अद्वैततत्त्व का निरूपण किया गया है। इसी प्रकार विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य रामानुज ने अद्वैततत्त्व को तो माना; किन्तु चेतन जीव अचेतन जड—इन दोनों से विशिष्ट परम तत्त्व अद्वैत एक है विशिष्टाद्वैत। इस एक परम अद्वैत परमात्मा को माना। इसी प्रकार कुछ अंशों में कुछ अन्तर मानकर द्वैताद्वैतवादी एवं शुद्धाद्वैतवादी तथा अविभागाद्वैतवादियों ने माना है। इस वेदान्त दर्शन में केवल मध्वाचार्य ही ऐसे हैं, जिन्होंने वैदिक महावाक्यों एवं मन्त्रों का अर्थ द्वैतपरक करके द्वैतवेदान्त का समर्थन किया है। अद्वैत के विरोध में और जितने भी हैं, उन सभी ने उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता के प्रस्थानत्रयी पर अपनी मान्यतानुसार भाष्यों की रचना की है। महावाक्यों के अर्थ करते समय अद्वैतवादियों ने दोनों पदों को समानाधिकरण करके एकत्त्व का प्रतिपादन किया है। जैसे—प्रज्ञान ही ब्रह्म है, जो 'तत्' है वही 'त्वम्' है, जो 'अहम्' वही 'ब्रह्म' है। विशिष्टाद्वैतवादी तथा द्वैतवादियों ने महावाक्यों के पदों में समानाधिकरण नहीं माना है; जैसे तत्त्वमसि में 'तस्य त्वम् असि' यहाँ वैदिक विधि से षष्ठी समास माना तथा विभक्ति का अलुक् हुआ है और अर्थ किया कि उस परमात्मा का अंश तुम हो अथवा 'तस्मिन् त्वम् असि' उस परमात्मा में तुम अंश रूप से हो। इसी प्रकार और महावाक्यों के भी अर्थ उन लोगों ने किये हैं।

इन सभी वेदान्तों के साधनपक्ष में किसी में ज्ञान की प्रधानता है तो किसी में उपासना की प्रधानता है। अद्वैतवाद में ज्ञान की प्रधानता है तो विशिष्टाद्वैत में उपासना की, भक्ति की प्रधानता है। भेदाभेद अथवा द्वैताद्वैत में ज्ञान-कर्मसमुच्चय या कर्म-ज्ञानसमुच्चय की प्रधानता दी गयी है।

वैष्णव वेदान्तों में उपास्य देव और उनके प्रति अपने भाव की विविधता है। जैसे श्रीरामानुज में श्रीनारायण उपास्य हैं, निम्बार्क और वल्लभ में राधाकृष्ण, मध्व में लक्ष्मी-नारायण और श्रीसीताराम उपास्य हैं। इसी प्रकार रामानन्द में श्रीसीतारामजी उपास्य हैं। उपास्य और साधनभेद से मुक्ति में भी भेद आ जाता है। जैसे शाङ्करमत में स्वस्वरूपावगति तादाम्यरूप है। वैष्णव में सारूप्य, सालोक्य, सायुज्य, सार्ष्टि आदि है। इसी प्रकार धाम में भी भेद है; जैसे—वैकुण्ठधाम, गोलोकधाम तथा साकेतधाम आदि।

अद्वैत वेदान्त तथा विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार दो साधनों की तालिकायें दी जा रही हैं। यत्किञ्चित् भेद से सभी आचार्यों के मत में साधन-तालिका इसी प्रकार की है—

ब्रह्मसाक्षात्कार के साधन



सभी भारतीय वैदिक दर्शनों में अद्वैत वेदान्तदर्शन बहुत समृद्ध है। जैसा कि पीछे वर्णन किया गया है, श्रीशङ्करसम्मत अद्वैतवेदान्त सिद्धान्त की दृष्टि से, आचार्यो की दृष्टि से तथा ग्रन्थों की दृष्टि से भी बहुत समृद्ध है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि शाङ्करवेदान्त से अतिरिक्त सभी विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि पर न्याय- वैशेषिक दर्शन का प्रभाव पड़ा है और अंशतः यह भी मानना चाहिए कि आचार्य शङ्कर भी सांख्यसम्मत कुछ सिद्धान्तों का समादर करते हैं।

भेद का मुख्य कारण है—स्वरूप, साधनभेद तथा सांध्य मोक्ष के अनेक भेद। मोक्ष की अनेकरूपता के कारण ही साधन में भेद किया गया है। यद्यपि इन सभी अवान्तर भेदसम्बन्धी साध्य-साधक आदि की तालिकायें भी अनेक हैं, किन्तु बड़ी विशेषता यह है कि किसी भी प्रकार से अद्वैत शब्द जुड़ जाने के कारण विशिष्टादैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेदवाद में कुछ अंशो में समानता होने के कारण सभी की तालिका नहीं दी जा रही है। अतः शाङ्कर के अद्वैत का और श्रीरामानुज के विशिष्टाद्वैत का सिद्धान्त सभी वैदिक वेदान्तों में किसी न किसी रूप में विद्यमान है। इसीलिये केवल शाङ्करसम्मत साध्य-साधन आदि तथा रामानुजसम्मत साध्य-साधन आदि भेदों की ही तालिकाये प्रस्तुत की गयी हैं।

इन सभी वेदान्तों का प्रयोजन है—विश्वोत्तीर्ण, विश्वानुस्यूत एवं विश्वरूप परमतत्त्व का निरूपण करना। जिसे शङ्कराचार्य ने यह तत्त्व एक है, अद्वितीय है, सभी में व्याप्त है। अविद्या के द्वारा भेद प्रतीत हो रहा है। अविद्या के न होने पर सभी में एक तत्त्व भासित होता है। इनके अनुसार जड़, चेतन ऐसा कोई भेद नहीं है। भोक्ता, भोग्य और नियन्ता—तीनों एक ही तत्त्व हैं। संसारदशा में इनमें परस्पर भेद है और

परमार्थदशा में, उत्तम ज्ञान की दशा में भोक्ता, भोग्य और नियन्ता तीनों एक हैं, यहीं इनका प्रसिद्ध श्लोक है—

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।
यदुक्तं श्लोकसहस्त्रेण श्लोकार्धेन तदुच्यते॥

इस ब्रह्म का स्वरूप सत् है, चित् है, आनन्द है और निर्गुण है, इसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। यह सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेदशून्य है। इनके अनुसार अविद्या के द्वारा ब्रह्म की भित्ति पर मिथ्या जगत् भासित हो रहा है। जैसे रज्जु पर सर्प का भ्रम होता है। इस भ्रम को 'ख्याति' शब्द से कहा जाता है। यह ख्याति न तो सत् है, न असत् है और न ही सदसत् है। इसे अनिर्वचनीय कहा जाता है। जगत् का उपादान तथा निमित्तकारण दोनों ही 'ब्रह्म' है। इसके लिए 'विवर्तवाद' माना गया है। प्रतीति की तीन सत्तायें मानी गयी हैं—व्यावहारिक, प्रातिभासिक और पारमार्थिक। व्यावहारिक सत्ता जगत् की है। प्रातिभासिक सत्ता रज्जु-सर्प की है और पारमार्थिक सत्ता परब्रह्म की है। 'ब्रह्म' पर जगत् भासित हो रहा है। इसको 'अध्यास' कहते हैं। 'अध्यास' का शब्दतः अर्थ होता है—'अतस्मिन् तद्बुद्धिः' उपनिषद्वाक्यों के द्वारा ब्रह्म, तत् और त्वम् में अभेद बुद्धि हो जाने पर 'जीव' और 'ब्रह्म' के ऐक्य का बोध होने पर परम पुरुषार्थ मोक्ष कहा जाता है। मोक्ष ब्रह्मस्वरूप है और आनन्दस्वरूप है। कर्म तीन माना गया है—सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध। इन तीनों प्रकार के कर्मों का आत्यन्तिक ध्वंस होने पर मोक्ष की अवगति होती है। मुक्ति दो है—जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति। मुक्ति का एकमात्र साधन ज्ञान माना गया है। इस प्रकार और भी अनेक ज्ञातव्य बाते हैं; पर संक्षेप में इतना ही है।

वैष्णव वेदान्त में, जिनकी चर्चा आरम्भ में की गई है, ये सब शाङ्कर से भिन्न हैं। शङ्कराचार्य जहाँ परम तत्त्व नित्य और एक मानते हैं; वहीं पर वैष्णव वेदान्त तीन तत्त्व नित्य मानते हैं—'ब्रह्म', 'जीव' और 'जगत्'। इनका कहना है कि चित् अर्थात् जीव, जड अर्थात् अचित् जीव, जगत् और इन दोनों से विशिष्ट अर्थात् जीवन जगत् विशिष्ट ब्रह्मतत्त्व एक है। इस मत में जीव-जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है, विनाश नहीं होता है। मुक्ति भी जीवभाव छोड़कर ब्रह्मभाव नहीं होती; किन्तु अपने उपास्य के साथ सायुज्य, सालोक्य, सामीप्य इत्यादि होती है। इस मत में साधन-ज्ञानपूर्वक उपासना मानी जाती है। प्रपत्ति भक्ति, उपासना—ये ही इनके पक्ष में साधन हैं। उपास्य श्रीनारायण हैं। इसी प्रकार निम्बार्क मत में भी पदार्थों का, उपास्यों का तथा साधनों का विवेचन है। इनमें भी जीव, जगत् और ब्रह्म तीनों नित्य हैं। उपास्य में भेद आवश्यक है; जैसे इस मत में राधाकृष्ण।

इसी प्रकार शुद्धाद्वैत (श्रीवल्लभ) का भी अपना मत है। इनके उपास्य बाल कृष्ण हैं और साधना पुष्टि- स्वरूपा भक्ति है; बाकि सारी प्रक्रियायें पूर्ववत् हैं। मध्व मत में भी जागतिक पदार्थ में और अन्य मतों से ज्यादा भेद है। इस मत में जगत् का निमित्त कारण परमात्मा है तथा प्रकृति उपादान कारण है। इनके उपास्य नारायण, श्रीराम और विष्णु हैं। साधन और मुक्ति प्रायः उपरि वर्णित के समान है। इसी प्रकार अविभागाद्वैत, भेदाभेदद्वैत, अचिन्त्याचिन्त्यभेदाद्वैत में भी सिद्धान्त तथा सृष्टि आदि की प्रक्रिया समान है।

इन सभी वेदान्तों का एक ही लक्ष्य है—अपने स्वरूप को, अपने नियन्ता अथवा स्वामी को पहचानना और जागतिक, त्रिविध, आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक कष्टों से मुक्त होना। इसके लिए 'भोक्ता भोग्यं प्रेरयितारं च मत्वा' इस श्वेताश्वतोरपनिषद् की उक्ति के अनुसार तीनों का ज्ञान प्राप्त करना है।

वेदान्तशास्त्र का मुख्य प्रयोजन यह सभी जीवों के साथ अपने-आप को समान रूप से मानना और यह जानना कि सभी में हम हैं और हमारे में सभी हैं और हम सभी के ऊपर भी कोई नियन्त्रण करने वाला है। इस भावना की पुष्टि होने पर किसी भी जीव का किसी भी प्रकार अनिष्ट करना अपना ही अनिष्ट करना है और किसी को भी सुखी करना अपने को ही सुखी करना है और ऐसा मानना है कि ऐसा कोई परम तत्त्व साक्षीरूप में सबमें बैठा है, जो हमारे शुभ और अशुभ कर्मों को देख रहा है और उसका फल हमें अवश्य देगा। इस भावना में लोककल्याण, लोकमङ्गल, लोकहित का भाव सदा प्रस्फुटित होता रहता है।

इति शम्

✿

धर्मशास्त्र में नारीप्रकरण
एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

प्रो० विमला कर्नाटक
प्रोफेसर (संस्कृत), महिला महाविद्यालय,
का० हि० वि० वि०, वाराणसी

संस्कृत वाङ्मय में धर्मशास्त्र का स्थान क्या है ? उसका उद्‌गम-स्थल क्या है ? इत्यादि प्रश्नों पर विचार करने के लिये याज्ञवल्क्यस्मृति के आचाराध्याय में पठित अधोलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति-१.३)

इस श्लोक की मिताक्षरा टीका में धर्म के चौदह स्थान बतलाये गये हैं। यहाँ 'स्थान' शब्द का अर्थ 'हेतु' है। तदर्थ चित्रपट्ट है—

धर्मस्थान [१४]

- **पुराण**
  - अष्टादश भेद
    - ब्रह्म
    - पद्म
    - विष्णु
    - भागवत
    - नारद
    - मार्कण्डेय
    - अग्नि
    - भविष्य
    - ब्रह्मवैवर्त
    - लिङ्ग
    - वराह
    - स्कन्द
    - वामन
    - कूर्म
    - मत्स्य
    - गरुड
    - ब्रह्माण्ड
    - शिव
- **न्याय**
- **मीमांसा**
- **धर्मशास्त्र**
  - धर्मशास्त्र के प्रवर्तक
    - मनु
    - अत्रि
    - विष्णु
    - हारीत
    - याज्ञवल्क्य
    - उशना
    - अङ्गिरा
    - यम
    - आपस्तम्ब
    - संवर्त
    - कात्यायन
    - पराशर
    - व्यास
    - शंख
    - दक्ष
    - गौतम
    - वसिष्ठ
- **चार वेद**
  - ऋक्
  - यजुः
  - साम
  - अथर्व
- **छह वेदाङ्ग**
  - शिक्षा
  - व्याकरण
  - ज्योतिष
  - छन्द
  - निरुक्त
  - कल्प

स्मृतिशास्त्र—मन्वादिप्रणीत धर्मप्रतिपादक ग्रन्थ को धर्मशास्त्र कहते हैं। धर्मशास्त्र को ही स्मृतिशास्त्र भी कहते हैं। स्मरन्ति वेदमनया इति स्मृतिः—इस व्युत्पत्ति के अनुसार महर्षि के द्वारा जो वेदार्थचिन्तन किया जाता है, उसे स्मृति कहते हैं। एतद्विधया ग्रन्थ को भी स्मृतिशास्त्र कहते हैं। इस प्रकार मन्वादिमुनिप्रणीत शास्त्रविशेष को स्मृतिशास्त्र कहते हैं। जैसा कि बृहस्पति मुनि का वचन है—

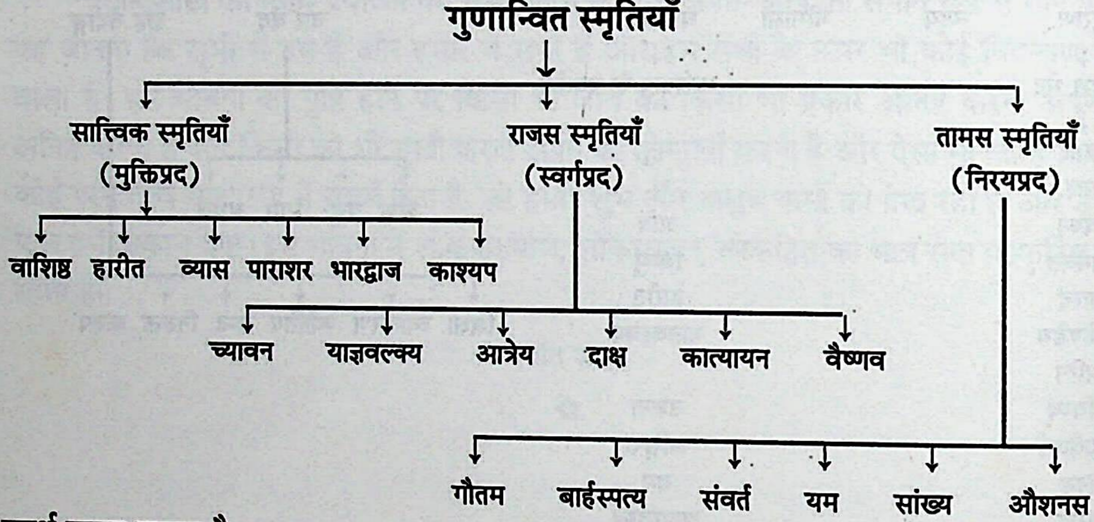
वेदार्थोपनिबन्धृत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्।
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते॥

श्लोक में स्पष्ट शब्दों में आचार्य मनु द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के विरुद्ध आचरण करने वाले शास्त्र को स्मृतिशास्त्र न कहने पर बल दिया है।

स्मृतिशास्त्र के भेद—पद्मपुराण में स्मृतिशास्त्र/धर्मशास्त्र के विषय में एक श्लोक पठित है—

तथैव स्मृतयः प्रोक्ता ऋषिभिस्त्रिगुणान्विताः।
सात्त्विका राजसाश्चैव तामसा शुद्धदर्शने॥

इस वचन के अनुसार ऋषियों ने गुणों के आधार पर स्मृतियों के तीन भेद कहे हैं। सात्त्विक स्मृतियाँ, राजस स्मृतियाँ तथा तामस स्मृतियाँ। चित्रपट है—



तदर्थ वचन प्रमाण है—

वाशिष्ठं चैव हारीतं व्यासं पाराशरं तथा।
भारद्वाजं काश्यपञ्च सात्त्विका मुक्तिदाः शुभाः॥
च्यावनं याज्ञवल्क्यञ्च आत्रेयं दाक्षमेव च।
कात्यायनं वैष्णवञ्च राजसाः स्वर्गदा मताः॥
गौतमं बार्हस्पत्यञ्च संवर्तञ्च यमं स्मृतम्।
सांख्य ञ्चौशनसं देवि तामसा निरयप्रदाः॥

(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, ४ अध्याय)

इस प्रकार धर्मशास्त्र, स्मृतिशास्त्र, धर्मसंहिता तथा श्रुतिजीविका—ये पर्यायवाची शब्द हैं। यहाँ धर्म और शास्त्र दोनों शब्दों के अर्थ को आत्मसात् किये विना उसके प्रतिपाद्य विषय की प्रामाणिता में सन्देह बना रहेगा।

धर्म शब्द—धर्म शब्द की व्युत्पत्ति है—ध्रियते लोकोऽनेन धरति लोकं वा। नैतिक गुणों की समष्टि को धर्म कहते हैं, जिससे लोक को धारण किया जाता है। वेदप्रतिपाद्य नैतिक मूल्य को धर्म कहते हैं। संस्कृत के आचार्यों-शास्त्रकारों ने धर्म को अनेक लक्षणों से परिभाषित किया है।

धर्म का लक्षण—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः' स धर्मः (वैशेषिकसूत्र-१.१.२) के अनुसार जिससे मानव सांसारिक अभ्युदय और पारलौकिक निःश्रेयस को प्राप्त करता है उसे धर्म कहते हैं। यह धर्म विधिमूलक और निवृत्तिमूलक दो प्रकार का होता है।

'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' (अर्थसंग्रह)। धर्म का यह लक्षण लौगाक्षिभास्कर ने किया है। कुमारिलभट्ट के मत में यह धर्म यागादिरूप है, जब कि प्रभाकरमिश्र के मत में अपूर्व नाम का पुण्य धर्म है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ (मनु० ६/९२)

के द्वारा मनु ने धर्म के दस लक्षण बतलाये हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरा टीका (१.१) में धर्म के छः भेद किये हैं। वे हैं—वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म, निमित्तधर्म तथा साधारणधर्म।

शास्त्र शब्द का अर्थ—शिष्यतेऽनेन (शास+ष्ट्रन्) इति शास्त्रम्—इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा शिक्षित किया जाता है, ऐसे ज्ञानविशेष के आधायक ग्रन्थ को शास्त्र कहते हैं। शास्त्र शब्द की एक अन्य व्युत्पत्ति भी मिलती है—शास्ति च त्रायते चेति शास्त्रम्। इस प्रकार हितानुशासन ग्रन्थ को शास्त्र कहते हैं। एक शब्द में वेदमूलक ग्रन्थ को सच्छास्त्र तथा तद्विरुद्ध ग्रन्थ को असच्छास्त्र कहते हैं।

धर्मशास्त्र देश और काल की सीमा से परे—संस्कृत भाषा में लिखित धर्मशास्त्र किसी कालखण्ड के नैतिक मूल्यों का प्रतिपादन नहीं करते हैं; किन्तु काल की सीमा से परे समूची मानवजाति के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। ये मानवजाति के गौरवशाली ग्रन्थ हैं। इनकी प्रासंगिकता पर कभी भी प्रश्नचिह्न नहीं लग सकता है। अग्नि की ऊष्णता यदि ध्रुव सत्य है तो धर्मशास्त्र की शिक्षा भी सर्वथा अमूल्य है। सामाजिक संरचना के परिदृश्य में दलगत नीति से ऊपर उठकर तुलसीदल की पवित्रता की भाँति आचार्यों एवं महर्षियों की लेखनी द्वारा निःसृत वाणी 'असतो मा सद् गमय' का निनाद करती है, हृदय की समरसता का कीर्तिमान स्थापित करती है। नीर-क्षीर-विवेकी निर्णय का दिग्-दिगन्त आलोक प्रकाशित करती है। प्रज्ज्वलित दीपक के प्रकाश की भाँति धर्मशास्त्र-मण्डित शिक्षासत्र की शिक्षा-दीक्षा प्रतिष्ठापित आचार-सुधा है। धर्मशास्त्र को सामाजिक ज्ञानचक्षु कहा गया है। अन्ध व्यक्ति यदि इसमें प्रतिपादित सामाजिक ज्ञान के प्रकाश को अपने में समाहित नहीं कर पाता है तो इसमें शास्त्र का क्या दोष? हमारे भोजन का पात्र बदल सकता है, किन्तु भोज्य वस्तु नहीं। कृत्रिम वायु के प्रवाह को भले ही रोक लें; किन्तु प्रवहमाण स्वाभाविक वायु को नहीं।

तो आइये इसी को आधार बनाकर धर्मशास्त्र, जो सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय का प्रतिनिधित्व करता है, में वर्णित नारी शक्ति के महत्त्वपूर्ण प्रसङ्गों का स्मरण किया जाय।

नर-नारी चिन्तन के तीन सोपान—संस्कृत वाङ्मय में सामाजिक चिन्तन के तीन सोपान हैं—प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष। प्राणिमात्र की व्यवहार-यात्रा प्रथम पुरुष से प्रारम्भ होकर अपनी विकसित अवस्था में उत्तम पुरुष तक पहुँचती है। यह यात्रा तभी सम्भव है जब प्राणी; विशेषकर मनुष्य अपने में अन्तर्निहित साधुता, सात्त्विक वृत्ति का विकास करता है। तब व्यष्टि से समष्टि की यात्रा

प्रारम्भ होती है। इस गूढ़ तथ्य को भक्त की तीन श्रेणियों के दृष्टान्त से समझा जा सकता है। उसमें निहित सूक्ष्म अन्तर को समझा जा सकता है। उपासक की वे तीन श्रेणियाँ हैं—

१. तस्यैवाहम्—मैं उसका हूँ।

२. तवैवाहम्—मैं तेरा हूँ।

३. त्वमेवाहम्—मैं तू ही हूँ।

सभ्यता के विकासक्रम में मानव मैंपन से प्रभावित होकर पुरुषों की चर्चा अन्य पुरुष (प्रथम पुरुष) में करता है। ममत्व का वर्चस्व बना रहता है। नर-नारी, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, स्वामी-सेवक, भक्त-ईश्वर में पल्लवित प्रथम श्रेणी का आत्मीयभाव असन्तुलन का कारण बन विवाद को जन्म देता है। 'मैं' की परिधि में अन्य पुरुष का समावेश बाधित रहता है। इसमें व्यष्टिरूप 'मैं' की प्रधानता रहती है।

नैतिक विकास की दूसरी अवस्था में 'मैं' अपने को 'तू' के निकट पाता है। मध्यमपुरुष का अस्तित्व अधिक विकसित होता है। इसमें अहन्ता का भाव शिथिल होता है और 'मैं' अपने सम्बन्धी के रूप में 'तू' को देखता है। नर-नारी के समर्पण का यह द्वितीय सोपान प्रथम सोपान की अपेक्षा मधुर से मधुरतर है।

घनिष्ठता की आन्तरिक परिणति तीसरी अवस्था में होती है। इस अवस्था में मध्यमपुरुष का भाव शिथिल हो जाता है और एकमात्र उत्तमपुरुष रह जाता है। दोनों के बीच की दूरी समाप्त हो जाती है। 'मैं' और 'तू' के एकत्व का भाव सम्बन्ध की उस उत्कृष्ट अवस्था का वाचक है, जिसमें सम्बन्धों की मधुरता वृद्धि को प्राप्त होती है। विघटन और टकराव का कोई स्थान नहीं रह जाता है।

नर-नारी चिन्तन के तीन सोपानों की कहानी उतनी ही पुरानी है, जितना मानव-जीवन। समय की अंगड़ाई के साथ-साथ विकासक्रम की दिशा और दशा भी बदलती गई। बस अन्तर यह है कि किस युग में कौन से सम्बन्ध का डंका पीटा गया। संपूर्ति को नहीं, रिक्तता को उजागर किया गया। दूध से आपूरित आधे ग्लास की नहीं; अपितु उसके रिक्त पक्ष पर विचार किया। बस, अनेक दल बनाकर हमने चिन्तन को दलदल में फंसा दिया। व्यक्तित्व का विघटन युग की सबसे बड़ी गम्भीर समस्या है और सफलता संकल्पवानों के संकल्प में निवास करती है—ये धर्मशास्त्र के दो बीजमन्त्र हैं।

जैसा कि पीछे बतलाया गया है कि चौदह धर्मस्थान हैं। अतः सिंहावलोकनन्याय से संस्कृत वाङ्मय के इतिहासक्रम से गौरवशाली नारी के प्रमुख बिन्दुओं का स्पर्श करते हुए आगे बढ़ना प्रासंगिक रहेगा।

वैदिक युग की नारी—किसी भी समाज एवं राष्ट्र की स्थिति को वहाँ की नारियों की दशा को देखकर आँका जा सकता है। पुरातन काल के गौरवमयी सतयुगी समाज का श्रेय नारियों की उच्च स्थिति को दिया जा सकता है। वैदिक ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि तब समाज में स्वतन्त्रता एवं

समानता की भावना ओतप्रोत थी। नारियों को हर स्तर पर सम्मान और श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था। अपनी बहुआयामी उपलब्धियों के आधार पर वे अपनी जाति के अन्दर संजीवनी शक्ति का संचार करती थीं। वैदिक वाङ्मय में कहीं पुत्री तो कहीं भगिनी, कहीं पत्नी तो कहीं माता के रूप में नारी की भूमिका एवं योगदान का उल्लेख आता है और कहीं-कहीं वह मन्त्रद्रष्टा ऋषिका के रूप में अपना वर्चस्व प्रकट करती है।

ऋग्वेद के अनुशीलन से विदित होता है कि वैदिक युग में कन्यायें पारिवारिक, सामाजिक तथा धार्मिक प्रत्येक क्षेत्र में अपनी दक्षता का परिचय देती रहीं। वैदिक समाज में पुत्र के समान ही पुत्री को भी स्नेह व सम्मान दिया जाता था। माता के साथ वे गृहकार्यों को सीखती थीं व उनकी सहायता करती थीं। ऋग्वेद के ३.५५.१२ मन्त्र के अनुसार कन्याएँ कृषिकार्य में भी पिता के साथ सहयोग करती थीं। ऋग्वेद ८.८१.५-१३ में अपाला को अपने पिता के साथ खेतों में अच्छी फसल के लिये इन्द्र से याचना करते हुए चित्रित किया गया है। ऋग्वेद ९.१.६ में सोमसवन के प्रसंग में सवनकर्त्ता की अंगुलियों को याषणः, स्वसारः, दुहितरः आदि शब्दों से निर्दिष्ट किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि सोमसवन का कार्य कन्याओं द्वारा ही सम्पन्न होता था। पत्नी के अभाव में पति को यज्ञाधिकारी नहीं माना जाता था। ऋग्वेद १.८.३.३ तथा अथर्ववेद में नारी के अधिकार और कर्तव्यों की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि पत्नी के साथ बैठकर पति यज्ञार्थ स्रुव लेकर यज्ञ करे।

ब्राह्मणकाल में नारी—शतपथ ब्राह्मण ३.३१.२ में वर्णित है कि परिवार में कन्यायें अपने आदर्श गुणों को विकसित करती हुई प्रायः माता के अनुशासन में रहती थीं। कौषीतकी ब्राह्मण २.९ में एक कुमारी को गन्धर्वगृहीत अग्निहोत्र में पारंगत बतलाया गया है। शतपथ ब्राह्मण १४.३.१.३५ में वर्णन आता है कि स्त्रियाँ सामगान करती थीं तथा उनमें मन्त्रों के शुद्धोच्चारण एवं स्वरों के उचित आरोह एवं अवरोह की सामर्थ्य होती थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.७.५ में पति-पत्नी का संयोग सत्कार्य पूर्ति का कारक बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण १५.३.१.३३ से स्पष्ट होता है कि उद्गाता का कार्य भी पत्नियाँ ही करती थीं।

उपनिषत्काल में नारी—बृहदारण्यक उपनिषद् से ज्ञात होता है कि इस काल में नारियाँ दार्शनिक सभाओं में भाग लेती थीं। यथावसर वे सभाओं में भाषण आदि भी दिया करती थीं। इस युग में दो प्रकार की नारियों का उल्लेख आता है—सद्योद्वाहा तथा ब्रह्मवादिनी। सद्योद्वाहा वे थीं, जो ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करती थीं और आश्रम के महत्त्वपूर्ण नियमों का पालन करती हुई मातृत्व के गरिमामय पद को सुशोभित करती थीं। ब्रह्मवादिनी नारियाँ आध्यात्मिक चिन्तन एवं तपस्याप्रधान जीवन व्यतीत करती थीं। उपनिषत्काल की मैत्रेयी एवं गार्गी इन स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। उपनिषद्युग के महानतम तत्त्ववेत्ता याज्ञवल्क्य ऋषि की पत्नी थी मैत्रेयी बृहदारण्यक उपनिषद् २.४ में याज्ञवल्क्य एवं मैत्रेयी का संवाद आता है, जिससे मैत्रेयी के मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास की उच्चावस्था का भान होता है। गार्गी का भरी सभा में याज्ञवल्क्य ऋषि से शास्त्रार्थ करने का वर्णन भी उपनिषदों में मिलता है।

पुराणकाल में नारी—ब्रह्माण्डपुराण ४.४०.९३ में वर्णित है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश सपत्नीक देवी की उपासना करते हैं। वायुपुराण १५.७० के अनुसार श्राद्ध के अवसर पर अग्नि का आह्वान सपत्नीक करना चाहिए। मत्स्यपुराण ५८.२१ में यज्ञमण्डप में सपत्नीक प्रवेश करना मंगलदायी माना गया है। श्रीमद्भागवत के अनुसार स्वयंभुव मनु की तीन पुत्रियों में देवहूति का नाम विशेष आदर से लिया जाता है। कुशल साध्वी माता देवहूति ने अपने पति कर्दम प्रजापति की सेवा से उन्हें प्रसन्न किया। अतः कर्दम प्रजापति ने अपनी अर्जित विभूतियों का बल प्रसादस्वरूप देवहूति को प्रदान किया, जिसके प्रभाव से व्यक्ति भय और शोक से रहित हो जाता है। कर्दम ऋषि ने अपनी प्रिया की इच्छा को पूर्ण करने के लिये उसी समय योग में स्थित होकर एक ऐसे विमान का निर्माण किया, जो इच्छानुसार सर्वत्र जा सकता था। उस विमान में आरूढ़ हो कर कर्दम प्रजापति देवहूति को सम्पूर्ण भूमण्डल, जो द्वीप, वर्षा आदि विचित्र रचना के कारण बड़ा ही आश्चर्यमय था, दिखलाकर अपने आश्रम लौट आये। वह देवहूति माता धन्य है, जिसका पुत्र कपिल आगे चलकर सांख्यशास्त्र का प्रवर्तक बना। देवहूति ने अपने पुत्र कपिल से अनेक दार्शनिक प्रश्न पूछे। कपिल ने माता के प्रति भक्तियोग की महिमा प्रतिपादित की। अन्ततः अपने आश्रम में अपने पुत्र द्वारा उपदिष्ट योगसाधन के द्वारा योगाभ्यास करती हुई माता देवहूति समाधि में स्थित हो गई—

सा चापि तनयोक्तेन योगादेशेन योगयुक्।
तस्मिन्नाश्रम आपीडे सरस्वत्याः समाहिता॥

[श्रीमद्भागवत ३.३३.१३]

इसी प्रकार मेधातिथि की कन्या अरुन्धती ने तपसारण्य वन में तप करके वसिष्ठ–जैसे योगी को अपने पतिरूप में पाया और वे सशरीर अजर–अमर बनीं।

रामायण और महाभारतकाल में नारी—शास्त्रकारों ने गृहिणीरहित गृह को अरण्यसदृश कहा है। महाभारत के आदिपर्व ७४.३१ तथा वनपर्व १२.७० के अनुसार पत्नी सदा आदर की पात्र है। इसीलिये उसे 'दारा' कहा गया है। महाभारत के शान्तिपर्व १४४.६१ के अनुसार भार्यासदृश न तो कोई बन्धु है और न ही धर्मसंग्रह में अन्य कोई सहायक। 'गृहिणी गृहमुच्यते' द्वारा नारी का गृहस्थी में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान कहा गया है। वे पुरुषों के समतुल्य समझी जाती थीं। यह तथ्य 'अर्द्धाङ्गिनी' शब्द से भी अभिव्यक्त होता है। 'दम्पति' शब्द में स्त्री–पुरुष दोनों के समान रूप से घर का स्वामी होने का भाव निहित है। पत्नी को अन्य कई शब्दों से सम्बोधित किया गया है। जैसे—जाया, दारा, वासिता आदि; जो कि उसकी उच्च स्थिति को व्यक्त करते हैं। पति स्वयं शुक्ररूप से भार्या के गर्भ में प्रवेश करके पुत्र के रूप में जन्म लेता है। इस कारण उसे 'जाया' की संज्ञा दी गई। रामायण २.२०.१५ के अनुसार राम के युवराज पद पर अभिषेक के समय कौशल्या ने यज्ञ सम्पादित किया था। रामायण ४.१६.१८ में वर्णित है कि बाली के सुग्रीव से युद्ध के लिये जाते समय उसकी पत्नी तारा भी यज्ञ कर रही थी।

स्मृति, धर्मशास्त्र में नारी—संस्कृत धर्मशास्त्र का सामाजिक न्यायव्यवस्था में वही स्थान है, जो

आधुनिक विधिशास्त्र [School of Law] का है। मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृति में प्रतिपादित न्यायसिद्धान्तों पर ही आज का सामाजिक, पारिवारिक एवं राजनैतिक अनुशासन अवलम्बित है। मानवजीवन से सम्बन्धित ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जिस पर स्मृतिकारों एवं धर्मशास्त्रकारों ने न्यायपूर्ण चिन्तन कर शाश्वतिक व्यवस्था को रेखाङ्कित न किया हो। हमारे धर्मशास्त्रकारों ने मानवीय दुर्बलता के कोमल और परुष बिन्दुओं पर बौद्धिक धरातल पर चिन्तन कर कठोरतम दण्डव्यवस्था को भी साम-दाम-दण्ड-भेद नीति से रेखाङ्कित किया है। धर्मशास्त्रकारों के विधिन्यायपद्धति की मर्यादा का अनुशासनदण्ड सब पर अङ्कुश रखता है।

धर्मशास्त्र का स्वरूप—भारतीय धर्मशास्त्रों में याज्ञवल्क्यस्मृति और मनुस्मृति उपजीव्य (आधारभूत) ग्रन्थ की श्रेणी में आते हैं। इन्हें स्मृतिशास्त्र भी कहते हैं। हमारे जीवन के क्रियाकलाप सिद्धान्त-व्यवहार-संशोधनरूप त्रिकोणात्मक परिधि में आते हैं। हम पहले किसी विषय को सिद्धान्तरूप में रेखांकित करते हैं और फिर सिद्धान्त का प्रयोग अथवा व्यवहारपक्ष सम्पादित किया जाता है। सिद्धान्त और व्यवहार की एकरूपता में आई विसंगतियों को संशोधित करना तृतीय अवस्था है। आधुनिक विधिवेत्ता की दृष्टि से इस तीसरी अवस्था में दण्ड का विधान है।

सभी प्राचीन भारतीय स्मृतिकारों ने अपने स्मृतिग्रन्थों के वर्ण्य विषय को सामाजिक दृष्टिकोण से तीन भागों में विभाजित किया है—१. आचाराध्याय, २. व्यवहाराध्याय, ३. प्रायश्चित्ताध्याय। वर्ण्य विषय का यह वर्गीकरण हमें याज्ञवल्क्यस्मृति में स्पष्टतः दिखलाई पड़ता है। बारह अध्यायों में वर्गीकृत मनुस्मृति के वर्ण्य विषय के भी ये तीन ही आधारबिन्दु हैं। इन दोनों धर्मशास्त्रों की आत्मा एक ही है।

१. आचार—'आचारः परमो धर्मः' इस वचन के अनुसार धर्मशास्त्रकारों ने आचार को सबसे बड़ा धर्म माना है। मनुष्य के जीवन को अभ्युदय की ओर ले जाने वाले सामाजिक व्यवस्था को सुसंगठित रखने वाले नियमों का आचार-प्रकरण में वर्णन किया है। आचारशास्त्र सामाजिक नियमों के परिपालन की शिक्षा देता हुआ व्यक्ति और समाज के चारित्रिक बल को उन्नत करता है। इसलिये सभी धर्मशास्त्रकारों ने आचारसंहिता पर एकमत होकर सर्वप्रथम विचार किया है।

याज्ञवल्क्यस्मृति में सम्यक् संकल्प को आचार का मूल बतलाते हुए कहा है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥

[याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय, श्लोक सं० ७]

समाजनियन्ता मनु ने भी आचार को धर्म का मूल माना है—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः॥

[मनुस्मृति १.१०८]

वशिष्ठस्मृतिकार ने तो यहाँ तक कह दिया कि आचारहीन व्यक्ति को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते हैं—

आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः॥

[वशिष्ठस्मृति, आचारप्रशंसा, श्लो० सं० १६८]

२. व्यवहार—इस द्वितीयं व्यवहार प्रकरण में सामाजिक नियमों को व्यावहारिक रूप देने की व्यवस्था की गई है। व्यवहार के विना सिद्धान्त पङ्गुवत् है और सिद्धान्त के विना व्यवहारपक्ष अथवा प्रयोग अप्रामाणिक है। धर्मशास्त्र के आचार और व्यवहार—ये दो बीजमन्त्र हैं। धर्मशास्त्र बृहत् अश्वत्थ वृक्ष के दो ध्वजास्थानीय हैं। सामाजिक व्यवहार को चलाने के लिये सिद्धान्त और व्यवहार—दो पक्षों को माना जाता है।

व्यवहार प्रकरण में सामाजिक नियमों का परिपालन कराने के लिए शासक को आवश्यक माना गया है। सामाजिकों अर्थात् प्रजाजनों के पारस्परिक सम्बन्धों में कटुता, मतभेद हो जाना भी स्वाभाविक है। इस प्रकार के मतभेदों को दूर करने के उपाय को ही 'व्यवहार' नाम दिया गया है। किसी अन्य व्यक्ति के विरोध करने पर अपने सम्बन्ध की स्थापना करना अथवा अपने अधिकार का वर्णन करना ही 'व्यवहार' कहलाता है। याज्ञवल्क्यस्मृति के व्यवहाराध्याय में धर्मशास्त्रकार ने व्यवस्था दी है कि लोभ और क्रोध के विचारों से रहित होकर राजा विद्वान् तत्त्ववेत्ताओं के साथ बैठकर धर्मशास्त्रीय पद्धति से प्रजाजनों के वैचारिक मतभेदों का समाधान करे—

व्यवहारान्नृपः पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह।
धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः॥

[याज्ञवल्क्यस्मृति, व्यवहाराध्याय, श्लो० सं० १]

३. प्रायश्चित्त—शास्त्रकारों ने समाज के विकास के पूर्व व्यक्ति के विकास पर विशेष ध्यान दिया है। अज्ञानवश अथवा क्रोधवश मनुष्य बहुत बुरे कार्य भी कर लेता है; किन्तु जब उसका क्रोध अथवा अज्ञान दूर हो जाता है तब वह अपने मन में अनुभव करता है कि मेरे द्वारा बुरा कार्य हुआ है। मैंने दूसरे को पीडित किया है। जिस दण्ड को व्यक्ति और शासक नहीं दे सकता, उस दण्ड को मनुष्य को उसका मन दे सकता है। अन्तःकरण की ध्वनि ही मनुष्य के लिये वस्तुतः सत्य और प्रमाण होती है। जिस कार्य को व्यक्ति किसी के कहने पर भी स्वीकृत नहीं कर सकता, उसे अन्तःकरण की प्रेरणा से स्वीकृत कर आचरण करने लगता है। जहाँ सन्देह हो वहाँ सज्जन के अन्तःकरण की प्रवृत्ति ही सत्य का निर्देश करती है। वचन है—

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।

धर्मशास्त्रकारों ने मानवमन के विकारों को प्रायश्चित्त के द्वारा शुद्ध किया है। एक महान् अपराधी की शुद्धि प्रायश्चित्त के माध्यम से ही हो सकती है। दण्ड के भय से साधारण व्यक्ति भयभीत हो सकता

है; किन्तु असाधारण व्यक्ति किसी से नहीं डरता और उसकी किसी भी वस्तु से शुद्धि नहीं हो सकती। उसके समक्ष प्रायश्चित्त ही एकमात्र शान्ति देने वाला और उन्नति करने वाला साधन है। याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रायश्चित्त अध्याय में छः प्रकरण तथा ३३४ श्लोक हैं। अशौचप्रकरण, आपद्धर्मप्रकरण, वानप्रस्थधर्मप्रकरण, यतिधर्मप्रकरण, प्रायश्चित्तप्रकरण तथा प्रकीर्णप्रायश्चित्त प्रकरण है। मानवजीवन से सम्बन्धित ऐसा कोई भी विषय नहीं है, जिसका इस तृतीय अध्याय में साङ्गोपाङ्ग वर्णन नहीं हुआ है। मानवधर्म का यह दर्पणग्रन्थ है। उदाहरण के लिए याज्ञवल्क्यस्मृति में गर्हित कर्म का फ़ल बताते हुए लिखा है—

ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात्सुरापः श्यावदन्तकः।
हेमहारी तु कुनखी दुश्चर्मा गुरुतल्पगः॥
यो येन संवसत्येषां स तल्लिङ्गोऽभिजायते।

[याज्ञवल्क्यस्मृति, प्रायश्चित्त, २०९-२१०]

यह सत्य है कि दुष्कर्म अपना फल देने के लिए छाया के समान व्यक्ति का पीछा करता है। अच्छे समाज की स्थापना के लिये धर्मशास्त्रकारों ने पग-पग पर व्यक्ति को सत्कर्म करने की ओर जागरित किया है। हम शिवसंकल्पवान् बनें—यही धर्मशास्त्र की फलश्रुति है।

याज्ञवल्क्यस्मृति में प्रतिपादित नारी—याज्ञवल्क्यस्मृति में प्रतिपादित वर्ण्य विषयों पर हम एक विहङ्गम दृष्टि डालते हैं तो पता चलता है धर्मशास्त्रकार के चिन्तन की केन्द्रबिन्दु नारी है। स्त्रीधर्म के अनुशीलन में धर्मशास्त्रकार ने किसी युगविशेष की नारी का नहीं, अपितु उसके सार्वकालिक समग्र स्वरूप को रेखाङ्कित किया है। नारी को काल-खण्डों में बाँटकर धर्मशास्त्रकार के चिन्तन में अप्रासंगिकता देखने वाले समीक्षक आयुषा जरा बालक हैं। उनकी समीक्षा काकदन्तन्याय (काक के दांतों को गिनना) के समान व्यर्थ एवं हास्यास्पद है।

याज्ञवल्क्यस्मृतिकार ने आचाराध्याय, व्यवहाराध्याय एवं प्रायश्चित्ताध्याय तीनों में परिवार और समाज को लक्षित करके स्त्री के अधोलिखित महनीय विषयों पर प्रकाश डाला है—

आचाराध्याय :

स्त्रीसंस्कार—धर्मशास्त्र ने आचाराध्याय के ब्रह्मचारिप्रकरण में स्त्रीसंस्कारों पर प्रकाश डाला है।

विवाह—विवाहप्रकरण में कन्यालक्षण, कन्यादान, ब्राह्मविवाह, कन्याहरण-दण्ड, व्यभिचार, पतिव्रता स्त्री, स्त्रीकर्तव्य, स्त्रीधर्म, स्त्री-अस्वातन्त्र्य आदि अनेक महनीय विषयों की समीक्षा कर नारी को सुरक्षादुर्ग में प्रतिष्ठित किया है, जिससे वह बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा कर सके। अगर नारी स्वयं सुरक्षाव्यूह को तोड़कर लक्ष्मण रेखा के बाहर जाती है तो इसमें धर्मशास्त्रकार का क्या दोष?

व्यवहाराध्याय :

३०७ श्लोकों में उपनिबद्ध व्यवहाराध्याय में याज्ञवल्क्यस्मृतिकार ने नारी के अनेक पक्षों का

विश्लेषण किया है। व्यवहाराध्याय का स्त्रीसंग्रहण विशेष रूप से द्रष्टव्य है। नारी के विसंगतिपूर्ण आचरण पर धर्मशास्त्रकार ने व्यवस्था दी है। प्रतिषिद्ध स्त्री-पुरुष के संलाप, कन्याहरण, साधारणस्त्रीगमन, स्त्रीदूषण, कन्यादूषण, स्त्रीधन आदि अनेक विषयों को मूल्याङ्कित किया है।

प्रायश्चित्ताध्याय :

स्त्रीविषयक प्रायश्चित्त, स्त्रीवधविषयक प्रायश्चित्त, भ्रातृभार्यागमनविषयक प्रायश्चित्त रजस्वला-भार्यागमनविषयक प्रायश्चित्त आदि अनेक प्रकरणों पर प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। विशेषकर मनुस्मृति के नवम अध्याय में स्त्रीविषयक वर्णित विषयों में ऐसा कोई भी विषय नहीं है, जो याज्ञवल्क्यस्मृति में विवेचित एवं सिद्धान्तित न हुआ हो।

इस प्रसंग में यह बतलाना अप्रासंगिक न होगा कि मनुस्मृति के नवम अध्याय को छोड़कर शेष ग्यारह अध्यायों में स्त्रीसम्बन्धी अनेक पक्षों पर विचार मिलता है; किन्तु मनुस्मृतिकार ने नवम अध्याय में स्त्रीचर्चा को प्रधानता दी है।

धर्मशास्त्र में नारीविषयिणी आचार-संहिता—सामाजिक संरचना को केन्द्रबिन्दु बनाकर धर्मशास्त्रकारों ने मानवजाति के उन्नयन के विभिन्न पक्षों पर निष्पक्ष प्रकाश डाला है। किसी वर्गविशेष, किसी कालविशेष की सीमा से परे एक सुदृढ़ पारिवारिक समाज की व्यवस्था की है। नीर-क्षीरविवेकी हंस के समान सम्भावित दुर्बलताओं को उनकी तपःपूत दृष्टि ने देखा और विधि-नियम की व्यवस्था करके मानवमात्र को उसकी सीमा का आभास कराया।

इस परिप्रेक्ष्य में जब हम नारीविषयिणी आचारसंहिता पर विहङ्गम दृष्टि डालते हैं तो धर्मशास्त्र के सिद्धान्त में विसंगति नहीं; अपितु संगति प्रतीत होती है। धर्मशास्त्र में वर्णित नारी-विषयिणी आचार-संहिता पारिवारिक सुदृढ़ता की मापक है। परिवार की धुरी नारी उसी प्रकार है, जिस प्रकार इस विश्व की धुरी पृथ्वी है। पृथ्वी के प्रकम्पित होते ही विकास का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। पृथ्वी का ताण्डवनृत्य विनाशकारी होता है। पृथ्वी का गन्धगुण, जो सबको सुवासित करता रहता है, अपनी प्रलयंकारी स्थिति में 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का व्यतिक्रम रूप प्रकट करता है। परिवार की केन्द्रबिन्दु नारी में आगत विपरीतता पारिवारिक विघटन का कारण बनती है। अतः धर्मशास्त्र में वर्णित नारी-विषयिणी आचार-संहिता स्थाणुनिखननन्याय से पारिवारिक उन्नयन की सुदृढ़ आधारशिला है।

प्रकृतिजन्य सुकुमारता, कोमलता, संवेदनशीलता, परदुःखकातरता, सौन्दर्यशीलता, चुम्बकीय-शक्तिता आदि विशिष्ट गुणों की मंजूषा होने से, परिस्थितिवश स्खलन कराने की सम्भावना अधिक होने से नारी के मर्यादित जीवन पर धर्मशास्त्रों में विशेष बल दिया गया है। इसका अर्थ यह नहीं कि धर्मशास्त्रों में पुरुष के अमर्यादित जीवन का समर्थन हुआ है। ऋग्वेद का अक्षसूक्त पुरुषप्रधान सामाजिक व्यवस्था पर कुठाराघात है। पुरुष का अमर्यादित आचरण किसी भी धर्मशास्त्रकार द्वारा समर्थित नहीं है। फिर भी इतिहास साक्षी है कि ऋषि-मुनियों का तपोभंग, ब्रह्मचर्यभङ्ग, आचरणभङ्ग करने में उर्वशी-जैसी

अप्सरायें प्रत्येक युग की देन हैं। स्त्री और पुरुष में से किसी एक को तदर्थ दोषी नहीं ठहराया जा सकता है। श्रीमद्भागवत में पुरुरवा स्त्री द्वारा अपहृत चित्त की विवशता पर प्रलाप करते हुए कहते हैं—

किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभि र्यस्य मनो हृतम्॥ (श्रीमद्भाग० ११.२६.१२)

अतः धर्मशास्त्र में वर्णित नारी-विषयिणी आचार-संहिता पर ऊँगली नहीं उठाई ज़ा सकती है।

धर्मशास्त्रकारसम्मत राष्ट्रोत्थान में नारी की भूमिका

नारी को उसका पारिवारिक दायित्वबोध कराने में धर्मशास्त्रों में आचार्यों का जो मुखर स्वर दिखलायी पड़ता है, वह राष्ट्रोत्थान में नारी की भूमिका का बाधक स्वर नहीं है। चाहे वैदिक युग की मन्दद्रष्टा ऋषिकायें हों, उपनिषत्काल की अध्यात्मपरायण नारियाँ हों, स्वतन्त्रता की लड़ाई में आत्माहुति देने वाली वीरांगनायें हों, ज्ञान-विज्ञान की ऊँचाईयों को छूने वाली विदुषियाँ हों, सामाजिक राजनैतिक संगठन की नेत्रियाँ हों, सिनेजगत् की अभिनेत्रियाँ हों—मील का पत्थर साबित हुई हैं। प्रत्येक क्षेत्र में नारी ने अपनी क्षमता एवं योग्यता का प्रदर्शन किया है।

फलाभिसन्धि यही है कि मूल्यांकन की कसौटी ने आचार-संहिता को प्रभावित किया है। इससे शास्त्रकारों के सिद्धान्तों को कहीं व्याघात नहीं पहुँचता है। घर को प्रज्वलित करने वाली दीपशिखा से यदि घर भस्मसात हो जाए तो इसमें दीपशिखा का नहीं, अपितु उसके प्रयोग का दोष कहा जायेगा। धर्मशास्त्रकारों ने राष्ट्रोत्थान में नारी की भूमिका को मर्यादित किया है, न कि उस पर कुठाराघात किया है। पारिवारिक सौहार्द की बलि-वेदी पर राष्ट्रोत्थान का विषवृक्ष नहीं रोपित किया है।

धर्मशास्त्रसम्मत स्त्रीसंरक्षण

न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम्—मनुस्मृति ५.१४८

न स्वातन्त्र्यं क्वचित् स्त्रियाः—याज्ञवल्क्यस्मृति, आचार-८५

तथाकथित प्रगतिशील नारियों और उनके सहयोग का दम्भ भरने वाले सामाजिकों ने धर्मशास्त्रकारों के उक्त मूलभूत वचन का रहस्य समझे विना 'चोथा चना बाजे घना' की कहावत को चरितार्थ किया है और धर्मशास्त्रकारों पर स्त्रीस्वातन्त्र्य के विरोध का आक्षेप लगाया है। वस्तुस्थिति यह है कि स्त्रीसंरक्षण का दायित्व पिता, पति और पुत्र को सौंपते हुए परपुरुष की कुदृष्टि से सम्भावित विकृति से नारी को सचेत किया है, न कि उसके स्वातन्त्र्य पर कुठाराघात किया है। अनुशासित परतन्त्रता स्त्रीस्वातन्त्र्य का मधुर फल है। सुविचारित राष्ट्र के निर्माण में इसे नारी की अहंभूमिका कहा जा सकता है। याज्ञवल्क्यस्मृतिकार का अन्तर्निहित विशुद्ध भाव नारी-संरक्षण-फल के रूप में अग्रिम श्लोक में द्रष्टव्य है—

पतिप्रियहिते युक्ता स्वाचारा विजितेन्द्रिया।
सेह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमां गतिम्॥

[याज्ञवल्क्यस्मृति, आचार-८७]

श्री रामायण के पावन पृष्ठों में 'लक्ष्मणरेखा' का उपाख्यान एक घटनामात्र नहीं है, अपितु वह स्त्री-पुरुष दोनों के लिए 'मर्यादित रेखा' का प्रतीक है और धर्मशास्त्रकारों के सैद्धान्तिक विचारों की वह उच्च ध्वजा है। इतिहास साक्षी है कि जब कभी आचार-रेखा, भूमि-रेखा, अर्थ-रेखा, जल-थल-स्थल-रेखा का उल्लंघन हुआ तब-तब युद्ध का बिगुल बज उठा।

धर्मशास्त्रसम्मत स्त्री का अर्थस्वातन्त्र्य

व्यये चामुक्तहस्तया—मनुस्मृति ५.१५०, चतुर्थ चरण।

उक्त वचन के द्वारा धर्मशास्त्रकारों ने स्त्री को पति के धन का उचित व्यय करने का उपदेश किया है। गृहरूपी गाड़ी धनरूपी इंधन से चलती है। धन का अमर्यादित व्यय गृहकलह का कारण बनता है। स्त्री की अनियन्त्रित इच्छायें पति को निन्दित दिशा की ओर मोड़ देती हैं। सीमा में रहकर अर्थसंग्रह एवं उसका व्यय होना चाहिये। रही बात स्त्री के धनोपार्जन की, तो वह सकारात्मक होनी चाहिये। पति से प्रतिस्पर्धा तथा किसी अन्य उच्च शिक्षित महिला के अर्जित धन पर ईर्ष्याभाव रखते हुए गृह का आंगन लांघने वाली महिला को अर्थशुचिता के साधनों को गम्भीरता से समझ लेना चाहिए। अर्थोपार्जन जीवन का साधन है, न कि साध्य।

स्त्री के अर्थस्वातन्त्र्य का विकास रथ आकाश से अवनि तक, हिमालय से कन्याकुमारी तक चारों दिशाओं में कीर्तिमान स्थापित कर रहा है। नारी को अपने प्रगतिचरण आगे बढ़ते हुई दिखलाई दे रहे हैं और ऐसा हो भी क्यों नहीं। पर्सनैलिटी ग्रूमिंग प्रोग्राम के प्रति नारी का आकर्षण बढ़ा है। उसने स्त्री की देवी और मातृत्व छवि को तिलांजलि दे दी है। गर्भस्थ शिशु के संस्कार एवं शिक्षा के सिद्धान्त-सुभद्रा-अभिमन्यु, देवहूति-कपिल पर से उसका विश्वास उठ गया है कि बालक अपने जन्म के पश्चात् नहीं, अपितु जन्म से पूर्व माँ के गर्भ से सीखने लगता है। पारिवारिक संगठन का स्थान विघटन ने ले लिया हैं।

नारी-स्वातन्त्र्य, नारी-प्रगति, नारी-आधुनिकता आदि उद्घोष के मूल में अर्थसंग्रह की प्रवृत्ति प्रदर्शित होती है। वह आर्थिक रूप से स्वावलम्बन बनना चाहती है। इस दिशा में नारी को सफलता भी प्राप्त हुई है। इसे अनुभावकों का विरोधी स्वर न समझें तो वे कहते हैं कि पैमाने गलत हों, मूल्यांकन की कसौटियाँ विकृत हों तो उसकी परिणति भी वैसी ही होती है। भविष्यवाणियों ने इक्कीसवीं सदी को नारी सदी के रूप में उद्घोषित किया है।

कहा जा रहा है कि नारी का आर्थिक विकास रथ सारथिविहीन है। परिणामतः विकास है, सुवास नहीं; सुख-साधन हैं, शान्ति नहीं; बिस्तर है, निद्रा नहीं; पुस्तक है, ज्ञान नहीं; आधुनिक शरीर है, आरोग्य नहीं; बुद्धि है, सन्तृप्तता नहीं; शिष्य है, गुरुभक्ति नहीं; पति है, रक्षक नहीं; परदमन है,

इन्द्रियदमन नहीं; दिखावा है, वास्तविकता नहीं; मनुष्यता नहीं, पशुता है; स्मित हास नहीं, परिहास है; अरुणोदय नहीं, अस्ताचल है; निर्माण नहीं, विध्वंस है; योग नहीं, योगाभास है; अस्तित्व है, सहअस्तित्व नहीं; आधुनिकता है, आध्यात्मिकता नहीं; गृह है, गृहिणी नहीं; सम्बन्धों का मोल है, अनमोल नहीं; शरीर है, प्राण नहीं; बुद्धि है, आत्मा नहीं; ऊँचाई है, गहराई नहीं; अपकार है, उपकार नहीं; संग्रह है, दान नहीं; उपवन है, सुगन्ध नहीं; कठोरता है, स्निग्धता नहीं; विनाश है, विकास नहीं; प्रेममार्ग है, श्रेयमार्ग नहीं; अग्नि है, आहुति नहीं; नेत्र है, नेत्रवान् नहीं; स्वप्न है, जागृति नहीं; नीति है, सुनीति नहीं; आकर्षण है, विकर्षण नहीं; वचन है, एकरूपता नहीं; प्रतिबिम्ब है, बिम्ब नहीं; लक्ष्मी है, सरस्वती नहीं; शब्द है, अर्थ नहीं; विसंगति है, संगति नहीं; प्रलोभन है, उमंग नहीं; मन्दिर है, मूर्ति नहीं, वस्तु है, भावना नहीं; उपहार है, उपकार नहीं; मूल्य है, बहुमूल्य नहीं; पृथ्वी है, गन्ध नहीं; जल है, शीतस्पर्श नहीं; तेज है, ऊष्णता नहीं; मनुष्य है, मनुष्यता नहीं; दीप है, ज्योति नहीं; राष्ट्र है, राष्ट्रप्रेम नहीं; तेज है, ऊष्णता नहीं; मनुष्य है, मनुष्यता नहीं; दीप है, ज्योति नहीं; राष्ट्र है, राष्ट्रप्रेम नहीं; आवरण नहीं, अनावरण है; संस्कृति है, संस्कार नहीं; लालिमा नहीं, कालिमा है; रुक्षता है, स्निग्धता नहीं; धारा है, तटबन्ध नहीं; जडता है, चेतनता नहीं; द्वैतभाव है, अद्वैत नहीं; युष्मद् नहीं, अस्मद् है; दूरी है, समीपता नहीं; पात्र है, पात्रता नहीं; औषधि है, अमोघता नहीं, चिकित्सक है, चिकित्सा नहीं; हीलिंग नहीं डीलिंग है; प्राण है, प्राणप्रतिष्ठा नहीं इत्यादि सभी दृष्टि से नारी के आर्थिक विकासरथ को मूल्यांकित किया जा रहा है। यही कारण है कि उपनिषत् काल के ऋषियों ने मानवमात्र की अर्थलोलुपता पर प्रहार किया है। ईशोपनिषद् का वचन है—

मा गृधः कस्य स्विद्धनम् (ईश० उप० १)

कठोपनिषद् का नचिकेता, जो संवेदनशील मानवमात्र का प्रतिनिधित्व करता है, ने यमराज द्वारा प्रदत्त भौतिक सम्पदा को तिलाञ्जलि देते हुए उद्घोष किया—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥

(कठोपनिषद् १.१.२६)

धर्मशास्त्र में स्त्री के धनविषयक सुरक्षित अधिकार

धर्मशास्त्रकारों ने स्त्री के धनविषयक अधिकारों के लिए स्पष्ट मर्यादायें की हैं। हिन्दू विधिनियम का अनुसरण नारीपक्ष में शिथिल नहीं है। नारी अपने अधिकारों के लिए पूर्ण रूप से सुरक्षित है। धर्मशास्त्रकारों ने विधि विधान बनाकर नारी को पतिसम्पदा का पूर्ण स्वामित्व प्रदान किया है। इसके विपरीत दृष्टि रखने वाले की अधोगति बतलाई गई है—

स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः।
नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम्॥

(मनुस्मृति-३-५२)

याज्ञवल्क्यस्मृति में भी याज्ञवल्क्य ऋषि ने स्पष्टतः कहा है कि माता, पिता, पति और भाई द्वारा विवाह में अग्नि के सन्निकट दिया हुआ धन, आधिवेदनिक धन आदि स्त्रीधन कहे गये है। वचन है—

पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम् ।
आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम्॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति व्यवहार-१४३)

आचार्य कौटिल्य ने स्त्रीधन को आपत्ति में प्रयोग लाने के लिए कहा है—

आपदर्थं हि स्त्रीधनम् (कौटिल्य ३.२.४०)

इस प्रकार समाज में विघटनकारी तत्त्वों का उन्नयन न हो अतः धर्मशास्त्रकारों ने नारी के स्वत्व में स्त्रीधन को भी एक आवश्यक वस्तु माना है। समाज एवं परिवार में स्त्री का महत्त्वपूर्ण स्थान बताकर धर्मशास्त्रकारों ने उसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः॥ (मनुस्मृति ३-५६)

यदि आज इस विचार का उल्लंघन हो रहा है तो इसमें व्यक्तिविशेष (स्त्री अथवा पुरुष) दोषी है, धर्मशास्त्रकारों में निहित भावना नहीं। निन्दित कर्म के लिए दण्डव्यवस्था सबके लिये समान है। परिस्थितिविशेष में नारी को 'ताडन का अधिकारी' कहा जाना उसकी 'आचार-संहिता' में विसंगति को प्रदर्शित करता है। चिन्तकों ने किसी भी युग में मर्यादित नारी को दण्ड के कटघरे में खड़ा नहीं किया है। समीक्षक की दृष्टि निष्पक्ष होनी चाहिए। नारी के सन्दर्भ में वे धर्मशास्त्रकारों को वैचारिक अदालत में खड़ा कर उन पर ऊँगली न उठायें। धर्मशास्त्रकारों का ज्ञान समुद्र से गहन, विचार हिमालय से विशाल, दृष्टि सूर्यप्रभा सी उज्ज्वल, दिग्-दिगन्त व्याप्त में समीर की भाँति निष्पक्षता, दण्ड-विधान में जल की भाँति शीतस्पर्शता, संगच्छध्वं संवदध्वं के जयघोष के साथ अवनि से अम्बर तक की अखण्डता एवं एकसूत्रता का सिद्धान्त है। इक्कीसवीं सदी नारी सदी के रूप में मील का पत्थर सिद्ध होगी—ऐसा भविष्यवेत्ताओं का उद्घोष है। अन्त में यही कहूँगी—

इस धरा की जननी ने एक अद्भुत इतिहास रचा है।
माँ देवहूति के उद्घोष ने जहाँ दुःखनाश का दर्शन दिखलाया है,
मदर टेरेसा ने वहीं आहतों के आघात को सुखाया है।
ऋषिकाओं ने जहाँ वैदिक मन्त्रों का श्रवण कराया है,
कल्पना चावला ने वहीं अम्बर को अवनि से मिलाया है॥ १॥

इस धरा की जननी ने एक अद्भुत इतिहास रचा है।
सुनीति ने जहाँ एक ध्रुव नक्षत्र को प्रज्वलित किया है,
किरण वेदी ने वहीं अनुशासित जीवन का पाठ पढ़ाया है।
धृतराष्ट्र की गान्धारी ने पतिव्रता का जो धर्म निभाया है,
गांधी की कस्तूरबा ने राजपथ पर चलना सिखाया है॥ २॥

इस धरा की जननी ने एक अद्भुत इतिहास रचा है।
गार्गी के शास्त्रार्थ ने जहाँ याज्ञवल्क्य को ललकारा है,
लक्ष्मीबाई ने वहीं रणभेदी बिगुल बजाया है।
मीरा की भक्ति ने जहाँ कृष्णाद्वैत को झंकृत किया है,
लक्ष्मी से सरस्वती तक की यात्रा वहीं नारी ने पूरी की है॥ ३॥

इस धरा की जननी ने एक अद्भुत इतिहास रचा है।
दीप-शिखा की तरह तिल-तिल मिटना जानती है नारी,
दीप-माला की तरह प्रकाशित होना जानती है नारी।
तेल-बत्ती-अग्नि के समन्वय को जानती है नारी,
तभी विधाता की सर्वोच्च कृति कहलाती है नारी॥ ४॥

इस धरा की जननी ने एक अद्भुत इतिहास रचा है।
नारी का प्रतिद्वन्द्वी रूप है विनाशकारी,
उसका सहकारी रूप है निर्माणकारी।
उषा को आगे कर सूर्य का रथ है चलता,
निशा के दामन में चन्द्र का आभास है मिलता॥ ५॥

इस धरा की जननी ने एक अद्भुत इतिहास रचा है।
नर-नारी-दल तुलसीदास के समान पूजित होता,
धर्मशास्त्रकारों का यही 'बीजमन्त्र' जगत् में कूजित होता।
पर्णद्वय के सिद्धान्त को कभी न भूलना मानव,
चित्रकार की तूलिका का उपहास न उड़ाना मानव॥ ६॥
इस धरा की जननी नें एक अद्भुत इतिहास रचा है।

✿

श्रीविद्या : पूर्णसिद्धि का सिद्धान्त

डॉ० केदारनाथ त्रिपाठी
बी० २/१०७-सी-भदैनी, वाराणसी

भारतीय मनीषा 'वेद' वाङ्मय को ज्ञान-निधि मानती है। वेद का प्रतिपाद्य धर्म है और धर्म को जीव के अभ्युदय एवं निःश्रेयस का परम साधक स्वीकार किया गया है। इसमें मानव-जीवन के चरम विकास की संभावना सन्निहित है। इस अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड में बिखरे समस्त जीवों में मनुष्य ही एक ऐसा जीव है, जो अपनी समग्र विचारशक्ति के बूते पर उन कल्याणशील संभावनाओं के दरवाजे खोल सकने में समर्थ है; पर संशय और विपर्यय उसके मार्ग में व्यवधान बन कर उसे लक्ष्य से भटका देते हैं। कठोपनिषद् में नचिकेता की कथा वर्णित है। नचिकेता के पिता महर्षि ने अपनी सारी सम्पदा देने का संकल्प लिया; पर दान देते समय वे स्वस्थ गौवें अपने कुटुम्ब के परिपालन हेतु बचाते गये। ऐसी गायें, जो नितान्त दुर्बल एवं प्रजनन में असमर्थ थीं उन्हें देते देखा तो उनके अल्पवय पुत्र नचिकेता का मन उन्हें संकल्प से भटकते देख कर आकुल हो उठा। उसने टोका तो पिता ने झुंझलाकर कर हा 'जा तुझे मृत्यु को देता हूँ।' पूर्व जन्मार्जित संस्कार से प्राप्त सुपरिशुद्ध विचारशक्ति के बल पर नचिकेता ने अपने पिता के वरदान का लाभ लेते हुए यम देवता को अपनी संकल्पशक्ति और विचारशक्ति से प्रसन्न कर अग्निविद्या, अपराविद्या और पराविद्या—ब्रह्मविद्या का उपदेश प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त कर लिया। इस कथानक में संशयग्रस्त जीव के संशयमुक्ति और निःश्रेयस की प्राप्ति की ओर प्रस्थान करने की यात्रा का संकेत है। यह प्रसङ्ग आज के द्विधाग्रस्त सांसारिक जीवन में ज्यों का त्यों जीवित है। अपनी संसारयात्रा में चलता हुआ जीव ऊहापोह में अटका हुआ लक्ष्य से कोसों दूर भटक जाता है और यहीं पर केवल भगवती ललिता महात्रिपुरसुन्दरी की कृपा करुणा ही वात्सल्य से उसकी बाँह थामकर उसे सन्मार्ग पर ले चलने को तत्पर और समुद्यत रहती है। सांसारिक भोगों, उपलब्धियों के मोहपाश में जकड़े मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति को निवृत्ति के मार्ग पर सहसा ले चल पाना सुकर नहीं है। लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा—जैसे घोर व्यामोह के बन्धन मनुष्य की विचारशक्ति को स्वतन्त्र नहीं होने देते। ऐसे में सहजानन्दरूप जीव अपने स्वरूप का दर्शन तो क्या, उसकी चर्चा सुनने का भी सौभाग्य खो बैठता है। इसका सुयोग विना श्रेष्ठ गुरुचरणों का सामीप्य और कृपा पाये संभव नहीं होता। उपनिषद् में कहा गया कि—

श्रवणायापि बहुभि र्यो न लभ्यः,
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता, कुशलोऽस्य लब्धा,
आश्चर्यो ज्ञाता, कुशलानुशिष्टः॥

श्रीमद्भगवद्गीता में भी यह चेतावनी किञ्चित् पदान्तर के साथ ज्यों की त्यों उपन्यस्त है।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्, आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति, श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

इस प्रकार उपनिषदों से लेकर श्रीमद्भगवद्गीता तक की भारतीय चिन्तनधारा जीवों के अत्यधिक कल्याण के लिए निरन्तर सावधान करने में प्रवृत्त दिखाई पड़ती है।

महर्षि बादरायण व्यास का भी कहना है कि—

जातीशतेन लभते किल मानुषत्वम्,
तत्रापि दुर्लभतरं खलु भो द्विजत्वम्।
यस्तत्र पालयति लालयतीन्द्रियाणि,
तस्यामृतं क्षरति हस्तगतं प्रमादात्॥

सत् शास्त्रों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि असंख्य जीवयोनियों में भटकते हुए जीव को अपने किये हुए सत् कर्मों के फल के रूप में मनुष्ययोनि प्राप्त होती है। उसमें भी त्रैवर्णिक जन्म तो अपेक्षाकृत और भी दुर्लभ होता है। जिसे त्रैवर्णिक योनि में जन्म प्राप्त करने का सुअवसर मिला हो, वह भी यदि अपने स्वधर्म-पालन से चूक जाय तो यह वैसा ही दुर्भाग्य होगा, जैसे प्रारब्ध के द्वारा उसके हाथों में पहुँचाया गया अमृतपूरित पात्र प्रमादवश देखा जाय। वेद अगाध और गंभीर हैं। विना विद्येश्वरी वाग्वादिनी भगवती की कृपा के उनका तात्पर्य जानना संभव नहीं। जीवन अत्यन्त लघु है। प्रमाद, मोह और अज्ञान का तिमिर प्रकाश की, ज्ञान की घेरेबन्दी किये रहते हैं। प्रकाश की कोई किरण अपना आलोक विखेरने नहीं पाती। जीव का चित्त इनके आवरण की मैल से मलिन रहता है। चित्त के, मन के, दर्पण के फलक के मलग्रस्त रहने के नाते जीव का सहज स्वप्रकाश उस पर प्रतिविम्बित होने नहीं पाता। जीवन का यह अंधेरा निरन्तर और घनीभूत होता जाता है। आगे बढ़ने की, अग्रसर होने की राह नहीं सूझती। यही जीवन की सबसे बड़ी दुर्गति है। श्रीविद्या इसी दुर्गति से मुक्त होने की समर्थ और एकमात्र साधना है। जगज्जननी भगवती पार्वती के प्रश्न के उत्तर में जीवों के परम कल्याण के साधन के रूप में श्री भगवान् अखिल विद्येश्वर आशुतोष शिव ने इसका उपदेश किया है। यह साधना जीव से संसार को एकदम से छोड़ देने का आग्रह नहीं करती। अत एव अत्यन्त सुकर है। संसार में रहते हुए, अपने शास्त्रानुमोदित दैनन्दिन कर्म करते हुए उपलब्ध भौतिक साधनों से भगवती के पूजोपचार का संभरण किया जाता है। जल, पुष्प, अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य और ताम्बूल भगवती को अर्पित किये जाते हैं। भगवती अत्यन्त कृपापूर्वक साधक के वाचिक आह्वान के भी पूरा होने की प्रतीक्षा नहीं करती। वह प्रकृति है। संसार की माँ है। जैसे प्राकृत संसार में कोई माँ अपने क्रीडारत सन्तान की ओर से निश्चित होकर अपने गृहकार्य को निपटाने में लग जाती है, पर जैसे ही पुत्र ने उसे पुकारा, सारे काम छोड़कर उसे संभालने को उद्यत हो जाती है; वैसे ही जगज्जननी भगवती भी अपने साधक सन्तानों की पुकार की किञ्चित् उपेक्षा नहीं करती। भगवान् श्री आद्य शङ्कराचार्य ने अपने सिद्धस्तोत्र सौन्दर्यलहरी के २२वें पद्य में उसके इसी वात्सल्यविह्वल स्वभाव का अत्यन्त भावप्रवण चित्रण करते हुए लिखा है—

भवानि त्वं दासे मयि वितर दृष्टिं सकरुणाम्,
इति स्तोतुं वाञ्छन् कथयति भवानि त्वमिति यः।
तदैव त्वं तस्मै दिशसि निजसायुज्यपदवीम्,
मुकुन्द-ब्रह्मेन्द्र-स्फुटमुकुरनीराजितपदाम् ॥

'हे भगवति! तू मुझ सेवक पर अपनी करुणापूर्ण दृष्टि डाल' यह कहने की अभिलाषा से जैसे ही कोई स्तुतिकर्त्ता केवल 'भवानि!' इतना ही उच्चारण वैखरी में करता है, वैसे ही वाक्य के भी पूर्ण होने की प्रतीक्षा किये विना तू उसे अपनी उस गोद में उठा कर बिठा लेती है; जिसके श्रीचरणों में ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्रादि देवता अपने मुकुटमण्डित शिर झुकाकर नीराजन अर्पित करते रहते हैं।' यह श्लोक भगवती के वात्सल्यद्रुत स्नेहमय और करुणापूर्ण स्वभाव की अद्भुत झांकी प्रस्तुत करता हैं। भगवती गुणमयी हैं और सत्त्व, रजस्तम गुण इस दृष्टि की संरचना के हेतु हैं। अत: उसकी कृपा के विना इसके मायाप्रपञ्च से मुक्त होना संभव नहीं है। स्वयं श्री भगवान् ने इस तथ्य का उद्घाटन करते हुए कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी, मम माया दुरव्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते, मायामेतां तरन्ति ते॥

गुणों के प्रस्तार वाली यह मेरी दैवी माया अत्यन्त दुर्लङ्घ्य है। अत: जो जन समर्पित भाव से मेरी शरण ग्रहण कर लेते हैं, वे ही इसे पार कर पाने में समर्थ हो पाते हैं। तथा च—

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव, विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव, विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥

ऐसे में भगवती महामाया पराप्रकृति चिति, अपने नित्य सहचर परब्रह्म के भ्रूभङ्ग-सङ्केत से इस समग्र सृष्टि का लीला-विस्तार करती है। महालक्ष्मी रूप में इसका पालन तथा शिव की शक्ति के रूप में इसका संहार करती है। अत एव इसके पार जाने के लिये भी उसका ही सम्बल आवश्यक, अपेक्षित और अनिवार्य है। श्रीविद्या उसे ही साधने की विद्या है। श्रयते सर्वै र्गुणैरिति श्री:' * श्रियो विद्या—श्रीविद्या। यह उपासना साधक को लौकिक एवं पारलौकिक दोनों सिद्धियाँ प्रदान करने वाली है। 'श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां, भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।' भगवती ललिता महात्रिपुरसुन्दरी के शरणागत साधकों के भोग और मोक्ष दोनों साथ-साथ सिद्ध होते हैं। साधक की बुद्धि विमल होती है, जिसके द्वारा समस्त मायाप्रपञ्च का विस्तार पार कर उस परमतत्त्व का पूर्ण निरञ्जन प्रकाश पा लेता है, जहाँ जाकर पुन: संसारचक्र में आकर परिभ्रान्त होने की विवशता मिट जाती है—

यद् गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम।

प्राक्तन जन्मों के पुण्यकर्मों के अभाव में जीव को इसका परिचय प्राप्त नहीं होता। जन्म-जन्मान्तरों के उदित प्रारब्ध सत् पुण्यफल का परिणाम है—श्रीविद्या। जैसा कि श्रीमदाद्यशङ्कराचार्य पूज्यपाद ने श्रीसौन्दर्यलहरी के प्रथम पद्य में स्पष्ट कहा है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्
न चेदेवं देवः न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।

अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्चादिभिरपि
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति॥

भगवती शक्ति के साथ मिलकर ही भगवान् सदाशिव सर्वसामर्थ्य सम्पन्न होते हैं; यदि ऐसा न हो तो सर्वथा निःस्पन्द हो जाते हैं; अतः हरि, हर, ब्रह्मादि देवताओं की अपेक्षा परमाराध्या तुम्हें हे मातः! प्रणाम करने अथवा तुम्हारे गुणस्तुतियों का गान करने में जिसने जन्म-जन्मान्तरों में पुण्य न किये हों, ऐसा जीव कैसे समर्थ हो सकता है? आशय यह है कि पूर्व जन्मार्जित पुण्यकर्मों के विपाक-परिणत प्रारब्ध हो कर जब प्रवृत्तिपरक होते हैं तभी किसी जीव को श्रीसाधना का सौभाग्य प्राप्त होता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में स्पष्ट कहा है कि—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

हे अर्जुन! बहुत से पूर्व जन्मों के आचरित शुभ कर्मों के संस्कार अथवा सुकृत के फल के रूप में ही जीव में उस परिणत ज्ञानशक्ति का उदय होता है, जिसके योग से वह मेरी अनन्य शरणागति ग्रहण करता है। और जिनकी दृष्टि में अणु से लेकर कण-कण में सर्वत्र केवल वासुदेव की ही सत्ता दिखाई पड़ती है, ऐसा महाबुद्धिसम्पन्न, धृति-विवेकसम्पन्न महात्मा तो उसमें भी सर्वथा सुदुर्लभ है। इस अनन्य शरणागति में अटल बुद्धि का उदय विना अखिल बुद्धि की अधीश्वरी भगवती महामाया की कृपा के सम्भव नहीं हैं। 'या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता। नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥' शास्त्रों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इस जगत् प्रपञ्च में भटकते जीव के सुकृत प्रौढ़ प्रारब्ध के रूप में उदित होकर निःश्रेयस् की प्राप्ति हेतु उसके जीवन में श्रीविद्योपासना का सौभाग्य उपस्थित करते हैं। जिसकी साधना से उसे वह विलक्षण अनुभूति होती है, जो अनिर्वचनीय है—

यस्य नो पश्चिमं जन्म, यदि वा शङ्करः स्वयम्।
तेनैव लभ्यते विद्या, श्रीमत्पञ्चदशाक्षरी॥

ऐसी चमत्कारपूर्ण यह श्रीविद्या-साधना गुह्य मानी गयी है। दीक्षित साधक ही इसके अधिकारी स्वीकार किये गये हैं। वैसे मुझे इस विद्या के गुह्य रहस्य का ज्ञान नहीं है। मेरे यह विचार श्रीगुरुचरणों (परम श्रद्धेय समादरणीय पूज्य पं० सीताराम कविराज जी महाभाग, दीक्षानाम—श्री दत्तात्रेयनन्दनाथ जी) की कृपा एवं आशीर्वाद का ही प्रतिफल है। उनके ही श्रीचरणों में अपनी प्रणति निवेदित करते हुए यह शब्दाञ्जलि उन्हें ही निवेदित करता हूँ।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये।

✿

श्री-साधना में गुरु की महिमा

श्रीप्रतापशङ्कर पण्ड्या
मुम्बई

बाल्यकाल से ही यज्ञोपवीत होने के बाद गायत्री-जप में मेरी विशेष रुचि थी। मेरे पिताजी श्री रेवाशङ्करजी की धर्म, कर्मकाण्ड में बहुत ही रुचि थी। काशी के पंडितो द्वारा रुद्राभिषेक, नवचण्डी, शतचंडी का आयोजन एवं विध्याचल में अनुष्ठान आदि करवाते रहते थे। मुझे माँ भुवनेश्वरी के एकाक्षरी बीजमंत्र की दीक्षा मिली। नवरात्र में विधिपूर्वक दुर्गापाठ करता ही था। मन्त्रों और साधना के प्रति मेरी रुचि बढ़ती गयी। जोधपुर में श्रीमाली जी के यहाँ मैंने दश महाविद्याओं की दीक्षा और साधना की। अध्यक्ष पद से शिविरों का संचालन का कार्य श्रीमाली जी ने मुझे सौंपा। श्रीमालीजी के परमधाम जाने के बाद मेरा जोधपुर जाना बंद हो गया। मां भुवनेश्वरी तो मुझे शक्ति-उपासना की उच्चतम साधना तक ले जाना चाहती थीं। उनकी कृपा से मैं काशी के ऊर्ध्वाम्नाय सुमेरु पीठ के श्री शङ्कराचार्य के संपर्क में आया। उन्होंने मेरी श्रद्धा और साधना में रुचि देखकर षोडशी मन्त्र दे दिया। एक दिन मैंने श्री रमाशङ्करजी पण्ड्या (तारा प्रिटिंग प्रेस) के पास श्रीविद्या के विषय का साहित्य व पुस्तक देखी। चर्चा मिली। वे मुझे लेकर गुरुजी श्री सीतारामजी वैद्य के यहाँ गये, उस समय गुरुजी गुदौलिया के पास एक भवन में अर्चन करवा रहे थे। मैंने अर्चन में बैठने की इच्छा प्रकट की और बताया की षोडशी मंत्र की दीक्षा मुझे मिली है। गुरुजी ने शङ्कराचार्य जी से बात करके मुझे अर्चन में बैठने दिया। यहाँ से मेरी उच्चतम साधना की यात्रा आरम्भ हुई। गुरुजी मुमुक्ष भवन में २ कमरों में रहते थे। नित्य महापूजा होती थी। मैं नित्य वहाँ जाता था। गुरुजी बड़े प्रेम से मेरी शङ्का का समाधान करते और मैं अर्चन में भाग लेता; साथ ही वहीं प्रसाद भी ग्रहण कर लेता।

वहाँ गुरुजी के पास एक स्वामीजी आते थे। उनको गुरुजी ने मंत्र दिया था। भोपाल के डॉक्टर जोशी व उनकी पुत्रियां आती थीं। गुरुजी ने कृपा करके हम लोगों को पूर्णाभिषिक्त करने का विचार किया और उज्जैन में महाकालेश्वर पुण्यक्षेत्र में हमारा पूर्णाभिषेक किया। श्रीविद्या का प्रचार-प्रसार उपयुक्त साधकों में हो, इसके लिये गुरुजी कोई भी कष्ट उठाने में तत्पर रहते थे। गुरुजी ने बंबई में कोटि अर्चन की इच्छा प्रकट की। हमने तुरन्त इसको स्वीकार कर लिया।

कोटि अर्चन द्वारा श्री विद्या का प्रचार-प्रसार अच्छी तरह होता है। नये साधकों को दीक्षा प्रदान करने का अवसर मिलता है। और इस तरह श्रीविद्या-साधनापीठ का परिवार बढ़ता जाता है। इसमें उच्च कोटि के विद्वान्, संस्कृत विश्वविद्यालय के प्राध्यापक, कुलपति इत्यादि गुरुजी द्वारा दीक्षित हो चुके हैं। बंबई में कोटि अर्चन बहुत भव्य और आनंदपूर्वक प्रेमपुरी में सम्पन्न हुआ। हमारा पूरा परिवार और हमारे रिश्तेदारों, परिचितों ने दीक्षा प्राप्त की। गुरुजी की पुरानी शिष्यमंडली वहाँ बंबई में आई। उनके रहने की उचित व्यवस्था मां भगवती की कृपा से ठीक हो गई। प्रेमपुरी के संचालक और व्यवस्थापकों ने कहा कि ऐसा भव्य कार्यक्रम पहली बार हुआ। गुरुजी खुद प्रेमपुरी में ठहरे। गोपीजी, (सुपुत्र गुरुजी) हमारे

घर पर ठहरे। महापूजा गोपीजी करते थे। पूर्णाहुति के अवसर पर संगीत का आयोजन हुआ। गुरुजी को संगीत का शौक है। अच्छा संगीत, नृत्य करवाते हैं। श्रीविद्या-साधनापीठ काशी में स्थापित होना चाहिये, उसका बीजारोपण बम्बई में हो गया। उसके लिए उपयुक्त स्थान की खोज और सोच शुरु हो गयी।

हमारे अध्यात्म जीवन का सबसे सुनहरा अवसर आया प्रयाग महाकुम्भ के अवसर पर, जब करीब एक माह का श्री साधनापीठ का शिविर प्रयाग में गुरुशरणानंद जी के अखाड़े में लगा था और कोटि अर्चन हुआ था। गुरुजी ने अपने टेंट में मुझे साथ रक्खा था। गुरुजी को पान का शौक है, मैं पान लगाकर उनको खिलाता। पं० विद्यानिवास जी भी पान खाने अक्सर आ जाते। प्रयाग में कुम्भ में मेरे जीवन के सबसे उत्तम क्षण बीते।

विध्याचल पीठ, कामाख्या पीठ में कोटिअर्चन हुआ। वन्द्य गुरुजी का सान्निध्य रहा। भगवती की कृपा से सभी क्षेत्रों में जहाँ-जहाँ कोटि अर्चन हुआ, पूर्ण विधिविधान से भक्तिपूर्वक संपन्न हुआ। गुरुजी ने वहाँ नये धर्मनिष्ठ साधकों को दीक्षा प्रदान की। उत्तर भारत में इस तरह जहाँ श्रीविद्या लुप्त-सुप्तप्राय हो रही थी, वहाँ इसका प्रचार-प्रसार हुआ। पूरे भारत में अनादि काल से काशी धर्म संस्कृति का केन्द्र रही है; भास्करराय जैसे श्रीविद्या के महान् साधक यहाँ रहे हैं। यहाँ अन्नपूर्णा मंदिर में एवं पंचगंगा घाट में बालाजी के मन्दिर में शिवलिंग पर श्रीयंत्र उत्कीर्ण है, जिससे ज्ञात होता है कि काशी श्रीविद्या का केन्द्र रहा है। लेकिन बाद में यह कम होती गयी और सुप्तप्राय हो गयी। पू० स्वामी करपात्री जी महाराज ने इस विद्या को पुनः स्थापित किया एवं उन्होंने अनेकों विद्वानों, शङ्कराचार्य आदि को श्रीविद्या में दीक्षित किया।

पू० गुरुजी सीतारामजी कविराज, स्वामीजी के विशिष्ट शिष्यों में थे। श्रीविद्या के परम साधक श्री गुरुजी का श्रीविद्या में गहन अध्ययन है। स्वामीजी की अनुमति लेकर इन्होंने श्रीविद्या के प्रसार-प्रचार हेतु 'श्रीविद्या रत्नाकर' नाम का विशद् ग्रंथ लिखा और नित्य की साधना हेतु उसका संक्षिप्त 'श्रीविद्या-वरिवस्या' लिखा। श्रीविद्या के ऊपर इतना सरस और सटीक अपने में पूर्ण साहित्य उपलब्ध नहीं है। श्रीविद्या के साधकों के लिये एक सही और सरल साधन व दिशा-निर्देश उपलब्ध हो गया। श्रीविद्या का प्रचार-प्रसार निरंतर होता रहे, उसके लिये स्वतंत्र स्थायी केन्द्र होना चाहिये। इस उद्देश्य से हम लोगों ने काशी में स्थान देखना शुरु किया। भगवती की कृपा से शीघ्र ही उपयुक्त स्थान प्राप्त भी हो गया और स्वामीजी की अन्तरङ्ग इच्छा को गुरुजी ने 'श्रीविद्यासाधनापीठ' का सागर रूप दे दिया। गुरुजी के प्रिय साधकों ने इसमें पूर्ण सहयोग दिया। काशी में श्रीविद्या के साधक तो कई होंगे, लेकिन अभी तक कोई 'श्रीसाधनापीठ' नहीं था। वो गुरुजी ने पूर्ण किया। काशी में प्रथम बार 'श्रीविद्यासाधनापीठ' की स्थापना हुई, जो चिरकाल तक रहेगी। यहाँ निरन्तर भवगती की महापूजा, लक्षार्चन, गणपतिअर्चन भक्तों द्वारा होता रहता है। गुरुंजी विशिष्ट अवसरों पर विशिष्ट पीठों में जाकर कोटि अर्चन करवाते हैं, काशी में कोटि अर्चन होता रहता है। इसके अलावा [आधुनिक काल में] काशी अनेक विद्याओं का केन्द्र हमेशा से रही

है; ये गौरव बना रहे, इस दृष्टिकोण से काशी के विद्वानों की विद्वत् सभा का आयोजन गुरुजी ने करवाया। उनके प्रवचन अपने-अपने विषयों पर हुए। गुरुजी ने विद्वानों को सम्मानित किया। विनोदजी दुबे का इस विद्वत्सभा आयोज़न में पूरा योगदान था। इसके लिए वो अमेरिका [रिटायर्ड वर्ल्ड बैंक डायरेक्टर] से आये 'श्रीविद्यासाधना' उच्चतम कोटि की साधना है। जगद्गुरु आदि शङ्कराचार्य ने इस साधना को किया। चारों पीठों में श्रीसाधना होती है। आदि शङ्कर अद्वैतवादी थे। अहं ब्रह्मास्मि, सर्वं खलु इदं ब्रह्म! फिर उन्होंने यह श्रीशक्तिसाधना क्यों संसार को दी। ज्ञानमार्ग द्वारा संसार-त्याग करके पूर्ण निग्रह करके सांसारिक प्राणी अद्वैतवाद को नहीं प्राप्त कर सकता; जबकि श्रीसाधना द्वारा वो अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। अलग-अलग संप्रदायों में साधना-संबंधी जो नियम विधि-विधान और मार्ग हैं, जैसे भक्तियोग, राजयोग, हठयोग, ज्ञानमार्ग आदि, इन सभी का सुन्दर समन्वय श्रीविद्या में है। देवाधिदेव महादेवजी से पार्वती जी ने मनुष्य के कल्याण के लिए कौन-सी साधना करनी चाहिये—प्रश्न पूछा। महादेव जी ने ६४ तंत्र प्रकट किये, जिनमें दश महाविद्या आदि की साधनायें प्रकट की। जो भौतिक, सांसारिक कष्टों का निवारण करने में समर्थ थीं। पार्वतीजी ने पुनः प्रश्न किया कि ऐसी साधना बतावें, जिससे भौतिक एवं आध्यात्मिक, भोग एवं मोक्ष—दोनों प्राप्त हो सकें। महादेव जी ने तब ६५वें तंत्र 'श्रीविद्या' को प्रकट किया। जिसमें सांसारिक सुखों की प्राप्ति के साथ मोक्ष का मार्ग भी प्रशस्त होता है। कहा भी है—

श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।

वैसे तो सभी जगह गुरु का महत्त्व है, लेकिन श्रीविद्या में गुरु के बिना गति नहीं होती। श्रीविद्या के मन्त्र की पूर्णाभिषिक्त योग्य गुरु द्वारा गुरुपरम्परा से दीक्षा प्राप्त होनी चाहिए। यह शास्त्राज्ञा है। यथा त्रिपुरारहस्य में—'**अप्राप्य सद्गुरोर्दीक्षामज्ञात्वा गुरुपद्धतिम्, स्वबुध्या तु कृतं कर्म विधिना च समन्वितम्, तथापि साधकं शीघ्रं नाशयेदेव सर्वदा।**

नित्योत्सव—''**पुस्तके लिखितान् मंत्रान्, दृष्ट्वा जपति यो नरः। स जीवन्नेव चाण्डालो मृतः श्वा चापि जायते।** परमानन्दतन्त्र दीक्षा के महत्त्व को बताता है—

विना दीक्षां न मुक्तिः स्यादित्याज्ञा पारमेश्वरी। मुक्तिसौधस्य सोपानं प्रथमं दीक्षणं भवेत्।
दीयते शिवसायुज्यं, क्षीयते पाशबन्धनम्। अतो दीक्षेति कथिता, सेव्यते पुण्यसंचयैः॥

सेव्यसद्गुरु द्वारा दीक्षा का कितना महत्त्व है, इससे ज्ञात होता है। काशी और उत्तर भारत के श्रीविद्या प्राप्त करने के इच्छुक साधकों का परम सौभाग्य है कि 'श्रीविद्यासाधनापीठ' में सद्गुरु श्री दत्तात्रेयानंदनाथ जी [श्री सीतारामजी कविराज] विद्यमान हैं। काशी की गरिमा के अनुरूप 'श्रीविद्या साधनापीठ' अजर अमर रहे और श्रीसाधकों की जिज्ञासा को पूर्ण करते हुए 'राजराजेश्वरी श्री ललिता त्रिपुरसुन्दरी' की साधना अनन्तकाल तक निर्बाध चलती रहे—यही मंगलकामना है।

सद्गुरु दत्तत्रेयानंदजी को कोटिशः प्रणाम।

✿

काश्मीर शैव दर्शन में शक्ति का स्वरूप

डॉ० विभा रानी दुबे
रीडर, संस्कृत अनुभाग, महिला महाविद्यालय,
का० हि० वि० वि०, वाराणसी

पूर्ण अहन्ता ही शिवत्व है। ईश्वरता, कर्तृता, स्वतंत्रता, चिरस्वरूपता—ये पूर्ण अहन्ता के पर्याय हैं। शिव को परा संविद, भैरव किंवा परमतत्त्व भी कहते हैं। प्रत्येक जीव में रहने वाला आत्मतत्त्व ही शिवतत्त्व है। यह एक एवं अद्वय संवित् ही प्रमाता एवं प्रमेय, ज्ञाता एवं ज्ञेय आदि रूपों में अवभासित होता है—

तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः शिवः।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः[१]॥

एक ही तत्त्व का अनेक रूपों में अवभासन उसका परमार्थ है, वही स्वयं को ब्रह्माण्ड के रूप में प्रकट करता है तथा विभिन्न अवस्थाओं को धारण करने पर भी अपने यथार्थ स्वरूप से च्युत नहीं होता। जैसा कि श्रीतन्त्रालोक में कहा गया है कि महेश्वर की शक्तियाँ ही यह सम्पूर्ण विश्व है और शक्तिमान् वह महेश्वर है—

शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः[२]।

दूसरे शब्दों में ग्राह्य (पदार्थ), ग्रहीता (प्रमाता) और ग्रहण (इन्द्रिय) स्वरूप जो यह विचित्र संसार विस्तृत है, वह केवल शक्तिसमूह ही है। अतः सब कुछ शिव ही है। शिव से अलग कुछ भी नहीं।[३] शिव और शक्ति में अभेद एवं अविनाभाव है। अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति के समान इनमें नित्य तादात्म्य है—

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वांछति।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहयोरिव[४]॥

शिवतत्त्व न तो निष्क्रिय है और न ही अशक्त; किन्तु शक्ति के विना शिव में किसी प्रकार का स्पन्दन सम्भव नहीं। शङ्कराचार्य की इस सम्बन्ध में यह उक्ति उल्लेखनीय है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि[५]॥

---

१. स्पन्दकारिका, ९.

२. श्रीतन्त्रालोक, तृतीय आह्निक, पृ० ४०३.

३. ग्राह्यग्रहीतृग्रहणस्वरूपं यद्भाति विश्वं विततं विचित्रम्।
तच्छक्तिचक्रात्मकमेव सर्वं शिवाद् विभिन्नं नहि किञ्चिदस्ति॥ पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, ५१.

४. बोधपञ्चदशिका, श्लोक ३.

शिव में विश्वसृष्टि की इच्छा का उन्मेष ही शक्तितत्त्व है। सिसृक्षा का भाव ही शिव को शक्तितत्त्व में परिवर्तित कर देता है। जैसा कि क्षेमराज ने पराप्रवेशिका में कहा है—'अस्य जगत् स्रष्टुमिच्छां परिगृहीतवतः परमेश्वरस्य प्रथमस्पन्द एवेच्छाशक्तितत्त्वम्।'[६] प्रत्यभिज्ञाहृदय में क्षेमराज ने परमशिव की अव्यतिरिक्त शक्ति के लिये 'पराशक्ति' शब्द का प्रयोग किया है तथा इसे ही वे 'चिति' शब्द से भी अभिहित करते हैं—'चितिः स्वतंत्रा विश्वसिद्धिहेतुः'[७] इसी शक्ति से युक्त होकर शिव विश्व की सृष्टि एवं संहार में समर्थ होते हैं। यह शक्ति देश तथा काल की परिधि से परे है तथा इसका परमार्थतः कोई विवेचन नहीं किया जा सकता, न ही इसकी कोई संज्ञा रक्खी जा सकती है।[८] महार्थमंजरी में भी विश्व की सिसृक्षा को ही शिव का शक्तिभाव कहा गया है—

स एव विश्वमेषितुं ज्ञातुं कर्तुं चोन्मुखो भवन्।
शक्तिस्वभावः कथितो हृदयत्रिकोणमधुमांसलोल्लासः[९]॥

अर्थात् वह शिव ही अपने हृदय के इच्छा-ज्ञान-क्रियारूपी त्रिकोण के माधुर्य से परिवर्धित उल्लास द्वारा अपने में ही स्थित विश्व को ईक्षण करने के लिए उन्मुख होने पर शक्तिस्वभाव वाला कहलाता है। महेश्वरानन्द इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

यदा स्वहृदयवर्तिनमुक्तरूपमर्थतत्त्वं बहिः कर्तुमुन्मुखो भवति तदा शक्तिरिति व्यवह्रियते[१०]।

वस्तुतः शिव या भैरव के सकल एवं निष्कल दो रूप शास्त्र में माने गये हैं, इनमें सकल स्वरूप की सत्ता को इन्द्रजाल, गन्धर्वनगर आदि की सत्ता जैसे भ्रम पर आधारित है, वैसे ही (यह सकल स्वरूप भी) भ्रम पर आधारित होने से असार माना गया है; किन्तु निष्कल स्वरूप में प्रवेश पाने के लिये साधक को पहले सकल स्वरूप में ध्यान की योग्यता प्राप्त करनी होती है; क्योंकि सकल स्वरूप रूप भैरव की परावस्था पूर्व-पश्चिमादि सभी दिशाओं में और वर्तमानादि सभी कालों में कलना से शून्य है। इस स्वरूप को समझा पाना इसलिये कठिन है; क्योंकि इसका स्फुरण न तो मध्यमा वाणी में होता है और न ही वैखरी वाणी में इसका वर्णन किया जा सकता है। अर्थात् दिशा, काल, देश, नाम, रूप आदि से परिच्छिन्न न होने से इस परावस्था के स्वरूप को वाणी के माध्यम से नहीं समझा जा सकता है। इसका अनुभव तो पूर्णाहन्ता का विकास होने पर अपने भीतर अपने-आप प्रकाशित हो रहे आनन्द के रूप में होता है। इसका यह स्वरूप ही समस्त उपाधियों से रहित होने के कारण वास्तविक है। वस्तुतः यही

---

५. सौन्दर्यलहरी, १.

६. पराप्रवेशिका, पृ० ६-७.

७. प्रत्यभिज्ञाहृदय, १.

८. विश्वस्य सदाशिवादेः भूम्यन्तस्य सिद्धौ निष्पत्तौ, प्रकाशने स्थित्यात्मनि, परप्रमातृविश्रान्त्यात्मनि च संहारे, पराशक्तिरूपा 'चितिः' एव भगवती 'स्वतंत्रा' अनुत्तरविमर्शमयी शिवभट्टारकाभिन्ना 'हेतुः' कारणम्। प्रत्यभिज्ञाहृदयसूत्र-१ की व्याख्या में पृ० ८६.

९. महार्थमञ्जरी, पृ० ४०.

१०. वही, पृ० ४०.

स्वात्मभित्ति में जगत् के दोषों से अनाच्छादित रहकर समस्त जगद् का प्रकाशक निष्कल स्वरूप—उस परावस्था में प्रकट होता है। इससे भिन्न इसकी कोई आकृति नहीं मानी जाती। भैरव की जिस निष्कल अवस्था का शास्त्रों में गान किया गया है, बोधभैरव के इस उत्कृष्ट निष्कल परस्वरूप से अभिन्न स्वरूप वाली यह परा देवी केवल नाम से ही परा नहीं है, अपितु अपनी प्रकृष्टता के आधार पर भी परा कहलाती है—

एवंविधा भैरवस्य याऽवस्था परिगीयते।
सा परा पररूपेण परा देवी प्रकीर्तिता[११]॥

शक्तिस्वरूप यह परावस्था शक्तिमान् भैरव से अभिन्न है। शक्ति सामर्थ्य को कहते हैं। यह सामर्थ्य सारे जगत् का निर्माण करने वाले भैरव का ही स्वरूप है। शक्ति और शक्तिमान् में सदा अभेद माना जाता है, अतः शक्तिमान् भैरव से सम्बद्ध सर्वज्ञता, सर्वकर्तृता, सर्वात्मता प्रभृति धर्मों से संवलित होने से धर्मिणी यह शक्ति चिदानन्दघनस्वरूप पर आत्मा से अभिन्न होने से परा कहलाती है—

शक्तिशक्तिमतोर्यद्वदभेदः सर्वदा स्थितः।
अतस्तद्धर्मधर्मित्वात् पराशक्तिः परात्मनः[१२]॥

जैसे अग्नि को उसकी दाहात्मिका शक्ति के माध्यम से पहचाना जाता है, वैसे ही शक्ति के माध्यम से शिव को पहचाना जाता है—

न वह्ने र्दाहिका शक्ति र्व्यतिरिक्ता विभाव्यते।
केवलं ज्ञानसत्तायां प्रारम्भोऽयं प्रवेशने[१३]॥

कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे यदि किसी को अग्नि के स्वरूप को जानने की इच्छा है तो वह सर्वप्रथम उसके दाहक सामर्थ्य को पहचानता है; तदुपरान्त अग्नि में पाचकत्व आदि अनन्त व्यापारों को भी समझ लेता है, उसी प्रकार इस शक्ति के माध्यम से ही उस परभैरव के स्वरूप का ज्ञान कराने वाले मार्ग में प्रवेश पाया जा सकता है। जैसे मुख देखने से किसी व्यक्ति की पहचान होती है, उसी तरह पराशक्ति को जानकर उसके माध्यम से शिव को पहचाना जाता है। इसलिये यह शैवी शक्ति शिव का मुख कहलाती है—

शक्त्यवस्थाप्रविष्टस्य निर्विभागेन भावना।
तदासौ शिवरूपी स्यात् शैवी मुखमिहोच्यते[१४]॥

वामकेश्वर तन्त्र में कहा गया है कि शक्ति के विना शिव के नाम, धाम आदि की कल्पना नहीं की जा सकती—'शक्त्या विना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते।' जिस तरह दीपक की लौ से और सूर्य की

---

११. विज्ञानभैरव, १७.

१२. वही, १८.

१३. विज्ञानभैरव, १९.

१४. वही, २०.

किरणों से दिग्विभाग का ज्ञान होता है, उसी तरह से शक्ति की सहायता से इस जागतिक प्रपंच का ज्ञान होता है। जैसे दीपक को देखने के लिए किसी दूसरे दीपक की या सूर्य के लिये दूसरे सूर्य की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु अपनी ही लौ और अपनी ही किरणों से ये भासित होते हैं, वैसे ही शक्तियों के द्वारा शिव का ज्ञान होता है—

यथाऽऽलोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य च।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः प्रिये[१५]॥

इस कथन के अनुसार परप्रकाशरूप शक्तिमान् शक्ति के द्वारा परिमित प्रमाताओं के लिये व्यक्त होता है। स्वयंप्रकाश की परकर्तृक अभिव्यक्ति उपाधि कहलाती है। उसी तरह स्वप्रकाश शिव-शक्ति के द्वारा उपाधिरूप से अभिव्यक्त होता है। शक्ति पहले स्वयं अभिव्यक्त होती है और उससे शिव की अभिव्यक्ति होती है, इसलिये शक्ति के अभिव्यञ्जन में कोई दूसरा करण नहीं बनता, क्योंकि—'न तस्या अपि केनचिदञ्जनं संभवेत्, न हि असंविदितं करणं कारणतामेव यायात्, इति भावः।'[१६]

इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्तियाँ अपने-अपने इष्यमाण, ज्ञेय और कार्यरूप विषयों के द्वारा पृथक्-पृथक् उपाधीयमान होती हैं। यही शक्तिमान् का स्फुट रूप है—

इच्छा ज्ञानं क्रिया चेति यत्पृथक्पृथगज्यते।
तदेव शक्तिमत्त्वैः स्वैरिष्यमाणादिकैः स्फुटम्[१७]॥

परप्रकाशात्मक शिव अपने अन्दर इन शक्तियों को पुलकित करता है। शक्ति तो शक्तिमान् का ही अपना रूप होती है। फल के अनुसार भेद आरोपित होते हैं, जिससे इष्यमाण के अनुसार इच्छा में भी भेदात्मक व्यवहार होता है—'शक्तिर्हि नाम शक्तिमत एव स्वं रूपं, किं तु फलभेदादारिवत भेदो येन इष्यमाणाद्युपरागात् इच्छा इत्यादिव्यवहारः।'[१८] अभिनवगुप्त का मानना है कि शक्तिमान् तो व्यक्त हो जाता है; किन्तु शक्ति कभी किसी अवस्था में व्यक्त नहीं होती, वह तो निरञ्जन ही रहती है—

निरञ्जनमिदं चोक्तं गुरुभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
शक्तिमानज्ञते यस्मान्न शक्तिर्जातु केनचित्[१९]॥

स्पष्ट है कि शक्ति द्वारा ही शिव अभिव्यक्ति का आलिङ्गन करता है और शक्ति से ही उसका स्फुरण होता है। वस्तुतः जब व्यक्ति को शिव और शक्ति की इस अभिन्नता का परिज्ञान हो जाता है और अभेदबोध जागृत हो जाता है तो मात्र परावस्था ही अवशिष्ट रहती है, शिव और शक्ति उसी में विलीन हो जाते हैं। इसी तरह विविध उपमानों के द्वारा शिव और शक्ति के तात्त्विक अभेद को प्रतिपादित किया गया है। पूर्णताप्रत्यभिज्ञाकार ने शक्ति को शिव का स्वभाव ही कहा है—

---

१५. विज्ञानभैरव, २१.

१६. श्रीतन्त्रालोक, प्रथम भाग जयरथकृत विवेक टीका से उद्धृत, पृ० ४०६.

१७. श्रीतन्त्रालोक, प्रथम भाग, तृतीय आह्निक, कारिका-१०६.

१८. वही, जयरथकृत विवेक टीका सहित, पृ० ४०७.

शक्तिः शिवस्वभावैव न तु वस्त्वन्तरात्मिका।
शिवो वा कथ्यतां शक्ति र्भेदो नास्त्येव वस्तुतः[२०]॥

यह शक्ति ही सृष्टि, संहार, अनाख्या आदि नामों से व्यपदिष्ट होती है।[२१]

वस्तुतः शिवतत्त्व में चैतन्य की प्रधानता है तो शक्तितत्त्व में आनन्द की प्रधानता का अनुभव होता है। क्षेमराज ने उत्पलदेव की स्तोत्रावली की व्याख्या में इसी विचार को इस रूप में अभिव्यक्त किया है—

'आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना' अर्थात् शक्ति आनन्द से उच्छलित हो अपने को अपने ही द्वारा सृष्टि के रूप में प्रकट करती है। शक्तितत्त्व में शिव के आनन्द का प्राधान्य है। अहन्ता की अन्तर्मुखता शिवतत्त्व है तो उसकी बहिर्मुखता शक्तितत्त्व है। ध्यातव्य है कि इस अवस्था में आन्तर और बाह्य भेद का नहीं होता, इन दोनों का भेद केवल व्यावहारिक-मात्र है, जैसा कि श्रीतन्त्रालोक में कहा गया है—'शिवाख्यं षट्त्रिंशं, तच्च सशक्तित्वेऽपि प्राधान्यादेकं शक्तिर्हि न शक्तिमतो भिन्ना भवतुमर्हति।' शक्ति के विना शिव इच्छाहीन, ज्ञानहीन, क्रियाहीन और स्पन्दन में असमर्थ शवमात्र होगा तथा प्रकाशात्मक शिव के विना शक्ति आत्मप्रकाशन में असमर्थ होगी। दोनों ही चिद्रूप होने के कारण स्वरूपतः अभिन्न हैं एवं एक को छोड़कर दूसरा रह भी नहीं सकता। जैसा कि पूर्णताप्रत्यभिज्ञाकार ने कहा है—

यत्कटाक्षविलासेन शिवतामेति वै शवः।
नौमि तां परमामाद्यां सतः शक्तिं शिवात्मिकाम्[२२]॥

विज्ञानभैरव में भी कहा गया है—'धर्मिधर्मात्मकत्वेन शिवशक्तिद्वैधं प्रकाशविमर्शस्वरूपं परमार्थत एकमेव तत्त्वं व्यज्यते, प्रकाशते, प्रकटीभवति।'[२३]

शिव और शक्ति प्रकाश-विमर्शरूप हैं। विश्वोत्तीर्णता उसकी प्रकाशरूपता है और विश्वमयता विमर्शरूपता। प्रकाश का विमर्श (बोध) उसके शिवरूप की अभिव्यक्ति है और विमर्श का प्रकाश (अभिव्यक्ति) उसके शक्तिस्वरूप की। प्रत्यभिज्ञाहृदयकार प्रकाश को एक भित्ति मानते हैं, जिस पर विश्व के समस्त भावजात प्रकाशित होते रहते हैं—

स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।

जिस प्रकार मुकुर में प्रकाशित पदार्थ का आश्रय वही मुकुर है, उसी प्रकार परमशिव का प्रकाश भी समस्त आभासों का अधिष्ठान है और उसमें प्रकाशित विश्व तदाकार होते हुए भी तद्व्यतिरिक्त प्रतीत होता है—

---

१९. वही, कारिका १०५.

२०. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १/५१०.

२१. वही, १/५११ से ५१४.

२२. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १/३.

२३. प्रत्यभिज्ञाहृदयसूत्र-२.

प्राक् निर्णीतं विश्वं दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव उन्मीलयति।[२४]

अभिनव ने भी तन्त्रालोक में कहा है कि—

अतोऽसौ परमेशानः स्वात्मव्योमन्यनर्गलः
इयतः सृष्टिसंहाराडम्बरस्य प्रकाशकः।
निर्मले मुकुरे यद्वत् भान्ति भूमिजलादयः
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः[२५] **॥**

प्रकाश तथा विमर्श एक-दूसरे के पूरक हैं। प्रकाशवस्तु का प्राणप्रद धर्म है और यह धर्म होना ही विमर्श है—

ज्ञानं विमर्शानुप्राणितं विमर्श एव च क्रियते।[२६]

विमर्श सृष्टि, स्थिति आदि सभी क्रियाशील स्थितियों में व्यक्त होता है। प्रकाश शिव की शक्ति को स्थूल क्रिया में प्रकट करता है और विमर्श शक्तिमान को। 'अस्ति' प्रकाश का द्योतन करता है तथा 'भाति' विमर्श का। अतएव आभ्यन्तर तथा बाह्य जगत् 'अस्तिभातिमय' होने के कारण 'शिवशक्तिमय' है। पराप्रवेशिका में वर्णित है—'इह खलु परमेश्वरः प्रकाशात्मा। प्रकाशश्च विमर्शस्वभावः। विमर्शो नाम विश्वाकारेण, विश्वप्रकाशनेन विश्वसंहरणेन अकृत्रिमाहमिति विस्फुरणम्।'[२७] परमशिव में समस्त जगत् उसी प्रकार विद्यमान रहता है, जिस प्रकार मयूर के अण्डे के रस में चित्र-विचित्र पिच्छकलाप विद्यमान रहता है। अथवा जैसे छोटे से बीज में बड़े से बड़े न्यग्रोध वृक्ष की शाखायें, पत्ते, फूल और फल इत्यादि की कल्पना बीजरूप में ही विद्यमान होती है, उसी प्रकार सान्द्रात्मक विमर्शभूमिका में सारे प्रमेय पदार्थ विद्यमान हैं—

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्[२८] **॥**

वस्तुतः प्रकाश-विमर्श में द्वित्व मात्र औपचारिक है, इनमें वास्तव में नीरक्षीरात्मक सामरस्य है। अस्तु, विमर्श प्रकाश की स्पन्दना है और स्पन्दना होने के कारण प्रकाश का प्राण है। शक्तिहीन शिव की कल्पना शव की कल्पना से अधिक नहीं। फलतः प्रकाशरूप शिव की अभिन्न अहंविमर्शरूपा शक्ति ही स्पन्द है। शाश्वत रूप में स्फुरणशील होने के कारण ही इसको स्पन्दशक्ति भी कहा जाता है। यह वह मौलिक स्फुरणा है, जिससे वह एक ही शक्ति अनन्त रूपों में स्फुरित होकर विश्व के अनन्त और विचित्र रूपों में अवभासमान है—

---

२४. वही, सूत्र २ की वृत्ति, पृ० ७६.

२५. श्रीतन्त्रालोक २, कारिका ३, ४.

२६. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, २ पृ० २१५.

२७. पराप्रवेशिका, पृ० १-२.

२८. परात्रिंशिका, २४.

शिवस्यैका महाशक्तिः शिवश्चैको ह्यनादिमान्।
सा शक्तिर्भिद्यते देवि! भेदैरानन्त्यसंभवैः[२९]॥

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में विमर्शरूपा शक्ति को शिव का हृदय कहा है—

सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः।[३०]

तन्त्रालोक में भी स्पष्ट शब्दों में अभिहित किया गया है कि क्रिया-प्रधान विमर्शभाग ही सामान्य स्पन्द है—

हृदये स्वविमर्शोऽसौ द्रावितशेषविश्वकः।
भावग्रहादिपर्यन्तभावी सामान्यसंज्ञकः।
स्पन्दः स कथ्यते शास्त्रे स्वात्मन्युच्छलनात्मकः[३१]॥

स्पन्दशक्ति का स्वभाव किञ्चिद् चलन अर्थात् स्वतन्त्ररूप से स्फुरित होना है—

किञ्चिच्चलनमेतावदनन्यस्फुरणं हि यत्।
ऊर्मिरेषा विबोधाब्धेर्न संविदनया विना[३२]॥

वस्तुतः संविद् कभी भी स्पन्द के विना नहीं रह सकती, क्योंकि फिर वह चिद्रूप ही नहीं हो सकती। यदि ऐसा होता तो चिद्रूपता के अभाव में सारे विश्व में जड़ कंकड-पत्थरों के सिवा कोई जीवित सत्ता देखने को न मिलती। इतना ही नहीं; ये जड़ वस्तुयें भी हैं या नहीं, यह भी कोई नहीं कह सकता। फलतः संविद् प्रतिसमय प्रमाता और प्रमेय दोनों रूपों में सतत स्पन्दमयी हैं—

स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः[३३]॥

वास्तव में स्पन्द संवित् समुद्र की तरङ्ग है। संवित् का संवितत्त्व यही है कि वह विमर्शमयी अथवा सतत स्पन्दमयी होने के कारण प्रत्येक पदार्थ का (विश्वोत्तीर्णरूप में या विश्वमय रूप में वर्तमान भावों का) स्वतन्त्र अहं रूप में विमर्श कर सकती है। सागर की सागरता तो इसी से चरितार्थ होती है कि वह कभी तरङ्गहीन तथा कभी तरङ्गायमाण रूपों को धारण कर लेता है—

निस्तरङ्गतरङ्गादिवृत्तिरेव हि सिन्धुता।[३४]

यह विमर्श चेतन और अचेतन समस्त चराचर जगत् का प्राण है। यही सबका सार रहस्य है—

सारमेतत्समस्तस्य यच्चित्सारं जडं जगत्।
तदधीनप्रतिष्ठत्वात्तत्सारं हृदयं महत्[३५]॥

---

२९. स्वच्छन्दतन्त्र, ११.२७१.

३०. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, १.५.१४.

३१. श्रीतन्त्रालोक, ४.१८२-८३.

३२. वही, ४.१८४.

३३. श्रीतन्त्रालोक, जयरथकृत विवेक टीका सहित, २, पृ० १५३.

३४. वही, पृ० १५४.

यह विश्व के प्रत्येक दृश्यमान और अदृश्यमान पदार्थ को सत्ता देती है। इतना ही नहीं; अपितु जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष रूप में पूर्ण अभाव होता है, उनको भी कल्पना के द्वारा स्थिति प्रदान करती है। यथा आकाशपुष्प, शशशृङ्ग आदि ऐसी ही कल्पनायें हैं। यह देश, काल और आकार की सीमाओं को जन्म देती है; परन्तु स्वयं नित्य एवं व्यापक होने के कारण उनसे ससीम नहीं बन जाती। यही कारण है कि संसार में जितनी भी प्रमाता, प्रमेय और प्रमाओं की कल्पनायें हैं अथवा अन्तरङ्गरूप या बहिरङ्गरूप में जो भी कुछ है, उन सारे रूपों में यह शक्ति स्वयं को अवभासित करतीं है और उनसे पृथक् रूप में भी प्रकाशमान रहती है—

अत एव स्थिता संविदन्तर्बाह्योभयात्मना।
स्वयं निर्भास्य तत्रान्यद्भासयन्तीव भासते[३६]॥

शक्ति के भेद—दो प्रकार से शक्ति का भेद किया जा सकता है। एक वे, जो शिव के स्वरूप में निहित हैं और दूसरी वे, जिन्हें शिव सृष्टि के अभिव्यक्ति के क्रम में स्फुरित करते हैं अर्थात् जो शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर हैं। चित् और आनन्द को शिव की स्वरूपशक्ति कहा जाता है और इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्तियों को शिव की स्वातन्त्र्यशक्ति कहा जाता है। प्रतिप्रमाता की अभिन्न स्वातन्त्र्यशक्ति ही उसकी आनन्दघनता, आनन्द का चमत्कार ही इच्छा-शक्ति, प्रकाशरूपता ही चित् शक्ति, विमर्शमयता ही ज्ञानशक्ति और प्रत्येक प्रकार के आकार इत्यादि को अवभासित करने की सामर्थ्य ही क्रियाशक्ति है—'तस्य च स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः, तच्चमत्कारः इच्छाशक्तिः, प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः, आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः, सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः।'[३७] पूर्णताप्रत्यभिज्ञाकार महामहोपाध्याय पं० श्री रामेश्वर झा ने भी इन शक्तियों के स्वरूप का अभिधान उक्त प्रकार से किया है—

स्वातन्त्र्यशक्तिः प्रथमा तदीया ह्यानन्दरूपेण विभासमाना।
इच्छा द्वितीयास्ति चमत्कृतिर्या चिच्छक्तिरेतस्य प्रकाशतैव॥
आमर्शरूपापि च ज्ञानशक्तिः क्रियापि सर्वाकृतिरूपतैव।
स्थिता प्रभोः सूक्ष्मतया परायाम् अन्यत्र चाप्यक्रमशः स्फुरन्ती[३८]॥

वस्तुतः शिव की ये पाँचों शक्तियाँ परावस्था में सूक्ष्म रूप से तथा अन्यत्र क्रमरहित स्फुरित होती रहती हैं। इसलिये पूर्णताप्रत्यभिज्ञाकार का मानना है कि यद्यपि शिव इन पाँच शक्तियों से युक्त है तथापि परमार्थतः इच्छा, ज्ञान, क्रियारूप शक्तित्रय से ही युक्त है। अथवा स्वभावतः स्फुरित होने वाली क्रमवर्जित विमर्शसंज्ञक पराशक्ति ही क्रम रूप-जैसी होती हुई इच्छा, ज्ञान, क्रिया बन जाती है।[३९] इन

---

३५. श्रीतन्त्रालोक, ४.१८५.

३६. श्रीतन्त्रालोक, ४.१४७.

३७. तन्त्रसार, पृ० ६.

३८. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.५२-५३.

३९. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.५४-५५.

इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्तियों के द्वारा प्रमेयों की परप्रमाता भैरव में जो विश्रान्ति है, उसे संहारक्रम कहते हैं। सृष्टिक्रम में उसी भैरवभाव से यह बाहर विश्वरूप में विसृष्ट हो जाता है। सृष्टि और संहार की इस प्रक्रिया में संवित् में किसी प्रकार का अतिवाद उपस्थित नहीं होता—

इच्छाज्ञानक्रियारोहं विना नैव तदुच्यते।
तच्छक्तित्रितयारोहाद्भैरवीये चिदात्मनि॥
विसृज्यते हि तत्तस्माद् बहि र्वाथ विसृज्यते[४०]॥

श्रीतन्त्रालोक में इच्छा को काम, ज्ञान को विष और क्रिया को देवी पद से अभिहित किया गया है तथा इन्हें निरञ्जन शक्ति का स्वात्मरूप माना गया है। इन तीनों में समाविष्ट ही शिव है, यही भैरवीभाव है—

इच्छा कामो विषं ज्ञानं क्रिया देवी निरञ्जनम्।
एतत्त्रयसमावेशः शिवो भैरव उच्यते[४१]॥

अभिनवगुप्त के अनुसार इस विषतत्त्वात्मक व्यापक रूप में शाश्वत अनुप्रवेश होना चाहिये। ऐसा कर लेने पर भूतबाधा नहीं होती। विष विष नहीं रह जाता। अनात्म के प्रति आग्रह नहीं रह जाता। वह सब परिमित प्रमाताओं के स्तर की क्रियायें हैं, जो इस व्यापक परप्रमातात्मक रूप में समावेश हो जाने पर नहीं होती। भावना का इतना विकास हो जाता है कि 'यह सब केवल मैं ही यह परमाद्वयतत्त्व हूँ' यह गाढ अनुभूति हो जाती है—

विषतत्त्वे संप्रविश्य न भूतं न विषं न च।
ग्रहः केवल एवाहमिति भावनया स्फुरेत्[४२]॥

वस्तुतः अपनी शक्ति द्वारा व्यामोहित होना ही संसारी होना है—

'निजशक्तिव्यामोहिततैव संसारित्वम्'[४३] और उसके सम्यक् ज्ञान से चित्त ही अन्तर्मुखी होकर जब चेतनभूमि पर आरूढ़ होता है तो 'चिति' कहलाता है अर्थात् वह अपनी चिन्मयी पराभूमि में प्रविष्ट हो जाता है—'तत्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहात् चितिः।....... स्वां चिन्मयीं परां भूमिमाविशतीत्यर्थः।'[४४] और जो व्यक्ति यह सम्यक् रूपेण समझ लेता है कि यह समस्त वैभव मेरा ही है, वह नाना विकल्पों के फैले रहने पर भी अपनी आत्मा के सभी पदार्थों से तादात्म्य के कारण माहेश्वर्य की स्थिति प्राप्त कर लेता है—

सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता[४५]॥

✿

---

४०. श्रीतन्त्रालोक, २. ४.१८७.
४१. श्रीतन्त्रालोक, १. ३.१७२
४२. श्रीतन्त्रालोक, १. ३.१७४.
४३. प्रत्यभिज्ञाहृदयसूत्र १२ की वृत्ति, पृ० ११८.
४४. श्रीतन्त्रालोक, सूत्र १३., पृ० १२१.
४५. श्रीतन्त्रालोक, सूत्र १२ की वृत्ति, पृ० ११६.

भाषासु मुख्या मधुरा दिव्या गीर्वाणभारती

डॉ० कमला पाण्डेय
संस्कृत विभागाध्यक्ष,
वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी

संस्कृत केवल एक भाषा नहीं है, मानवमात्र को संस्कारित करने की एक उत्तम प्रक्रिया है। भाषा के रूप में भी इसका सौन्दर्य उतना ही उत्तम है, जितना इसके वाङ्मय में प्रतिपादित मूल तत्त्वों का। इसका श्रुतिमाधुर्य अपने-आपमें अनूठा है। चराचर विश्व में शब्दब्रह्म के रूप में विराजमान वाणी का विलास संस्कृत भाषा में पदे-पदे दिखाई पड़ता है। इसीलिए विश्व की समस्त भाषाओं में संस्कृत भाषा को श्रेष्ठता का स्थान प्राप्त है।

संस्कृत भाषा के प्रारम्भिक ज्ञान से लेकर परिनिष्ठित ज्ञान तक में जो क्रमबद्धता है, वह उसमें मधुरता का आधान करती है। शैशवकाल में बालक को अकारादि क्रम से पदों का अभ्यास भी कुछ इस प्रकार कराया जा सकता है कि वह खेल-खेल में सम्पूर्ण वर्णमाला को संस्कृत के माध्यम से कण्ठस्थ कर सकता है। इसी प्रकार धातुरूपों के पारायण के क्रम में तथा शब्दरूपों के सीखने के क्रम में भी एक लयबद्धता अपेक्षित है, जो संस्कृत भाषा के प्रत्येक परिस्पन्दन में व्याप्त है। इस प्रकार कारकपद एवं क्रियापद का क्रमबद्ध अभ्यास पदकदम्बरूप वाक्य में जब परिणत होता है तो अपनी सानुप्रासिक लयबद्ध पदावली का आकार धारण कर सकता है। इसी क्रम में गद्यकाव्यों की रचना हुई है। गद्यवाक्यों का वाचन भी कर्णसुभग इसीलिए बन जाता है, क्योंकि संस्कृत-भाषा के उत्स में भी माधुर्य है। जैसे 'दशकुमारचरितम्' की गद्यविधा को लिया जा सकता है—

'तत्र वीरभटपटलोत्तरङ्ग-तुरङ्ग-कुञ्जर-मकरभीषण-कटक-जलनिधि-मथन-मन्दरायमाण-समुद्दण्ड-भुजदण्डः .....।'

इसी प्रकार बाण की कादम्बरी की आलङ्कारिक सरसता भाषागत माधुर्य का चूडान्त निदर्शन है—

''पुण्यैरिव स्पृशन्ती, तीर्थजलैरिव प्रक्षालयन्ती, तपोभिरिव पावयन्ती पवित्रतामिव नयन्ती चन्द्रापीडमाबभाषे।''

एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संस्कृतवाङ्मय में जिस प्रकार कोमलकान्त पदावली में उपगुम्फित रचना उपलब्ध होती है, उसी प्रकार शास्त्रों के अतिगम्भीर सूक्ष्म सिद्धान्तों को भी कारिकाओं में बांध कर महान् उपकार किया है। मीमांसाशास्त्र का श्लोकवार्तिक, न्यायशास्त्र की कारिकावली, विद्यारण्य स्वामी की पञ्चदशी, ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका में प्रतिपादित मूल सिद्धान्तों का ज्ञान बड़ी सहजता से प्राप्त होता है तथा छात्रों को कण्ठस्थीकरण में सौकर्य होता है। शङ्कराचार्य भगवत्पाद ने यदि ब्रह्मसूत्र में वेदान्त का गहन विचार किया है तो विवेकचूडामणि, अपरोक्षानुभूति—जैसे प्रकरणग्रन्थों में छन्दोविधा

को अपनाया है। अपि च, उनका दशश्लोकी एवं पञ्झटिका में माधुर्य की जो पराकाष्ठा है, वह भवभूति के 'लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति' जैसे महत्त्वपूर्ण वचनों की ओर बरबस ले जाती है।

पद्यकाव्य का श्रुतिमाधुर्य सम्पूर्ण वाङ्मय में सर्वातिशायी होता है। यह चतुष्पदी अर्थात् चार पादों वाला होता है। छन्दःशास्त्रकार कहते हैं कि यह दो प्रकार का होता है— वृत्त और जाति। जिनमें अक्षरों की गणना होती है, उन्हें वृत्त और जिनमें मात्राओं को गिना जाता है, उन्हें जाति कहते हैं। छन्दस् का ही दूसरा नाम वृत्त है—

पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तिजातिरिति द्विधा।
वृत्तमक्षरसंख्यातं जाति र्मात्राकृता भवेत्॥
(छ० मं० ४)

वर्णवृत्त तीन प्रकार का होता है—समवृत्त, अर्धसमवृत्त, विषमवृत्त। जिस पद्य में चारो चरण समान हों, वह समवृत्त; जैसे—अनुष्टुप्। जिसमें प्रथम तृतीय एक-सा तथा द्वितीय चतुर्थ एक-सा होता है उसमें अर्धसमवृत्त और जिसमें चारो चरण भिन्न हों, वह विषमवृत्त होता है। इन तीनों के क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैं—

समवृत्त-अनुष्टुप्—

लक्षण—

श्लोके षष्ठं गुरुर्ज्ञेयं सर्वत्र लघुपञ्चमम्॥
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

उदाहरण—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

अर्धसमवृत्त-वियोगिनी—

लक्षण— विषमे ससजा समे गुरुः सभरा लोऽथ गुरुर्वियोगिनी।

उदाहरण—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृति र्जीवनमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ॥

विषमवृत्त-उद्गता—

लक्षण—

यद्यथ मनजलगाः स्युरथो सजसा जगौ च भवतीयमुद्गता॥

अर्थात् प्रथम पाद में—सगण, जगण, सगण तथा लघु।

द्वितीय पाद में—नगण, सगण, जगण तथा गुरु।

तृतीय पाद में—भगण, नगण, जगण तथा लघु।

चतुर्थ पाद में—सगण, जगण, सगण, जगण तथा गुरु।

उदाहरण—

अथ वासवस्य वचनेन रुचिरवदनस्त्रिलोचनम्।
क्लान्तिरहितमभिराधयितुं विधिवत्तपांसि विदधे धनञ्जयः॥

छन्दस् शब्द 'चदि आह्लादने' धातु से असुन् प्रत्यय लगा कर बना है। 'इदितो नुम् धातोः' से नुम् और 'चन्देरादेश्छः' से चकार को छकारादेश होकर छन्दस् शब्द निष्पन्न होता है। जो आह्लादित करता है, वही छन्दस् है। वस्तुतः सम्पूर्ण चराचर सृष्टि में जो गति है, जो स्पन्दन है, जो आवर्तन है; छन्द उसी का निश्चित नियम है। उसकी यह गत्यात्मकता जब ह्रस्व और दीर्घ मात्राओं में विन्यस्त हो जाती है, तब वह काव्य के अङ्गरूप में पहचानी जाती है। छन्दःशास्त्र अगाध है। छन्दः शास्त्रकारों के अनुसार म य र स त ज भ न ग ल (प्रकारान्तर से यमाताराजभान सलगा)—इन संकेतों के द्वारा छन्दों के लक्षण निर्मित होते हैं। इनमें छन्दः शास्त्र उसी प्रकार व्याप्त है जैसे विष्णु में तीनों लोक व्याप्त हैं—

म्यरस्तजभ्नगैलान्तैरेभिर्दशभिरक्षरैः। समस्तं वाङ्मयं व्याप्तं त्रैलोक्यमिव विष्णुना॥
(छ० मं० ७)

छन्दःशास्त्र अगाध है। एक ओर यह 'अणोरणीयान्' है तो दूसरी ओर 'महतो महीयान्'। एक ओर तो एक-एक अक्षर का चार पाद बन कर पूरा वृत्त बन जाता है तो दूसरी ओर ९९९ (नौ सौ निन्यानबे) अक्षर तक छन्दस् का अनुधावन होता है। इस दृष्टि से एकाक्षरा से छब्बीस अक्षर तक षड्विंशत्यक्षरा तक की छन्दोजाति के क्रमशः उक्ता, अनुक्ता, मध्या, प्रतिष्ठा, सुप्रतिष्ठा, गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टिः, अत्यष्टिः, धृतिः, अतिधृतिः, कृतिः, प्रकृतिः, आकृतिः, विकृतिः, संकृतिः, अतिकृतिः, उत्कृतिः भेद होते हैं। छन्दः का प्रस्तार भेद भी विपुल है। उक्ता का २, अत्युक्ता का ४, मध्या का ८, प्रतिष्ठा का १६, सुप्रतिष्ठा का ३२, गायत्री का ६४, उष्णिक् का १२८, अनुष्टुप् का २५६, वृहती का ५१२, पङ्क्ति का १०२४, त्रिष्टुभ का २०४८, जगती का ४०९६, अतिजगती का ८१९२, शक्वरी का १६३८४, अतिशक्वरी का ३२,७६८, अष्टि का ६५,५३६, अत्यष्टि का १,३१०७२, धृति का २,६२,१४४, विधृति का ५,२४,२८८, कृति का १०,४८,५७६, प्रकृति का २०,९७,१५२, आकृति का ४१,९४,३०४, विकृति का ८३,८८,६०८ भेद होता है।

छब्बीस अक्षरों से ऊपर की पद्यरचना को दण्डक कहते हैं। जहाँ दो नगण और सात रगण हों, वहाँ चण्डवृष्टिप्रपात नामक दण्डक होता है। जहाँ दो नगण के साथ सात यगण हों, वहाँ प्रचितक; जहाँ सभी सगण हों, वहाँ कुसुमस्तबक; जहाँ रगणों का स्वेच्छया गुम्फन हो, वहाँ मत्तमातङ्गलीलाकर; इसी प्रकार प्रति चरण रगणों की संख्या बढ़ाई जाने पर क्रमशः अर्ण, अर्णव, व्याल, जीमूत, लीलाकर, दाम, शंख आदि नामों से कहे गये हैं।

जहाँ प्रारम्भ में दो नगण हों, तत्पश्चात् इक्कीस गणों से आरम्भ कर उन्तीस गणपर्यन्त क्रमशः

सोत्कण्ठ-सार-कासार-विस्तार-सम्भार-नीहार-मन्दार-केदार-साधार-सत्कार-संस्कार नाम के दण्डक होते हैं। कवि की इच्छा से रचित गणों के द्वारा जो दण्डक बनते हैं, वे क्रमशः दाम-हास-प्रसून आदि हैं। इस प्रकार क्रम से नौ सौ निन्यानबे अक्षर तक का पादनियम कवि सम्प्रदायसम्मत है।

कवि अपनी इच्छा से गणों की योजना करे, किन्तु पदच्छेद सुन्दर होना चाहिए। इस प्रकार का दण्डक मालतीमाधव में देखा जा सकता है।

प्रचलित- करि- कृत्तिपर्यन्त- चञ्चन्नखाघातभिन्नेन्दुनिष्यन्दमानाऽमृतश्च्योत- जीवत्कपालावली - मुक्त-चण्डाट्टहास-त्रसद्भूरिभूतप्रवृत्तस्तुतिः।

यद्यपि श्यामलादण्डकम् में पादयोजना नहीं है, तथापि कवि की इच्छा से विन्यस्त दो नगणों के पश्चात् रगणयोजना अतीव कर्णप्रिय, सुस्वर, गेय और लयबद्ध है—

''जय जननि! सुधा-समुद्रान्त-हृद्यन्मणिद्वीप-संरूढ-विल्वाटवी-मध्य-कल्पद्रुमाकल्प-कादम्ब-कान्तारवासप्रिये! कृत्तिवासप्रिये!'' इत्यादि।

छन्दःशास्त्र की विशेषता है कि वाणी चाहे किसी भी भाषा के रूप में हो, उसका अर्थ ज्ञात हो या न हो, उसका छन्दः श्रोता को अपनी ओर आकर्षित करता ही है। मानव स्वभावतः मनोरञ्जक वस्तु की ओर स्वतः खिंच जाता है। संस्कृत भाषा के छन्दों का अच्छी प्रकार किया गया अभ्यास काव्य के अध्ययन एवं रचना की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य दण्डी कहते हैं—छन्दःशास्त्र ऐसी विद्या है, जो काव्यसागर को पार करने की इच्छा वाले साहित्य के अध्येताओं के लिए नौका के समान है—

सा विद्या नौस तितीर्षूणां गभीरं काव्यसागरम्। (काव्यादर्श-१.१२)

छन्दस् ध्वनि-वैचित्र्य के कारण जो चमत्कार उत्पन्न करता है, वह श्रवणमात्र से वाद्ययन्त्र की स्वरलहरी के समान कानों में रस घोलता है।

छन्दस् को वेद का अपरपर्याय माना गया है। वेदाङ्गों में छन्दःशास्त्र को वेद भगवान् का चरण कहा गया है।

छन्दस्तु पादौ वेदस्य

वेद के छन्दों का गान उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वरों के संयोजन से विशेष प्रकार से होता है। उनकी सामगान पद्धति भी विशिष्ट है। लौकिक संस्कृत में छन्दःपाठ में यति के नियम बताये गये हैं, तदनुसार गणों का संयोजन कर प्रति छन्दस् का पाठ भिन्न-भिन्न विशेषताएँ लिये श्रोता को मुग्ध करता है। दोनों प्रकार की संस्कृत चाहे वह वैदिक संस्कृत, हो अथवा, लौकिक, देववाणी अपनी संगीतात्मकता, लयबद्धता और छन्दोबद्धता के कारण सर्वोत्तम है, मधुर है और प्रकाशमय है।

✿

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्

डॉ० श्यामसुन्दर शुक्ल
पूर्व प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

संसार में जन्म लेने वाले सभी मानव प्राणी सुखार्थी होते हैं कोई दुखी नहीं होना चाहता। यह मानव मात्र की प्राकृतिक कामना है। इसी के लिए मनुष्य यज्ञ करता है, व्रतों का आचरण करता है, तप करता है और विद्याध्ययन आदि अनेक उपक्रमों को अपनाता है। परन्तु इन सबमें ज्ञानार्जन सर्वश्रेष्ठ उपाय है। कहा भी गया है—'न बोधादपरं सुखम्'। यह बोध गुरु-कृपा के बिना संभव नहीं है। शिशु अवस्था से लेकर जीवन के अन्तिम काल तक मनुष्य किसी न किसी माध्यम से ज्ञानार्जन करता ही रहता है। यह उसका स्वभाव हैं। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि समूची सृष्टि ही गुरु-स्वरूपा है। अवधूत शिरोमणि, ईश्वरांशस्वरूपी श्रीदत्तात्रेयजी के चौबीस गुरुओं का वृत्त प्रायः सर्वज्ञात ही है। उनके इन गुरुओं में लघु-दीर्घाकार, चेतन-अचेतन आदि अनेक प्रकार के ज्ञान-स्रोत सम्मिलित थे। जिससे यत्किंचित् भी ज्ञान या बोध की प्राप्ति होती है, वह गुरु-पद का अधिकारी है। फिर भी चार कोटि के गुरु विशेष प्रतिष्ठा के आस्पद हैं—माता, पिता, शिक्षा-गुरु तथा दीक्षा-गुरु। शिक्षा-गुरु भी चार प्रकार के होते हैं—कुलपति, आचार्य, गुरु और उपाध्याय। इनमें से 'कुलपति' उसे कहा गया है, जो दश सहस्र मुनियों को अन्न-वस्त्र से पोषण करता हुआ विद्या-दान करता था।

इसी प्रकार 'आचार्य' की संज्ञा उसके लिए है, जो यथाविधि उपनयनादि संस्कार के उपरान्त सङ्कल्प एवं सरहस्य वेदाध्यापन करके शिष्यों का उपकार करता है। जो गुरु वेदांगों में से छाँटकर किसी एक ऐसे विषय मात्र का अध्ययन कराता है, जो लोकोपयोगी हो या जीविकोपार्जन का साधक हो, उसे 'उपाध्याय' पद से विभूषित किया गया है। इन तीनों कोटि के शिक्षा-गुरुओं से भी ऊँचा पद है—'दीक्षा-गुरु' का। 'दीक्षा' वह साधन है, जिसके लिए शास्त्रों में कहा गया है कि इससे ज्ञान की प्राप्ति होती है और पशु प्रवृत्तिरूपी अन्धकार का क्षय होता है। 'दीक्षा' के माध्यम से गुरु शिष्य का जो ऐसा उपकार करता है, वह 'दीक्षागुरु' कहलाता है।

दीयते ज्ञान-सद्भावः, क्षीयते पशुबन्धनम्।
दान-क्षयसमायुक्ता, 'दीक्षा' तेनेह कीर्तिता॥

माता, पिता, आचार्य, गुरु एवं अन्य स्रोतों से ज्ञान-प्राप्ति के उपरान्त सुख-दुःखमय जीवन के चरम लक्ष्य (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए दीक्षागुरु की आवश्यकता बताई गई है। जिस प्रकार जीवन की चरमोपलब्धि मोक्ष है, उसी प्रकार ज्ञानार्जन की शीर्षोपलब्धि सिद्ध गुरु की दीक्षा है। इसके अभाव में व्यक्ति का इहलोक और परलोक दोनों निरर्थक हो जाते हैं—

गुरु बिन ज्ञान नहिं, गुरु बिन ध्यान नहिं, गुरु बिन आतम, बिचार न लहतु है।
गुरु बिन प्रेम नहिं, गुरु बिनु नेम नहिं, गुरु बिन सील हूँ, सँतोष न गहतु है।
गुरु बिन प्यास नहिं, बुद्धि को प्रकास नहिं, भ्रमहूँ को नास नहिं, संशय रहतु है।
गुरु बिन पाठ नहिं, कौड़ी बिनु हाट नहीं, 'सुन्दर' प्रगट लोक बेद यों कहतु है॥

—संत सुन्दरदास

मात्र पुस्तकीय ज्ञान वास्तविक एवं पूर्ण ज्ञान नहीं है। इस प्रकार का ज्ञानी उसी प्रकार सम्मानार्ह नहीं है जैसे समाज में जारगर्भा स्त्रियाँ। वास्तविक गुरु तो वह है जो केवल पोथी ही नहीं पढ़ाता बल्कि शिष्य की न्यूनताओं को दूर करके उसमें शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्तियों को विकसित करने के साथ-साथ उनमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य, गम्यागम्य, उचितानुचित और भक्ष्याभक्ष्य आदि का विवेक जागृत करता है तथा उसके अज्ञानान्धकार को दूर करके ज्ञान-चक्षु का उन्मीलन करता है। 'नारद पुराण' में ऐसे गुरु को शत-शत प्रमाण करने का निर्देश दिया गया है, जो अज्ञानान्धकार से आच्छन्न शिष्य को ज्ञानाञ्जनशलाका के द्वारा प्रकाश प्रदान करके उसे सम्यक् दृष्टि प्रदान कर देता है। ऐसे गुरु के अभाव में मनुष्य का यज्ञ, दान, तप, व्रत, जप, तीर्थ-सेवन आदि सभी निष्फल हैं। कहा भी गया है—

यज्ञः व्रतो तपो दानं, जप-तीर्थानुसेवनम्।
गुरुतत्त्वमविज्ञाय, निष्फलं नात्र संशयः॥

जैसे पाषाण पर बोया गया बीज अंकुरित नहीं होता, वैसे ही गुरु-दीक्षा बिना पठित समस्त विद्या असिद्ध है। जिस प्रकार योग्य दीक्षा-गुरु दुर्लभ होता है, भगवदनुकम्पा एवं सद्भाव से ही सुलभ होता है, वैसे ही तत्त्वदर्शी, अभेददर्शी परमज्ञानी एवं सर्वविधि सिद्धगुरु भी उसी को दीक्षित शिष्य बनाता है, जो उसकी दीक्षा का उपयुक्त पात्र होता है। ऐसे गुरु का मिलना शिष्य के सौभाग्य का विषय है। ऐसा ही दुर्लभ संयोग मुझ जैसे 'निगुरा' के भी हाथ लगा, मैं धन्य हुआ।

मानव जीवन के शास्त्र-निर्धारित तीन 'आश्रम-काल' (अर्थात् ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ और वानप्रस्थ-काल) की समाप्ति हो जाने पर भी दीक्षा-गुरु खोज पाने की असमर्थता पर मैं मन ही मन खिन्न हो रहा था, निराश भी था। खिन्नता वस्तुतः इस बात पर थी कि कालदेवता जीवन-सरिता के दूसरे तट की ओर तीव्र गति से जीवन को घसीटे लिये जा रहे हैं और मेरे पास डूबने के सिवा अन्य कोई रक्षक साधन नहीं है। भगवान् शङ्कर ने माता पार्वती से 'गुरुगीता' में स्पष्ट बता दिया था कि—

संसार-पार-पाथोधेः पारं गन्तु महेश्वरि।
श्रीगुरोर्चरणाम्भोज-नौकैवैकावलम्बनम् ॥

मैं भी इसी तथ्य से अवगत करता था कि संसार-सागर को पार करने के लिए गुरुरूपी नौका अनिवार्य साधन है, फिर भी मुझे 'नौका' नहीं मिली या यों कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी कि ऐसी नौका की मेरी खोज में ही कुछ खोट था। चिन्ता थी कि ऐसे गुरु के बिना मन का मैल कैसे धुलेगा? धर्मदास जी कहते हैं—

सतगुरु धोबी जो मिले, हिंरदयँ दाग छुड़ावै।

ब्रह्म अगिन परगट करै, कर्मरु भर्म जरावै॥

एक दूसरे सन्त श्री परमानन्ददास भी ऐसा ही कहते हैं—

सतगुरु पूरा धोबी पाया, सतसंगति सौदाई है।

ऐसे गुरु कहाँ मिलेगा जो मेरी खोट, मेरी कमियाँ उस प्रकार दूर कर दे, जैसे—'गुरु कुँभार, सिष कुंभ है, गढ़ि-गढ़ि काढ़ै खोट', कहकर गुरु द्वारा कुँभार के दायित्व निर्वाह की ओर संकेत किया गया है। परन्तु शीघ्र ही निराशा मिटी। एक दिन मेरे छोटे भाई श्रीरविशङ्कर शुक्ल (जिला आबकारी अधिकारी-बरेली) ने गुरु जी से मेरी भेंट कराई। दीक्षा के पूर्व मैं तीन-चार बार गुरुजी (श्री सीताराम कविराज, श्रीसाधना दीक्षा नाम—श्रीदत्तात्रेयानन्द नाथ जी) के दर्शनार्थ गया और उनमें 'श्रीमद्‌भागवत' सहित अनेक आर्ष ग्रंथों एवं विभिन्न शास्त्रों का अजस्र प्रवाह प्रवाहित होता पाकर मैंने मान लिया कि मेरे होने वाले दीक्षा गुरु न केवल शक्ति-साधना-सिद्ध हैं बल्कि 'सर्वज्ञ' भी हैं। निश्चित रूप से वे अपने गुरु श्रीकरपात्र स्वामी के उसी प्रकार वर्तमान प्रतिरूप हैं, जैसे धर्मसम्राट् स्वामी करपात्र जी महाराज आदि शङ्कराचार्य जी के प्रतिरूप थे और शङ्कराचार्य जी भी स्वयं भगवान् शङ्कर और श्रीविष्णु के अंशावतार श्री वेदव्यास जी के सम्मिलित अंशीभूत थे। काशी में वैदुष्य के अनुपम एवं देवोपम प्रतिनिधि (जिन्हें काशी सहित संपूर्ण भारत के मनीषियों ने 'अभिनव शङ्कर' की उपाधि से विभूषित किया था) के दीक्षित शिष्य तथा 'श्रीविद्या' के अनुपम साधक और परमाचार्य हैं, ऐसे गुरुदेव की मुझे कृपा प्राप्त हुई। इस प्रकार मैं 'सगुरा' हुआ।

मेरी खोज पूरी हुई और अब तो 'कुलार्णव तंत्र' में निर्दिष्ट भगवान् शिव की यह उक्ति ही मेरा आदर्श है—

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः, पूजामलं गुरोः पदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं, मोक्षमूलं गुरोः कृपा॥
गुरुमूलं क्रिया सर्वा, लोकेऽस्मिन् कुलनायिके।
तस्मात् सेव्यो गुरुर्नित्यं, सिद्ध्यर्थं भक्तिसंयुते॥ (१२.१३-१४)

गत मार्च मास में श्री गुरुदेव का ८० वर्ष की अवस्था में 'अमृत महोत्सव' एक पक्ष पर्यन्त के लिए आयोजित था, जिसमें महागणपति, पराम्बा महात्रिपुरसुन्दरी, उनके महासचिव स्वरूपा श्री बालादेवी श्री मातङ्गी (श्यामादेवी), साम्राज्ञी की दण्डनायिका वाराही देवी और परादेवी की शास्त्रसम्मत एवं चौंसठों उपचारपूर्वक अर्चा (लक्षार्चन) और अमृततुल्य प्रसाद-भंडारा आदि के आयोजन के उपरान्त सायंकाल लगभग तीन घंटे की शिक्षा, कल्प, व्याकरण, साहित्य, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष आदि वेदाङ्गों से सम्बद्ध विषयों पर काशी और बाहर से आमंत्रित निष्णात विद्वानों का समवेत 'ब्रह्मोत्रपर्व' आयोजित होता था। इस आयोजन में गुरुजी उक्त गोष्ठी के लिए निर्धारित विषय का स्वयं प्रवर्त्तन करते और अन्त में अपने विशिष्ट योगदान द्वारा उपसंहार करते। कभी-कभी प्राचीन शैली में शास्त्रार्थ भी होता। एक-दो दिन संस्कृत भाषा में कविगोष्ठी भी हुई। ऐसा लगता था कि काशी में देवी सरस्वती अपने पूर्ण वैभव के साथ स्वयं उपस्थित होकर यह सब कर रही हैं।

इन आयोजनों में गुरुजी का ऋषिरूप पूर्णतः मुखर तथा उजागर होता था। सरस्वती मानो उनकी जिह्वा पर विराज रही हों। इस आयोजन के माध्यम से यह स्पष्ट हो रहा था कि शास्त्रीय ज्ञान-क्षेत्र का कोई भी ऐसा विषय नहीं था, जिस पर गुरुजी के ज्ञान का वर्चस्व स्थापित न रहा हो। एक साथ इतने विषयों का अधिकारिक ज्ञान किसी एक व्यक्ति में होना आश्चर्यजनक है। मुझे गर्व है कि मैं ऐसे बृहस्पति जैसे मनीषी गुरु का दीक्षित शिष्य हूँ।

श्री विद्या साधना और 'श्रीयंत्र' का ६४ उपचारों से अर्जन श्रमसाध्य तो है ही, साथ ही धन-साध्य और समयसाध्य भी है परन्तु गुरु जी ने अपने अद्‌भुत सिद्धि-सामर्थ्य के बल-बूते पर अब तक भारत के भिन्न-भिन्न नगरों में ग्यारह 'कोट्यर्चन सत्रयाग' संपन्न करके सभी को चमत्कृत कर दिया है। उनका यह अभियान किस संख्या पर पहुँच कर विराम कर लेगा, यह या तो पराम्बा भगवती ही जानती हैं या वे स्वयं। मैं जब उन्हें श्रीमद्‌भागवत के किसी भी स्कन्ध के किसी भी अध्याय के श्लोकों के अनूदित चौपाई-दोहों की चर्चा छेड़ता तो वे मूल ग्रन्थ के तत्संबंधित श्लोंको का आनन्द विभोर होकर गान आरम्भ कर देते। अतः मेरी दृढ़ धारणा बन चुकी थी कि श्रीमद्भागवत के सभी १८ हजार श्लोक उन्हें कंठस्थ हैं। इतना ही नहीं मुझे तो लगता है कि उन्हें संस्कृत वाङ्मय का अधिकांश भाग ही कण्ठस्थ है, फिर चाहे वह सूत्रबद्ध हो या श्लोकबद्ध या गद्यमय। कोई भी आगमिक-निगमिक एवं व्यावहारिक शास्त्रीय विषय ऐसा नहीं है, जो उनके करतलगत न हो। अतः मुझे यह कहने में संकोच नहीं है (चाहे कुछ लोग इसे अतिश्रद्धाजनित अतिशयोक्तिपूर्ण उद्‌गार ही क्यों न मानें) कि गुरु जी के अनेक पूर्वजन्मजनित संस्कार अब भी जागृत, सक्रिय एवं विकसमान हैं। अतः कहना पड़ेगा कि—

गुरु परताप कहाँ लगि बरनौं, उक्ती एक न आई।
रसना जो कहिं होय सहस दस, उपमा गाय न जाई।

संत श्रीचरणदास जी की साधना-सिद्ध शिष्या सुश्री दयाबाई जी का तो यहाँ तक कहना है कि—

सतगुरु ब्रह्म सरूप हैं, मनुष भाव मत जान।
देह भाव माने 'दया', ते हैं पसू समान॥

गुरुभक्ता संत सहजोबाई श्री गुरु के माहात्म्य को इन पंक्तियों में कुछ इस प्रकार व्यक्त कर रही हैं—

गुरु बिनु मारक ना चलै, गुरु बिन लहै न ज्ञान।
गुरु बिनु सहजो धुंध है, गुरु बिनु पूरी हान॥
चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, सरसों ना ठहराय।
सहजो कूँ वा देस में, सतगुरु दई बसाय॥

✿

श्रीगुरुसंस्मरण

रीता कुमार
अमेरिका

मेरा अनुभव श्री विद्या साधना पीठ से जुड़ने का १९९६ से हुआ—जब अमेरिका में रहते हुए मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ श्री परम पूज्य—पुण्य चरणों के दर्शन का "श्री विद्यानिवास मिश्र" उनके चरण कमलों में मेरा कोटि-कोटि प्रणाम इन्हें मैं बाऊजी कंह कर पुकारा करती आपके स्नेह से भगवती माँ की कृपा का आभास हुआ और आपके आदेश से भारत आना हुआ—आपने आदेश दिया कि नवम्बर, १९९६ में कोटि अर्चन 'विन्ध्यवासिनी' में सम्पन्न हो रहा हैं उस समय परमगुरु जी की यदि आज्ञा होगी तो मुझे दीक्षा प्राप्त होगी।

वह बड़ा दिन मेरे जीवन का एक बहुत बड़ा अंग बना मैं भारत आई और पंचमी (कार्तिक) में जब कोटि अर्चन हो रहा था—विन्ध्यवासिनी में मुझे दीक्षा प्राप्त हुई। परम पूज्य 'श्री विद्यानिवास जी' द्वारा श्रीविद्या की दीक्षा के समारोह की आज्ञा श्री परम पूज्य परम गुरु दत्तात्रेय नन्द नाथ जी की आज्ञा द्वारा प्राप्त हुई। उनका पहला दर्शन आज भी मेरे मन पर अङ्कित है।

दीक्षासमारोह में मुझे यह अनुभूति होने लगी—यहाँ मैं एक बड़े परिवार से जुड़ने आयी हुई हूँ—मैं बहुत से लोगों एवं आदरणीय जनों से मिली—माँ का अर्चन मैंने ऐसे कभी नहीं देखा था। इसका आभास मेरे जीवन का बहुत अनोखा एवं आनन्दित स्वरूप बना। बार-बार मन में यह लगने लगा कि उसके बाद काशी में आऊँ जल्दी-जल्दी एवं पुण्य क्षणों को फिर से पाऊँ। श्री गुरुदेव के दर्शन व पूजा का संचार बढ़ाऊँ! माँ की कृपा हुई तो कुछ ऐसा ही हुआ : मैं बार-बार हर वर्ष काशी आने लगी—श्री विद्या साधना पीठ एवं बाऊजी का परिवार मेरे परिवार बन गये। पूजा की पद्धति सीखने लगी और नियमों का संचार करने लगी। जैसे भी होता-सहज स्वरूप को ग्रहण करने लगी। हमारे गुरुजी "मुझे दादा" स्वरूप लगने लगें—मैं बाबाजी कह कर पुकारती और ऐसा लगता मानों माँ की पूजा तो बहुत आसान है यदि पूज्य चरणों का आशीर्वाद मिलें तो कोई भी ग्रहण कर सकता है। बाबाजी से प्रत्येक क्षण यही कहती—मेरी पूजा की 'निरन्तरता' बनी रहे और माँ का ध्यान निर्विघ्न पूरा हो। न मुझे संस्कृत का आभास है, न ज्ञान है, पर मुझ जैसे व्यक्ति पर यदि पूज्य गुरु जी एवं पू० बाबाजी का आर्शीवाद ऐसा प्राप्त हैं तो वह सब लोग कितने धनी हैं जो आपकी छत्र छाया में रहते हैं। वही छत्र छाया मैं अमेरिका जा कर महसूस करती हूँ और बार-बार बाबाजी से फोन द्वारा बात करती। मरे गुरु जी का आशीर्वाद हमेशा बना रहता एवं मुझे उन सभी क्षणों का आभास दिलाया जाता जो माँ की पूजा का अन्तरिम अंग हैं। धीरे-धीरे यह योग पूरा होता और माँ 'राज-राजेश्वरी की पूजा को सीखने की सारी सीढ़ियों के चढ़ने का सौपान पूरा होता है। पूजा तो निश्चल घर है जैसे एक गाय अपने बछड़े को देखती हैं और आगे-आंगे चलती हैं वैसे ही हमारी माँ हमारे साथ हैं। वैसे यदि हम पूर्णरूपेण अपने गुरु में समर्पित हो

जायें तो पूजा की विधि एवं अनुभव हमारी निधि बन जाते हैं। एवं भोग एवं योग दोनों की पूर्ति होने लगती है। काशी में पूजा सीखती, अमेरिका आकर अपने परिवार में बच्चों को बताती, उनमें यह संस्कार की कामना करती कि वह भी इस पूजा का अभिन्न अंग बनें एवं डाक्टरी का काम संचालित करें। ऐसा धीरे-धीरे महसूस होने लगा यह सब गुरुकृपा का माँ भगवती का और मेरे विशाल परिवार श्री विद्या साधना पीठ में बड़े गुरुजी का आर्शीवाद मुझे माध्यम बनाकर कुछ भी करा रहा है—मेरा अपना निहित काम मेरा नहीं अपितु सबका है। यह विश्व अपना है इसमें प्रतिक्षण माँ का दिया होता है फिर ज्ञान-ज्ञेय और ज्ञाता का भाव त्रिपुटी बन जाता है—जहाँ 'इच्छा ज्ञान और क्रिया' का सम्मिलित स्वरूप सामने आता है। मन ही मन पूजा पाँच तत्त्वों में बँट पाँच कर्म इन्द्रियों में मिल पाँच तन्मात्राओं में मिल एक स्वरूप हो जाती है। माँ के चरणों में आराधना की तरह चढ़ती जाती है। अपना आभास मिट कर-अपना आत्मस्वरूप एक बड़े आत्मस्वरूप का हिस्सा बन जाता है-माँ की आराधना गुरुकृपा का आर्शीवाद यह मन में गूँजने लगता— जैसे मुझे बाऊजी (पं० विद्यानिवास मिश्र जी) हर समय समझाते—

शरीर और प्राण

प्राण और मन

मन और वाक्

वाक और चित्त

चित्त-व्यष्टि चित्त और समष्टि चित्त

नर-नारायण।

सब एक हैं यहाँ लीला का अखण्ड महायोग है। इसकी प्राप्ति देवी की प्राप्ति है। यही पूजा का साकार स्वरूप और निराकार रूप है इस सोपान की तरफ ज्ञाता एवं गुनना गुरु कृपा का आर्शीवाद है।

बाऊजी बताते

'निज स्वरूप' जब मन वचन कर्म में लीन हो जाओ तो समझो मन पूजा का अधिकारी बनता है। अपचन चित्त चिति बन जाता है।

हमारा छोटा अस्तित्व एक बड़े अस्तित्व के साथ जुड़ जाता है। यहाँ गुरु शृंखला है इसका आभास हमारा लय बन जाता है हमारा हर एक अनुभव बड़ी-बड़ी कड़ी का छोटा हिस्सा बन जाता है। क्यों न हम इस पूजा को अपने अन्दर ऐसे उतार लें और अपने छोटे अहंकार को विलीन कर सकें इन पूज्य चरणों में फिर हम बँट सकेंगे और द्रष्टा की याद से समर्पित हो सकेंगे।

एक समय २०००. में जब महाकुम्भ में हमारे साधना पीठ का शिविर लगा पू० बाबाजी के सान्निध्य में मुझे उस अर्चन का मौका मिला एवं एक ऐसे गहरे अनुभव की प्राप्ति हुई, जिसको अब बाऊजी ने समझाया।

कुम्भ में माँ की पूजा का ऐसा अनुभव है जिसे शारीरिक कुंभ में देखना है। एक सहज भाव को

अपने अन्दर परिवर्तित करना है जो ब्रह्माण्ड है। यही साधना धाम है पर कंचन काया है—इस देह को साधने की ज़रूरत है-इस देह को इन्द्रियों के साथ-मन के साथ बुद्धि के साथ और आत्मा के साथ जोड़ने की जरूरत है—इस देह को कमल के स्वरूप में देखने की जरूरत है। एक ऐसे कमल के रूप में जिसकी नाल जितनी जल के ऊपर है उतनी ही जल के भीतर है जिसकी पुरइन रूपी चित्ति पर पानी की बूँद आती है और ढुलक जाती है, टिकती नहीं, जिसके कोष में से स्रष्टा निकलते हैं, यही आदेश हैं कि मनुष्य अपनी भीतरी चिति की खोज कर एक कमल बना ले। अपने तप से द्रव्य बनाये—उस तप की भावना का स्मरण करे—यही महाकुम्भ का पर्व है, ऐसे पर्व पर यह तप 'श्री विद्या साधना' पीठ की एक कड़ी है—जहाँ तप-तप न लगकर आ० परम पूज्य बाबाजी की कृपा से द्रवित हो जाता है—एक धारा बन जाता है यहाँ ज्ञान की निश्चल धारा का प्रवाह होता है एवं गंगा की तरह गंगा यमुना सास्वती के किनारे सहज बनना-गुप्त बनना सीखता है। माँ की पूजा-नवावरण अर्चन है जहाँ उसको कमल की तरह खोल कर सीखना है नियमों को संभालना है और आनन्द की परिधि में प्रवेश करना है। **यही लक्ष्य हमारे श्री विद्या साधना पीठ** का रहा है। इसकी कृपा के हम तब भागी बन सकते हैं यदि परम पू० आ० स्वामी जी तप को जान सकें, आ० परम पू० बाबाजी (दत्ता त्रेयानन्द नाथ जी) के तप को पहचान सकें उनकी सेवा कर सके उनकी आज्ञा का हिस्सा बन सके। उनके मंत्रों को ग्रहण कर सकें अपने को निर्मल स्वच्छ बना सकें जो इन मन्त्रों को ग्रहण कर एक सेतू की तरह बना लें। मनुष्य और देवता के बीच अपना सम्बन्ध स्थापित कर सके—अपने भीतर सोये हुए देवता को जगा सकें—मंत्र को दीक्षा का वह स्वरूप दें जो माँ की आराधना का सोपान बन सके और श्री विद्या साधना पीठ में बैठकर मन्त्रों के उच्चारण को समझ कर शब्द ब्रह्म से पूर्ण ब्रह्म तक जा सके। महा मन्त्र योग को जान सकें। जब-जब माँ के चरणों में गन्ध, धूप, फूल-दीप नैवेद्य...... एवं ताम्बूल अर्पित करें तो अपने भीतर के सोये हुए भाव को जगा सकें और व्यष्टि से समष्टि की तरफ जा सकें। गणेशवन्दना से समष्टि चित्त की प्राप्ति होती है और माँ की आराधना का साधक अनुभव करने लगता है मेरी माँ सबकी माँ है मेरी पूजा सबकी पूजा है, यह चित्त यहाँ आत्मा-अन्तरात्मा-परमात्मा व्यक्त-अव्यक्त और व्यक्ताव्यक्त प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण, सृष्टि स्थित और संहार विलीन होने लगता है इस सामरस्य की स्थापना होने लगती है अपना निज व्यक्तित्व फैल कर सभी का होने लगता है। इसी चित्त का मुझे पूर्ण रूपेण सौभाग्य प्राप्त हुआ है हम एक ऐसी निधि से जुड़े है जहाँ—परम पू० स्वामी जी का दिक्भाव—परम आ० पूज्य दत्तात्रेय परम गुरु जी यदा रहस्य ज्ञान—एक अनेको संकलित प्रकाशित श्री विद्या साधना पीठ के संकलन—मेरे गुरु श्री विद्या निवास मिश्र का (पद्मविभूषण मनीषी महाचिन्तक) का ज्ञान एक अनुभव साक्षात्कार किया है मैं यदि देवी से प्रार्थना करती हूँ और अर्चना करती हूँ तो सदैव यह भाव रखती हूँ—

"यतो गुरुः शिवः साक्षात् तं स्तुवन् प्रणमन् भजेत्।
यथा देवे तथा मन्त्रे यथा मन्त्रे तथा गुरौ॥
यथा गुरौ तथा स्वात्मनि भरेव क्रमः प्रिये।
गुरु र्न र्त्यो बुध्येत यदि बुध्येत तस्य तु॥

न कदाचित् भवेत् सिद्धि र्मन्त्रैर्वा देवातार्चनैः॥''

परम पू० आ० स्वामी जी (परमेष्ठी गुरु) परम गुरु दत्तात्रेयानन्द जी तथा- सदानन्द नाथ जी (विद्या निवास मिश्र) मुझ को क्षमा करें मुझ पातिन पर अपनी पूर्ण कृपा बनाये रक्खें। यही मेरी आराधना है एवं अनुभव है।)

परम गुरु जी के अमृत महोत्सव पर—निवेदन

''मैं मम गुरु वन्दन करूँ
परम गुरु शिर्वोअर्पण करूँ
परमेष्ठी गुरु प्रार्थना करूँ
मेरी चिति-वचन कर्म से
तन मन धन से समाज सेवा अर्पित करूँ
आदित्य सा प्रकाश पाऊँ
चन्द्रमा सी शीतलता का आभास करूँ
गुरु साक्षात् परब्रह्म बन इस पूजा को स्वीकारे
मुझे निर्देश दे जो चाहते हैं कराना
निहित करें मेरा पूजाकर्म
निर्धारित करें उस कर्मकाण्ड को
जो आगे रचा जाना है या
पूजा की परिधि बनना है
मुझे मुझ से ही व्याप्त करा दें
आत्मतत्व की बागडोर में जो अपने
स्वयम् से निहित नहीं अपितु
सर्वनिहित क्षणों में विलीन हुआ करें
हमारी गुरुशृङ्खला यूँ ही हमारा
मार्गदर्शन करती रहे
त्रुटियों को क्षमा करती रहे
फिर न रह जायेगा कोई
स्वयम् का कर्म एवं

कोई भयभीत क्षण
यही मेरी करबद्ध प्रार्थना है
एक पू० चरणों में
विलीन यह अनुभव मेरा बने।''

✿

सिद्धान्तकौमुदी का तिङन्त प्रकरण

डॉ० पर्णदत्त सिंह,
रीडर,
संस्कृत-विभाग, कला-सङ्काय
का० हि० वि० वि०, वाराणसी

ईसा की पाँचवी शताब्दी से पूर्व पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन का क्रम पाणिनि-प्रोक्त अष्टाध्यायी-सूत्रों के क्रम से ही होता था। इसके उपरान्त पं० भट्टोजि दीक्षित का उदय हुआ। इनके द्वारा रचित सिद्धान्तकौमुदी का प्रचार-प्रसार इतना अधिक हुआ कि पाणिनिसूत्रक्रम का परित्याग कर अध्येतृवृन्द इसी क्रम से व्याकरण को पढ़ने लगा। छात्रों की दृष्टि से यह प्रक्रिया सरल प्रतीत होती थी, क्योंकि इसमें यथाप्रसङ्ग सब सूत्रों का समावेश एकत्र ही है। वर्तमान में इस ग्रन्थ पर प्रौढमनोरमा, बालमनोरमा, तत्त्वबोधिनी आदि अनेक छोटी-बड़ी टीकायें हो चुकी हैं, जिसके कारण यह ग्रन्थ विपुल कलेवर को धारण कर चुका है। वैयाकरण समुदाय में सुख्यात है। इसी विपुलकाय कौमुदी ग्रन्थ के एक भाग का नाम 'तिङन्त प्रकरण' है; जिसे कि स्वयं कौमुदीकार ने **भ्वादिप्रभृतिलकारार्थप्रकरणान्ता** कहकर सम्बोधित किया है।

सिद्धान्त-कौमुदी के तिङन्त प्रकरण का वैशिष्ट्य एवं विषय-क्षेत्र —

तिङन्त प्रकरण में ग्रन्थकार ने परमेश्वर की प्रार्थना करते हुए मंगलाचरण करने के उपरान्त द्वितीय श्लोक में स्वयं घोषणा की है कि 'पूर्वार्ध में चतुर्थ और पञ्चम अध्याय में विद्यमान प्रत्ययों को समाविष्ट किया गया है। अब अष्टाध्यायी के तृतीय अध्यायस्थ प्रत्ययों को कहते हैं[१]।' जो प्रत्यय धातु से विहित

१. पूर्वार्धे कथितास्तुर्यपञ्चमाध्यायवर्तिनः।
प्रत्यया अथ कथ्यन्ते तृतीयाऽध्यायगोचराः॥—द्र० सि० कौ० तिङन्त प्रकरण मङ्गलाचरण श्लोक-२।

हैं, उन प्रत्ययों का समावेश इस प्रकरण में किया गया है। आचार्य ने इस प्रकरण को उत्तरार्ध माना है। इसमें सर्वप्रथम भ्वादि प्रकरण से प्रारम्भ कर इस प्रकरण के अन्त तक एक हजार दस (१०१०) धातुओं की व्याख्या की गयी है। अदादि प्रकरण में बहत्तर (७२) धातुओं का, जुहोत्यादि प्रकरण में चौबीस (२४) धातुओं का, दिवादि प्रकरण में एक सौ चालीस (१४०) धातुओं का, स्वादि प्रकरण में चौंतीस (३४) धातुओं का, तुदादि प्रकरण में एक सौ सत्तावन (१५७) धातुओं का, रुधादि प्रकरण में पच्चीस (२५) धातुओं का, तनादि प्रकरण में दस धातुओं का, क्र्यादि प्रकरण में इक्यावन (५१) धातुओं का, चुरादि प्रकरण में चार सौ दस (४१०) धातुओं का समावेश किया गया है। इस प्रकार इन प्रकरणों में कुल एक हजार नौ सौ तैंतालीस (१९४३) धातुओं की व्याख्या की गयी है। इसके उपरान्त णिच् प्रकरण, सन् प्रकरण, यङ् प्रकरण, यङ्लुक् प्रकरण, नामधातु प्रकरण, कण्ड्वादि प्रकरण, प्रत्ययमाला प्रकरण, आत्मनेपद प्रकरण, परस्मैपद प्रकरण, भावकर्म-तिङ् प्रकरण, कर्मकर्तृ तिङ् प्रकरण, लकारार्थ प्रकरण—इस प्रकार कुल बारह (१२) प्रकरणों का समावेश अन्त में परिशिष्ट रूप में किया गया है। स्पष्ट है कि कण्ड्वादि को धातुपाठ के अन्दर समाहित नहीं माना है; अपितु इसको भी प्रक्रिया के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। यह सुविदिततम तथ्य है कि भट्टोजिदीक्षित को धातुपाठ की व्याख्या करना अभीष्ट नहीं था। कौमुदीकार पाणिनि-प्रोक्त अष्टाध्यायी की व्याख्या में तत्पर हुए; क्योंकि अष्टाध्यायी के तृतीय अध्याय में धातु से विहित सन्, क्यच्, क्यङ्, क्यष्, णिजन्तादि तथा कृत्य, कृदन्त या तिङन्त प्रकरणों का विधान है। ये प्रत्यय धातु से विहित होने के कारण बिना धातु की व्याख्या किये नहीं कहे जा सकते। अतः प्रसङ्गोपात्त धातुपाठ एवं उणादिकोष की भी व्याख्या उन्हें करनी पड़ी। यदि धातुपाठ पर व्याख्या लिखना उन्हें अभीष्ट होता तो शायद पं० दीक्षित कोई विलक्षण हृदयग्राहिणी एवं श्लाघ्य व्याख्या लिखते; किन्तु यहाँ मूल उद्देश्य सूत्रों के प्रयोगों की सिद्धि करके सूत्रों के रहस्य को उद्घाटित करना था, इसलिए धातुगत विषय को समग्रता के साथ नहीं लिया गया। मुख्य रूप से सूत्रव्याख्या का ही ध्यान रक्खा गया है। अतः इस वृत्ति में ही धातुओं की सामान्य रूप से कर्तृप्रक्रिया में व्याख्या की गयी है। अन्य प्रक्रियाओं के विषय में परिशिष्ट प्रकरण में दिङ्मात्र निर्देश है। यद्यपि वृत्ति करते हुए अन्य वृत्तिकारों— माधवादि का भी उल्लेख है[२]। इस वृत्ति में मैत्रेयरक्षित[३], क्षीरस्वामी[४], कैयट्[५], भाष्यकार[६], हरदत्तमिश्र[७], सुधाकर[८], नन्दी[९] आदि अन्य वृत्तिकारों के मतों की समीक्षा भी पदे-पदे प्राप्त

२. द्र० सि० कौ० पृ० - ३३५ धा० ४/११९०, पृ० ३३२ धा० ९/१५१०, पृ० ५/९ नामधातुप्रकरण।

३. द्र० सि० कौ० पृ० - ११० धा० १/२११, प१० १२७ धा० १/३७०१।

४. द्र० सि० कौ० पृ० - १२६ धा० १/३६५, पृ०-३४७ धा० ५/१२५९, पृ० १२६ धा० १/३७१।

५. द्र० सि० कौ० पृ० - ३६१ धा० ६/१४०१, पृ०- १६६ धा० १/७०४, पृ० - ५१९ नामधातुप्रकरण।

६. द्र० सि० कौ० पृ० - ३०८ धा० ३/१००३, पृ० ४६८ यङ् प्रकरणम् पृ०-५९६ यङ्-लुक्प्रकरणम्।

७. द्र० सि० कौ० पृ०-५२० नामधातु प्रकरण, पृ०-१०७ धा० १/०११, पृ०-५२० नामधातुप्रकरण।

८. द्र० सि० कौ० पृ०-३४९ धा० ५/१२७०, पृ० - ३०२ धा० ९/१५१०।

९. द्र० सि० कौ० पृ० १८० धा० १/७७२, ७७३, ७७४।

होती है। **अनेकत्र माधवः भ्रान्तः**[१०] **स्वामी बभ्राम**[११], **माधवोक्तं प्रत्युदाहरणं चिन्त्यम्**[१२] **हरदत्तस्त्वाह एवं न्यासकारः**[१३] इत्यादि वाक्यों को देखने से स्पष्टतया विदित होता है कि प्रस्तुत वृत्ति में जहाँ स्वाभिमत का प्रदर्शन किया गया है, वहीं परकीय मतों की आलोचना व समीक्षा भी की गयी है। भट्टोजिदीक्षित ने इस वृत्ति में इतनी संक्षिप्तता करने का प्रयत्न किया है कि कहीं-कहीं तो क्रमशः कई-कई धातुओं का एक साथ विना कोई टिप्पणी किये ही पाठ किया है[१४] स्यात्; इसके पीछे यह अभिमत रहा है कि इन धातुओं के रूप पूर्ववत् चल जायेंगे, किन्तु ऐसा करने से अनेकत्र अनेक विषय अस्पष्ट एवं अकथित ही रह जाते हैं। प्रायः इस वृत्ति में तिङन्तप्रक्रिया के भी कहीं-कहीं एक-एक ही लकार के रूप दिए गये हैं[१५]। संक्षिप्तता की पराकाष्ठाप्राप्ति तो तब दृष्टिगोचर होती है, जब भट्टोजि मूल धातुमात्र का पाठ करते चले जाते हैं; धातुओं के अर्थ निर्देश भी नहीं करते हैं[१६]।

इस वृत्ति में पदे-पदे व्याकरण की अनसुलझी गुत्थियों को सुलझाने का स्तुत्य प्रयास दृष्टिगोचर होता है। व्याकरण-कारिकाओं के द्वारा, परिभाषाओं के द्वारा अन्य वृत्तिकारों के मतों का उल्लेख करने के द्वारा, उनकी आलोचना एवं समीक्षा करने के द्वारा, इस वृत्ति के वैलक्षण्य को अनेक गुणित समृद्ध किया गया है। इसलिए लघुतारूपी दोष को धारणा करती हुई भी विशेषज्ञतारूपी गुण के कारण निश्चय ही यह वृत्ति उपादेय है। यद्यपि इससे पूर्व अनेक वृत्तियाँ धातुपाठ पर की जा चुकी हैं; फिर भी इसके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता।

प्रस्तुत वृत्ति में आचार्य दीक्षित ने अनेकत्र धातुओं के अर्थों को स्पष्ट करने में कोषग्रन्थों का भी उपयोग किया है। इससे शब्दकोष की दृष्टि से भी यह वृत्ति ग्राह्य बन पड़ी है[१७]। कहीं-कहीं वृत्तिकार यद्यपि भाष्यकार के मत का प्रत्याख्यान करते दृष्टिगोचर होते हैं; किन्तु अनेक स्थलों पर भाष्यकार के मत का समर्थन भी किया है और भाष्यकार के अस्पष्ट स्थल को भी सुस्पष्ट करने का स्तुत्य प्रयास किया है[१८]।

सिद्धान्तकौमुदी के तिङन्त प्रकरण की मौलिकता

व्याकरण-अध्ययन व अध्यापन की परम्परा चिरकाल से अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है।

---

१०. द्र० सि० कौ०

११. द्र० सि० कौ० पृ० - १२६ धा० १/३६५।

१२. द्र० सि० कौ० पृ०-५०८ नामधातुप्रकरणम्।

१३. द्र० सि० कौ० पृ० - ३३५।

१४. द्र० सि० कौ० पृ० ४.२ धा० १०/१७५३ से १७८३ तक, पृ० - १०३ धा० १/१२८ से १५५।

१५. द्र० सि० कौ० पृ०-१२१ धा० १/२५५ से २६६ तक।

१६. द्र० सि० कौ० पृ० -

१७. द्र० सि० कौ० पृ०-२०६ धा० १/८९९, पृ०-२२६ धा० १/९६१।

१८. द्र० सि० कौ० पृ०-२३६ धा० १/९७९, पृ०-३६६ धा० ६/१४३२।

पाणिनीय अष्टाध्यायी में उद्धृत १३ आचार्यों के नाम से तथा सारस्वत आदि व्याकरणों की उपलब्धि से यह स्पष्ट होता है कि व्याकरण शास्त्र का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। पाणिनि व्याकरण से पूर्व भी अनेक वैयाकरण हो चुके हैं—यह ऐतिह्यविदों का सुस्पष्ट अभिमत है। पाणिनि-व्याकरण पर भी अनेक प्रकार की टीकाएँ, वृत्तियाँ, भाष्य एवं विवरणग्रन्थ प्रचुरता से विद्यमान हैं। प्रायः करके प्राचीन वैयाकरणों ने महर्षि पाणिनि के सूत्रक्रम का सम्मान किया है। प्रक्रियाकौमुदीकारों, विशेषतया पं० दीक्षित ने पाणिनि के सूत्रक्रम को खण्डित कर व्याकरण की नई पठन-पाठन की पद्धति का श्रीगणेश किया है। सूत्रक्रम का ह्रास करने से यद्यपि पाणिनीय सिद्धान्तों के अवगमन में, 'पूर्वत्रासिद्धम्' जैसे सूत्रों पर महती विप्रतिपत्ति प्रतीत होती है; पुनरपि इस क्रम का सम्मान किया गया है। इसे सराहा गया और अपनाया भी गया है। सिद्धान्तकौमुदी नामिका इस वृत्ति के तृतीय भाव के रूप में भ्वादि से लेकर लकारार्थ प्रकरण-पर्यन्त तिङन्त प्रकरण का समावेश किया गया है। प्रस्तुत प्रकरण की मौलिकता का स्पष्टीकरण हम निम्न शीर्षकों के माध्यम से कर सकते हैं—

१. भाष्यशैली-प्रदर्शन

वैयाकरणों ने वृत्ति की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'सूत्रार्थप्रधानो ग्रन्थो वृत्तिः' अर्थात् जिसमें सूत्रों के अर्थों की प्रधानता होती है, उन ग्रन्थों को वृत्ति-ग्रन्थ कहते हैं। भट्टोजिकृत सिद्धान्तकौमुदी भी एक वृत्ति-ग्रन्थ है, किन्तु भाष्यपरक 'शब्दकौस्तुभ' टीका लिखने वाले भट्टोजि जैसे महान् वैयाकरण सूत्रार्थमात्र दर्शाकर कैसे सन्तुष्ट रह सकते हैं। जब वह लिखना प्रारम्भ करते हैं तो अनेकत्र वृत्ति-ग्रन्थ में भी शङ्का-समाधानादि करते हुए उसे भाष्यरूप प्रदान करते हैं। एतदर्थ हम अन्तःसाक्ष्य के रूप में कतिपय उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिससे यह विषय पूर्णतया स्पष्ट हो जायेगा कि वृत्तिकार ने किस तरह भाष्यशैली का आश्रयण करते हुए अपने इस ग्रन्थ को महनीय बनाया है—

(क) 'भवेत्' की सिद्धि करते हुए 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' के प्रसङ्ग में कौमुदीकार लखते हैं कि 'लिङादेश परस्मैपदों को यासुट् का आगम होता है, वह उदात्त और ङित् भी होता है। ङित्त्व करने से ज्ञात होता है कि कहीं-कहीं अनुबन्ध कार्यों में भी अनल्विधौ करके प्रतिषेध होता है। श्ना और शानच् का शित्त्व भी यही संकेतित करता है।[१९]'

(ख) 'उस्यपदान्तात्' सूत्र के व्याख्या-प्रसङ्ग में आचार्यश्री लिखते हैं—'अपदान्त' अवर्ण से उत्तर उस् हो तो पूर्व और पर को पररूप एकादेश होता है। यह प्राप्त है, किन्तु परत्व और नित्य के कारण 'अतो येयः' सूत्र ही होगा'—इतना कहने से यह प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। पुनरपि भाष्य-शैली का आश्रयण करते हुए आचार्य ने लिखा है—यद्यपि अन्तरङ्ग होने के कारण यहाँ पररूप ही उचित है, फिर भी 'यास्' इसको 'इय्' आदेश होता है—ऐसी व्याख्या होनी चाहिए। ऐसा करने पर सलोप का अपवाद 'इय्' यह सन्धि आर्ष मानी जायेगी।[२०]

---

१९. द्र० सि० कौ० सू० २/२०९ पृ०-४०।

२०. द्र० सि० कौ० सू० २/२१४ पृ०-४३.

परिगणना करना यहाँ अभीष्ट नहीं है, उपलक्षणमात्र ही दर्शाया जा रहा है। इन उद्धरणों से सुस्पष्ट विदित होता है कि कौमुदीकार ने अनेक स्थलों पर अभिमत को स्पष्ट करने के लिए भाष्य-शैली का भी आश्रयण किया है।

२. परमत-पर्यालोचन :

कौमुदी के प्रणेता आचार्य दीक्षित ने अपनी वृत्ति करते हुए न केवल अपने अभिमत को सुस्पष्ट किया है; अपितु अपने से पूर्ववर्ती क्षीरस्वामी, मैत्रेय, माधवादि के मत का उल्लेख करते हुए उनकी समीक्षा, आलोचना, खण्डन तथा परिहार भी किया है। यह प्रायः प्रत्येक वृत्ति में दृष्टिगोचर होता है कि वृत्तिकार अपने पूर्ववर्ती वृत्तियों का उल्लेख अपने ग्रन्थ में करता है तथा उनकी समालोचना भी करता है। कतिपय उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायेगा कि पं० दीक्षित ने अपने से पूर्व-विद्वानों के मतों का भी उल्लेख किया है।

(क) अदादि गण में 'जक्ष भक्षहसनयोः' धातु के व्याख्या-प्रसङ्ग में 'अजक्षुः' प्रयोग सिद्ध करने के उपरान्त दीक्षित ने लिखा है कि 'यह धातु अन्तःस्थादि है—ऐसा कहता हुआ उज्ज्वलदत्त भ्रान्त है।[२१]' स्पष्ट है यहाँ वृत्तिकार ने जक्ष धातु का उज्ज्वलदत्त द्वारा प्रस्तुत पक्ष मानने पर घोर आपत्ति की है। उनकी यह आपत्ति उचित भी है, क्योंकि 'जक्षत् कीडत् रममाणाः' ऐसा उपनिषद् में जकारादि धातुओं का प्रयोग निर्विवाद है।

(ख) ञिष्विदा गात्रप्रक्षरणे इस धातु की व्याख्या के प्रसङ्ग में पाठ के सम्बन्ध में कौमुदीकार ने लिखा है 'इस धातु को ञि इत् वाली न्यासकार आदि ने पढ़ा है, हरदत्त आदि ने मना किया है।[२२] उल्लेखनीय है कि स्वयं भट्टोजि ने भी इस धातु को 'ञिष्विदा' ऐसा ही पढ़ा है। इस स्थल को देखने से ज्ञात होता है कि यहाँ दीक्षित जी ने विमति-मात्र का उल्लेख किया है। स्वयं का कोई अभिमत प्रकट नहीं किया है, किन्तु 'ञिष्विदा' ऐसा पाठ करने से स्पष्ट है कि वे हरदत्त के मत का समर्थन करते हैं।

(ग) क्षुध बुभुक्षायाम् धातु पर क्षुधित शब्द की सिद्धि के प्रसङ्ग में क्षुधित कैसे बनेगा ? ऐसा प्रश्न करके सर्वप्रथम माधव के मत का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि 'माधव ने क्षुध धातु से 'सम्पदादिभ्यः क्विप्' से क्विप् प्रत्यय करके क्विबन्त से, 'तारकादिभ्य इतच्' से इतच् प्रत्यय करके सिद्ध किया है। वस्तुतः तो **वसतिक्षुधोरिट्** सूत्र से क्षुध् धातु से निष्ठा में इट् का विधान है, अतः क्षुधित शब्द सिद्ध हो जायेगा[२३]। यहाँ दीक्षित ने यद्यपि सायण के मत को प्रत्यक्ष में गलत नहीं ठहराया है; किन्तु पाणिनीय पद्धति से शब्द की सिद्धि दर्शाकर परोक्ष रूप से सायण के मत पर प्रश्नचिह्न अवश्य खड़ा किया है।

---

२१. द्र० सि० कौ० सू० २/१०७१।

२२. द्र० सि० कौ० सू० ४/११८८।

२३. द्र० सि० कौ० धा० ४/११९०।

२४. द्र० सि० कौ० धा० १/८९९।

इसी तरह कौमुदी में पदे-पदे परकीय मतों की समालोचना दृष्टिगोचर होती है। यहाँ उपलक्षणमात्र दर्शाया गया है। समालोचना की चली कर्तनी भाष्यकार, न्यासकार, हरदत्त इत्यादि सभी पर निर्बाध गति से चली है। यह निस्सन्दिग्ध है।

३. कोश-दृष्टि

पं० भट्टोजि दीक्षित ने प्रस्तुत वृत्ति में कोश की दृष्टि से भी इसकी उपादेयता को बढ़ाने का प्रयत्न किया है। अनेकत्र धातुओं का अर्थ करते हुए एक-एक धातु को कई-कई अर्थ प्रदान करते हुए कोश-दृष्टि से इस ग्रन्थ को समृद्ध किया है। इससे छात्रसमुदाय के शब्दभण्डार में वृद्धि होती है। कतिपय उदाहरणों से यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

(क) भ्वादिगण में **'हृञ् हरणे'** धातु पर हरण का अर्थ करते हुए आचार्य ने प्रापण, स्वीकार, चौर्य, और नाश करना—इस प्रकार चार अर्थ दर्शाए हैं।[२४] जहाँ आचार्य ने धातुओं के धातुपाठोक्त मूल अर्थों को नहीं लिखा है, वहीं एक शब्द के अनेक अर्थ लिखना—इस वृत्ति के कोशरूप में परिणयन का ही प्रतीक सिद्ध होता है।

(ख) दिवादिगण में **युज् समाधौ** धातु के व्याख्या प्रसङ्ग में आचार्य ने समाधि का अर्थ करते हुए पतञ्जलि-प्रोक्त योगदर्शन के एक सूत्र 'समाधिश्चित्तवृत्तिनिरोध:' को उद्धृत किया है। यद्यपि वहाँ 'योगश्चित्तवृत्तनिरोध:'[२५] ऐसा पाठ है। यहाँ आचार्य जी ने योग का पर्यायवाची समाधि को ग्रहण करते हुए चित्तवृत्ति के निरोध को ही समाधि कहा है।

इस प्रकार अनेक धातुपाठ की वृत्तियों की विद्यमानता के बाद भी भट्टोजि दीक्षित-प्रोक्त प्रस्तुत वृत्ति का अपना अलग महत्त्व है। जहाँ संक्षिप्तता इसका दोष है, वहीं विषय एवं परमत-पर्यालोचन एवं भाष्य-दृष्टि, कोश-दृष्टि आदि इसके महनीय गुण भी हैं। व्याकरण-सिद्धान्तगत जिस ज्ञान-सरणि का वितान यहाँ हुआ है, वह निश्चय ही उपादेय है। इसके अध्ययन से जहाँ कतिपय भाष्य-स्थल स्पष्ट होते हैं, वहीं अन्य वृत्तियों की समीक्षा से जिज्ञासुओं में शोध-दृष्टि का स्फुरण होता है। धातुओं से निष्पन्न शब्दों की सिद्धि करना यहाँ मुख्य उद्देश्य नहीं है, तथापि शब्दों की सिद्धि करते समय वार्त्तिकों, परिभाषाओं आदि का भी ग्रहण किया गया है। इस वृत्ति का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने से न्याय, पदमञ्जरी, क्षीरतरङ्गिणी, धातुप्रदीप, काशिका एवं महाभाष्य के अध्ययन में सुगमता होगी—ऐसा अध्येताओं का स्पष्टतर अभिमत है।

✿

२५. द्र० सि० कौ० धा० ४/११७७।

निर्वचन-सिद्धान्त-विमर्श

डॉ० आनन्द कुमार श्रीवास्तव
रीडर, संस्कृत विभाग,
का० हि० विश्वविद्यालय, वाराणसी

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुः निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥[१]

छन्द, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा और व्याकरण—इन छः अङ्गों सहित वेदाध्ययन करने वाला ब्रह्मलोक में पूजित होता है। वेदाङ्गों में निरुक्त का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वेदमन्त्रों के अर्थज्ञान में निरुक्त ही साक्षात् सहायक है। अर्थज्ञान की दृष्टि से अन्य वेदाङ्गों की उपयोगिता कम है। शिक्षा का उपयोग मन्त्रों के उच्चारण के लिये है। कल्प मन्त्रों का विनियोग सुनिश्चित करता है। इसी प्रकार व्याकरण, छन्दः और ज्योतिष भी वेदों के उपकारक तो हैं, किन्तु साक्षात् रूप से अर्थज्ञान में सहायक नहीं होते हैं। वेदार्थ-परिज्ञान में निरुक्त के महत्त्व तथा असाधारण वेदोपकारकत्व का अनुमान इससे भी किया जा सकता है कि एक व्याख्या-ग्रन्थ होते हुए भी उसकी गणना वेदाङ्गों में की गयी है और उसके मूलभूत ग्रन्थ 'निघण्टु' को वेदाङ्गों में नहीं रक्खा गया है। किन्तु, निघण्टु की वेदाङ्गों में गणना न होने से उसका महत्त्व न्यून नहीं होता। 'निघण्टु' वैदिक शब्दों का कोश या संग्रह-ग्रन्थ है। इसलिये उसको वेद के ही समान महत्त्व का माना गया है। इसीलिये अपने ग्रन्थ के आरम्भ में यास्काचार्य ने उस 'निघण्टु' रूप वैदिक शब्दकोश के लिये 'समाम्नायः' पद का प्रयोग किया है।[२] लघुशब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट ने प्रारम्भ में लिखा है—'आम्नाय' शब्द वेद का वाचक है। 'आम्नाय-समाम्नायशब्दयो र्वेद एव प्रसिद्धेः'। निघण्टु में एकत्रीकृत शब्द वेद के शब्द है। वे निघण्टु में संगृहीत होकर यद्यपि अपने मूल समुदाय से अलग हो गये हैं, परन्तु यूथ से परिभ्रष्ट गौ भी गौ ही रहती है, इस 'यूथपरिभ्रष्टगवादिन्याय' से उन शब्दों को भी वेदरूप माना जा सकता है।

इसलिये निघण्टु की गणना वेदाङ्गों में नहीं की गयी है, यह कतिपय आचार्यों का मत है। अन्य आचार्य निरुक्त नाम से ही उसके आधारभूत निघण्टु की गणना भी वेदाङ्गों में करते हैं। आचार्य सायण ने निघण्टु को ही निरुक्त पद से अभिहित किया है।[३] क्योंकि यास्ककृत निरुक्त उसी का व्याख्यानग्रन्थ है। सायण ने यास्ककृत निरुक्त को भी निरुक्त ही कहा है।

---

१. पाणिनिशिक्षा—४१-४२.

२. समाम्नायः समाम्नातः, स व्याख्यातव्यः। निरुक्त १/१/१.

३. अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्। .... तदेतन्निरुक्तं त्रिकाण्डम्। .... पञ्चाध्यायरूपकाण्डत्रयात्मक एतस्मिन् ग्रन्थे परनिरपेक्षतया पदजातस्योक्तत्वात्तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्वम्।—सायणकृत ऋग्वेदभाष्यभूमिका, पृ० १३१, १३३.

वेदों का अर्थानुशीलन अत्यन्त प्राचीन काल से ही एक दुरूह कार्य रहा है। प्राचीनता के कारण भावों की गंभीरता और भाषा की समस्या का वास्तविक आकलन बहुत कठिन हो गया है। वेदार्थ-पर्यालोचन और उसके गंभीर भावों की गुत्थी को सुलझाने का प्रशंसनीय प्रयास प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। इस सम्बन्ध में यास्क की ये पंक्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः, तेऽवरेभ्यो असाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वेदं च वेदाङ्गानि च।[४]

अर्थात् ऋषियों ने धर्म का साक्षात्कार किया। वेदार्थ को स्वयं समझने लेने वाले ऋषि हुए। जब आगे के लोगों में यह सामर्थ्य कम हो गयी तो उन साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने धर्म का साक्षात्कार करने में असमर्थ अपने बाद के लोगों को उपदेश द्वारा मन्त्रों को प्रदान किया। उस उपदेश से ग्रहण करने में असमर्थ बाद के लोगों ने वेदार्थ को स्पष्टरूप से ग्रहण कर सकने के लिए इस ग्रन्थ अर्थात् निघण्टुरूप वैदिककोश को लिपिबद्ध किया। साथ ही, वेद और वेदाङ्गों को भी लिपिबद्ध किया।

इस प्रकार कि ऋषियों ने विशिष्ट तपस्या के बल पर धर्म का साक्षात्कार किया था। इन्होंने जब अर्वाचीन काल में धर्म का साक्षात्कार न कर सकने वाले ऋषियों को देखा, तो उनके हृदय में नैसर्गिक करुणा जाग पड़ी और इन्हें मन्त्रों का उपदेश ग्रन्थतः तथा अर्थतः दोनों प्रकार से किया। प्राचीन ऋषियों ने श्रवण के विना ही धर्मों का साक्षात् दर्शन किया था। अतः द्रष्टा होने के कारण उनका 'ऋषित्व' स्वतः सिद्ध था, परन्तु पिछले ऋषियों ने पहले मन्त्रों का ग्रन्थ तथा अर्थरूप से श्रवण किया और इसके पश्चात् वे धर्मों के दर्शन में कृतकार्य हुए। अतः श्रवणानन्तर दर्शन की योग्यता सम्पादित करने के कारण इनका उपर्युक्त अभिधान 'श्रुतर्षि' रक्खा गया। इन्हीं श्रुतर्षियों ने मानवों के कल्याणार्थ वेदार्थ समझने के उपयोगी शिक्षा-निरुक्तादि वेदाङ्गों की रचना की। इस प्रकार अर्वाचीन काल के मनुष्य दुरूहता का दोषारोपण कर वेदार्थ को भूल न जायँ और न वे वेदमूलक आचार तथा धर्म से मुँह मोड़ बैठें, इस उन्नत भावना से प्रेरित होकर प्राचीन ऋषिगण वेदार्थ के उपदेश करने में सतत जागरूक थे।'[५]

वेदार्थ-परिज्ञान के लिये प्रथम प्रयास कौन-सा है? यह कहना कठिन है। वेदार्थ करने के प्रथम प्रयास के रूप में 'निघण्टु' का नाम लिया जा सकता है। शिक्षा और प्रातिशाख्य-ग्रन्थों की रचना इसी समय या उससे भी पहले की मानी जा सकती है। इन ग्रन्थों में भी वैदिक भाषा के कठिन पदों, स्वरों और सन्धियों के अनुशीलन की ओर ही ध्यान दिया गया है। साक्षात् रूप से पदों के अर्थों की विस्तृत योजना का अधिक गौरवशाली ग्रन्थ यास्करचित निरुक्त ही है। इस ग्रन्थ में अनेक ज्ञातव्य विषयों पर प्रकाश डाला गया है। यास्क ने स्थल-स्थल पर आग्रायण, औपमन्यव कात्थक्य, शाकटायन, शाकपूणि, शाकल्य, औदुम्बरायण, और्णवाभ, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, चर्मशिराः, तैटीकि, शतवलाक्ष, स्थौलाष्ठीवि, कौत्स और वार्ष्यायणि—इन सत्रह निरुक्ताचार्यों तथा ऐतिहासिक, परिव्राजक, नैदान, वैयाकरण और

४. निरुक्त १/६/२०.

५. आचार्य बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० ७५, १९७३.

याज्ञिक आदि नैरुक्तों से भिन्न अन्य आचार्यों अथवा व्याख्या-सम्प्रदायों का उल्लेख अपने निरुक्त में किया है। यास्क के इस उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि आज का उपलब्ध यांस्ककृत निरुक्त ही एकमात्र निरुक्त नहीं है; किन्तु उसके पूर्व भी अनेक निरुक्त बन चुके थे, जो दैवदुर्विपाक से आज नहीं मिलते हैं। यास्काचार्य के अतिरिक्त 'ब्राह्मण' ग्रन्थों में भी निरुक्त अथवा निर्वचन नाम से अनेक शब्दों के निर्वचन पाये जाते हैं, इसलिये शब्दों के निर्वचन की इस विषय शैली का नाम निरुक्त है और इसी शैली के अनुसार यास्क ने वैदिक मन्त्रों का अर्थ करने का कठिन उद्योग किया है।

शब्दों की व्युत्पत्ति की दृष्टि से तीन प्रकार के विभाग किये जा सकते हैं—(१) प्रत्यक्षवृत्ति, (२) परोक्षवृत्ति और (३) अतिपरोक्षवृत्ति। धातु और प्रत्यय आदि का विभाजन जहाँ स्पष्ट ज्ञात होता है, वे शब्द प्रत्यक्षवृत्ति शब्द हैं। जैसे—कारकः, पाचकः, हारकः आदि। जिन शब्दों में धातु-प्रत्ययादि का विभाग पूर्णतया स्पष्ट नहीं होता है, उनको परोक्षवृत्ति शब्द कहते हैं। जहाँ धातु-प्रत्यय आदि का विभाग बिल्कुल प्रतीत नहीं होता है, सर्वथा कल्पना से प्रतीत होता है, उनको 'अतिपरोक्षवृत्ति' शब्द कहते हैं। इन तीनों प्रकार के शब्दों में 'प्रत्यक्षवृत्ति' शब्दों का निर्वचन करने में कोई कठिनाई नहीं होती है। 'परोक्षवृत्ति' शब्दों का निर्वचन भी सरलता से हो सकता है, परन्तु 'अतिपरोक्षवृत्ति' शब्दों के निर्वचन में बहुत कठिनाई होती है।

यह तीन प्रकार का शब्द-विभाजन केवल निरुक्त में ही नहीं, सर्वत्र माना जाता है, किन्तु उनके नाम और स्थान भिन्न-भिन्न हैं। साहित्य आदि अन्य शास्त्रों में जो यौगिक, योगरूढ़ और रूढ़ नाम से शब्दों का तीन प्रकार का विभाग किया गया है, वहीं यहाँ प्रत्यक्षवृत्ति, परोक्षवृत्ति और अतिपरोक्षवृत्ति नामों से बताया गया है। इन तीन प्रकार के शब्दों में से व्याकरण का क्षेत्र सामान्यतः 'प्रत्यक्षवृत्ति' अर्थात् यौगिक शब्दों तक सीमित है। अष्टाध्यायी के सूत्र किसी धातु से अथवा किसी प्रातिपदिक से किसी विशेष प्रत्यय का विधान कर शब्द की सिद्धि करते हैं। जिन पदों में यह प्रकृति और प्रत्यय का विभाग प्रायः स्पष्ट हो जाता है, वे ही प्रत्यक्षवृत्ति या यौगिक पद कहे जाते हैं। अष्टाध्यायी के सूत्रों के अनुसार बनने वाले सभी पदों में प्रकृति-प्रत्यय का विभाग प्रायः स्पष्ट हो जाता है, इसलिये वे सब प्रायः 'प्रत्यक्षवृत्ति' शब्द होते हैं। यहाँ व्याकरणानुमोदित संस्कारों का पूर्ण समादर होता है। व्याकरण स्वयं अर्थ की प्रधानता को स्वीकार करते हुए प्रकृति-प्रत्यय की योजना करता है। यह अष्टाध्यायी का क्षेत्र है।

संस्कृत-भाषा की प्रभूत शब्दराशि अष्टाध्यायी के आधार पर सिद्ध हो जाती है, किन्तु तब भी भाषा का बहुत बड़ा शब्द-समूह ऐसा प्राप्त होता है, जो अष्टाध्यायी के सूत्रों से नियन्त्रित नहीं हो पाता। ऐसे शब्द-समूह के लिए आचार्य पाणिनि ने 'उणादयो बहुलम्'[६] सूत्र लिखकर इस प्रकार के शब्दों को अष्टाध्यायी के सूत्रों के बन्धनों से मुक्त कर दिया है। इस प्रकार के शब्दों में मुख्य रूप से 'परोक्षवृत्ति' तथा सामान्य रूप से अन्य शब्दों का अन्तर्भाव होता है। पाणिनि-मुनि के इस 'उणादयो बहुलम्' सूत्र की पूर्ति शाकटायनप्रणीत पाँच पादों में विभक्त किये हुए ७४८ उणादिसूत्रों के द्वारा होती है। इन उणादिसूत्रों

६. पाणिनि ३/३/१.

के द्वारा जिन शब्दों की सिद्धि होती है, उनमें भी प्रकृति-प्रत्यय का विभाग तो होता है, परन्तु वह उतना नियमों से बँधा हुआ नहीं है, जितना कि अष्टाध्यायी के सूत्रों द्वारा किया जाने वाला विभाग। इसीलिये इन्हें 'परोक्षवृत्ति' शब्द कह सकते हैं। उणादि से सिद्ध होने वाले पदों में धातु, प्रत्यय, अनुबन्ध आदि की कल्पना आवश्यकता अथवा प्रयोग के अनुसार की जाती है। अष्टाध्यायी-जैसे कठोर नियमों का अनुसरण वहाँ सम्भव नहीं है। व्याकरण महाभाष्यकार ने ही परोक्षवृत्ति शब्दों को व्याकरण के कठोर बन्धनों से मुक्त कर दिया है। इसलिये उनमें भी व्याकरण संस्कारों की गौणता हो जाती है और वह गौणता व्याकरण के विपरीत नहीं, अपितु व्याकरणानुमोदित है। इस प्रकार परोक्षवृत्ति तथा अपरोक्षवृत्ति लौकिक शब्दों में व्याकरण ने स्वयं व्याकरण-संस्कार की गौणता को स्वीकार कर लिया है। अतः इस प्रकार के वैदिक शब्दों को तो स्वतः सिद्ध मानना चाहिये।

प्रत्यक्षवृत्ति और परोक्षवृत्ति शब्दों से भिन्न तीसरे प्रकार के शब्द और हैं, जिन्हें अतिपरोक्षवृत्ति शब्द कह सकते हैं। पाणिनि ने इनको उणादि के क्षेत्र से भी अलग करके 'पृषोदरादि' के क्षेत्र में रखा है। इस प्रकार के शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय आदि की चिन्ता किये बिना 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्'[७] सूत्र लिखकर, वे जिस रूप में लोक में प्रयुक्त होते हैं उसी रूप में उनको सिद्ध मान लिया है। ऐसे पदों में अर्थ की प्रधानता को ध्यान में रखकर आवश्यकता के अनुसार वर्ण का आगम, विपर्यय अर्थात् पौर्वापर्यरूप क्रम का परिवर्तन, वर्ण का लोप और वर्ण का विकार अर्थात् किसी वर्ण के स्थान पर अन्य वर्ण का आदेश आदि अनेक प्रकार के परिवर्तन हो जाते हैं। उदाहरणार्थ मेघ का वाचक 'बलाहक' शब्द लोक में प्रचलित है। इस शब्द में प्रकृति-प्रत्यय का कोई विभाग प्रतीत नहीं होता है। न तो यह उणादि के क्षेत्र में आता है। इसलिये यह 'अतिपरोक्षवृत्ति' शब्द है और 'पृषोदरादिगण' के क्षेत्र में आता है। अतः उसके अर्थ की प्रधानता को ध्यान में रखकर 'वारिवाहक' शब्द से उसके 'बलाहक' रूप की सिद्धि होती है। इसमें पूर्व पद 'वारि' के स्थान पर 'ब' और उत्तरपद के 'वा' के स्थान पर 'ला' आदेश होकर 'वारिवाहकः' से 'बलाहकः' रूप बन जाता है। 'पृषोदरादिगण' आकृतिगण हैं। अतिपरोक्षवृत्ति शब्द पृषोदर के समान सभी अतिपरोक्षवृत्ति शब्दों का उसमें अन्तर्भाव हो जाता है। इस गण में किस प्रकार के शब्दों को लिया जाना चाहिये, इसका प्रतिपादन महाभाष्यकार ने इस प्रकार किया है—

येषु लोपागमवर्णविकाराः श्रूयन्ते न चोच्यन्ते तानि पृषोदरादिप्रकाराणि।

अर्थात् जिनमें लोप, आगम, वर्णविकार अर्थात् आदेश और क्रम-विपर्यय आदि सुनाई देते हैं, किन्तु किसी सूत्र के द्वारा उनका विधान नहीं किया जाता है, वे शब्द 'पृषोदरादि' के समान अर्थात् 'पृषोदरादिगण' के अन्तर्गत समझे जाते हैं। इस प्रकार प्रकृति-प्रत्यय के स्पष्ट विभाग 'प्रत्यक्षवृत्ति' शब्द अष्टाध्यायी के क्षेत्र में आते हैं। जिन शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय विभाग होने पर भी अस्पष्ट-सी प्रतीत होती है, वे 'परोक्षवृत्ति' शब्द उणादिगण के क्षेत्र में आते हैं और जहाँ प्रकृति-प्रत्यय का विभाग बिल्कुल प्रतीत नहीं होता है, वर्णों का लोप, आगम, वर्णविकार और क्रमविपर्यय आदि किया जाता है, परन्तु

७. पाणिनि ६/१/१०९.

किसी सूत्रादि से उसका विधान नहीं मिलता है, वे सब 'अतिपरोक्षवृत्ति' शब्द हैं और निरुक्त के क्षेत्र में आते हैं। निरुक्त का क्षेत्र यहीं से आरम्भ होता है। निरुक्त पर दुर्गाचार्य ने वृत्ति में कहा है—

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥

इस प्रकार जहाँ व्याकरण की सीमा समाप्त होती है, वहीं से निरुक्त का क्षेत्र प्रारम्भ होता है। इसीलिये आचार्य यास्क ने निरुक्त को व्याकरण की पूर्ति करने वाला कहा है—

तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकञ्च[८]।

अर्थात् यह निरुक्त नामक विद्यास्थान व्याकरण का पूरक और स्वप्रयोजन वेदार्थज्ञान का साधक है।

आचार्य यास्क के निरुक्त शब्दों के निर्वचन प्रारम्भ करने के पूर्व[९] निर्वचन के सामान्य नियमों का महत्त्वपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है, जिनके आधार पर नैरुक्त-पद्धति से मन्त्रार्थ का परिज्ञान होता है। निरुक्त-ग्रन्थ का शेष भाग इन्हीं नियमों का परिबृंहण है। निर्वचन के छः मौलिक सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

१. तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्।

जिन पदों में उदात्तादि स्वर और प्रकृति-प्रत्यय का विभाग (संस्कार) व्याकरण के नियमों से समर्थित और अर्थानुगामी (समर्थ) हो उन (प्रत्यक्षवृत्ति शब्दों) का उसी प्रकार से (व्याकरण प्रक्रियानुसारी) निर्वचन करना चाहिये।

२. अथानन्वितेऽर्थे अप्रादेशिके विकारे अर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन।

जिन पदों में धातु-प्रत्यय के साथ स्पष्ट रूप से अर्थ का सम्बन्ध न प्रतीत हो; व्याकरणानुकूल परिवर्तन (प्रादेशिक विकार, प्रदिश्यन्ते साध्यन्ते शब्दा अनेन इति प्रदेशो व्याकरणम्, उससे प्रतिपादित लोप, आगम, आदेश आदि परिवर्तन-विकार स्पष्ट रूप) से न पाये जाते हों, वहाँ अर्थ को प्रधान मानकर निर्वचन की परीक्षा करे अर्थात् निर्वचन करे। किसी भी प्रकार की वृत्ति-लोप, आगम, आदेश आदि की समानता से निर्वचन करे।

३. अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यन्निर्ब्रूयात्।

प्रकृति-प्रत्यय, लोप, आगम, आदेश आदि की कोई भी समानता न रहने पर अक्षर और वर्ण (स्वर या व्यञ्जन) की समानता से ही निर्वचन करे।

४. न त्वेव न निर्ब्रूयात्।

---

८. निरुक्त, १/१४.

९. निरुक्त, २/१.

निर्वचन न करे, ऐसा कभी नहीं करना चाहिये। निर्वचन अवश्य करना चाहिए।

५. न संस्कारमाद्रियेत। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति।

निर्वचन में व्याकरणानुसार होने वाले संस्कार की चिन्ता न करे, क्योंकि व्याकरण के अनुसार होने वाले प्रकृति-प्रत्यय, लोप, आगम आदि रूप वृत्तियाँ भी अनेक स्थलों पर अत्यन्त सन्देहात्मक होती हैं।

६. यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्।

अर्थ के अनुसार विभक्तियों में परिवर्तन (व्यत्यय) भी कर लेना चाहिये।

यास्ककृत उपर्युक्त नियमों में एक महत्त्वपूर्ण नियम है—'न संस्कारमाद्रियेत'। इसका तात्पर्य यह है कि निर्वचन-प्रक्रिया में आवश्यकतानुसार व्याकरण के द्वारा होने वाले शब्द-संस्कार का आदर न करे अर्थात् उसकी चिन्ता न करे। यह नहीं सोचना चाहिये कि यह शब्द व्याकरण से कैसे बनेगा? बनेगा भी या नहीं? इस बात की चिन्ता किये बिना 'अर्थनित्यः परीक्षेत' अर्थ को प्रधान मानकर निर्वचन करना चाहिए। जिस मार्ग से अपेक्षित अर्थ प्राप्त हो सकता हो, उसके अनुसार निर्वचन करे। 'व्याकरण द्वारा होने वाले शब्द-संस्कार की चिन्ता न करने की जो बात कही गयी है, वह व्यर्थ नहीं है। उसका शास्त्रसम्मत आधार है'[१०] इसी के समर्थन में 'विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति' यह पंक्ति आयी है। अतः व्याकरण की वृत्तियाँ विभिन्न प्रकार की होती हैं और सन्देहात्मक भी होती हैं। इसलिये निर्वचन करते समय व्याकरण के बन्धनों से भयभीत नहीं होना चाहिये। इसके समर्थन में यास्क ने व्याकरण के नियमों के अनुसार होने वाले लोप, वर्णविकार, आद्यन्त विपर्यय आदि की ११ वृत्तियों को उदाहरणों द्वारा प्रदर्शित किया है।[११]

निर्वचन निरुक्त का प्रथम प्रयोजन है, इसलिये यास्क ने समस्त नामों को आख्यातज माना है—

तत्र नामानि आख्यातजानि इति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च।

समस्त नाम आख्यातज (यौगिक) हैं। यह शाकटायन (उणादिकार वैयाकरण) और नैरुक्तों का सिद्धान्त है।

सभी नामों के आख्यातज अथवा यौगिक होने के कारण उनके अवयवार्थों का निरूपण करना ही निवर्चन है। इस बात को आचार्य सायण ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

एकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्थास्तत्र निःशेषेण उच्यन्ते इति।[१२]

अर्थात् निर्वचन में प्रत्येक पद के सम्भावित अवयवार्थों का पूर्णतया निरूपण किया जाता है।

इस प्रकार आचार्य यास्ककृत निरुक्त में हमें वेदार्थावबोध की कुञ्जी प्राप्त होती है। सायण ने अपने

---

१०. आचार्य विश्वेश्वर द्वारा सम्पादित निरुक्त, पृ० - १३२.

११. निरुक्त, २/९.

१२. सायण, ऋग्वेदभाष्यभूमिका, पृ० १३३.

भाष्यों में यास्क़कृत मन्त्र-व्याख्या को पूर्ण आदर प्रदान किया है तथा स्थान-स्थान पर निरुक्त की पूरी व्याख्या को उद्धृत किया है। निर्वचन के नियमों की सहायता से गूढ़ मन्त्रार्थ सभी वेद-पाठकों के लिये बोधगम्य हो जाता है।

✿

वैदिक अभिनयदर्शन का संस्कृत नाट्य-परम्परा में सातत्य-विमर्श (यजुर्वेद के परिप्रेक्ष्य में)

डॉ० कौशलेन्द्र पाण्डेय
रीडर-सं० वि० ध० वि० संकाय
का० हि० वि० वि०, वाराणसी

वैदिक वाङ्मय से लौकिक संस्कृतसाहित्य (काव्य) की अविच्छिन्नता का निर्देश करने वाले अनेक प्रमाण हैं, जिन्हें हम ऋषि-मुनि-कवि मन्त्र एवं कविता या काव्य के रूप में पहचानने का प्रयत्न करते रहे हैं। वेदों को मनुष्य के द्वारा जान लिया जाना तथा लौकिक संस्कृत में कविता (साङ्गोपाङ्ग काव्य-दृश्य-श्रव्यादि भेदसहित) की रचना का होना, ये दोनों ही मानवीय मस्तिष्क की सहज चेतन क्रिया के दो पक्ष हैं। एक 'अभिव्यक्त' (अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञानगम्य ब्रह्माण्डपिण्ड) का बोध है तथा दूसरा 'बोध की अभिव्यक्ति' है। वेद के लिए 'अभिव्यक्ति का बोध' जैसा कहना, कदाचित् कतिपय विद्वानों के क्षोभ का कारण हो सकता है, जो वेदों के पौरुषेयत्व के समर्थक हैं और उन विद्वानों को भी खटक सकता है, जो अपौरुषेयत्व के पक्षधर हैं। प्रथम पक्ष के विद्वान् इसलिए कि उनकी दृष्टि में वेद भी मनुष्य

की अभिव्यक्ति ही हैं; दूसरे लोग इसलिए कि वेदों को परिभाषित करने का यह साहस कैसे? तो मेरा विनम्र निवेदन दोनों ही पक्षों से है कि मेरा यह प्रयत्न 'वेद' और 'काव्य' के उस शाश्वत सम्बन्ध को समझने के लिए है, जिससे विराट् पुरुष क्षुद्रार्थिव पुरुष के रूप में अपने-आपको सृष्ट करता है, प्रकाशात्मक अक्षर (ब्रह्म) स्थूल विवर से ध्वनित होता रहता है। ब्रह्मतत्त्वज्ञान ब्रह्माण्ड के विज्ञानतत्त्व के रूप में लोक में जाना जाता है, जिससे अणु से महत् या महत् से अणु है। सारांशत: यदि ईश्वर है तो उसका 'ऐश्वर्य' लोक में किस प्रकार स्थापित होता है—यह जानने के लिए है। यद्यपि यह सच है कि कुछ ही समय में या कुछ वर्षों में या एक ही जन्म में इस 'विराट् वस्तु' को जानना सम्भव नहीं है तथापि जिस प्रकार समुद्रतट पर खड़े होकर समुद्रदर्शन करके यह सन्तोष हो जाता है कि मैंने समुद्र को जान लिया, कुछ इसी प्रकार ब्रह्म या ईश्वर और उसके ऐश्वर्य के स्थूल अंश के बोधमात्र से सन्तोष होता है। यह बोध अर्थात् ज्ञान स्थूल प्रपञ्चात्मक रूप में शब्द से होता है।

इस प्रकार परमतत्त्व को लोक के लिए बताने-समझाने तथा प्राप्त करने का कार्य काव्य-परम्परा के द्वारा किया जाता रहा है, जिसका आरम्भ वाल्मीकि से लेकर भरतमुनि से होते हुए कालिदास-भवभूति-प्रभृति से वृद्धि को प्राप्त होकर आज भी विद्यमान है। यह काव्य-परम्परा निगम और आगम का लौकिक रूप तो है ही; लेकिन इसी के साथ अन्य भी सभी विद्याओं का साररूप है। अत: वेदों का और अन्य समस्त शास्त्रों का लोकोपकारक पल्लवन और प्रतिफलन रूप ही काव्य है। महर्षि वाल्मीकि एक ओर जहाँ वैदिक ब्रह्मतत्त्व का तात्त्विक निरूपण काव्य के माध्यम से कर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर वेदों से नि:स्यूत पञ्चम वेद 'नाट्य' का उपस्थापन भरतमुनि कर रहे हैं। एक का निर्वचन गूढ़ रहस्यात्मक होकर भी श्रव्य के रूप में लोकग्राह्य है तथा दूसरे का निरूपण लोक की भाषा में लोक के ही ढंग से उसकी (लोक की) मूढ़ता-हताशा-निराशा के अपसारणार्थ प्रत्यक्षतया किया, वह भी सरस ढंग से, मधुर ढंग से किया जा रहा है। उभयत्र प्रतिपाद्य रस ही है 'रसो वै स:'। प्राप्तव्य फल मोक्ष है, जो कि इस ब्रह्म के रूपों से मिलने वाला है। रामायण के 'राम' भी निश्चित रूप से वैदिक राम ही हैं; जिन्हें चतुष्पाद ब्रह्म के रूप में रूपायित किया गया है। शतपथ ब्राह्मण का उद्धरण यहाँ दर्शनीय है—

एतद्य: सर्व: कृत्स्नो मन्यते गायति वैव गीते वा रमते।

(शतपथ ब्राह्मण ६/१/१/१५)

यही गायत्री ब्रह्म राम है, जिसके लिए 'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति राम:' कहते हैं और जिसके जप का अतिशय महत्त्व वर्णित है। प्रसिद्ध किंवदन्ती के अनुसार वाल्मीकि के लिए भी कहा जाता है—

उल्टा नाम जगत जप जाना, वाल्मीकि भए ब्रह्म समाना।

चतुष्पाद ब्रह्म का अभिप्राय शुद्ध त्रिपादामृत स्वरूप (त्रिपादस्यामृतं दिवि त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुष:) के साथ ज्योतिरूप भौतिकात्मा सोम चौथे पाद के रूप में है। योगी को यही ज्योति इस शरीर से मिल सकती है, किन्तु उसे त्रिपाद ब्रह्म के लिए इस शरीर को छोड़ना पड़ता है, किन्तु इनका कुछ ऐसा सम्बन्ध हो जाता है कि जहाँ-जहाँ त्रिपाद की चर्चा होती है, वहाँ सोम की चर्चा हो ही जाती है। यह

सोम भी वह सोम नहीं है, जिसे बाद में सील-बट्टे पर पीसकर वैदिक लोग सोमपा भी हो जाते थे। त्रिपाद का एक और सम्बन्ध त्रिपाद गायत्री से भी है, जिसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका देखी जाती है।

अतः यहाँ जिस ब्रह्म की राम के रूप में चर्चा चली आ रही है, उसे दूसरे शब्दों में विद्वान् 'अवतार' कहते है। ब्रह्म का यह अवतारी रूप 'रूपक' ही तो है। इसे भला और क्या कह सकते है। यह मेरी व्यक्तिगत धारणा नहीं है; अपितु वैदिक सन्दर्भों के अनुसार ही विचार है। राम पर ब्रह्म का आरोप करते हुए राम को ब्रह्म से अभिन्न बताते हुए राम को ही ब्रह्म कहना, फिर राम को ब्रह्म का अवतार कहना और फिर अन्त में राम द्वारा भौतिक शरीर का त्याग कर दिए जाने की बात कहना स्पष्ट रूप से अनुकार्य-अनुकर्त्ता (नट) के बीज हैं। भूमण्डल रंगमंच होता है। युग इस रूपक का निर्धारित समय है। राम का भौतिक शरीर कहीं न कहीं ब्रह्म के लिए आहार्य अभिनय का भी बीज है। ब्रह्म का अभिनय ही तो है यह सब। पुनः यहाँ एक प्रश्न खड़ा हो जायेगा कि फिर 'अवतार' का उद्देश्य क्या है? इस ब्रह्म रूपक का औचित्य क्या है? तो इस सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि—'अवतार' के चार प्रमुख पक्ष समझे गये हैं—१. अधिदैव, २. अध्यात्म, ३. अधिभूत तथा ४. अधियज्ञ।

१. अधिदैव—अमृतमय प्राण शरीरी की दैवी चर्या का चरित्र है। विभिन्न दैवी शक्तियों से विभूषित होकर मर्यादा की स्थापना करता है।

२. अध्यात्म—अमृतमय शरीर है, प्राणमय शरीर है और जन्म-मृत्युचक्र का रचनाकार है।

३. अधिभूत—अधिदैव से प्रतिकूल आचरण करते हुए आसुरी शक्तियों का विनाश उन्हीं की पद्धति से करता है।

४. अधियज्ञ—उपर्युक्त तीनों शक्तियों के स्वरूप को जागृत करने का—प्रतिष्ठित करने का निःश्रेयसीय मार्ग है। अस्तु;

राम के साथ सोम का होना ऊपर कहा गया है; कालान्तर में यह सोम (चतुर्थ कलारूप) विद्वानों के रूपकीय बुद्धि से चन्द्र के रूप में जाना जाने लगा। परिणामतः रामचन्द्र, कृष्णचन्द्र जैसे प्रयोग इन अवतारी पुरुषों के लिए होने लगे। रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि की अविच्छिन्नता में ही संस्कृत साहित्य भी राम-कृष्ण से पूर्ण हो गया।

अब यहाँ थोड़ी-सी चर्चा सोम[1] की भी की जानी अपेक्षित प्रतीत होती है; क्योंकि 'सोम' के साथ अभिनय का सम्बन्ध आरम्भ में ही अर्थात् संहिताकाल में ही हो गया था। उस समय अन्य तत्त्वों के साथ इस प्रकार की अभिनयात्मक व्यवस्था नहीं ही रही होगी, ऐसी मेरी अवधारणा है; क्योंकि 'सोम' के अतिशय महत्त्व और सोम के कर्मकाण्डपरक भी हो जाने से इसके वास्तविक रहस्य से अनभिज्ञता ने इसके दो पक्ष बना दिए—१. आध्यात्मिक सोम और २. याज्ञिक सोम। यहीं से सोम के साथ रूपक और अभिनय दोनों के दरवाजे खुल जाते हैं। यह कैसे? यह विचारणीय है। यज्ञ में सोम के प्रतिनिधि के लिए

१. अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ (अथर्व० १०/१/३)

पाँच वस्तुओं का प्रयोग करने का संकेत है। (१) व्रीहि (गोधूम), (२) यव, (३) दधि, (४) सोम, (५) करीर। इनमें प्रथम तीन से निर्मित 'रस' गवाशिरं, यवाशिरं तथा दध्याशिरं कहे जाते हैं, आसव भी कहे जाते हैं, जबकि बाद के दो सील-बट्टे पर घोट-पीसकर पेय बनाये जाते थे। इस 'आरोपित' सोम से या रस से उस परम तत्त्व या परम ज्योति के साक्षात्कार का होना बताया जाता था। इस प्रकार इस रस से होने वाली 'मस्ती' ने याज्ञिक कर्मकाण्डियों को पर्याप्त प्रभावित किया और 'रसो वै सः' की रहस्यात्मकता एक ओर धरी रह गई और प्रतीकात्मक सोम रसरूपा और असली सोम में ऐसा अभेद हो गया कि एक 'रूपक' यहाँ भी बन गया। इसी रूपक का विस्तार बाद में 'सोम क्रय' के रूप में देखने में आता है। यह भी एक 'उपचार' था। उपर्युक्त पाँच वस्तुएँ सोम के सन्दर्भ में व्यायायित हैं—

स इमाँ पृथिवीं प्रविवेश तं सनन्त इवान्नीयुस्तमन्वविन्दंस्ताविमौ व्रीहियवौ।

(शतपथ० १/२/१/६)

इसका और निर्वचन करते हैं—

व्रीहिमेवाग्रे पिण्डमधिश्रयति तद्यजुषां रूपम्, अथ यवमयम् तदृचो रूपम्, अथ व्रीहिमयं तत्साम्नां रूपं तदेतत् त्रय्यै विद्यायै रूपं क्रियते। (शतपथ० ५/४/७९)

वस्तुतः ये सभी तत्त्व पारिभाषिक हैं; किन्तु इनकी व्याख्या कर्मकाण्ड के परिप्रेक्ष्य में अभिनय के द्वारा की जाती रही है।

शमी और करीर भी पारिभाषिक ही है। 'कं' नाम है ब्रह्म का—कस्मै देवाय हविषा विधेम तथा 'शं' है आपो देवियाँ—शं नो देवीरभिष्टये आपो भवन्तु पीतये। शतपथ कहते हैं—तयोरुभयोरेव करीराण्यावति। कं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः करीरै(अङ्गैः)रकुरुत, कम्वैष राततप्रजाभ्यः कुरुते। तयोरुभयोः शमी पलाशान्यावति। शं वै प्रजापतिः शमी पलाशैरकुरुत शम्वैष राततप्रजाभ्यः कुरुते। (शतपथ २-४-३-११, १२, १३)। सीलबट्टा भी है तो पारिभाषिक ही। जैसे—"तत्संज्ञामेतत् दृषदुपलाभ्यां वदति नेदिग्योऽन्यं हिनसात् इति द्यौरेषा रूपेण हनू एव दृषदुपले जिह्वैव शम्यां तस्माच्छम्यया समाहन्ति जिह्वया हि वदन्ति (शत० १-१-२-१७)। तथापि सोम का रूपक अभिनय के लिए अनवरत प्रसिद्ध होता चला गया।

सोम का तात्त्विक रूप भी रूपकों से भरा पड़ा है। यहाँ इसके दो मुख्य स्वरूप माने गये हैं—१. सर्वदेवता रूप और २. एकदैवत्य रूप। 'सोमः सर्वा देवताः' (शत० १-५-२-२१)। एकदैवत्य के लिए विधु-चन्द्र-चन्द्रमा आदि नाम दिया गया है। इन स्वरूपों की व्याख्या अत्यन्त विशद है; अतः विस्तार से उसे यहाँ छोड़ते हैं। तथापि—

१. **सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा** (यजु० ९-४-१०, १८)

२. **द्यौरेवास्य शिरः सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी यच्चक्षुरध्यशेत।**
स चन्द्रमा तस्य मीलिततरोऽन्नं हि तस्मादश्रवत्॥

(शत० ७-१-२-७)

वस्तुतः यज्ञ की विशदता ही ऐसी है कि इसके निर्वचन के लिए सभी प्रकार का नाटक करना पड़ता है। यज्ञो वै ब्रह्म, यज्ञो वै विष्णुः आदि से इसका महत्त्व प्रकट होता है। आरम्भ में ऋचायें—मन्त्र जहाँ संकेतात्मक थे, इनकी शैली नीहारावृत थी, बाद में इन्हीं का व्याख्यान ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषदादि के रूप में करना पड़ा। कर्मकाण्ड भी इसी प्रायोगिक व्याख्या के परिणाम हैं। कालप्रभाव से अज्ञानान्धकार में पड़े मूढ़जनों के कल्याण की कामना से ही ऋषियों ने इनका स्थूल वस्तु रूप में विस्तार किया—काव्य-नाट्य के रूप में, किन्तु परम तत्त्व की गूढ़ता के साथ। महर्षि वाल्मीकि और भरत मुनि ने इस उत्तरदायित्व का मर्यादा और शास्त्रानुकूल निर्वाह करते हुए इस भौतिक जगत् के उद्धार का मार्ग प्रशस्त कर दिया। अब कुछ चर्चा इसी सातत्य में संस्कृत नाट्य-परम्परा की भी की जा रही है।

कदाचित् ऐसा कहा जा सकता है कि वैदिक अभिनयवाद की पूर्ण लौकिक परिणति 'नाट्यशास्त्र' है। अर्थात् 'अलौकिक' वेदप्रतिपाद्य ब्रह्म के बोध के लिए लौकिक साधन के रूप में पूर्णाङ्ग या 'चतुरङ्ग अभिनय' की कल्पना। यह एक रोचक तथ्य है कि पहले उसे अलौकिक से लोक का विस्तार या ज्ञान, बाद में लौकिक विस्तार से उसी अलौकिक (तत्त्व) में अपने मूल को समझना। यहाँ का ब्रह्म 'रस' है, जिसके 'स्फुरण' या प्राकट्य का आधार भौतिकात्मा ही हुआ करता है। विभावानुभावव्यभिचारि भी चार ही हैं, अभिनय भी आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य चार ही हैं। 'योगिनः तं प्रमृण्वन्ति' के अनुसार नाट्य में सहृदय ही योगी हुआ करता है, जिसके हृत्कोश में 'रस ब्रह्म' का निष्पन्न होना माना जाता है। पूरी वैदिक परम्परा को सामने रखते हुए भरतमुनि चारों वेदों के आगमिक रूप का प्रतिपादन करते हैं। पञ्चम वेद के रूप में नाट्य का—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानथर्वणादपि॥

(नाट्यशास्त्र, अ० २, श्लोक०)

इस लोक में पूर्व और पश्चात् में भी वेदों के महत्त्व के साथ ही इस नाट्य के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया। चाहे चारों वेदों के स्मरणपूर्वक नाट्य की बात हो या फिर नाट्य को जानने वालों की भी गति वेदवित् के समान बताने की हो। नाट्यशास्त्र वस्तुतः वैदिक काव्यपरम्परा और लौकिक काव्य-परम्परा के बीच के सातत्य का प्रमाणभूत शास्त्र है।

ब्रह्माण्ड या योगी के शरीर में आठ चक्र हैं, नव द्वार हैं, यहीं देवताओं की पुरी अयोध्या है। इसी में प्राणमय कोश है, जो कि दश प्राणों का है, जो कि स्वर्गीय तत्तद् देवताओं की ज्योतियों से आवृत्त है। यही कौशल्या-दशरथ ज्योति 'सोम' है।

✿

पौर्णमासेष्टि यागविधानों के प्रतीकार्थ

डॉ० चन्द्रकान्ता राय
रीडर—संस्कृत,
आर्य महिला डिग्री कॉलेज, वाराणसी

वैदिक कर्मकाण्ड निखिल ब्रह्माण्ड में प्रवर्तमान ऋतव्यवस्था का, यज्ञपरम्परा का एक विशिष्ट प्रतिरूप है, जो अपौरुषेय की प्रेरणा एवं आर्षव्यवस्था के प्रतिफल के रूप में ब्राह्मणग्रन्थों में प्राप्त है। ब्राह्मणग्रन्थ भारतीय धर्म और संस्कृति का व्यापक स्तर पर विश्लेषण प्रस्तुत करने वाले अप्रतिम ग्रन्थरत्न हैं, जिनमें धर्म के कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड—त्रिविध स्वरूप का मर्म सन्निहित है। आचार्य आपस्तम्ब ने 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' कहकर मन्त्र और ब्राह्मण के वेदत्व का स्वरूपावबोध कराया है। इस लक्षण के अनुसार मन्त्रभाग से अतिरिक्त वेदराशि का नाम ब्राह्मण है। आचार्य जैमिनि ने 'शेषे ब्राह्मणशब्दः[१]' कहकर इस विभाग का अनुमोदन किया है। भट्टभास्कर के अनुसार कर्म और कर्म में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों के व्याख्यानग्रन्थ ब्राह्मण हैं।[२] विद्याधर शर्मा के मत में चारों वेदों के कर्मों में विनियोजक, कर्मविधायक, नानाविधानादि इतिहास-आख्यानबहुल ज्ञानविज्ञान-पूर्ण वेदभाग ब्राह्मण है।[३]

'ब्रह्मन्' शब्द के साथ अण् प्रत्यय करने पर निष्पन्न, नपुंसकलिङ्ग में व्यवहृत 'ब्राह्मण' शब्द यज्ञकर्म के आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थ को प्रकाशित करता है। स्वरूपतः ब्राह्मण के दो भेद किए जाते हैं—विधि और अर्थवाद। आपस्तम्ब के अनुसार कर्म की ओर प्रवृत्त करने वाली विधियाँ ब्राह्मण हैं और ब्राह्मण का शेषभाग 'अर्थवाद' है।[४] अर्थसङ्ग्रहकार लौगाक्षिभास्कर अज्ञात अर्थ को अवबोधित कराने वाले वेदभाग को 'विधि' तथा प्रशंसा अथवा निन्दापरक वाक्य को 'अर्थवाद' कहते हैं।[५] प्रशंसा और निन्दा से सम्बन्धित अर्थवादवाक्य क्रमशः विधिशेष एवं निषेधशेष संज्ञाओं से अभिहित हैं। विधि और अर्थवादवाक्य दोनों मिलकर एकवाक्यता की रचना करते हैं, जिससे अधिकारी व्यक्ति की कर्म में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

वैदिक धर्म की चिन्तनधारा यज्ञस्वरूप में क्रियान्वित होती है। चतुर्दिक् व्याप्त दिव्य शक्तियों से ऊर्जा और प्रेरणा लेकर जीवन में आगे बढ़ने का संकल्प है ऋषिकुल का, जिसने उन मेधावी चिन्तकों

---

१. मीमांसा २/१/३३.

२. ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणाञ्च व्याख्यानग्रन्थः। तै० सं० १/५/१ पर भाष्य।

३. वेदचतुष्टयमन्त्राणां कर्मसु विनियोजकः कर्मविधायको नानाविधानादीतिहासाख्यानबहुलो ज्ञानविज्ञानपूर्णो भागो ब्राह्मणभागः। शतपथ ब्राह्मण-भूमिका।

४. कर्मचोदना ब्राह्मणानि। ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः। आपस्तम्ब परिभाषा ३४/३५.

५. तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः। प्राशस्त्यनिन्दाऽन्यतरपरं वाक्यमर्थवादः। अर्थसंग्रह।

को प्रेरित किया मानव-विकास के लिए एक व्यवस्था देने के लिए। ब्रह्मर्षि-ब्रह्मावर्त-आर्यावर्त आदि भूखण्डों को पावन बनाया तपोधनी यती-व्रतियों ने। मानव-समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप उन्होंने वर्णों, आश्रमों और संस्कारों की व्यवस्था को स्थापित किया। गुणानुसार कर्मविभागपूर्वक उसके सम्यक् अनुपालन और सदाचरण के लिए उन्होंने विधियों-नियमों को सूत्रबद्ध किया तथा सृष्टि के प्रत्यंश की वृत्तियों के प्रति संवेदनशील रहते हुए आदान-प्रदान की यज्ञीय परम्परा का समारम्भ किया—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।[६]

तप:पूत हृदय में अवतरित होकर निःश्वास और वाक्शक्ति के साथ प्रकट ये प्रथम धर्म अपौरुषेय होकर भी अनुशासन एवं त्यागपूर्वक जीवन के संचरण तथा लक्ष्यज्ञान के साथ कर्मयात्रा के सञ्चालन के लिए नितान्त अवधेय हैं। सूक्ष्म दृष्टि से आर्षविधानों का अनुशीलन करने पर सृष्टि के समस्त क्रिया-कलाप, चराचर की व्यवस्था, दृश्य ज़गत् में अनवरत सञ्चारित स्थूल एवं सूक्ष्म परिस्पन्दन सर्वस्व यज्ञीय पद्धति से सञ्चालित होता दीखता है। वेदराशि का चार संहिताओं में पृथक्-पृथक् संकलन भी उसके यज्ञपरक तत्त्वार्थ को प्रकाशित करता है। प्रत्येक यज्ञ के चार ऋत्विक्-होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा नाम से अभिहित हैं। होता यज्ञ के अपेक्षित शस्त्र (अप्रगीत मन्त्रसाध्य गुणि के गुणों का कथन) का अनुष्ठान ऋग्वेद से, अध्वर्यु देवतोद्देश्यकद्रव्यत्यागात्मक यज्ञस्वरूप का निर्माण यजुर्वेद से, उद्गाता स्तोत्र (गेय मन्त्रसाध्य गुणि के गुणों का कथन) का अनुष्ठान सामवेद से तथा ब्रह्मा यज्ञानुष्ठान में सम्भावित दोषों का परिहार, प्रायश्चित्त-विधान और काम्य यज्ञविधियों का सम्पादन चतुर्वेद के द्वारा करता है। वैदिक याग क़ाल, स्थान और क्रिया—तीनों को संयोजित करने की वैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसमें चतुष्कोण यज्ञवेदी सम्पूर्ण पृथिवी का प्रतीक होती है। श्रौताग्नि नाम से परिगणित अग्नियों में गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि विशेष रूप से प्रथित हैं। श्रौत अग्नि में सम्पादित यज्ञ श्रौतयज्ञसंज्ञा से अभिहित होता है। आहवनीय अग्नि में सम्पन्न होने वाले श्रौतयज्ञ से सम्पूर्ण पृथिवी संयोजित होती है। यजमान और यजमानपत्नी अग्नि और सोमरूप होकर यज्ञ की प्रक्रिया को सम्पन्न करते हैं।

वैदिक वाङ्मय में शतपथब्राह्मण का अपना विशिष्ट स्थान है। वाजसनेय याज्ञवल्क्य इसके प्रवचनकर्ता माने गये हैं। यजुर्वेद से सम्बद्ध होने के कारण यह यज्ञ के विविध विधि-विधानों का आकरग्रन्थ है। माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण में १४ काण्ड, तदन्तर्गत सौ अध्याय हैं, जिससे इसका 'शतपथ' नाम सौपपत्तिक प्रतीत होता है। धर्मसम्बन्धी चिन्तन का सर्वाधिक विकसित एवं व्यवस्थित रूप इस ब्राह्मण ग्रन्थ में प्राप्त होता है। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में यज्ञ के प्रतीकों को ऐतिहासिक तथा पौराणिक आख्यानों द्वारा सुगम रूप से प्रस्तुत करने का उपक्रम प्राप्त होता है। साथ ही इसमें विशिष्ट वर्णनात्मक शैली में एक विधेय का सरलतम रीति से प्रतिपादन किया गया है।

'इष्टि', 'यज्ञ' अथवा 'याग' शब्द यज् धातु से निष्पन्न हैं जिसका अर्थ पूजा, सङ्गतिकरण और दान है। ब्रह्माण्ड में अनवरत नियमित क्रम में सञ्चालित प्रकृति की व्यवस्था में दिव्य शक्तियाँ, पञ्चभूत आदि

---

६. ऋ० वे० १०/९०/१६.

ऊर्जा प्रदान कर चराचर जगत् को अनुप्राणित करते हैं। आचार्य यास्क ने इस दिव्यता से समन्वित देव शब्द की अवधारणा को 'देवो दानाद् वा द्योतनाद् वा दीपनाद् वा' कहकर व्याख्यायित किया है अर्थात् जो शक्तियाँ सृष्टि को पोषण प्रदान करती हैं, जो स्वयं द्युतिसम्पन्न हैं तथा जो दीपित करती हैं, वे देव हैं। सृष्टि में समर्थ प्राणी के रूप में मनुष्य का स्थान है। दिव्य शक्तियों अथवा देवताओं से ऊर्जा ग्रहण कर उनकी अनुकम्पा से लोकव्यवहार में संलग्न मनुष्य के लिए ये देवता स्वाभाविक रूप से श्रद्धा और कार्तज्ञ्यभाव के अधिकारी हैं। अपने इस भाव को मनुष्य स्तुतियों तथा अभीष्ट खाद्य-पेय सामग्रियों के हव्यरूप में अर्पण द्वारा व्यक्त करता रहा है जिसका स्पष्ट दृश्याङ्कन वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है। इस प्रकार देवता को उद्देश्य कर किया जाने वाला द्रव्यत्याग 'यज्ञ' कहलाया।

देवपूजा के साथ-साथ संगतिकरण और दान अर्थ को द्योतित करने वाली यज्ञपरम्परा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में समष्टिरूप से तथा पिण्ड-पिण्ड में व्यष्टिरूप से प्रवहमाण है। दो पदार्थों के संगतिकरण से तृतीय पदार्थ की उत्पत्ति सृष्टि की प्रक्रिया है। इस प्रकार यज्ञ सृष्टि का पुनः प्रवर्तन है। ब्रह्माण्ड और पिण्डशरीर के मध्य विषमता आने पर यज्ञ द्वारा दोनों में सामञ्जस्य स्थापित करने का विधान ब्राह्मण साहित्य प्रस्तुत करता है।

'ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि'[७] तथा 'सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ[८]' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि का प्रतिकण सच्चिदानन्द परम तत्त्व की चेतना से अन्तर्भावित है। यागविधियों का स्वारस्य इसी अखण्ड दृष्टि के विकास एवं प्रत्येक पदार्थ के साथ सामरस्य की स्थापना में है। यागविधियों के प्रतीकों में यह तत्त्व सर्वत्र विश्लेषणीय है।

श्रौतयाग मूलतः पाँच प्रकार के बतलाये गये हैं—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु और सोम। माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण का प्रथम काण्ड 'हविर्यज्ञकाण्ड' कहा गया है, जिसमें माध्यन्दिन संहिता की ही तरह सर्वप्रथम दर्शपूर्णमास याग का वर्णन है। इष्टियाग में श्रौतसूत्रों के विधान के अनुसार क्रियाकलाप अनुष्ठित होते हैं; किन्तु प्रत्येक क्रियाविधि का निहितार्थ क्या है, यह शतपथ ब्राह्मण के विशिष्ट अध्ययन से ही ज्ञात होता है। महर्षि कात्यायन ने शतपथ ब्राह्मण की एकादश प्रकार की प्रवचन शैलियों का विवरण प्रस्तुत किया है[९] जो इस प्रकार हैं—

१. विधि अर्थात् यज्ञीय क्रियाकलाप का निरूपण।

२. निन्दा—यज्ञ में निषिद्ध कर्मों की निन्दा।

३. प्रशंसा—यज्ञ में विहित कर्मों या प्रयुक्त पदार्थों की प्रशंसा।

४. अध्यात्म—यज्ञकर्म की विधियों की आत्मपरक व्याख्या।

---

७. ऋ० वे० १०/९०/४.

८. म० स्मृ० १/७.

९. विधिर्निन्दाप्रशंसाध्यात्ममधियज्ञमधिदैवतमधिभूतमनुवचनं परकृतिः पुराकल्पः सृष्टिरिति ब्राह्मणम्।

५. अधियज्ञ—यज्ञकर्म की विधियों तथा पदार्थों की यज्ञपरक व्याख्या।

६. अधिदैवत—यज्ञकर्म की विधियों तथा पदार्थों की दैवतपरक व्याख्या।

७. अधिभूत—यज्ञ की कर्मविधियों तथा पदार्थों की भौतिक व्याख्या।

८. अनुवचन—पूर्वपरिज्ञात विषय का आशंसन।

९. परकृति—परार्थक क्रिया या परोपकारक कार्यों का वर्णन।

१०. पुराकल्प—यज्ञविधियों के समर्थन में किसी प्राचीन आख्यान का वर्णन।

११. सृष्टि—सृष्टि के आरम्भ अथवा रहस्य का वर्णन।

शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड में पौर्णमासेष्टि एवं दर्शेष्टि की विधियाँ प्रस्तुत की गई हैं। प्रस्तुत पत्र में पौर्णमासेष्टि याग-विधानों के प्रतीकार्थ विवेच्य विषय हैं। तदनुसार पौर्णमासेष्टि के कुछ विधानों का स्वरूपाङ्कन प्रस्तावित है।

पौर्णमासेष्टि

दर्शपौर्णमासेष्टि समस्त इष्टियागों की प्रकृति कही गयी है। यद्यपि पौर्णमास और दर्शयाग—दोनों को मिलाकर एक कृत्य माना जाता है[१०] और समस्त कामनाओं की सिद्धि के लिए दर्शपौर्णमास याग करने का विधान है[११], तथापि इन दोनों में पौर्णमास याग प्रमुख है। पूर्णिमा या अमावस्या को अग्नि का परिग्रह करने के बाद पूर्णिमा तिथि के दूसरे दिन पौर्णमास याग अथवा पौर्णमासेष्टि का अनुष्ठान विहित होता है। यजमान, यजमानपत्नी, ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु और आग्नीध्र—इन छः के द्वारा यह सम्पन्न किया जाता है। इस यज्ञ में पहली आहुति अग्नि के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश की, द्वितीय आहुति अग्नीषोम के लिए आज्य की तथा तृतीय आहुति अग्नीषोम के लिए एकादशकपाल पुरोडाश की होती है। इनमें मध्य के अग्नीषोम देवता का याग उपांशु धर्म से विहित होता है। व्रीहि या यव—इन दोनों में से जिस हविर्द्रव्य का प्रथम परिग्रह किया गया हो, अन्त तक उसी का प्रयोग किया जाता है। पौर्णमासेष्टि के तीन प्रधान यागों का क्रम सम्पन्न होने के बाद स्विष्टकृद् अग्नि के लिए पुराडाश की आहुति दी जाती है। अन्य देवों के लिए प्रदत्त आहुतियों को अग्नि अपने तेज से उद्दीप्त करते हैं, तत्पश्चात् देवगण उन्हें ग्रहण करते हैं।

उपवसथ नियम तथा व्रतोपायन

याग के पूर्वदिवस पूर्णिमा को यजमान और यजमानपत्नी के लिए उपवसथ व्रत-नियम का पालन करना अपेक्षित होता है। पति शिखारहित क्षौर और पत्नी नखकर्तन कराती है। दोनों के लिए मध्याह्न में उड़द, मांस, लवण तथा आगामी दिवस के हविर्द्रव्य का भोजन वर्जित होता है। उस दिन अल्प मात्रा में

---

१०. दर्शान्तं पौर्णमासाद्यमेकमेव मनीषिणः। का० स्मृ० १८/१.

११. सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपौर्णमासौ। वैखा० श्रौ० सू० १४/१.

घृतयुक्त भोज्य पदार्थ ग्रहण करने का विधान है।[१२] भोजन के अनन्तर यजमान वज्र (स्फ्य) लेकर गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि के मध्य जाकर आहवनीय के पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठकर आहवनीय की ओर देखता हुआ जल से आचमन करता है। तथा 'ऊँ अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्[१३]' मन्त्र के साथ व्रतोपायन (व्रतग्रहण) करता है। व्रतग्रहण करने के पश्चात् यजमान के लिए सत्यभाषण करने का निर्देश है। पूर्णिमा के दिन सायंकाल यजमान उसी यज्ञविहार में अग्निहोत्र हवन करता है। सायंकाल भोजन की इच्छा होने पर होम के अनन्तर नीवार आदि अन्न, फल अथवा सूखे फल का भोजन कर सकता है। रात्रि में यजमान आहवनीय के पास और यजमानपत्नी गार्हपत्य के पास खरस्थ अग्नि की अपेक्षा अधःस्थान में दर्भशय्या पर शयन करते हैं। दोनों ब्रह्मचर्य नियम का पालन करते हैं तथा प्रातःकाल उसी यज्ञशाला में अग्निहोत्र करते हैं।

'उपवसथ' का अर्थ है—समीप निवास का दिन। दर्श अथवा पौर्णमासेष्टि का पूर्व दिन अर्थात् अमावस्या या पूर्णिमा 'उपवसथ' नाम से व्यवहृत है। शतपथ ब्राह्मण में 'अशनानशन' प्रसङ्ग में इसका रहस्य बताते हुए कहा गया है कि पूर्व दिवस में व्रत ग्रहण करने के पश्चात् देवगण मनुष्य के मन की बात जान लेते हैं; फलतः जब यजमान याग के लिए व्रत ग्रहण करता है तो उसकी भावना को समझते हुए देवगण अदृश्य रूप में उसके घर में उपस्थित हो जाते हैं।[१४] अभीष्ट फल की प्राप्ति हेतु विहित होने वाले इस याग में यजमान और यजमानपत्नी द्वारा देवताओं की समीपता का आभास होना स्वाभाविक है। उपवसथ नियम की अधिकांश विधियाँ यथा—धौतवस्त्र धारण करना, क्षौर और नखकर्तन कराना, उड़द-मांस-लवणरहित भोजन करना, देवतोद्देश्यक हविर्द्रव्य के अर्पण के पूर्व उसे ग्रहण नहीं करना—देवताओं के प्रति श्रद्धाभाव का कारण होने के साथ-साथ शरीर और मन की शुद्धि के लिए आवश्यक होती हैं। जल से आचमन कर व्रत ग्रहण करने का अभिप्राय यजमान के पवित्र होकर यागसम्पादन का अधिकारी बनने में है। 'अमेध्या वै पुरुषाः'—अनृतविचार, अनृत आचरण, अनृत भाषण से मनुष्य अमेध्य हो जाता है। जल समस्त दूषण, विकलता आदि विकारों को दूर करने वाला है—'मेध्या वै आपः'। अतः इसके आचमन से यजमान के पवित्र होने का भाव द्योतित होता है। इसके अतिरिक्त जल सर्वव्यापी तत्त्व है। जगत् में कोई ऐसा तत्त्व नहीं जिसमें जल न हो। इसके आचमन से यजमान में व्यापक, अखण्ड, उदात्त दृष्टि के प्रकाशन का भाव प्रकट होता है तथा वह सम्पूर्ण जगत् से जुड़ जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य-पालन और सत्यभाषण करने का निर्देश भी सर्वत्तः शुद्धि के लिए विहित है। देवगण को 'सत्य' तथा मनुष्यों को 'अनृत' कहा गया है। सत्यभाषण करने से यजमान देवस्वरूप होकर यज्ञसम्पादन का अधिकारी बन जाता है।[१५] अल्पाहार-ग्रहण शरीर, मन और बुद्धि की पवित्रता तथा

---

१२. लवणं मधु मासं च क्षारान् श्वो येन हूयते। उपवासे न भुञ्जीत नोरुरात्रौ न किंचन॥ (देवयाज्ञिकपद्धतिः)

१३. यजुर्वेद १/५.

१४. शतपथ ब्राह्मण ११/१/७.

१५. सत्यमेव देवाऽ अनृतम्मनुष्या ऽ इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति। श० ब्रा० ११/१/४.

स्फूर्ति के लिए अनुकूल है। इन नियमों के पालन से पवित्र अन्तःकरण तथा निर्मल बुद्धि से युक्त यजमान दिव्यता का अनुभव करता हुआ देवताओं के सन्निकट हो जाता है। यज्ञशाला में यजमान और यजमान पत्नी का अग्नि (आहवनीय और गार्हपत्य) के निकट रात्रिशयन करना भी शरीर और मन से देवसामीप्य का बोधक है।

अपां प्रणयन तथा गार्हपत्य के उत्तर में स्थापन

पौर्णमासेष्टि याग में अपां प्रणयन प्रथमतः किया जाता है। अध्वर्यु गार्हपत्य के उत्तर में आसन पर बैठकर वारणकाष्ठ-निर्मित चतुष्कोण चमस बायें हाथ में लेकर दाहिने हाथ के जलपात्र से उसमें जल डालता है तथा दाहिने हाथ से उसे गार्हपत्य के उत्तर में रखता है। इस विधि के अवसर पर ब्रह्मा अपां प्रणयन का प्रैष करता है। साथ ही यजमान को वाग्यमन का आदेश देता है—'यजमान वाचं यच्छ।[१६]' इसके बाद ब्रह्मा 'ॐ प्रणय.....' मन्त्र का उपांशु पाठ करके 'ॐ प्रणय' इस प्रकार उच्च स्वर से अध्वर्यु को आज्ञा देता है। अध्वर्यु चमस् लेकर आहवनीय की उत्तर दिशा में आसन पर प्राङ्मुख बैठकर मन्त्र पढ़ते हुए प्रणीताचमस को कुश पर स्थापित करता है—

ॐ कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति।[१७]

यज्ञ के लिए जलों का प्रणयन अर्थात् जल-ग्रहण करना ही अपां प्रणयन है जो सबसे पहले विहित होता है। इसका प्रतीकार्थ शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—जल यज्ञ है। जल के प्रथम प्रणयन (आगे लाने) का अर्थ है कि अध्वर्यु यज्ञ को विस्तारित करता है।[१८] अथवा यतः जल से ही यह सृष्टि व्याप्त है, अतः यज्ञ में जलग्रहणरूप प्रथम कर्म से वह जगत् को यज्ञ से जोड़ता है—

यद्वेवापः प्रणयति। अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तन्तत्प्रथमेनैतत्कर्मणा सर्वमाप्नोति।[१९]

इस ब्राह्मणग्रन्थ में ही तृतीय उत्पत्ति यह दी गई है—जल वज्र है, क्योंकि जल जहाँ से निकलता है वहाँ गड्ढा कर देता है, जिस वस्तु पर वह निरन्तर गिरता है, उसे नष्ट कर देता है। अतः अपां प्रणयन के माध्यम से जलरूपी व्रज का ग्रहण किया जाता है, जिसके फलस्वरूप राक्षसों के संस्पर्श से शून्य स्थिति में यज्ञ का विस्तार किया जा सके।[२०]

अपां प्रणयन कर गार्हपत्य के उत्तर में उसके स्थापन का निहितार्थ बताते हुए शतपथ ब्राह्मण यह विश्लेषण प्रस्तुत करता है कि जल (आपः) स्त्रीलिंग है और अग्नि पुंल्लिङ्ग है। पत्नी का स्थान पति से उत्तर में होता है। गार्हपत्य अग्निरूप गृह में पुरुष के पास आपः रूपी स्त्री को स्थापित करके यज्ञ के माध्यम से सर्जन की प्रक्रिया को प्रवर्तित किया जाता है।[२१]

---

१६. का० श्रौ० सू० २/३/२.

१७. यजुर्वेद ११/१६.

१८. श० ब्रा० ११/१/१२.

१९. श० ब्रा० ११/१/१४.

२०. शतपथ ब्राह्मण १/१/१७.

शूर्प एवं अग्निहोत्र हवणी का प्रतपन

पौर्णमासेष्टि में पुरोडाश बनाने के लिए हविष्यान्न ग्रहण के लिए अध्वर्यु मन्त्र[२२] का उच्चारण करते हुए शूर्प और अग्निहोत्र हवणी को ग्रहण करता है। वह स्वयं वाग्यमन करता है।[२३] चित्त की एकाग्रता के साथ व्यवस्थित रूप से कार्यसिद्धि के लिए वाग्यमन आवश्यक है। हविर्ग्रहण के पूर्व यजुर्मन्त्र[२४] का पाठ करते हुए अध्वर्यु शूर्प और अग्निहोत्र हवणी को अग्नि पर तपाता है।[२५]

अग्नि-प्रतपन के सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि हविष्यान्न ग्रहण करने के पूर्व शूर्प और अग्निहोत्र हवणी का प्रतपन कर प्रतिबन्धकारी अथवा अनिष्टकारी राक्षसों को नष्ट करते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि 'राक्षस' शब्द से तात्पर्य विषाणुओं से है।[२६] हविष्यान्न में विषाणु संसर्गित न हों, एतदर्थ शूर्प और हवणी के संस्कार के लिए उनके प्रतपन का विधान किया गया है।

पवित्रकरण

यज्ञस्थल में आहवनीय से उत्तर में उत्कर के पास बैठकर पवित्र-निर्माण का कार्य किया जाता है। दर्भों से दो दर्भों को काटकर दो पवित्र बनाया जाता है।[२७] दो दर्भों के प्रादेशमात्र भाग को पवित्र कहते हैं। दर्भ काटते समय यह ध्यान रखना होता है कि दर्भों में नाखून नहीं लगने पाये। यज्ञ ही विष्णु है, इसलिए कहा जाता है कि तुम विष्णु (यज्ञ) के हो।[२८] इन दोनों कुशपवित्रों से प्रोक्षणी जल का उत्पवन कर उन जलों से पवित्रीकरण किया जाता है। 'अयं वै पवित्रं योऽयं पवते'[२९] इस व्युत्पत्ति के अनुसार पवन को पवित्र बताकर पुरुष के अन्तःप्रविष्ट इसे प्राङ् और प्रत्यङ् वृत्ति वाला अर्थात् प्राण और उदान नाम से द्विविध बताया गया है तथा तद्रूप होने से दर्भपवित्र की भी दो संख्या निर्दिष्ट की गई है।[३०] इन पवित्रों को प्राणापानवत् सादृश्य तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी प्राप्त होता है।[३१]

---

२१. ता उत्सिच्योत्तरेण गार्हपत्यं सादयति योषा वा आपो वृषाग्निर्गृहा वै गार्हपत्यस्तद् गृहेष्वेवैतन्मिथुनम्प्रजननं क्रियते।
—श० ब्रा० ११/१/१८.

२२. ॐ कमणे वां वेषाय वाम्। य० वे० १/६.

२३. वाचं यच्छति। का० श्रौ० २/३/१०.

२४. प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः। उर्वन्तरिक्षमन्वेमि। १/७.

२५. का० श्रौ० २/३/११.

२६. देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः। तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् बिभयाञ्चक्रुस्तद्यज्ञमुखादेवैतन्नाष्ट्रा रक्षांस्यतोऽपहन्ति। श० ब्रा० ११/२/३.

२७. कुशौ समावप्रशीर्णाग्रावनन्तगर्भौ कुशैश्छिनत्ति। का० श्रौ० २/३/३०

२८. पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ। य० वे० १/१२.

२९. श० ब्रा० ११/३/२.

३०. ते वै द्वे भवतः। अयं वै पवित्रं योऽयं पवते सोऽयमेक इवैव पवते सोऽयं पुरुषेऽन्तःप्रविष्टः प्राङ्च प्रत्यङ्च ताविमौ प्राणापानौ तदेतस्यैवानुमात्रां तस्माद् द्वे भवतः। श० ब्रा० ११/३/२.

३१. प्राणापानौ पवित्रे यजमान एव प्राणापानौ दधाति। तै० ब्रा० २/१/१०२.

कुशपवित्रों से उत्पवन का रहस्य-वर्णन शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार किया गया है—वृत्र द्यावापृथिवी को घेरकर सो गया था। उसे इन्द्र ने मारा। वह मरकर दुर्गन्धयुक्त हो गया और चारों तरफ जल के साथ बह निकला। कुछ जल जो ऊपर-ऊपर बहने लगे, प्रदूषित नहीं हुए। उन पवित्र जलों से दर्भ उत्पन्न हुए। इन दर्भों से अपवित्र जलभाग को पवित्र किया जाता है तथा शुद्धीकरण के पश्चात् पवित्र जल छिड़का जाता है।[३२]

देवताओं के नाम-निर्देश के साथ हविर्ग्रहण

पौर्णमासेष्टि में अध्वर्यु प्रत्येक देवता के लिए चार मुट्ठी हवि (हव्यान्न) ग्रहण करता है। यजुर्मन्त्र[३३] का पाठ करते हुए वह तीन बार हव्यान्न अग्निहोत्र हवणी में डालता है और चौथी बार तूष्णीं डालता है। चार बार ग्रहण किए गए इस हविष्यान्न को शूर्प में दक्षिण पार्श्व में रखकर पुनः अग्नीषोमीय पुरोडाश के लिए इसी प्रकार देवताओं के नामोच्चारण तथा उक्त मन्त्र[३४] के पाठ के साथ तीन बार तथा चौथी बार तूष्णीं हविष्यान्न अग्निहोत्रहवणी में डालता है। इसे शूर्प में पूर्व में रखे गए हविर्द्रव्य के उत्तर में रखता है तथा पात्री में बचे हुए हविर्द्रव्य का मन्त्रोच्चारण[३५] के साथ स्पर्श करता है।

हविष्यान्न ग्रहण करते समय देवताओं का नामनिर्देश करने के सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण का विवेचन है कि याग आरम्भ होने के पूर्व सभी देवता यज्ञस्थान पर अदृश्य रूप में इस आशा के साथ उपस्थित हो जाते हैं कि उनके लिए हविष्यान्न ग्रहण किया जाएगा। बिना नामोच्चारण के इस क्रिया के सम्पादन से किसके लिए ग्रहण किया जाय, यह स्पष्ट नहीं हो पाता। फलतः देवताओं में असमंजस की स्थिति बनी रहती है। नामनिर्देश के साथ यह विधि होने पर उनमें सामञ्जस्य बना रहेगा। इस प्रसंग में एक निहितार्थ यह भी उद्घाटित होता है कि अध्वर्यु जिन देवताओं के लिए हविष् ग्रहण करता है, वे इसे यजमान के ऋण के रूप में स्वीकार करते हैं और उसकी इच्छाओं को पूर्ण करना अपना कर्तव्य मानते हैं। इस प्रकार यजमान की कामनाओं को सम्पन्न करने के लिए वे प्रतिबद्ध रहते हैं।

आप्त्यनिनयन एवं अन्वाहार्य दक्षिणा

पुरोडाश श्रपण के पश्चात् अध्वर्यु पात्री को धोकर तथा अंगुलियों को प्रक्षालित कर उस धोवन जल को आप्त्यों के लिए देता है।[३६] शतपथ ब्राह्मण[३७] में आप्त्योत्पत्ति उपाख्यान तथा इस कृत्य के विषय में उल्लेख है कि अग्नि देवताओं से डरकर जलों में प्रविष्ट हो गया। देवों ने उसे खोज लिया और बलात् वहाँ से निकाला। इस पर अग्नि ने जलों पर थूक दिया और कहा कि तुम रक्षा के स्थान नहीं हो

---

३२. श० ब्रा० ११/३/५.

३३. ॐ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अग्नये जुष्टं गृह्णामि। य० वे० १/१०.

३४. ॐ देवस्य ...... हस्ताभ्याम्। अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि॥ य० वे० १/१०.

३५. य० वे० १/११.

३६. श० ब्रा० १२/२/१८.

३७. श० ब्रा० १२/३/१-३.

सकते क्योंकि मेरी इच्छा के विपरीत ये देवगण मुझको तुममें से खींचकर ले जा रहे हैं। उस ष्ठीवन से तीन देव निकले—त्रित, द्वित और एकत। वे इन्द्र का अनुगमन करते रहे। इन्द्र ने जब त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को मारा तो वे तीन देव उसकी वधार्हता को जानते थे। लोगों ने कहा—'यह पाप उन्हीं को लगना चाहिये, जो यह जानते थे कि यह वध्य है।' 'कैसे' इस प्रकार प्रश्न होने पर उत्तर मिला कि जो विश्वरूप का वधरूप पाप है, उसे यह यज्ञ उनसे संश्लिष्ट कर देगा। इस प्रकार जब इन आप्त्यों के उद्देश्य से पात्री को धोते हैं और अध्वर्यु उसी जल से अपनी अंगुलियाँ धोता है तो वह पाप यज्ञ द्वारा आप्त्यों को लग जाता है। विश्वासघातरूप कर्म के कारण ये त्रित, द्वित और एकत इस पाप के भाजन बनते हैं।

यज्ञ में दक्षिणा देने की अनिवार्यता का प्रतिपादन भी इस उपाख्यान के माध्यम से किया गया है[३८]—आप्त्यों ने कहा, 'इस पाप को हम अपने से हटाकर आगे बढ़ा दें।' लोगों ने पूछा—'किस तक?' आप्त्यों ने उत्तर दिया—'उस तक जो दक्षिणा दिये बिना यज्ञ करता है।' अतः यज्ञ-सम्पादन में दक्षिणा अनिवार्यतः देय है। देवों ने दर्शपौर्णमासेष्टियों में जिस दक्षिणा का निर्धारण किया, उसे अन्वाहार्य[३९] कहते हैं। तैत्तिरीयसंहिता[४०] में अन्वाहार्य की विशेषता इन शब्दों में प्रकट की गयी है—

यद् वै यज्ञस्य क्रूरं यद्विलिष्टं तदन्वाहार्येणान्वाहरति तन्वाहार्यस्यान्वाहार्यत्वमिति।

इस अन्वाहार्य दक्षिणा के निर्धारण के साथ अध्वर्यु द्वारा पात्र्यङ्गुलिनिर्णेजन जल को पक्व होने के लिए पृथक्-पृथक् गर्म करने तथा तीनों आप्त्य देवों में बाँटने (निनयन करने) का वर्णन प्राप्त होता है, जिससे उनमें परस्पर कलह न हो।[४१]

पौर्णमासेष्टि की इसी प्रकार की अन्य विधियों सहित श्रौत यज्ञ की सभी क्रियायें विशिष्ट अर्थों के साथ विहित होती हैं। कण-कण के पूर्ण के साथ संयोजन, व्यष्टि के समष्टि के साथ आदान-प्रतिदान की प्रवर्तमान ब्रह्माण्डीय सृजन-प्रक्रिया का नाम यज्ञ है, जो देश, काल तथा सृष्ट्यनुकूल व्यापकता तथा माहात्म्य के कारण 'विष्णु' संज्ञा से मण्डित हुआ। यज्ञ स्वयं संवत्सररूप प्रजापति, सृष्टि का मूलाधार है।[४२] यज्ञवेदि का परिमाण समग्रत्वेन पृथिवी-प्रमाण तथा सर्वविध कामनाओं का प्रापक है।[४३] इस प्रकार पौर्णमासेष्टि इत्यादि श्रौतयज्ञ वैयक्तिक अभीष्ट के साधक होने के साथ ही सार्वभौम मङ्गल के सम्पादक तथा ब्रह्माण्डीय संरचना में प्राकृतिक अन्योन्याश्रय संसर्ग के सम्पोषक हैं।

✿

---

३८. अत्येव वयमिमस्मत्परो नयामेति कमभीति य एवादक्षिणेन हविषा यजाता इति तस्मान्नादक्षिणेन हविषा यजेत। श० ब्रा० १२/३/४.

३९. अन्वाहरति यज्ञसम्बन्धिदोषजातान् परिहरत्यनेनेति व्युत्पत्त्यान्वाहार्यो नाम ऋत्विग्भ्यो देय ओदनः।

४०. तै० सं० १/७/३/९.

४१. तन्नाना निनयति तथैभ्योऽसमदं करोति तदभितपति तथैषां शृतं भवति स निनयति त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वेति। श० ब्रा० १२/३/५.

४२. संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः। श० ब्रा० १२/५/१३.

४३. यद्येनेनेमां सर्वां समविन्दन्त तस्माद् वेदिर्नाम तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवीत्येतया हीमां सर्वां समविन्दन्त। श० ब्रा० १२/५/७.

वेदों में उपकल्पित नैतिक मूल्य

डॉ० (श्रीमती) सरस्वती सिंह
रिसर्च साइन्टिस्ट 'बी' रीडर
संस्कृत विभाग, कला संकाय
का० हि० वि० वि०, वाराणसी

वेद विश्व के प्राचीनतम ज्ञान के भण्डार, उसके सांस्कृतिक, दार्शनिक और सामाजिक आदर्शों के मूर्तिमान् प्रतीक हैं। जिस प्रकार आकर्षण में आबद्ध होकर पृथिवी प्रकाश स्वरूप सूर्य की परिक्रमा करती है, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति ज्ञानस्वरूप वेद के चारों ओर घूमती है। वेद न केवल भारत के गौरवशाली अतीत के प्रथम साक्षी हैं; अपितु वे समस्त सद्विद्याओं के बीजरूप हैं। सृष्टि के आदि में ऋषियों द्वारा दृष्ट ईश्वरीय ज्ञान 'वेद' समस्त नैतिक मूल्यों के आदर्श हैं। ऋत, सत्य, अहिंसा, मानव-प्रेम, विश्वबन्धुत्व की भावना एवं लोककल्याण की कल्पना ही वस्तुतः मानवता की आधारशिला हैं। मानवधर्म एवं आचारशास्त्र के शाश्वत सिद्धान्तों का बीज वेद में दृष्टिगोचर होता है। महर्षि मनु की **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्** तथा **वेदोद्धर्मो हि निर्बभौ** आदि उक्तियाँ वेद के विषय में पूर्णतः चरितार्थ होती हैं।

भारतीय परम्परा और वर्गीकरण के अनुसार वेदों के तीन प्रमुख भाग हैं—ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड एवं उपासनाकाण्ड। इन तीनों के अन्तर्गत प्रायः जीवन के सभी अंग समाविष्ट हो जाते हैं। आचार के सिद्धान्तों के रूप में नीति भी उनमें समाहित हो जाती है। अतः निःसंकोच कहा जा सकता है कि अन्य ज्ञान, विज्ञान, कला, संस्कृति आदि की भाँति नीति अथवा आचार का प्रथम उन्मेष ऋग्वेद में और सर्वाङ्गीण रूप सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में प्राप्त होता है। आचार को ध्यान में रखकर यदि वैदिक मन्त्रों का अध्ययन किया जाये तो ऊपर से दिखने वाली देवताओं की स्तुतियों, प्रार्थनाओं तथा धार्मिक कृत्यों में आचार और कर्तव्य का ही निर्देश प्राप्त होता है। यद्यपि अपने स्थलों पर स्पष्ट और स्वतन्त्र रूप से भी आचार के निर्देश प्राप्त होते हैं। ऋग्वेदीय देवताओं की चारित्रिक विशेषताओं पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि इनके स्तोता ऋत, सत्य, अहिंसा, मैत्री आदि नैतिक मूल्यों से ओत-प्रोत थे। इन्हीं नैतिक गुणों अथवा आचारों को ऋषियों ने प्रतिपल सजक होकर अनुभूत किया तभी तो वह स्तुति करने में अपने इष्टदेव तक को उन्हीं गुणों से अभिभूत देखने लगे।

स्मृतिकारों, पुराणकारों तथा महाभारतकार आदि ने संभवतः इन्हीं वैदिक भावनाओं के आधार पर धर्म या आचार के लक्षण निर्धारित किये।[१] संहिताओं में भी ऋषियों की व्यापक आचारदृष्टि के आधार

---

१. अहिंसा धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ मनुस्मृति, ६.९२

धारणात् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यस्मात् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥ महाभारत, शान्तिपर्व १०८.११

पर ही आचार का महत्त्व स्वीकार किया गया है। यथा—**आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः, आचारो परमो धर्मः, आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते, आचाराल्लभते आयुः** आदि अनेकों उक्तियाँ स्मृतिकारों द्वारा आचार के महत्त्व को प्रतिपादित करने के लिए प्रचारित की गयीं। वस्तुतः वेदों में जो आचारदृष्टि अपनायी गयी, वही सर्वमान्य हो गयी। वेदों में नैतिक आचार पर पर्याप्त विचार किया गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज पूर्णरूपेण नैतिक मान्यताओं को स्वीकार करता था। समाज में नैतिक उच्चादर्शों का पालन करने वाला व्यक्ति ही सम्मान का अधिकारी समझा जाता था। वेदों में उपकल्पित ऋत, सत्य, अहिंसा, मानवप्रेम, विश्वबन्धुत्व की भावना आदि गुण नैतिकता के उच्चादर्श हैं।

ऋत

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का एक मूल कारणभूत सर्वातिशायी, सर्वव्यापक एवं सर्वोत्कृष्ट नियामक परमतत्त्व है, जिसे 'ऋत' कहा गया है। सृष्टि के नियमन, संचालन हेतु यह ऋत ही अन्ततोगत्वा उत्तरदायी है। सत्य ऋत की ही छायानुकृति एवं भौतिक स्वरूप है। जिस वस्तु को हम लोक में सत्य के नाम से अभिहित करते हैं, उसे ही वेदों में 'ऋत' कहा गया है। यद्यपि वेदों में **ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत**[२] कहकर ऋत और सत्य का एक साथ भी कथन किया गया है; परन्तु ऋषि त्रिकालज्ञ एवं सर्वज्ञ थे; अतः दैवी जगत् के सत्य को उन्होंने 'ऋत' कहा और लौकिक जगत् के सत्य को 'सत्य'। ऋत आचार का एक अंग है और सत्य के पर्याय के रूप में प्रतिष्ठित है। **इदमहमनृतात् सत्यम् उपैमि** से सत्य के विपरीतार्थक अनृत शब्द से भी स्पष्ट हो जाता है। ऋत और सत्य दोनों को पृथिवी को धारण करने वाले तत्त्वों में परिगणित किया गया है। पृथिवी सदाचार पर ही टिकी है। अनाचार के प्रसृत हो जाने पर तो पृथिवी काँप उठती है। तैत्तिरीय संहिता में वर्णन है कि ऋत की पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाओं और स्वर्गलोक में सर्वत्र ही विजय होती है।[४]

संक्षेप में 'ऋत' परमेश्वर का वह अटल विधान है, जिसके सहारे समस्त सृष्टिचक्र का प्रवर्तन होता है। विस्तृत अन्तरिक्ष, द्युलोक एवं विशाल पृथ्वी 'ऋत' का ही विस्तार है।[५] ऋत के द्वारा ही आदित्यों की स्थति है—**ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति**। इतना ही नहीं; सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, आकाश एवं पृथिवी आदि सभी का आधार 'ऋत' को माना गया है।[६] राष्ट्र की प्रतिष्ठा का आधार भी ऋत ही है।[७] केवल लौकिक ही नहीं; अपितु पारलौकिक सुख, स्वर्ग एवं मोक्ष-प्राप्ति का साधन भी ऋत है।[८]

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥ श्रीमद्भागवतपुराण ७.८.१२

२. ऋग्वेद १०.१९०.१

३. शुक्ल यजुर्वेद १.५

४. तैत्तिरीय संहिता ३.३.५.१९

५. ऋग्वेद १०.८५.१

६. ऋग्वेद ४.२३.८-१०

इन सन्दर्भों में प्रयुक्त 'ऋत' शब्द परमात्मा के शाश्वत विधान के साथ-साथ उस नैतिक आचार का भी वाचक है, जिस पर चलकर मानव देवत्व एवं अमृतत्व की प्राप्ति कर सकता है। अमृतत्व की प्राप्ति का यह ऐसा मार्ग है, जिसे सदाचार के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। दुराचरण-रत व्यक्ति इस ऋत के मार्ग को पार नहीं कर सकते—'ऋतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृतः'।[९]

सत्य

वेदों में 'ऋत' के साथ-साथ सत्य को भी महत्त्व प्रदान किया गया है। वहाँ उसे विश्व का नियन्त्रण एवं संचालन करने वाला माना गया है। एक मन्त्र में स्पष्ट वर्णन है—सत्य के द्वारा ही पृथिवी स्तम्भित है—**सत्येनोत्तंभिता भूमिः**।[१०] एक स्थान पर तो धरती एवं आकाश को भी सत्य बोलने वाला बताया गया है—**ऋतावरीरोदसी सत्यवाचः**।[११] इन मन्त्रों से यह सिद्ध होता है कि वेदों में न केवल मानवसमाज; अपितु समस्त ब्रह्माण्ड को, यहाँ तक कि जड़ प्रकृति को भी सत्यमय उपकल्पित किया गया है। ऋग्वेद में ऐसे सत्यवचन से रक्षा की कामना की गयी है, जिस पर द्युलोक, दिन-रात तथा सारा जगत् आश्रित है, जिसकी महिमा से प्रतिदिन सूर्योदय होता है और जल प्रवाहित होता है।[१२] ऋग्वेद में 'सत्य' को विश्व का मौलिक तत्त्व स्वीकार किया गया है। अथर्ववेद में यही विचार और अधिक स्पष्ट रूप से आया है। वहाँ वर्णन है कि सत्य, ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म एवं यज्ञ पृथिवी को धारण करते हैं।[१३] उपनिषत्काल में सत्य का स्वरूप पर्याप्त विकसित दिखायी देता है। वहाँ 'सत्य' ब्रह्म का पर्यायवाची बन गया है।[१४] उपनिषद् की इस भावना का मूल उन ऋग्वैदिक सन्दर्भों में निहित है, जहाँ सत्य जगत् को समस्त का आधार बताया गया है।[१५]

सत्य के आचरण से ही मानव परमव्योम (स्वर्ग) में प्रतिष्ठित होता है। सत्यवादी ही देवत्व एवं अमृतत्व को प्राप्त करते हैं।[१६] शतपथ ब्राह्मण में भी सत्य के द्वारा स्वर्गप्राप्ति का वर्णन किया गया है।[१७] मनुस्मृति में 'सत्य' को स्वर्ग का सोपान कहा गया है—**सत्यं स्वर्गस्य सोपानम्**।[१८] महाभारत में सत्य की

---

७. ऋग्वेद १०.१२५.५

८. ऋग्वेद १.६८.२; ९.७४.४

९. ऋग्वेद ९.७२.६

१०. ऋग्वेद १०.८५.१

११. ऋग्वेद ३.५४.४

१२. ऋग्वेद १०.३७.२

१३. अथर्ववेद १२.१.१

१४. छान्दोग्योपनिषद् ८.३४

१५. ऋग्वेद १०.३७.२

१६. ऋग्वेद १०.१५.९; १०.१५.१०; ४.३३.६

१७. शतपथ ब्राह्मण २.२.२.२९

महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'यदि तुला में एक ओर सत्य और दूसरी ओर एक हजार अश्वमेध यज्ञ रक्खे जायँ तो भी सत्य का पलड़ा ही भारी रहेगा।[१९] वेदोत्तरकालीन साहित्य में प्राप्त सत्य के इस महान् आदर्श का मूल विचार वेद की ही देन है।

वेदों में जहाँ 'सत्य' को इतना महिमामण्डित किया गया है, वहीं असत्य एवं असत्यवादी को निम्न स्थान दिया गया है और उनकी निन्दा की गयी है। ऋग्वेद में असत्यवादी को पापी कहा गया है— **पापासः सन्तो अनृता असत्याः।**[२०]

दानशीलता एवं उदारता

'ऋत' एवं 'सत्य' के अतिरिक्त वेदों में दानशीलता, उदारता, अहिंसा, मानवप्रेम, विश्वबन्धुत्व की भावना, लोककल्याण की भावना, विवेक, बुद्धि, यथोलिप्सा, पापराहित्य, पवित्रता आदि आचारिक तत्त्वों का भी उल्लेख है। ऋग्वेद के एक सम्पूर्ण सूक्त में दक्षिणा एवं दक्षिणा देने वाले उदार व्यक्ति की महिमा का गान किया गया है। दानी व्यक्ति के स्वर्ग की पीठ पर अधिष्ठित होने का उल्लेख है।[२१] इतना ही नहीं; दक्षिणा देने वाले उदार दानी व्यक्ति ही ऋग्वेद के अनुसार अमृतत्व की प्राप्ति करते हैं।[२२] ऋग्वेद के अनुसार अकेला खाने वाला अनुदार एवं अदानी व्यक्ति पापी होता है।[२३]

अथर्ववेद में तो ऐसे व्यक्ति को 'अराति' कहा गया है।[२४] वस्तुतः दान न करने वाले अनुदार व्यक्ति मानवता के शत्रु हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि—'हे सबका पोषण करने वाले पूषन् देव! दान देने की इच्छा न करने वालों को दान देने के लिए प्रेरित करो और कृपण व्यापारी के मन को भी कोमल एवं उदार बना दो।'[२५] इसी सूक्त में आगे अदानी, अनुदार एवं कंजूस व्यापारियों के कठोर हृदय को वेधने तथा उनको मार डालने तक की प्रार्थनायें की गयी हैं।

ऋग्वेद में दानशीलता एवं उदारता आदि ऐसे नैतिक मूल्यों के भी संकेत हैं, जो वैदिक संस्कृति के आधारस्तम्भ कहे जा सकते हैं। ऋग्वेद में ऐसे गृहपति की कामना की गयी है, जो मानवहितैषी, वीर एवं दानी हों।[२६] एक मन्त्र में उत्तम दानी के लिए अतिथि सत्कार का विधान है—**आतिथ्यमस्मै चक्रमा सुदान्वे।**[२७]

---

१८. मनुस्मृति ८.८

१९. अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥ महाभारत शान्तिपर्व १.६२.२६

२०. ऋग्वेद ४.५.५

२१. ऋग्वेद १०.१०७.५, नाकस्य पृष्ठे अधितिष्ठाति। ऋग्वेद १.१२५.५

२२. ऋग्वेद १.१२५.६ 'दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते'।

२३. .... केवलाघो भवति केवलादी। ऋग्वेद १०.११७.६

२४. अथर्ववेद ३.१५.१

२५. ऋग्वेद ६.५३.३१

अतः अदानी की निन्दा एवं दानी की प्रशंसा के उपर्युक्त वैदिक उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि उदारतापूर्वक दान देना वैदिक आर्यों के जीवन का प्रमुख 'आचार' बन गया था।

अहिंसा

ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में हिंसा के प्रति घृणा की भावना के दर्शन होते हैं। अनेक मन्त्रों में 'गौ' के लिए 'अघ्न्या' (न मारी जाने योग्य), यज्ञ के लिए 'अध्वर' (हिंसा से रहित) शब्दों का प्रयोग भी अहिंसा की भावना का द्योतक है। अहिंसा की भावना का मूल ऋग्वेद के उन मन्त्रों में दिखाई देता है, जहाँ प्रभु से हिंसारहित बुद्धि की याचना की गयी है।[२८] वस्तुतः बुद्धि ही समस्त समृद्धियों की उपलब्धि का साधन है। कभी-कभी यह बुद्धि हिंसा एवं विनाश का भी कारण बन जाती है। इसलिये वेद में अहिंसक बुद्धि (अमृध्रां धियम्) की प्रार्थना की गयी है। वेद के अनुसार जो अहिंसक हैं, उन्हीं को मोक्ष का मार्ग प्राप्त होता है।[२९] वेदों में बाल, युवा, वृद्ध, माता-पिता तथा गौ आदि पशुओं तक की हिंसा का स्पष्ट शब्दों में निषेध किया गया है तथा हिंसक को दण्ड देने तथा उसे मार देने तक की प्रार्थनायें भी की गयी हैं।[३०]

अतः स्पष्ट है कि आर्यों के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में अहिंसा की पवित्र भावना की स्थापना हो चुकी थी। 'अहिंसा परमो धर्मः' के सिद्धान्त को वैदिक देन कहा जा सकता है। यह दुर्भाग्य है कि आगे चलकर मिथ्या ज्ञान के कारण 'अहिंसा' के प्रबल प्रतिष्ठापक वेद के नाम से 'वैदिक कर्मकाण्ड' में पशुहिंसा का प्रचलन हो गया।

मानव-प्रेम

मानव-प्रेम का ज्वलन्त उदाहरण ऋग्वेद के उन मन्त्रों में दृष्टिगोचर होता है, जहाँ परमात्मा को मानवमात्र का बन्धु, मित्र, प्रिय एवं सखा कहा गया है—

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रोऽसि प्रियः।
सखा सखिभ्य ईड्यः।[३१]

स्तुति करते समय परमेश्वर को मित्र की भाँति प्रिय बताया गया है—**स्तुषे मित्रमिव प्रियम्।**[३२]

---

२६. ऋग्वेद ६.५३.२

२७. ऋग्वेद १.७६.३; १०.१०७ सम्पूर्ण सूक्त।

२८. ऋग्वेद ७.६७.५

२९. ऋग्वेद ७.७६.२

३०. ऋग्वेद १.११४.८; ९.४.३

३१. ऋग्वेद १.७५.४

३२. ऋग्वेद ८.८४.१

इतना ही नहीं; समस्त विश्व को प्रिय बनाने की कामना भी ऋग्वैदिक मन्त्रों में उपलब्ध है।[३३] अथर्ववेद में तो सबको प्रेम से देखने का आदेश है—**प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये।**[३४]

विश्वबन्धुत्व की भावना

'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना का मूल भी भेद ही है। ऋग्वेद में इस विशाल पृथिवी को ही 'बन्धु' कहा गया है—**बन्धू में माता पृथिवी महीयम्।**[३५] परमात्मा ही सबका मित्र तथा मित्र की भाँति सबका कल्याण करने वाला है।[३६] यजुर्वेद में तो विश्व के समस्त प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखने का संकल्प है—**मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।**[३७] अथर्ववेद में सारी दिशाओं को ही अपना मित्र बनाने की कामना की गयी है—**सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।**[३८] **माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः** अथर्ववेद के इस मन्त्र में कहा गया है कि भूमि हमारी माता है, हम उसके पुत्र हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण भूमण्डल में रहने वाले प्राणी परस्पर समान हैं और भूमि बिना भेदभाव के 'वसूनि ददाति' अथवा 'वसूनि धारयति' धन सम्पत्ति को देने वाली, धारण करने वाली है। जैसे माता, पुत्र चाहे योग्य हो अथवा अयोग्य, बराबर स्नेह देती है, उसी प्रकार पृथिवी माता भी धन-सम्पत्तियों, सोना, कोयला, धान्य, वनस्पति, तेल, धातु व विभिन्न प्रकार के रत्नों को बिना भेदभाव के सबको देती है।

इस प्रकार जब व्यक्ति अपने राष्ट्र तक ही सीमित न रहकर सम्पूर्ण वसुधा को अपना निवास-स्थान समझने लगता है, उससे ममता करता है, उसे मानव की श्रेष्ठतम वृत्तियों का क्रीड़ास्थल बनाने के प्रयास में जुट जाता है तब उसकी भावनायें व्यापक हो जाती हैं। डॉ० राधाकृष्णन् कहते हैं कि 'विश्व एक साझेदारी है, यह एक मैत्रीपूर्ण ब्रह्माण्ड है। हमने प्रेम करने के लिए जन्म लिया है, न कि घृणा करने के लिये। हम एक-दूसरे की सहायता करने के लिए पैदा हुए हैं, न कि एक-दूसरे को समाप्त करने के लिये।' विश्वबन्धुत्व की भावना के कारण व्यक्ति विशाल हृदय वाला बन जाता है।

आज मानवता के प्रति प्रेम की आवश्यकता है, पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष व घृणा को दूर करने की आवश्यकता है। दो विश्व-युद्धों में दानवता के नग्न नृत्य ने सुहागिन धरती को विधवा बना दिया। अतः विश्व की रक्षा, युद्ध की भयङ्करता व इसके परिणामों से यह आवश्यक हो गया कि हमें अपनी नैतिक भावनाओं को ऊँचा रखना चाहिये। ऋग्वेद के मन्त्र में जो यह कहा गया है कि **योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः** अर्थात् जो हमसे घृणा या द्वेष करते हैं, जिनसे हम घृणा करते हैं—इस भावना

---

३३. ऋग्वेद १.२६.७

३४. अथर्ववेद १९.६२.१

३५. ऋग्वेद १.१६४.३३

३६. ऋग्वेद ८.४४.१४; १.५८.६

३७. यजुर्वेद ३६.१८

३८. अथर्ववेद १९.१५.१६

को निर्मूल कर देना चाहिये और 'आब्रह्मन् ब्रह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्' इस वेद-मन्त्र से प्रेरणा लेकर सुन्दर समाज की कल्पना करनी चाहिये।

विश्व-कल्याण की भावना

वैदिक संहिताओं में समष्टि की भावना पर अधिक बल दिया गया है तथा अधिकतर प्रार्थनाओं एवं स्तुतियों में उत्तम पुरुष बहुवचन का प्रयोग है। यथा—हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीयें आदि में समष्टि का भाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र 'धियो यो नः' में 'हम सबकी बुद्धियों को' कहकर भी ऋषि ने सबके कल्याण की प्रार्थना की है, तथापि व्यक्ति का ही आरम्भ से अन्त तक महत्त्व है। व्यक्ति ही परिवार का कारण है तथा व्यक्ति ही समाज के निर्माण में सर्वाधिक अनिवार्य अङ्ग है। यह स्पष्ट है कि व्यक्ति या व्यक्तियों से रहित केवल मिट्टी, धरती, सरोवर, पर्वत आदि किसी राष्ट्र या समाज का निर्माण नहीं कर सकते। अतः जिस परिवार, समाज या राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति का सागर में बूँद की भाँति महत्त्व है, वह यदि स्वयं आचारवान् हो जाय तो परिवार, समाज या राष्ट्र दूषित रह ही नहीं सकते। वैदिक ऋषि इस तथ्य को भलीभाँति जानते थे; अन्यथा वह ईश्वर से अपने उस मन को पवित्र एवं शुभ संकल्प वाला बनाने की प्रार्थना न करते, जिस मन के बिना कोई कार्य किया जाना सम्भव ही नहीं।[३९]

अतः विश्व-कल्याण के लिये ही वेदवाणी आविर्भूत हुई। उसमें मानव एवं पशु (द्विपाद एवं चतुष्पाद्) आदि सभी प्राणियों के कल्याण की कमनीय कामना की गयी है—**शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।**[४०]

एक मन्त्र में प्रार्थना की गयी है कि 'वायु हम सबके लिये सुखरूप होकर बहे, सूर्य हमारे लिये सुखमय होकर तपे, अत्यन्त गरजने वाले मेघ भी हमारे लिये सुखमय वर्षा करें।'[४१] ऋग्वेद में ऐसी बुद्धि एवं सम्पदा की याचना की गयी है, जो विश्वकल्याण एवं सार्वजनिक हित का सम्पादन करने वाली हो—[४२]

तामस्मभ्यं प्रमतिं जातवेदो। वसो रास्व समुतिं विश्वजन्याम्॥

वैदिक प्रार्थनाओं की यह गरिमा है कि वे समष्टि के लिये की गयी हैं, व्यष्टि के लिए नहीं। उपर्युक्त मन्त्रों में कल्याण की कामना करते समय उत्तम पुरुष बहुवचन का प्रयोग इसका ज्वलन्त प्रमाण है। विश्व के जन-जन की हितकामना वेद में की गयी है—

---

३९. शुक्ल यजुर्वेद ४०.३

४०. ऋग्वेद ७.५४.१

४१. शुक्ल यजुर्वेद ३६.१०

४२. ऋग्वेद ३.५७.६

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

वस्तुतः वेद में मानव-जाति के लिये एक-एक मन्त्र प्रेरणादायक, आनन्द एवं शान्ति की मधुर रश्मियों को प्रस्फुटित करने वाला है। आज सर्वत्र अशान्ति, अस्त्रों की होड़, परस्पर राष्ट्रों में ईर्ष्यापूर्ण वातावरण है। सम्पूर्ण विश्व ही मानों बारुद के ढेर पर बैठा है। कब विस्फोट हो जाये, ज्ञात नहीं। अतः वेद-ज्ञान ही हमें संसार में शान्तिपूर्वक निर्भय होकर आत्मविश्वास से पूर्ण आदर्शों की शिक्षा देता है। ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त[४३] में मन, वचन एवं कर्म से एकता की भावना पर बल दिया गया है—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्

एकता, समानता एवं सहृदयता का यह वैदिक आदर्श ही संसार को एक परिवार की भावना में बाँधने का मंगलसूत्र है। यही आदर्श अथर्ववेद में भी रमणीयता से चित्रित है—'सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः'। यदि ऐसा संसार में संभव हो जाय तो परस्पर ऊँच-नीच, गरीब-अमीर तथा अपने-पराये की भावना समाप्त हो जायेगी तथा विश्व के मानचित्र में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना सर्वत्र दृष्टिगत होने लगेगी।

✿

---

४३. ऋग्वेद १०.१९१

धर्मसम्राट् स्वामी करपात्री जी महाराज एवं गुरु परम्परा

डॉ० प्रमोदिनी पण्डा
वाराणसी

या देवी जगदम्बिका भगवती श्रीराजराजेश्वरी।
श्रीविद्या करुणानिधिः शुभकरी भूयात् सदा श्रेयसे॥

भारतीय अस्मिता की किसी भी परम्परा में गुरु की महिमा सर्वोपरि है। विशेष रूप में अनन्त

श्री विभूषित स्वामी करपात्री जी महाराज श्री विद्या परम्परा में गुरु को शीर्षस्थ स्थान देकर ग्रन्थ के आरम्भ में गुरुतत्त्व की व्याख्या किये हैं। श्रीविद्यारत्नाकर के प्रारम्भ में ही उन्होंने लिखा है—

गुरुक्रममविज्ञाय पूजयेत् यः परां शिवाम्।
सा पूजा निष्फला ज्ञेया भस्मन्यर्पितहव्यवत्॥[1]

सम्प्रदाय के अनुसार गुरु मुख से प्राप्त बीजमन्त्र का उच्चारण करने पर ही सिद्धि मिलती है। गुरु के अनुपमेय चरण ही शिष्य के शरण हैं।

ज्ञात्वा गुरुमुखान्नित्यं सम्प्रदाय-मतन्द्रितः।
प्रत्यहं स्मरणं कुर्यान्मत्रवीर्यस्य सिद्धये॥[2]

इतना ही नहीं, अपितु आचार्य श्री ने अपने वंश से गुरुवंश पर अधिक महत्त्व दिया है। गुरु का महत्त्व जनक से अधिक है। जनक तो सिर्फ जन्म देता है, गुरु उक्त जन्म को ज्ञानोपदेश के माध्यम से सम्पन्न बना कर आत्मोन्नति कराता है।

स्ववंशादधिको ज्ञेयो गुरुवंशो महाशुभः।
जनकादधिको ज्ञेयो मन्त्रदस्तु महेश्वरः॥[3]

आचार्य जी ने इस गुरुतत्त्व को समझाने के लिए परशुरामकल्पसूत्र एवं विभिन्न आगम ग्रन्थों से गुरु के लक्षण परक निर्वचन करके यह सिद्ध किया है कि शिष्य के सर्वविध उत्तति के लिए गुरु ही अवलम्ब्य है।

धर्मसम्राट् करपात्री जी ने जिस गुरुतत्व पर इतना बल दिया है, उसकी व्याकरण, आगम, ऐतिहासिक एवं शास्त्रीय व्याख्या उनके सिद्धान्तों के अनुसार करना उक्त शोधपत्र का उद्देश्य है।

गुरु शब्द का निर्वचन

पाणिनि एवं यास्क की दृष्टि से गुरु शब्द 'गृ' धातु से बना है—गृ गृणाति, गृ-निगरणे अर्थात् गिरति व गलति—इस धातु से 'उ' प्रत्यय के संयोजन से गुरु शब्द बना है, जिसक अर्थ ज्ञान देना एवं उपदेश प्रदान करना भी होता है। अर्थविस्तार करके उसका अर्थ **'महान्, भारी एवं शिक्षक'** आदि अर्थों को द्योतित करता है। पाणिनि ने उक्त गुरु के पर्याय के रूप में **गरीयस्** एवं **गरिष्ठ** आदि शब्दों का व्यवहार किया है।

अद्वयतारकोपनिषद् में गुरु शब्द की व्युत्पत्ति निम्नवत् है—

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद् रु-शब्दस्तत्तिरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वाद्, गुरुरित्यभिधीयते॥

---

१. श्री विद्या रत्नाकरः श्रीविद्या साधनापीठ, वाराणसी। पञ्चम संस्करण, २०००। पृ० २.

२. वही, पृ० २.

३. वही, पृ० २.

अर्थात् गुरु से स्थित 'गु' शब्द अन्धकारवाची है। 'रु' शब्द उस अन्धकार को दूर करने वाला है। वह व्यक्ति गुरु हो सकता है जो शिष्य के हृदयस्थ-मनस्थ एवं बुद्धिस्थ समस्त अन्धकार को दूर करके ज्ञान को उद्दीपित करता है। अतः कहा गया है—

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

इस कथन की पुष्टि करने के लिए गुरुगीता कुछ आगे जाकर इसका समर्थन करती है। 'गु' अर्थात् अन्धकार, 'रु' अर्थात् प्रकाश। गुरु ब्रह्मस्वरूप हो कर अन्धकार को नष्ट कर देता है।

गुकारस्त्वन्धकारश्च रुकारस्तेज उच्यते।
अज्ञानग्रासकं ब्रह्म गुरुरेव न संशयः॥[४]

परशुरामकल्पसूत्र के अनुसार गुरु सर्वलक्षण सम्पन्न है। सर्वतन्त्रों के ज्ञाता, संशयो को नाश करने वाला, दयावान्, धीर, कृपालु भक्तवत्सल, गम्भीर एवं साधनारत है गुरु।

श्रीगुरुः परमेशानि शुद्धवेशो मनोहरः।
सर्वलक्षण-सम्पन्नः सर्वावयवशोभितः॥
सर्वागमार्थतत्त्वज्ञः सर्वतन्त्र-विधान-वित्।
लोकसम्मोहनाकारो देववत् प्रियदर्शनः॥

× × ×

अन्तर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिः सर्वज्ञो देशकालवित्।
आज्ञासिद्धस्त्रिकालज्ञो निग्रहानुग्रहक्षमः॥
वेधको बोधकः शान्तः सर्वजीवदयाकरः।
स्वाधीनेन्द्रियसञ्चारः षड्वर्गविजयप्रदः॥

× × ×

सद्-भक्तवत्सलो धीरः कृपालुः स्मितपूर्णवाक्।
भक्तप्रियः समो देवि! गम्भीरः शिष्टसाधकः॥[५]

गुरु से अधिक इस ब्रह्माण्ड में और कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है—

न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकम्।
शिवशासनतः शिवशासनतः शिवशासनतः शिवशासनतः॥[६]

गुरु का स्वरूप एवं कार्य

चाइना देश की एक लोकोक्ति है—

---

४. गुरुगीता श्लोक -२३.

५. श्रीविद्या रत्नाकर के सौजन्य से पृ-२, ३

६. श्री गुरुगीता श्लोक-९३.

If You plan for a year, plant grains
If you plan for a decade, plant trees,
If You plan for a century Plant men.

इस उक्ति की यथार्थता का बोध गुरु के कार्यों से हो सकता है। गुरु उत्तम शिष्यों को समाज के लिए तैयार करता है। आज समाज में विघटन है, लोग भौतिकता की ओर भाग रहे हैं, बृद्ध माता-पिता को आश्रम में और बच्चों को बालकेन्द्र में छोड़ कर अर्थोपार्जन में लगे हैं। आज पाश्चात्य सभ्यता प्रभावशाली है। फलतः मशीन बना हुआ असहाय मनुष्य परिस्थिति के सामने आत्मसमर्पण कर रहा है। इसका कारण यह है कि हम पुरानी परम्परायें विरासत के रूप में पाये धर्म एवं गुरु शिष्य के सम्बन्ध को भूल रहे हैं। इस मानसिक प्रदूषण को दूर करने हेतु हमको अपनी अस्मिता को पहचानना होगा।

जब हम इतिहास की पर्यालोचना करते हैं तो वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य एवं दत्रात्रेय आदि गुरु के महत्त्व को स्वीकार करके उनका यशोगान करते हैं। पुराण प्रमाणानुसार दत्तात्रेय के तो २४ गुरु थे—पशु से पक्षी तक। विश्वास ही फल देता है। जिसका विश्वास नहीं है, उसको गुरु भक्ति का फल नहीं मिलता है। इस विषय में एक पारम्परिक श्लोक प्रसिद्ध है।

मन्त्रे देवे तथा तीर्थे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी॥

आरुणि गुरु भक्ति से रात भर पानी में सोते रहे, परशुराम पिता रूपी गुरु की आज्ञा से माता के शिर तक काट डाले एवं उसी गुरु भक्ति के फलस्वरूप पुनः माता के लिये जीवन दान भी करा लिये।

गुरु के प्रकार

विभिन्न पारम्परिक ग्रन्थों के आलोड़न से यह ज्ञात होता है कि गुरु तीन प्रकार के हैं, (१) विद्या-गुरु, (२) दीक्षागुरु एवं (३) आध्यात्मिक गुरु! पाठ्यक्रम में निर्धारित शास्त्रीय ज्ञान देने वाला गुरु 'विद्यागुरु' है, जिन्हें हम आचार्य कहते हैं। यह सिर्फ शास्त्रीय विषय का अववोधन कराता है। आगम ग्रन्थ में दीक्षागुरु के महत्त्व विपुलतया वर्णित हैं। परमपूज्य करपात्री जी कहते हैं—

इह सकलानर्थनिवर्हण-परमानन्दावासिमूलप्रत्यक्चैतन्याभिन्नपरात्परब्रह्मात्मिकायाः पराम्बायाः सच्चित्सुखरूपायाः साक्षात्कृतावुपास्तौ च दीक्षाऽपेक्षिता—

दीयते ज्ञानमत्यन्तं क्षीयते पापसञ्चयः।
यया दीक्षेति सम्प्रोक्ता परलोकप्रदायिनी॥[७]

विभिन्न तान्त्रिक ग्रन्थों में उक्त दीक्षा तीन प्रकार की वर्णित है—(क) मन्द, (ख) तीव्र, और (ग) अतितीव्र। शिष्य की योग्यता को देख कर उपर्युक्त दीक्षा दी जाती है।

श्रीविद्यापरम्परा में दीक्षाहेतु पुण्यतिथि निरूपित है। आचार्य श्री करपात्री जी का कहना है कि

---

७. श्रीविद्या रत्नाकर, पृ० ६.

'श्रीविद्यार्णवादिप्रोक्तशुभपुण्यतिथौ सद्गुरं वृणीयात्।' उक्त दीक्षाक्रम श्रीविद्यारत्नाकर आदि साम्प्रदायिक ग्रन्थों में विस्तृत रूप में वर्णित है। यह **शाम्भवी** एवं **शाक्ती** नाम से प्रसिद्ध है। इससे अतिरिक्त धर्मसम्राट् करपात्री जी ने एक लघु दीक्षाविधि बतायी जो इस प्रकार है—**गणपतेर्ललितायाश्च उभयोरेव क्रमं निर्वर्त्य पात्राण्यासाद्य चक्रराजमात्रं कलशे निक्षिप्य श्रीविद्याया केवलं शिष्यं स्नापयित्वा तदङ्गञ्च परिमृज्य शेषमशेषञ्चाऽनुतिष्ठेत्। गणपतिश्यामादीनां स्वातन्त्र्येणैकैकशः तत्तत्त्वक्रमं प्रवर्त्य तत्तत्पात्रे आसाद्य तत्तद्यन्त्रं कुम्भे निःक्षिप्य तत्तन्मन्त्रदीक्षां कुर्यात्।**[८]

आध्यात्मिक गुरु का स्वरूप ईश्वर सम है। शिष्य उन्हें गुरु रूप में अवतरित भगवान् समझता है। गुरु के प्रति असाधारण श्रद्धा रखता है।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाश्यन्ते महात्मनः॥

गुरु को सामान्य मनुष्य के रूप में मानना उचित नहीं है। अन्यथा शिष्य को आध्यात्मिक सफलता नहीं मिलती है—

गुरुं न मर्त्यं ध्यायेत यदि बुद्ध्येत तस्य तु।
न कदाचिद् भवेत् सिद्धिर्न मन्त्रैर्देवपूजनैः॥

गुरु साक्षात् ब्रह्मा-विष्णु एवं महेश्वर हैं। इस बात का समर्थन गुरु गीता में अत्यन्त मनोरम शैली में प्रस्तुत किया गया है।

अत्रिनेत्रः सर्वसाक्षी अचतुर्बाहुरच्युतः।
अचतुर्वदनो ब्रह्मा श्रीगुरुः कथितः प्रिये॥[९]

आचार्यों की दृष्टि में गुरु

शङ्कर सदृश आद्य शङ्कराचार्य ग्रन्थारम्भ में गुरु वन्दना करते हैं—

नमोऽस्तु गुरुवे तस्मै गायत्रीरूपिणे सदा।
यस्य वागमृतं हन्ति विषं संसार-संज्ञकम्॥

गुरु साधारण वस्तु से परे हैं। संसार में गुरु अद्भुत पारसमणि है। लोहे को सोने में परिवर्तित कर देना अर्थात् अज्ञान को ज्ञान में रूपान्तरित कर देना गुरु द्वारा ही सम्भव है।

गुरुतत्त्व के विषय में भास्करराय एक सुन्दर उदाहरण देते हैं। जिस प्रकार 'घट', 'कलश' एवं 'कुम्भ'—ये सभी शब्द एक ही वस्तु के वाचक हैं, ठीक इसी प्रकार 'गुरु' 'देवता' एवं 'मन्त्र'—ये सब शब्द भी पर्यायवाची हैं—

---

८. वही, पृ० १०.

९. गुरुगीता, श्लोक-४७.

यथा घटश्च कलशः कुम्भश्चैकार्थवाचकाः।
तथा मन्त्रो देवता च गुरुश्चैकार्थवाचकाः॥[१०]

अनन्तश्रीविभूषित परमपूज्य करपात्री जी उत्तम गुरु के स्वरूप को बताते हुए पारम्परिक तन्त्रों से उदाहृत करते हैं—

चीर्णाचारव्रतो मन्त्री ज्ञानवान् सुसमाहितः।
नित्यनिष्ठो यतिः ख्यातो गुरुः स्याद् भौतिकोऽपि सन्॥
मोहशुरोत्तरे

विद्ययाऽभयदातारं लौल्यचापल्यवर्जितम्।
एवंविधं गुरुं प्राप्य को न मुच्येत बन्धनात्॥
गुरुगौरवे०

सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान् गुरुरुच्यते।
ज्ञानं च तत्त्वविज्ञानं षडध्वज्ञान-संश्रयम्॥
पौष्करे०

उपसंहार

गुरु प्रेरणा का उत्स है। गुरु द्वारा प्रकटित अमृत-तत्त्वयुक्त वाणी को शिष्य ग्रहण करके धन्य हो जाता है। जिससे वह अमृतत्व को प्राप्त करता है। अतः योग्य गुरु का शिष्य बनना पूर्व जन्म का पुण्य फल है। वर्तमान पृथिवी, जल और आकाश प्रदूषित हैं। इसके साथ ही वमानव की मानसिकता प्रदूषित होती दिखाई देती है। इसकी पवित्रीकरण शक्ति स्वामी करपात्री जी के द्वारा दर्शाये गये आध्यात्मिक सन्मार्ग, धर्म एवं शास्त्रीय विधान में निहित हैं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक आपदाओं को दूर करने हेतु उनके द्वारा उपदिष्ट धर्ममार्ग केवल अनुसरणीय है। ऐसे सद्‌गुरु के परम सान्निध्य हेतु मैं उनके चरणचञ्चरीक बन कर कोटि कोटि प्रणाम करती हूँ।

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं।
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं।
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्‌गुरुं तं नमामि॥

✿

१०. सौभाग्यभास्कर से उद्‌धृत।

भारतीय धर्म

डॉ० राधाकान्त ओझा
मानस मर्मज्ञ
श्री जगन्नाथ मन्दिर, अस्सी, वाराणसी

धर्म शब्द धृ धातु से मन् प्रत्यय होने पर सिद्ध होता है धरति लोकान् इति धर्मः। अथवा ध्रियते पुण्यात्मभिरिति धर्मः। धर्मशब्द पुल्लिंग और नपुंसकलिंग दोनों में कहा गया है[१]। ध्रियते लोकोऽनेन, "धरति वा लोकं इति धर्मः" ऐसी व्युत्पत्ति भी अन्य कोश में की गयी है।[२] व्युत्पत्तिनिमित्तक धर्म शब्द का अर्थ यह है कि जो लोकों को, मनुष्यों को, प्राणियों को, धारण करता है उसे धर्म कहते हैं अथवा जो पुण्यात्माओं के द्वारा धारण किया जाता है उसे धर्म कहते हैं दूसरा अर्थ यह भी होगा कि जिसके द्वारा लोक धारण किया जाता है या जो लोक को धारण करना है वही धर्म कहलाता है दोनों का अभिप्राय एक ही है। अथवा धारणात् धर्ममित्याहुः धर्मोधारयते प्रजाः यः स्याद्धारणसंयुक्त स धर्म इति निश्चयः[३]। धारण करने के कारण धर्म कहा गया या जो प्रजाओं को प्राणीमात्र को धारण करता है इसलिये उसे धर्म कहते हैं। इस तरह धर्म की व्युत्पत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ शब्दकोषों में पाये जाते हैं। पुराणों में धर्म शब्द के पारिभाषिक अर्थ किये गये हैं। भविष्य पुराण में धर्म को क्रियात्मा, श्रेय और अभ्युदय लक्षणात्मक कहा गया[४]। धर्म शब्द से अर्थ और काम, धर्म और मोक्ष का भी ग्रहण किया गया है[५]। वैशेषिक सूत्र में महर्षि कणाद ने भी धर्म की परिभाषा करते हुए कहा है कि जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि होती है उसे धर्म कहते है[६]। यहाँ त्रिवर्ग को (धर्म, अर्थ और काम) अभ्युदय कहते हैं। मोक्ष को निःश्रेयसात्मक कहा गया है। धर्म से ही पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि होती है। जीवों के प्रभवार्थ ही धर्म कहा गया है। प्रभवार्थ का अभिप्राय यह होता है कि मनुष्यों या जीवों की सृष्टि, पालन, व्यवहार समुचित होना चाहिए। एतदर्थ धर्म कहा गया। इससे यह सिद्ध होता है कि जो प्रभाव से युक्त हो उसे हम धर्म कहते हैं। धर्म में धारण को कारण मानते है उस धारण और प्रभाव में कोई अन्तर नहीं है। मनुष्यों की अभ्युदयात्मक सिद्धि भी वर्णाश्रम और आचरण रूप धर्म से ही होगी। क्योंकि वर्णाश्रम की अव्यवस्था होने पर समाज में विप्लव हो जाता है वायु पुराण में महर्षि व्यास ने कहा है वर्णधर्म के मर जाने पर प्रजाओं की सारी तरक्की रुक जाती है क्योंकि परस्पर एक दूसरे के विरोध हो जाते हैं[७]। इसलिए गुण और कर्म से व्यवस्थित वर्णाश्रम की आधारभूत धर्म की सदा अपेक्षा होती है क्योंकि मनुष्यों

---

१. शब्दकल्पद्रुमः - पृ० ७८३.

२. संस्कृत हिन्दी कोश (शिवरामवामनआप्टे)

३. महाभारत शान्ति पर्व अध्याय, १०९.

४. भविष्य पुराण, १, १८, १७.

५. महाभारत

६. वै. सू. १, १, २.

का योगक्षेम करने वाला धर्म ही है। वर्णों के अंगीभूत धर्म गुण कर्मानुसार ही व्यवस्थित है इसके अतिरिक्त वर्णों के धर्म नहीं माने जाते हैं। आश्रम को भी अवस्था के अनुसार एषणात्रय की शान्ति के लिए व्यवस्थित किया गया है। धर्म की व्यापकता देखते हुए मानवधर्म का निरूपण और तदङ्गत्वेन वर्णधर्म का प्रतिपादन करते हैं इसलिए मानवधर्म और वर्णधर्म में कोई अन्तर नहीं है जैसे किसी एक वस्तु का दो नाम होता है केवल अक्षर का पार्थक्य है। धर्म को साध्य-साधन भेद से दो स्वरूपों में विभक्त कर सकते हैं उसमें कर्ममय धर्म को साधन कहा गया और श्रेयात्मक या अभ्युदयलक्षणात्मक पुरुषार्थ एवं धर्म को साध्य कहते हैं[८]। धर्म का स्थूल और सूक्ष्म दो स्वरूप होता है। वेदों में जो कहा गया है कि यह करना चाहिए यह नहीं करना चाहिए। यह धर्म और अधर्म का सार्वजनिक स्वरूप स्थूल है। यह पुण्य है और यह पाप है ऐसा वैदिकवचन अथवा शास्त्रवचन, चाण्डाल से लेकर सभी मनुष्यों के लिए प्रतिपादित किया गया है। यह धर्म का स्थूल रूप है। जैसा कि महर्षि व्यास जी ने महाभारत में कहा है—

''अष्टादश-पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
धर्मः परोपकरणं, अधर्मः परपीडनम्॥''

यहाँ भी सर्वजनहिताय धर्म का स्थूल स्वरूप ही परिलक्षित होता है। धर्म का सूक्ष्म स्वरूप आध्यात्मलक्षण से युक्त होता है।

जैसे—

''इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्याय-कर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मः यद् योगेनात्मदर्शनम्[९]॥''

यज्ञ करना, आचारवान् होना, इन्द्रियों का दमन करना, किसी प्रकार की हिंसा न करना, दान करना, स्वाध्याय करना ये सभी धर्म सूक्ष्मस्वरूप हैं। इसके अतिरिक्त जो योग के द्वारा आत्मदर्शन करना आत्मा का साक्षात्कार करना इसे धर्म का परम सूक्ष्म स्वरूप कह सकते हैं—

धर्म का लक्षण—धर्म का चार लक्षण कहा गया है जैसे—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एत्तच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्[१०]॥

वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्मा को जो प्रिय लगे ये धर्म के साक्षात् चार लक्षण बताये गये हैं। पद्म पुराण में धर्म के छः लक्षण कहे गये है—

पात्रे दानं मतिःकृष्णे मातापित्रोश्च पूजनम्।
श्रद्धावलिर्गवां ग्रासः षड्विधर्मलक्षणम्[११]॥

---

७. वायु. पु. अध्याय ८.

८. मानवार्ष भाष्य

९. मनुस्मृतेः मानवार्षभाष्यम् भाग-१.

१०. उपरोक्त

सुपात्र-सुयोग्य ब्राह्मण को दान देना, भगवान् श्रीकृष्ण के पादारविन्द में बुद्धि को लगाना, भगवान् कृष्ण के स्वरूप, गुण-लीला आदि का निरन्तर चिन्तन करना, माता और पिता की सेवा, आज्ञापालन आदि कर्मों द्वारा पूजन करना, कहा गया है। पुत्र का कर्त्तव्य होता है कि नित्य गुरु माता-पिता आदि का अभिवादन (प्रणाम) करे। माता-पिता तथा गुरु के आशीर्वाद से आयु-विद्या यश और बल की प्राप्ति होती है।

"अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशो बलम्[१२]॥"

इसलिए धर्म के लक्षण में माता-पितृ पूजन कहा गया है। श्रद्धा रखना, श्रद्धा उसे कहते है जो गुरु और वेदान्त के वचनों पर विश्वास करता है। वेदान्त शब्द से यहाँ वेदों, पुराणों, स्मृतियों तथा शास्त्रों का ग्रहण होता है। बलि प्रदान करना, इन्द्रदिक्पालों, नवग्रहों, क्षेत्रपाल आदि देवताओं की बलि देना शास्त्र-विहित है। गायों को ग्रास देना अर्थात् गो सेवा करना ये छः धर्म के लक्षण रह गये है। योगसार में धर्म के पाँच प्रकार कहे गये है यथा—

"प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणम्।
स्मरणं चैव योगेस्मिन् पञ्च धर्माः परिकीर्तिताः॥"

योग में पाँच प्रकार का धर्म कहा गया है। क्रमशः प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारण और स्मरण करना। धर्म के दस अंगों का वर्णन भी किया गया है।

"ब्रह्मचर्येण सत्येन तपसा च प्रवर्धते।
दानेन नियमेनापि क्षमा शौचेन वल्लभः॥
अहिंसा च सुशान्त्या च अस्तेयेनापि वर्तते।
एतै र्दशभिरङ्गैस्तु धर्ममेव प्रसूयते[१३]॥"

ब्रह्मचर्य, सत्य, तपस्या, दान, नियम, क्षमा, शौच, अहिंसा, सुशान्ति और अस्तेय इन दश अंगों से धर्म सुशोभित होता है। हितोपदेश में धर्म के आठ मार्गों का उल्लेख भी पाया जाता है।

"इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा।
अलोभ इति मार्गो यः धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥"

इज्या (यज्ञ) अध्ययन, दान, तप, सत्य, धृति (धैर्य) क्षमा और लोभ न करना ये धर्म के आठ मार्ग बताये गये हैं।

धर्म की उत्पत्ति और परिवार

पुराणों में महर्षि वेद व्यास ने धर्म की एक देवता के रूप में परिकल्पना करते हुए उसकी उत्पत्ति

---

११. पद्मपुराण उ० ख०

१२. मनु० अध्याय २ श्लोक १२२.

१३. पद्मपुराण भूमि खण्ड

और उसका पारिवारिक स्वरूप प्रदान किया है। देवता के रूप में धर्म की उत्पत्ति ब्रह्मा के दक्षिण स्तन से हुई है।[१४] धर्म की पत्नियों तथा पुत्रों का नामोल्लेखपूर्वक वर्णन किया गया है। धर्म की पत्नियाँ दक्ष प्रजापति की त्रयोदश कन्यायें हुईं जिसका नाम श्रद्धा, लक्ष्मी, धृति, तुष्टि, पुष्टि, मेधा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, सिद्धि और कीर्ति है। इन १३ पत्नियों से १४ पुत्रों का जन्म हुआ। जिनका क्रमश: नाम दिया जाता है। श्रद्धा से ऋत, मैत्री से प्रसाद, दया से अभय, शान्ति से सुख, तुष्टि से सत, पुष्टि से पर्व, क्रिया से योग, उन्नति से दर्प, बुद्धि से अर्थ, मेधा से स्मृति, मूर्ति से नर और नारायण, तितिक्षा से क्षेम, ह्रीं से प्रच्छेय का जन्म हुआ।[१५] धर्म की पत्नियों एवं पुत्रों के नाम का जो विवरण दिया गया है इन सभी शब्दों की व्याख्या विस्तारभय से यहाँ नहीं की जा रही है। धर्म के पर्याय शब्द जैसे पुण्य, श्रेय, सुकृत, और वृक्ष हैं।[१६] उपनिषद् में धर्म का पर्यायवाची शब्द अहिंसा भी कहा गया है। धर्म का पर्याय शब्द जो वृष कहा गया है वह वृषभ का भी द्योतक है। वृष शब्द का अर्थ है वर्षा करना। वेद में वृष को वृषभ का रूप दिया गया है।

चत्वारि श्रृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वेशीर्षे सप्तहस्तासोअस्य।
त्रिधा वद्धोवृषभोरोरवीत महोदेवो मर्त्यां आविवेश।

इस मंत्र में वृषभ रूपी धर्म के चार सिंग, इसके तीन पैर, दो मस्तक और सात हाथ दर्शाये गये हैं। धर्मरूपी वृषभ तीन स्थानों पर बाधा जाता है। धर्मरूपी वृषभ बोलता भी है। वह धर्मरूपी वृषभ महान् देवता बनकर मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट भी है। धर्म का प्रतीकात्मक रूप वृषभ है।

कुछ आचार्य धर्म के चार-चरण मानते हैं। युगों के अनुसार धर्म के चार चरणों का अलग-अलग विवरण भी पाया जाता है। कृतयुग में वैदिक धर्म, चारो चरणों से परिपूर्ण था जिसमें सत्य की प्रधानता थी। अन्य युगों में एक-एक चरणों का ह्रास होने से त्रेता युग में धर्म का तीन चरण, द्वापर में दो चरण और कलियुग में एक चरण पर धर्म स्थित है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में वैदिक धर्म को चारों युगों में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रदर्शित किया है उनके मत में युग की कल्पना ही दूसरों से भिन्न है उन्हों सबों के हृदय में नित्य ही चारों युगों की स्थिति का सुस्पष्ट उल्लेख किया है।[१७]

मनुष्य के दैनिक जीवन में जिस समय शुद्ध सत्त्वगुण, समता और विज्ञान तथा प्रसन्न मन होता है। उसे कृतयुग अर्थात् सतयुग मानना चाहिए। जिस समय सत्वगुण बहुत हो, और रजोगुण का कुछ सम्मिश्रण हो और कर्म में रति हो उसे त्रेता युग समझना चाहिए। जिस समय रजोगुण अधिक हो सत्व गुण की स्वल्पता हो और कुछ तमोगुण मिला हो तो द्वापर युग मानना चाहिए। इस तरह जिस काल में तमो गुण की अधिकता हो रजोगुण स्वल्प हो तथा विचारों का विरोध चारों तरफ होता हो उस समय कलियुग समझना चाहिए। इस तरह मानस में गोस्वामी तुलसीदास जी ने युगों की परिकल्पना की है।

---

१४. मत्स्य पुराण ३/१०.

१५. श्रीमद् भागवत महापुराण/शब्द कल्पद्रुम, पृ. ७८३.

१६. श्रीरामचरितमानस उ० का०

१७. गीता व्याख्यान माला प्र० भाग।

महामहोपाध्याय श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी जी तर्कसिद्ध धर्म की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि धर्म को कार्य और अधर्म को अकार्य मानना चाहिए। आर्य संस्कृति में चार पुरुषार्थ होते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। पुरुषार्थ शब्द का अर्थ है मनुष्य जन्म का प्रयोजन। अथवा पुरुषैरर्थ्यते इति पुरुषार्थः। इस व्युत्पत्ति के अनुसार मनुष्य जिसकी इच्छा करे वही पुरुषार्थ कहा जायेगा।

मनुष्य की इच्छायें अनन्त है किन्तु इन अनन्त इच्छाओं का वर्गीकरण सिद्धान्त के अनुसार चार श्रेणियों में बाँटा जायेगा। मनुष्य को अर्थ से अपनी उन्नति की इच्छा होती है। उसके बाद मनुष्य की इच्छा सुख भोगने की ओर होती है जिसे हम काम कहते हैं। ऐसा मानने पर अर्थ और काम की प्रधानता हो जायेगी। कर्म और मोक्ष गौण हो जायेगा। इसलिए धर्म का मुख्य अर्थ स्वरूप की रक्षा ही माना जायेगा। मोक्ष शब्द का अर्थ बन्धन से छुटकारा पाना है क्योंकि बन्धन मुक्त होना सभी प्राणियों की इच्छा होती है। देखा जाता है कि सभी लोग शुक-सारिका आदि बोलते हैं जिसे सभी प्रकार की सुखोपभोग उपलब्ध होते हैं। फिर भी एक पिंजड़े की खिड़की खुलते ही उड़कर आकाश की ओर चले जाते हैं इससे सिद्ध होता है कि बन्धन के छुटने की इच्छा प्राणीमात्र को होती है। मनुष्य भी विवश होकर किसी न किसी बन्धन में रहता है वह भी अवसर मिलते ही स्वतन्त्र होना चाहता है। इस पुरुषार्थचतुष्टय को त्रिवर्ग और चतुवर्ग में बाँटा गया। त्रिवर्ग में धर्म, अर्थ और काम। चतुवर्ग में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को कहा गया है। त्रिवर्ग में भी स्वस्थ रक्षा सर्वाधिक वांछित है। क्योंकि धन या उन्नति, सुखो-पभोग भी उतना ही अभीष्ट है जिससे स्वरूप का विघात न हो। स्वरूपविघातक अर्थ और काम कोई नहीं चाहता। स्वरूप के ज्ञान में सबकी समानता नहीं होती है। शिक्षा के अनुसार ज्ञान बुद्धि से स्वरूप का ज्ञान भिन्न-भिन्न होता है। मनुष्य जितना अपना स्वरूप समझता है उसकी रक्षा का प्रयास करता है जब मनुष्य परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व को अपना स्वरूप मान लेता है तो परिवार में पुत्रादि की रक्षा भी करता है। समाज की रक्षा, राज्य की रक्षा, राष्ट्र की रक्षा भी स्वरूप मानकर करता है। जैसे अंगूठे का विष, सम्पूर्ण शरीर में फैल गया हो तो मनुष्य सम्पूर्ण शरीर के लाभार्थ अंगूठे कठवा देने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। महर्षि दधीचि ने वृत्रासुर से सम्पूर्ण जगत के रक्षार्थ इन्द्रादि देवताओं की प्रार्थना स्वीकार कर अपने शरीर की हड्डियों को दान कर दिया जिससे धनुष और एक बज्र का निर्माण हुआ। इन्द्र के बज्र द्वारा वृत्रासुर का बध किया। जिससे संसार का त्राण हुंआ। दधीचि ने सम्पूर्ण विश्व को अपना स्वरूप मानकर ही विश्वविख्यात शरीर का दान किया था। इस तरह के अनेक उदाहरण स्वरूपरक्षा के पाये जाते हैं। वहाँ स्वरूपरक्षा ही धर्म माना गया है। इसलिए अर्थ और काम से धर्म की उत्कृष्टता सिद्धि होती है। जब धर्मनियंत्रित अर्थ और धर्मनियन्त्रित काम होता है तब समाज में सुख शान्ति का संचार होता है। इसके बाद मोक्ष तो स्वतः अभीष्ट हो जाता है। अतएव पुरुषार्थचतुष्टय में भारतीय धर्म की प्रधानता हमेशा से मानी गयी है। जयतु भारतीयधर्मः।

''धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'' धर्म ही सम्पूर्ण संसार को अपने स्वरूप में स्थिर रखने वाला है। इसलिए शुद्ध बुद्धिवाले मनुष्य सुख के कारण धर्म को अपनी पारगामी बुद्धि से पहचानकर विषयसुख

का परित्यागकर, अर्थ और काम की प्रचण्ड आँधी में भी धर्म के अंग धैर्य के सहारे हिमालय और विन्ध्याचल की तरह अविचल रहकर धर्म का पालन करते हैं। रामराज्य को आदर्श इसलिए माना जाता है कि वह धर्म के द्वारा सुव्यवस्थित था। इसी कारण से रामराज्य में कोई किसी से वैर नहीं करता था। आज होने वाली दुर्घटनाएँ, खून-खराबा धर्म न मानने के क़ारण ही हो रही हैं। धर्म एक वह बल है जो संसार में अचूक विजय दिलाने वाला होता है दुस्शासन जैसे प्रबल शरीर वाले व्यक्ति के सामने असहाय और अबला द्रौपदी को किसने विजय दिलायी? त्रिलोकी को कंपित करने वाले हिरण्यकशिपु जैसे अत्याचारी सम्राट् से प्रहलाद जैसे बालक की विजय का कारण कौन बना? सुवर्णमयी लंका के स्वामी रावण पर कन्द-मूल फल खाने वाले भगवान् राम ने विजय प्राप्त कर संसार को क्या शिक्षा दी? चतुरंगिणी सेना से सुसज्जित महाराज विश्वामित्र को वनवासी अकेले महर्षि वशिष्ठ ने किस बल से जीता? ग्यारह अक्षोहिणी सेना का स्वामी दुर्योधन केवल सात अक्षोहिणी सेना के स्वामी युधिष्ठिर के आगे क्यों परास्त हुआ? इन सब बातों का उत्तर एक मात्र धर्मबल है। धर्मबल संसार में विजय दिलाता है। और परलोक का तो एकमात्र साथी धर्म ही है। महाराणा प्रताप और वीर शिवाजी आदि ने अपने प्रिय प्राणों की संग्राम की पवित्र वेदी पर आहुति दी थी, किस बल के सहारे तो धर्मबल का सहारा था। चीटों के बलमीक की तरह धीरे-धीरे धर्म का संचय करना चाहिए। मनु० ४/२३८, ४/२४२

धर्म शब्द का अर्थ धरतीति धर्म या ध्रियते इति धर्मः इन दोनों का तात्पर्य है ध्रियमाणः सन् धरति इति धर्मः अर्थात् धर्मी में रहकर जो धर्मी के स्वरूप की रक्षा करता रहे वही धर्म है।

धर्म शब्द का समानार्थक दूसरा शब्द किसी भाषा में नहीं पाया जाता जितना गम्भीर अभिप्राय इस शब्द के अन्तर्गत है उतना अभिप्राय वाला कोई दूसरा शब्द संसार में है ही नहीं इसलिए इस शब्द का ठीक अनुवाद भी किसी भाषा में नहीं हो सकता। इंग्लिश में शब्दों को रिलीजन कहा गया जिसका अर्थ ''रि'' अर्थात् पुनः लीज अर्थात बन्धन। इससे शब्दार्थ होता है कि जो पुनः बन्धन करने वाला हो। मजहब शब्द भी मत आदि अर्थों के बोधक हैं। धर्म का अर्थ उनसे लेशमात्र भी प्रकाशित नहीं होता।

जैसे कई विद्वान् ड्यूटी या कर्तव्य मानते हैं लेकिन इससे अभिप्राय नहीं निकलता। धर्म शब्द का प्रयोग हम ''अग्नि का धर्म, जल का धर्म आदि स्थानों में अप्रतिहत स्व से कर सकते हैं किन्तु अग्नि की ड्यूटी, जल की ड्यूटी, आदि प्रयोग से कभी सुसंगत नहीं होगा। धर्म शब्द गुण का बोधक होने से अग्नि धर्म का, जल का धर्म'' प्रयुक्त होता है। धर्म का अर्थ स्वरूपरक्षा सभी में अनुगत हो जाता है अग्नि में दाहकत्व जल में आप्यायन ही गुण है धर्म है। उसके नष्ट होने पर अग्नि को अग्नि और जल को जल कहने के लिये तैयार नहीं हो सकता अतएव स्वरूप साधन से धर्म शब्द का स्पष्ट अर्थ दिखाई देता है। अतएव पुरुषार्थचतुष्टय में भारतीय धर्म की प्रधानता हमेशा से मानी गयी है।

अनन्त श्री विभूषित स्वामी करपात्री जी ने ''यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'' धर्म के इस लक्षण को तटस्थ लक्षण ही माना है। ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' के समान ''वेदादिगम्ययागादिक्रिया धर्म है यही धर्म का स्वरूप लक्षण कहा है। पुनः उन्होंने वेदादि शास्त्रोक्त कर्म या तज्जन्य अदृष्ट या वृत्ति या

संस्कार ही धर्म है ऐसा कहा है विचार पीयूष पृ० २२२-२२४।" "चोदनालक्षणोर्थो धर्मः" इस लक्षण की ओर स्वामी जी का विशेष संकेत है।

स्वामी जी ने वेदान्तप्रतिपाद्य कर्म को ही धर्म माना है। उन्होंने उदाहरण द्वारा बताया है कि "चक्षुषैव रूपमपुलभ्यते न श्रोत्रादिना" आखों से ही रूप की प्रतीति होती है श्रोत्र आदि से नहीं। इसी तरह उसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं "आलोकादिसहकृतेन दोषरहितेन मनःसंयुक्तेन चक्षुषा रूपमुपलभ्यते एवं न नोपलभ्यते" इसका आशय यह है कि आलोक-प्रकाश आदि सहकारिकारणों से सहकृत, दोषरहित, मनः संयुक्त चक्षु से रूप का ज्ञान होता है, नहीं होता, ऐसा नहीं। इस प्रकार अयोग एवं अन्य योग की निवृत्ति से चक्षु एवं रूप का असाधारण सम्बन्ध निर्धारित होता है। उसी तरह वेदों से ही धर्म का बोध होता है अन्य प्रमाण से नहीं। वेदों से विधि-निषेधात्मक वाक्यों द्वारा धर्म का बोध होता है इसी आशय से गीता में भगवान् ने कहा—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

जो शास्त्र विधि का उल्लंघन कर मनमानी कर्म करता है उसे सिद्धि, सुख-शान्ति नहीं मिलती। इस कथन से अन्य योग निवृत्ति सिद्ध होती है। तुम्हारी कार्य-अकार्य-व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है। अतः शास्त्रविधानोक्त कर्म को जानकर ही कर्म करो। इसे अयोगनिवृत्ति भी कहा गया है। देखा जाता है कि बहुत से स्थलों में वेदाध्ययन न होने पर भी वेदार्थ, अहिंसा, सत्य आदि के संस्कार फैले हैं। वैदिक धर्म अनादि है। प्रायः उसी के अनेक अंश अन्य धर्मों में अन्य स्थलों में संगृहीत किये हैं—जैसे मनु—

धृतिः क्षमा, दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म-लक्षणम्॥

इस श्लोक में बोधित दस पदार्थ धर्म के स्वरूप हैं। ये भी श्रुत्यादिमूलक ही हैं। लक्ष्यते अनेनेति लक्षणम्, इस व्युत्पत्ति से सिद्ध होने वाला लक्षण तो धर्म ही है किन्तु "लक्ष्यते यत् तत् लक्षणम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार सिद्ध लक्षण शब्द से लक्षित धर्म स्वरूप ही "दशकं धर्म लक्षणम्" से विवक्षित है। श्रीमद्भागवत में धर्म के तीस लक्षण कहे गये हैं। वहां भी लक्षण का अर्थ स्वरूप ही है।

अतएव अनन्त श्री विभूषित स्वामी करपात्री जी के अनुसार तथा महामहोपाध्याय श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी जी के मतानुसार वेदोक्त कार्याकार्य विचारपूर्वक स्वरूप रक्षा ही भारतीय धर्म का लक्षण सिद्ध होता है। "धृतिः क्षमा .... या इज्याध्ययन दानानि" इत्यादि कहे गये श्लोकों में धर्म का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। जयतु भारतीयधर्मः।

✿

'श्रीविद्या में मेरा प्रवेश व साधना के अनुभव'

विनोद दूबे
सेवानिवृत्त अधिकारी, विश्व बैंक, अमेरिका

आध्यात्म में मेरी रुचि बहुत पुरानी है। मैं अपने माता-पिता जो ज्योर्तिमठ के शङ्कराचार्य स्वामी ब्रह्मानंद सरस्वती से दीक्षाप्राप्त शिष्य थे, के साथ उनके गुरु के पास छात्र जीवन से ही जा रहा था। उनसे दीक्षा प्राप्त करने का पूरा स्वप्न १९५३ में उनके देहावसान के साथ ही टूट गया। वाशिंगटन डी० सी० में अपने प्रवास के दौरान मैने स्वामी चिन्मयानन्द चंद्रास्वामी, जो एक कान्तिप्राप्त तान्त्रिक हैं, के दो या तीन शिविरों में भाग लिया। उन्होंने १९८२ में शिवरात्रि पर मेरे घर पर एक रुद्रयाग भी कराया। १९९१ में मैने स्वामी लक्ष्मण ज़ी के साथ तीन अविस्मरणीय दिन भी बिताये हैं। श्री शैलमे शिव बाल योगी जो साई बाबा की तरह के ही चमत्कार दिखाते थे तथा अनेक साधु मेरे घर पधार कर प्रसाद ग्रहण करते रहे है। भूतपूर्व आइ० ए० एस० व वर्तमान में एक व्यवसायी मेरे घनिष्ठ मिश्र श्री सतीश कुमार सिंह की मेरे आध्यात्मिक रुझान व उसके विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। श्रीमद्भगवद्गीता से परिचय व दुर्गा सप्तशती से भावनात्मक लगाव उन्हीं की देन है। सन् १९८१ में होनसेडेनपेनसिलवानिया में मेरे प्रथम गुरु स्वामी राम से उन्होंने ही मिलवाया था। १९८९ में मैंने उनसे दीक्षा ले ली। यद्यपि वे जैसा कि उनकी आत्मकथा में वर्णित है अपने हिमालयप्रवासी गुरुओं के सान्निध्य में श्री विद्या में सिद्धस्थ हो चुके थे। उन्होंने मुझे मेरे इष्टदेव भगवान् राम के मन्त्र का उपदेश किया। मैं अपने गुरु के प्रति पूर्ण रूपेण समर्पित था और मैने न सिर्फ ऋषिकेश, जहाँ वे रहते थे, बस जाने का मन बना लिया था बल्कि जोली ग्राण्ड जहाँ वे मेडिकल सेण्टर बना रहे थे, में जमीन भी खरीद लिया था।

मेरे जन्मनगर प्रयाग में, जहाँ मैं अपनी माँ के साथ रहता था, १९९५ में अर्धकुम्भ लगा था। आई एम एस के मेरे एक मित्र ने मुझसे किसी होटल में व्यवस्था करने के लिए सम्पर्क किया। वे अर्धकुम्भ के अवसर पर स्वामी गुरुशरणानन्द के शिविर में आयोजित मुंरारी बापू की रामकथा सुनने आये थे और उन्होंने ही मुझे गुरुशरणानन्द के शिवर के सही स्थिति के बारे में बताया था। मैं वहाँ माघ कृष्ण पक्ष की षष्ठी तिथि को गया। कथापण्डाल में बड़ी भीड़ थी और मैं अपनी कमजोर आखों के कारण अपने मित्र को ढूँढ नहीं पाया और वापस लौट जाने का मन बना लिया। लेकिन मुझे ध्यान आया कि सतीश कुमार सिंह ने जब यह जाना कि मैं कभी कुम्भ मेले में नहीं गया हूँ यद्यपि मेरा जन्म व लालन-पालन प्रयाग में ही हुआ है। तो उन्होंने कहा था ''मेले में जाओ और बिना किसी प्रयोजन के चहल कदमी करो'' अतः मैंने गुरुशरणानन्द जी के शिविर में ही चहलकदमी करना शुरू कर दिया। वहाँ मुझे एक छोटे से पण्डाल में एक बैनर पढ़ने को मिला जिस पर लिखा था ''ललिता सहस्र नाम कोटिअर्चन, श्री विद्या साधनापीठ, वाराणसी''। क्योंकि मैं १९९० से ही ललिता सहस्रनाम का पाठ करता रहा था अतः मैंने सोचा पता किया जाय क्या हो रहा है। मैंने देखा पण्डाल का एक भाग रस्सियों से घिरा है और उनके अन्दर चौकियों पर बैठकर कुछ लोग चावल से अर्चन कर रहे है। एक स्थान पर जो रस्सियों के बाहर

था कुछ गेरुआधारी व कुछ सामान्य वस्त्रों में लोग बैठे हैं। वहाँ देखनेलायक कुछ नहीं था। कुछ क्षण रुकने के बाद मैं जाने ही वाला था कि एक युवक जो उन रस्सियों के बाहर मेरे पास ही बैठा था, से पूछा ''कोट्यर्चन कौन कर रहा है?'' उसने एक समूह की ओर इशारा किया और कहा ''श्री सीताराम कविराज वहाँ बैठे हैं।'' फिर अनायास ही उसने जोड़ दिया कि उनके सामने नवभारत टाइम्स के सम्पादक विद्यानिवास मिश्र बैठे हैं। मैं विद्यानिवास जी को अच्छी तरह जानता था। वे १९५८-६० में मेरे साथ ही गोरखपुर विश्वविद्यालय में प्रवक्ता थे। उस समय कुछ सन्यासी जाने लगे, मैंने विद्यानिवास जी के पास पहुँच कर कहा ''आपको याद है, मैं विनोद दुबे हूँ।'' उन्होंने तुरन्त कहा ''.कब आये। कैसे हो।'' और गुरु जी से मेरा परिचय कराने लगे ''ये विनोद दूबे हैं, मेरे निकट मित्र, विश्व बैंक में डाइरेक्टर के पद से रिटायर हुए है।'' मैंने गुरु जी से कहा मैं भी अर्चन में सम्मिलित होना चाहता हूँ। उन्होंने पूछा ''आप दीक्षित है''। मैं उस समय दीक्षित का अर्थ नाम या जाति जानता था। सही अर्थ नहीं जानता था। दीक्षा क्या है पता नहीं था। अतः मैंने कहा मैंने समझा नहीं, उन्होंने फिर कहा क्या आपको मन्त्र मिला है। मैंने गर्व से कहा हाँ मैं स्वामी राम का शिष्य हूँ। गुरुजी ने और स्पष्ट किया ''क्या आपको देवी का मन्त्र मिला है।'' मैंन कहा ''नहीं''। इस पर उन्होंने कहा ''तब आप अर्चन में भाग नहीं ले सकते है।'' अनधिकारी यदि ललिता सहस्त्र नाम का पाठ करता है तो योगिनियाँ कुपित हो जाती है। विद्यानिवास जी बोल पड़े ''आप इन्हें मन्त्र दे दीजिए ।तब तो ये अर्चन मैं बैठ सकेंगे।'' गुरुजी सहमत हो गये और कहा दत्तात्रेय जी के तो २४ गुरु थे। उन्होंने पंचाग मगाया मुहुर्त निकाला और मुझे दो दिन बाद आने को कहा। मैंने घर जाकर सारी घटना अपनी माँ को बताया। निश्चित दिन पर मैं कुर्ता पैजामा पहन कर गुरुजी के पास पहुँच गया। गुरु जी ने कहा दीक्षा के लिए मुझे धोती पहननी पड़ेगी। उन्होंने मुझे एक नई धोती दिया और पहनने के लिए कहा। यहाँ से गुरु जी द्वारा मुझे पहनने के लिये दिये गये अनेक प्रकार के सूती, ऊनी, रेशमी, वस्त्रों के लिए सिलसिला आज तक जारी है।'' मैंने कहा ''मुझे धोती पहनना नहीं आता। उन्होंने अपने एक विद्यार्थी नारायन को बुलाया और और कहा ''इन्हें टेन्ट में ले जाओ और धोती पहना कर ले आओ।'' मैं धोती पहन कर आ गया और गुरुजी ने मुझे ''त्रितारी'' मंत्र की दीक्षा दी। मेरे साथ ही दो अन्य व्यक्तियों की भी दीक्षा हुई किन्तु वे फिर कभी नहीं दिखाई दिये। दीक्षा का मेरे ऊपर तीव्र प्रभाव हुआ। मैं अपने नये मंत्र का जप करते हुए बिना हिले-डुले बैठा रहा। मुझे न तो समय का ही पता चला और नहीं पास के पण्डाल, क्लाउड, स्पीकर में चल रही राम कथा का। २.५ घंटे बाद गुरु जी ने कहा चलिऐ पूजा शुरू हो रही है। उस रात जब मैं घर आया शाम को ध्यान के नियमित अभ्यास के समय मुझे लगा कि मैंने यह क्या किया। मैंने इस सम्बन्ध में अपने गुरु स्वामी राम से क्यों नहीं पूछा।'' फिर मैंने उन्हें उपरोक्त घटना का विस्तार से वर्णन करते हुए एक पत्र लिखा और इस बात को भी पूछा कि इन दो दिनों में टेलिफोन पर इस सम्बन्ध में उनकी अनुमति प्राप्त करने का विचार क्यों नहीं आया। मुझे उनके उत्तर की अपेक्षा नहीं थी और न वह आया ही। मैंने उनसे फिर नहीं मिला और १३ नवम्बर, १९९६ को उनका शरीर भी छूट गया।

उपरोक्त अनियोजित घटनाक्रम के पीछे कोई सुनियोजित कारण छिपे हैं जिनमें कि शायद वह सब

नहीं होता जो हुआ। पहला यदि पटेल ने अर्धकुम्भ मेले में श्री गुरुशरणानन्द के शिविर का सही पता न बताया होता और मुझे सिर्फ होटल में स्थान बुक करने के लिए कहा होता तो मैं मेले में नहीं जाता। दूसरा यदि युवक गोविन्द ने मेरे कोट्यर्चन सम्बन्धित प्रश्न के समय विद्यानिवासमिश्र का नाम नहीं लिया होता तो मैं चुपचाप वहाँ से चला आया होता। तीसरा यदि गुरु जी से मेरी बात चीत के बीच में विद्यानिवास जी ने हस्तक्षेप कर के मुझे मंत्र देने के लिंये नहीं कहा होता तो शायद गुरुजी सत्रयाग के बाद मुझसे ४-५ सप्ताह के बाद वाराणसी में आकर मिलने को कहते जो शायद मैं न करता और चौथा यदि गुरुजी से दीक्षा लेने के पूर्व ऋषिकेश फोन कर यदि स्वामी राम से पूछा होता और उन्होंने कहा दिया होता कि मुझे अर्चन में बैठने की कोई आवश्यकता नहीं है तो मैं उनकी आज्ञा का पालन करता। यह सब यह विश्वास करने के लिये मजबूर करता है कि भगवती ने सारे घटनाक्रम के जाल को स्वयं ही रचा जिससे प्रयाग के अर्धकुम्भ मेले के छोटे से पण्डाल में मेरे आध्यात्मिक विकास का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। जैसा विश्वास है सच शिष्य के लिए गुरु स्वयं ही प्रकट हो जाते है। शायद यही मेरे साथ भी हुआ।

अगला चरण भी देवी की कृपा का ही फल था। १० मार्च को पाण्डेय जी (मुरलीधर) की पुत्री साधना का विवाह था। उन्होंने मुझे आमन्त्रित किया और कहा अगले ही दिन गुरु जी का जन्म दिन है। और कहा कि विवाह में सम्मिलित होने के बाद इलाहाबाद वापस जाने से पहले अगले दिन गुरुजी के जन्मोत्सव में सम्मिलित होने का अवसर भी है। मैं ११ मार्च को गुरुजी के पास मुमुक्ष भवन गया तो उन्होंने कहा "यहाँ आइये" और कुछ दिन रहिये तब मैं आपको कुछ और बताऊँगा। मैं उनकी आज्ञानुसार वापस आकर उनके पास ३ दिन रहा। इसी समय उन्होंने मुझे मात्रिकान्यास सिखाया। इसके बाद मैं बार बार आकर न्यास सीखता रहा। एक बार मैं आया तो पता चला कोई विशेष पूजा हो रही है जिसके बाद गुरुजी शिष्यों को मन्त्र देंगे। मुझे भी उन्होंने मंत्र दिया। मेरा वाराणसी आना नियमित हो गया। एक बार पता चला कि मई में कोई विशेष आयोजन है मैं उस अवसर पर आया तो पता चला विद्यानिवास जी, इन्जीनियर साहब व दीक्षित का पूर्णाभिषेक है। इसी अवसर पर गुरुजी ने अन्य कई शिष्यों के साथ मुझे भी षोडशी मन्त्र दिया। मुझे जो प्राप्त हुआ उसके महत्त्व से भी अनभिज्ञ था। मैं वाराणसी से इलाहाबाद गया और जल्दी ही वाशिंगटन डी सी चला गया। वहाँ से वापस आने के बाद ही मैं गुरु जी से न्यास व ध्यान न जान सका व अपने सौभाग्य को पूरी तरह समझ पाया। मुझे विश्वास है कि देवी की कृपा से ही मुझे गुरु की प्राप्ति हुई है और मुझे जो कुछ भी उनसे मिला है उसे करने की प्रेरणा व शक्ति भी देवी की कृपा से ही प्राप्त हुई है। यदि भगवती की कृपा से श्रीविद्या में प्रवेश व साधना करने की शक्ति मेरे जैसे व्यक्ति को ही प्राप्त हो सकती है तो मुझे विश्वास है कि जो भी मनोयोग पूर्वक इस मार्ग पर चलेगा उसे उनकी कृपा अवश्य प्राप्त होगी।

साधना के अनुभवों के बारे में साधकों से अक्सर पूछा जाता है। एक बार जब मैं १९८४ में हवाई जहाज से दिल्ली बम्बई के बीच जा रहा था तो एक मित्र ने मुझसे पूछा "विनोद तुम्हारे पास सब कुछ है, आर्थिक सुरक्षा, अच्छा स्वास्थ्य, प्रसन्न पारिवारिक वातावरण, बच्चे भी अच्छा कर रहे है फिर तुम

पूजा पाठ में इतना समय क्यों लगाते हो।'' मैंने रुक कर सोचा तो पाया कि मैं पूजा पाठ किसी कारण या किसी उद्देश्य से नहीं करता हूँ। मैं तो इसे इसलिए करने लगा कि इससे किया जाना चाहिए। बाद में मैंने पाया कि पूजा में मेरा समय इसलिये बढ़ता जा रहा है कि यह मुझे अच्छा लगता है। इससे मुझे आनन्द आता है। यदि यह मेरे लिये बोझ होता तो मैंने इसे कभी का छोड़ दिया होता। किन्तु मैंने अपने मित्र से कहा मैं मोक्ष के लिये करता हूँ। जब कि यह एक बनावटी उत्तर था। वास्तव में मेरे पूजा पाठ का कोई प्रयोजन नहीं है।'' मेरी समझ से देवीकृपा से ही मेरी इस दिशा में रुचि बढ़ी है और सतीश कुमार सिंह की इसमें विशेष भूमिका है। जहाँ तक साधक अनुभवों का प्रश्न है उसके बारे में साधक को घटना के घटित हो जाने के बड़े समय बाद पता चला पाता है। दूसरी बात यह है कि साधना में होने वाले सूक्ष्म परिवर्तन अक्सर दिखाई नहीं पड़ते या समझ में नहीं आते। मेरे समझ से चमत्कारों का कोई विशेष महत्त्व भी नहीं है। भिन्न-भिन्न लोग को उनके संस्कारों, वासनाओं और पूर्वजन्म के कर्म के अनुसार भिन्न हो सकती है ओ उनके समय में भी एकरूपता आवश्यक नहीं। मेरी समझ से साधना के समय इससे दूसरी उपलब्धियों पर ध्यान देना हानिकारक है। कुछ इतने व्यक्तिगत अनुभव होते है गुरु के अतिरिक्त उसकी किसी अन्य से चर्चा भी नहीं की जा सकती किन्तु अद्वैत के इस अनुभव से मैं बहुत दूर हूँ।

मेरी साधना का दूसरा स्वरूप अमूर्त से मूर्त की ओर बढ़ना है। शुरू में ध्यान व जप से मेरा अधिक जोर था। पैसिलावानिया स्थित स्वामी ग्राम के आश्रम में बाह्य पूजा नहीं होती, वहाँ न तो कोई मूर्ति है और न ही किसी देवी देवता के चित्र। प्रारम्भ में गुरु जी से श्रीयंत्र प्राप्त करने में कोई रुचि नहीं थी नहीं यंत्र पूजा सीखने में। कुछ वर्षों बाद मैंने अपनी माँ से कहा मुझे भय है कि गुरु जी मुझे श्रीयंत्र दे देंगे और मुझे उसकी पूजा करनी पड़ेगी। एक बार जब मैं जब मुमुक्ष भवन आया तो गुरुजी ने मुझे श्रीयंत्र दे ही दिया और इसकी पञ्चोपचार से साधारण पूजा करने के लिए कहा। बाद में खडगभाला से अर्चन करने लगा और धीरे धीरे नवावारण पूजा करने लगा। अभी तक मैं महापूजा नहीं करता। आश्चर्य जनक रूप से मुझे श्रीयंत्र की पूजा में आनन्द आने लगा है। वास्तव में गुरु जी मेरे मनोवैज्ञानिक को मुझ से ज्यादा समझते है। मुझे यह भी लगता है कि पूजा से मस्तिष्क एकाग्र हो जाता है। एकाग्रता भंग होने पर पूजा में त्रुटियाँ होने लगती है। ''बर्हिपूजा साधना का राजमार्ग है'' मुझे ऐसा लगने लगा है।

लोग अक्सर चर्चा किया करते है कैसे श्रीविद्या के अभ्यास से उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ और उनकी समस्यायें किस प्रकार समाप्त हो गयीं। किन्तु मेरे साथ भी ऐसा कुछ हुआ ऐसा नहीं लगता। श्रीविद्या में प्रवेश के बहुत पहले से ही मेरे ऊपर भगवती की असीम कृपा बनी रही है। जीवन में समस्यायें पहले भी थीं और अब भी। किन्तु वे या तो बहुत छोटी है या उनका समाधान आसानी से हो जाता है और आर्थिक या भावनात्मक क्षति भी बहुत कम होती है। जीवन की समस्याओं के प्रति मेरा दृष्टिकोण दार्शनिक हो गया है। मनोनुकूल न होने पर मैं अब भी क्षुब्ध हो जाता हूँ किन्तु भगवती की कृपा से सन्तुलन बना रहता है वह महाकृपालु है यह विश्वास दृढ़ होता जा रहा है। जिन असुविधाओं पर पहले मैं झल्ला जाता था या क्रोधित हो जाता था अब उनका स्वागत मुस्करा कर करता हूँ। मुझे

भगवती एक किशोरी लगती है मैं उनकी मन्द स्थिति देखता रहता हूँ और मन ही मन उनसे बातें करता रहता हूँ। वे अक्सर मेरी परेशानियाँ मिटाती रहती हैं।

एक बार मैं कालिका मेल से इलाहाबाद कानपुर के बीच यात्रा कर रहा था। मुझे सीट नहीं मिली थी एक यात्री मुझे परेशान कर रहा था। लगभग १५ मिनट तक यह सब चलता रहा। मैंने कहा भगवती यह क्या मजाक है? इसी क्षण राजकुमार नाम का एक व्यक्ति आ गया वह मुझे ढूँढ रहा था। उसने मेरा सामान उठाया और दूसरे डिब्बे में ले गया जिनमें गुरुजी के भाई व उनके परिवार के लोग कलकत्ता जा रहे थे। मेरी यात्रा आनन्दमय हो गयी और मैं कब इलाहाबाद पहुँच गया पता ही नहीं चला। भविष्य में क्या है मुझे उसकी चिन्ता भी नहीं है। मेरी तो प्रार्थना है "मत्समः पातकी नास्ति पापघ्नी त्वत्समा न हि। एवं ज्ञात्वा महादेवि यथा योग्यं तथा कुरू।"

गुरु जी के किसी अन्य शिष्य की तुलना में श्रीविद्या साधना पीठ में मैंने अधिक समय व्यतीत किये हैं। मैंने देखा है कि बहुत से लोग गुरु जी के पास अपनी समस्यायें लेकर आते है, गुरु जी अपने को सिद्ध नहीं मानते, फिर भी वे या तो कोई मंत्र जप या गणपति मोदकार्चन जैसी कोई पूजा बता देते है और उन्हें करने पर लोगों की समस्यायें सुलझ जाती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है विशेष समस्याओं के लिए विशेष मन्त्र है। अपने गुरुभाइयों के जीवन में होने वाले चमत्कारों को जानने के बाद पूजा व जप में मेरा विश्वास और दृढ़ हुआ है। मै नहीं जानता कब कैसे मैं यह मानने लगा कि गुरु ही ईश्वर हैं। शायद अपने माता-पिता के साथ स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती के पास जाने के कारण मेरी ऐसी आस्था बनी। मुझे मालूम है जब तक मैं स्वामी के राम से जुड़ा रहा मुझे उनमें पूर्ण श्रद्धा थी। आज गुरुजी के प्रति भी मेरी वही श्रद्धा है। मुझे पता है गुरु ईश्वर की तरह नहीं बल्कि ईश्वर ही हैं। भावनोपनिषद में कहा है "गुरुः सर्वकारणभूता शक्तिः।" गुरु व भगवती एक हैं। शास्त्रों में लिखा है गुरु मन्त्र, देवी व श्रीयंत्र सब एक है। प्रत्येक दिन प्रातः हम कहते है "गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः" ये मात्र शब्द ही नहीं होने चाहिए न ही तो सारी साधना नष्ट हो जाएगी। मैं गुरु जी में पूरी श्रद्धा रखता हूँ और वे जो कुछ कहते हैं उसे करने की कोशिश करता हूँ इसमें मुझे शत प्रतिशत सफलता भले ही न मिले। कभी कभी मन शङ्कालु होने लगता है तो उसे रोकना पड़ता है। गुरु के प्रति समर्पण सिर्फ आध्यात्मिक विषयों तक सीमित नहीं होना चाहिए वह व्यावहारिक विषयों में भी आवश्यक है। यदि गुरु जी उसमें दखल देते हैं तो यह नहीं कह सकते कि यह उनका क्षेत्र नहीं है। जिस प्रकार ईश्वर को उसी प्रकार गुरु को आपके समस्त जीवन के संचालन का अधिकार है। मैं बहुत भाग्यशाली हूँ कि मुझे एक ब्रह्मज्ञानी व उदार शुरू मिले है जिनके पास अपार ज्ञान है। कभी कभी लगता है वे कुछ ज्यादा ही उदार हैं। किन्तु मैं जानता हूँ कि वे श्रीविद्या जिसे उन्होंने कठोर साधना व बृहद् अध्ययन से अर्जित किया है (अपने जिज्ञासु व साधनारत शिष्यों) को बाँटना चाहते है। बस एक शर्त है शिष्यों को जो दिया है उसे करे। यदि शिष्य नहीं करता तो उसमें उनकी रुचि समाप्त हो जाती है। उन्हें धोखा नहीं दिया जा सकता मैं नहीं जानता कैसे? किन्तु वे सब जान जाते हैं। ईश्वर को भी धोखा नहीं दिया जा सकता। ईश्वर को धोखा देना स्वयं को धोखा देना हैं। अंततः अद्वैत भाव में स्थिति, जो मेरे जैसे साधक से अभी बहुत दूर है। जब

यह भाव आ जाय गुरु व शिष्य एक है। गुरु देवी-मन्त्र-श्रीयन्त्र सब एक है। यही साधना की पूर्णता है साधना का चरन है।

(मूल अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद गुरु भाई राजेन्द्र कुमार तिवारी द्वारा)

✿

श्रीविद्यासाधनापीठ—सारस्वत साधकों का नीड

डॉ० सुनीता शास्त्री
अयोध्या

जगदम्बा भगवती ललिताम्बा राजराजेश्वरी महात्रिपुर 'सुन्दरी' की अशेष विशेष दुर्लभ सुलभ साधनाओं की महत्तपःस्थली सिद्धपीठ का रूप ले चुका है—**श्रीविद्यासाधनापीठ**। दशमहाविद्याओं में सर्वोपरि अतिशय सौम्य विद्या है—''श्रीविद्या''। आद्य ज० गु० शङ्कराचार्य भगवत्पाद द्वारा सुसेवित श्रीविद्या अपने में अनूठी विद्या है। सौन्दर्यलहरी, कल्याणवृष्टिस्तोत्र मानसपूजा स्तोत्रादि द्वारा भगवत्पाद ने इनके गम्भीर रहस्यों का उद्घाटन किया है। भारतवर्ष के दक्षिण देश में श्रीविद्या पुष्पित पल्लवित होती रही किन्तु उत्तर भाग में जब विलुप्त प्राय सी हो रही थी उस समय काशी विश्वनाथ भगवान् शङ्कर के अवतार किं वा अपर शङ्कराचार्य धर्मसम्राट् यतिचक्रचूडामणि सद्‌गुरुदेव पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज ने उत्तर भारत में पुनः इसे प्रकाशित किया। श्रीविद्या की परम्परा में धर्मसम्राट् के शिष्यों में शिरमौर पूज्य पं० श्रीसीताराम कविराज जी-श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथ जी ने पुनश्च इस परम्परा को अग्रसर कर विशेष प्रचार प्रसार द्वारा प्रतिष्ठापित करने का अद्‌भुत् अथक उदार प्रयास किया है कर रहे हैं और करते रहेंगे। एतदर्थ ये अत्यधिक प्रशंसनीय वन्दनीय व अभिनन्दनीय हैं।

स्मृति के झरोखों से झाँकने पर दृष्टिगोचर होता है वह काल जिस समय आप मुमुक्ष भवन में विराजते थे, उस समय सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में समांदरणीय कुलपति श्री वेंकटाचलम् जी के आमन्त्रण पर पूज्य चरण स्वामी श्री सीताराम शरण जी साथ में हम लोग भी उपस्थित थे तब श्री

कविराज का आमंत्रण मुझे प्राप्त हुआ और समयानुसार हमलोग मुमुक्षु भवन पधारे। हल्की रिमझिम वर्षा के मध्य ही आप हमें नगवां स्थित इस साधना पीठ का दर्शन कराने ले गये। उस समय मात्र इसकी नींव ही पड़ी थी। अत्यन्त हर्षित होकर आपने इसकी रूपरेखा का भी उल्लेख किया। पश्चात् मैं भी प्रवचन कार्यक्रमों में व्यस्त हो गयी अत्यन्त अल्प समय में इसका निर्माण भी हो गया और प्रायः सन् १९९८ में आप के कोट्यर्चन में आप ने प्रवचन हेतु निमन्त्रण दिया।

श्रीसीतायाश्चरितं महत् सुनाने के लिए हमने स्वीकार किया। स्मरण है कि पू० डॉ० श्रीविद्यानिवास मिश्र जी ने उस नवदिवसीय प्रवचन सत्र का उद्घाटन किया था—आदरणीय श्री विनोद दूबे जी ने आभार प्रदर्शन एवं डॉ० कमलेश जी ने समापन किया था। उस अपूर्व कोट्यर्चन की बांकी झांकी का दृश्य आज भी हृत्पटल पर अंकित है तथा उसकी सद्यः फलदायिनी फलश्रुति भी चरितार्थ हुई थी। शारदीय नवरात्र के विजयदशमी की पूर्णाहुति के अवसर पर आपकी आज्ञा से भक्त श्री मुकुन्दलाल जी सेलट ने अपने औदार्य भाव से अपनी काली अम्बेस्डर गाड़ी लाकर प्रवचन की विदाई दक्षिणा में मानो प्रदान कर दी। मैं तो चकित थी पू० श्रीकविराज जी की इस सहृदयता तथा श्री मुकुन्दजी के पवित्र भ्रातृभाव पर। कई वर्षों तक उसी गाड़ी द्वारा काशी आयी और श्रीविद्यासाधनापीठ की अपनी भगवती ललिताम्बा राजराजेश्वरी का दर्शन किया और इसी क्रम में आ गया वह सुखद शुभद काल—पू० गुरुजी कविराज जी के जीवन में आठवें दशक में प्रवेश का। पूर्ण स्वस्थ रहते आपने जीवन के अस्सी वसन्त पूर्ण किये इस उपलक्ष में अमृत महोत्सव का आयोजन किया अनन्य गुरुनिष्ठ समादरणीय श्री विनोद दूबे जी ने।

जब मुझे निमन्त्रण प्राप्त हुआ हर्षपुलकित हो गयी। आपकी सुदृढ़ गुरुनिष्ठा का दर्शन कर, दूरभाष से वार्ता हुई तो कविराजजी ने आदेश दिया आपको आना है—संस्कृत के विद्वानों की सभायें हैं, अहोभाग्य है कहकर स्वीकार किया उस अपूर्व अमृत महोत्सव का दर्शन कर कृतार्थ हुई जो कभी प्राचीन काल में संस्कृत सभायें सम्पन्न हुआ करती थीं। उन महर्षिकल्प की सभाओं का चित्र प्राचीन परम्परा का दर्शन करा रहा था। वेदविषयक, व्याकरण, साहित्य, कर्मकाण्ड, आगम आदि विषयों पर नित्य नवीन सभायें सम्पन्न होती रहीं, और ध्यान से श्रवण करती रही, उसकी एक विशेषता जैसी दृष्टिपथ में आयी श्री कविराज का व्यापक वैदुष्य-राष्ट्रपति पुरस्कार सम्मानित आप श्री ने प्रत्येक सभाओं को तद्तद्विषयक विषयों से सम्बोधित किया तथा सर्वत्र आगम का सर्वोपरि व्याख्यान किया इससे आपकी आगमनिष्ठा का दिग्दर्शन होता रहा। विदुषीसम्मेलन कर आपने पुनः एक प्राचीन परम्परा को अर्वाचीन युग में स्फुट किया वह भी अपने में सफल रहा। श्रीविद्याविषयक अनेक ग्रन्थों का निर्माण आपकी साहित्यनिष्ठा का भी परिचायक है।

एतावता सम्प्रति इसे काशी का सिद्धपीठ कहा जाये किं वा "श्रीविद्या साधना सिद्धपीठ" कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। इसे धर्मसम्राट् श्री सद्गुरुदेव की कृपा का प्रत्यक्ष फल कहा जाय या पराम्बा भगवती भी सद्यः कृपा अथवा पू० श्री कविराज जी की तपस्या सतत साधना का साक्षात् प्रतिरूप

कहूँ समझ नहीं पाती-नित नूतन ऊर्जा से भरने वाली आप की वाणी और साधना सदा साधकों को दिशा निर्देश देती रहेगी—

१. अपनत्व और अध्यात्मिक का शिखर है—श्रीविद्या साधनापीठ।

गुह्य विद्याओं के प्रवाह का सक्षम वाहक है—श्रीविद्या साधनापीठ।

अतिशय गुरुकृपा आचार्य कृपा का दर्शन है—श्रीविद्या साधनापीठ।

अग्रिम पीढ़ी हेतु सेतु का निर्माण है—श्रीविद्या साधनापीठ।

वस्तुतः अग्रिम पीढ़ी हेतु आपने एक सुदृढ़ सेतु का निर्माण किया है ''श्रीविद्या साधना पीठ'' के रूप में आपके उपदेश, आदेश, संदेश, निर्देश, निर्युक्त रूप से साधकों को साधना में सम्बल प्रदान करते रहेंगे। इसमें सन्देह नहीं। एवञ्च आपके निर्देशन में यह कार्य विशाल वटवृक्ष का रूप ले लेगा ऐसा विश्वास है।

अयोध्या फैजाबाद के गौरव तान्त्रिक व साहित्यकार पू० पं० श्रीरामकृष्ण पाण्डेय आमिल जी की यह पंक्ति आप के लिए पूर्ण चरितार्थ होती है—

जिन्दगी के पृष्ठ पर कोई कहानी छोड़ जा।
मील का पत्थर बने ऐसी निशानी छोड़ जा॥

हमारी मङ्गलकामनायें हैं आशीष हेतु—ज्येष्ठ गुरु भ्राता होने पर भी गुरुतुल्य हैं आप—

ध्रुवतारा बने शिव तारक तारा की नगरी में आप।
मस्तक झुकायें शिष्य सदा शुभ आशीष देवें आप॥

अमृत महोत्सव का यही अमृतत्व होगा कि पू० गुरुजी की जीवनझाँकी का दर्शन शिष्यों को लेखों के माध्यम से हो सके। अन्त में धर्मसम्राट् की कृपा से श्री सीताराम नगरी अयोध्या से आयी—श्रीसीताराम कविराज जी ज्येष्ठ गुरुभ्राता की मङ्गल कामना करती हूँ।

''पाणिपात्रसुपात्रोऽयं सच्छिष्याणां सुहृद्वरः।
प्रार्थये श्रीसीताराममयोध्यानाथं श्री दत्तात्रेयानन्दनाथम्॥''

—श्री सीताराम विजयन्तेतराम्।

सम्प्रति पूज्य धर्मसम्राट् की जयन्तीमहोत्सव तक चलने वाला अपूर्व पूर्व एवं गुप्त नवरात्र का यह कोट्यर्चन भी पू० श्री कविराज की अध्यक्षता श्री विनोद दूबे जी का उपाध्यक्षता—राज्यसभा के सदस्य .... श्री सिंधपीठ एवं महामहिम राज्यपाल महोदय ...... श्री चतुर्वेदीजी के सान्निध्य में पूर्ण सफल रहा। इति शम....

✿

संस्मरण

श्रीद्वारका नाथ टण्डन
सरला टण्डन

धर्म के प्रति आस्थावान् होने की प्रवृत्ति मुझमे मेरे स्व० माता-पिता के आशीर्वाद से ही आयी है। इसी प्रवृत्ति ने और अदृश्य गुरुकृपा ने मुझे श्रीविद्या की उपासना करने के लिए मेरे जन्म स्थान से काशी में बुला लिया। मेरे गोलोकवासी माता-पिता अत्यधिक धार्मिक थे। स्वाभाविक उनके गुण मेरे में भी आये। धर्म के प्रति बचपन से ही आस्था है। पारलौकिक विद्याओं के विषय में अधिक उत्सुकता शुरू से ही थी और है।

मेरे एक मित्र श्री पाठक जी 'श्री गुरुजी' को मुझसे पहले ही जानते थे। कभी-कभी श्री गुरुजी की चर्चा भी करते थे कि 'श्रीगणेश जी' के भोग के लड्डू बड़े चमत्कारिक होते हैं। मेरे कनिष्ट जमाई विवेक की इच्छानुसार एवं 'चमत्कार' की जिज्ञासा से मैंने अपने पुत्र चिं० मिलन को मुमुक्ष भवन (उससमय श्री गुरुजी का निवास) पर भेजकर 'श्री यंत्र' लाने के लिए कहा। मिलन से श्रीं गुरु जी ने कहा ''मैं 'श्री यंत्र' बेचता नहीं हूँ इसको योग्य (दीक्षित) व्यक्ति को ही दिया जा सकता है।'' बात आई गई हो गई। श्री गुरु जी मेरे प्रतिष्ठान पर अक्सर सुगन्धियाँ लेने आते थे पर मैं उन्हें पहचानता नहीं था। भगवती की इच्छा एक बार श्री गुरुजी आये और मेरा उनका सामना हो गया। मैंने आदर से उन्हें गद्दी पर बैठाया। समान लेने के उपरान्त श्री गुरु जी से 'श्री गणेशार्चन' का अनुरोध किया। श्री गुरुजी ने उत्तर दिया केवल दीक्षित व्यक्ति ही अर्चन करवा सकते हैं। मैंने प्रश्न किया कि दीक्षा के लिए क्या-क्या आवश्यक है? श्री गुरुजी ने कहा कि दीक्षा का इच्छुक पहले दीक्षा देने वाले 'गुरु' की परीक्षा लें व गुरु दीक्षा के इच्छुक को परखें। मैंने उत्तर दिया कि आप परख लीजिये मैंने तो परख लिया। बात आई गई हो गई।

जिज्ञासावश कुछ ही दिनों के पश्चात् एक अवकाश के दिन मैं श्री गुरुजी के उस समय के निवास (मुमुक्ष-भवन) गया। कुछ ऐसी बातचीत हुई कि दीक्षा देने के लिए 'श्री गुरु जी' तैयार हो गये और तिथि, समय निश्चित हो गया। समय पर दीक्षा हो गई और मैं श्रीविद्यापरिवार में सम्मिलित कर लिया गया। मेरी 'श्रीसाधना' शनैः शनैः शुरू हो गई।

श्री यन्त्र की पूजा मन्त्र-जाप और सदैव भगवती की 'हृदय में उपस्थिति' ही साधना के प्रयास की सफलता है। साधना और जिज्ञासा पूर्ण नहीं होती अन्तिम समय तक व्यक्कि को प्रयास करना होता है।

मेरी साधना मेरी पत्नी 'सरला जी' के सहयोग से निर्विघ्न प्रगति पर है। साधक की उचित वांछित इच्छायें भी स्वतः पूर्ण हो जाती हैं। ऐसा मेरे साथ भी कई बार हुआ। विस्तृत लिखने से क्या लाभ। इसका विस्तार से वर्णन करना सम्भव नहीं है। श्रीविद्या भोग एवं मोक्ष देने वाली रहस्यमयी साधना है।

मैं एवं मेरा पूरा परिवार (पत्नियां, बेटियाँ, अर्चन-वन्दना एवं दामाद चि० अंशु-विवेक-मनोज पत्नी सरला व दोनों बेटे अभय-कालका, मिलन-अनुभा) व इनके सभी बच्चों का आज भी श्री गुरुजी

में व उनसे प्रदत्त मन्त्रपूजाविधान में पूरी आस्था है वे सभी अपने-अपने स्तर से ही श्रीसाधना में निरन्तर प्रयत्नशील है।

श्रीमहागणपतिसाहस्त्रमोदकार्चन एवं ललितालक्षार्चन सिद्ध प्रयोग है इसका प्रभाव मैंने देखा है। 'श्रीगुरुजी' के चरणों में पुनः प्रणाम करते हुए मैं अपने पूरे परिवार के साथ श्री गुरु जी की शतायु की कामना करता हूँ। इस कामना में भी मेरा 'स्वार्थ' है। क्योंकि श्री गुरुजी के अनन्त अनुभवों का लाभ भी हम सबको मिलता रहे॥

✿

अभिनवशङ्कर स्वामी करपात्री जी
(श्रीविद्या-साधना के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ० श्यामसुन्दर शुक्ल (डी० लिट्०)
बी- ३३/७१, रोहितनगर,
नरिया, वाराणसी

बृहस्पति के समान अद्भुत वैदुष्य, विषय-प्रतिपादन से संदर्भित लेंखन एवं व्याख्यान में साक्षात् सरस्वती के वरद पुत्र सदृश, गऊ-ब्राह्मण-धर्म, मन्दिर और शास्त्र के निर्भीक संरक्षक, व्याकरण-न्याय-मीमांसा-पुराण-वेदान्त-साहित्य सहित प्रायः सभी आगमों-निगमों के गम्भीर अध्येता एवं मीमांसक, करुणा के साक्षात् वारिद, त्याग-तपस्या-उदारता के महासागर, प्रातः स्मरणीय अनन्त श्री विभूषित १००८ पूज्य करपात्री जी महाराज साक्षात् शङ्कर, श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास, श्रीशङ्कराचार्य और श्रीशुकदेव मुनि के समवेत अवतार थे।

श्री स्वामी जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से जुड़े प्रसंगों में जितने विशेष प्रयुक्त मिलते हैं, उनकी यदि सम्यक् गणना की जाय तो उनकी संख्या सौ के आस-पास है और उनसे स्वामी जी के माहात्म्य पर बहुत प्रकाश पड़ता दिखाई देता है। उनमें से कुछ विशेषणों की एक सूची यहाँ दी जा रही है, जो निम्नवत् हैं। इसमे सम्मिलित विशेषण तो नाम मात्र ही है। इनकी संख्या बहुत बड़ी है। ये अकारण, या निरर्थक या अन्धश्रद्धाजनित न होकर पूर्णतः संगत हैं।

पूज्य स्वामीजी के लिए प्रयुक्त कतिपय विशेषण :

निर्भीक एवं तेजस्वी संत, विश्व की असाधारण ज्योति, लोककल्याणरत मनीषी, सनातन धर्म के दिव्य भास्कर, प्रकाण्ड विद्वान्, भविष्यद्रष्टा, कर्मनिष्ठ, तपस्वी, अनन्य तेजस्वी, सङ्घर्षशील संन्यासी, धर्मसम्राट्, धर्मसेतु, काशी के प्रकाशपुञ्ज, निस्पृह महात्मा, लोकोत्तर व्यक्तित्व-संपन्न, साक्षात् भगवतावतार, धर्म-ज्ञान-भक्ति की त्रिवेणी, त्याग-वैराग्य की प्रतिमूर्ति, समर्थ गुरु रामदास-तुल्य महापुरुष, युगपुरुष, राष्ट्रपुरुष, यज्ञपुरुष, वेदपुरुष, महान् नीतिविशारद, धर्मात्मा, तितिक्षा के मानबिन्दु, कर्म संन्यासी, महादार्शनिक, परम भागवत, परम ज्ञानी, परम शैव, परम वैष्णव, परमशाक्त, साक्षात् परब्रह्म स्वामी, सतयुगी महात्मा, साक्षात् विश्वनाथ, शुभसंकल्पों के धनी, चिरस्मरणीय महात्मा, महान् ग्रन्थकार, तपःप्रतीक, यतिराज, ज्ञानावतार, सनातन संस्कृति और धर्म के सजग प्रहरी, लोकोत्तर व्यक्तित्व वैदुष्य-संपन्न, श्रीरामभक्त, सरस्वती के वरदपुत्र, अद्भुत शास्त्रार्थी विद्वान्, सनातन धर्म के दिव्य भास्कर, लोक-कल्याणरत महामनीषी और युगनिर्माता आदि।

श्रावण शुक्ल द्वितीया, रविवार सन् १९०७ को ग्राम-भटनी, जनपद प्रतापगढ़ के एक प्रतिष्ठित एवं धर्मनिष्ठ विप्र श्री रामनिधि ओझा और उनकी पत्नी श्रीमती शिवरानी देवी की तृतीय (कनिष्ठ) संतति के रूप में आविर्भूत बालक हरनारायण से कैसे 'हरिहरानन्द' और फिर 'हरिहर चैतन्य', फिर 'परमहंस श्री हरिहरस्वामी', फिर 'करपात्र' तथा 'षोडशानन्द नाथ' हुआ इसका वृत्त बड़ा ही प्रेरणाप्रद है। यह भी कम आश्चर्यजनक नहीं है कि जिसे मात्र एक वर्ष की शिक्षा घर पर मिल पाई, घरवालों के लाख प्रयास के बावजूद जो केवल 'प्रथमा' की परीक्षा ही उत्तीर्ण कर पाया, जिस बालक में विरक्त के लक्षण को देखते हुए ९ वर्ष की अवस्था में ही विवाह की बेड़ियों से नियंत्रित करने का प्रयत्न किया गया और तब भी उसके बार-बार गृहत्याग के प्रयत्न को तब तक के लिए अवरुद्ध कर दिया गया, जब तक कि १९ वर्ष की अवस्था में वह एक कन्या का पिता नहीं हो गया, वह अद्वितीय सारस्वत सन्यासी हो सका। क्योंकि ये बन्धन उसके संन्यासी मन को गृहत्याग से रोकने में सफल नहीं हुए। इसके पश्चात् तो उसी कशोर ने घर की ओर पलट कर भी नहीं देखा और न तो यह जानने का ही प्रयास किया कि उसकी पत्नी महादेवी और नवजात पुत्री भगवती तथा परिवार के अन्य सदस्य किस स्थिति में जीवन-यापन कर रहे हैं?

महाभिनिष्क्रमण-गाथा :

घर से चलकर माँगते-खाते गंगा के किनारे से काशी की ओर चलते समय विन्ध्यवासिनी के मन्दिर से कुछ दूर मध्यप्रदेश की ओर चलते उन्हें स्वामी ब्रह्मानन्द का आश्रम मिला। स्वामी जी के निर्देश पर शिक्षा-ग्रहण के लिए बुलंद-शहर के नरोरा (नरवर) में स्थित 'साङ्गवेद विद्यालय' में उन्हें प्रवेश मिला। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा के उपरान्त 'हरिहर चैतन्य' के नाम सं पं० रामाज्ञा द्विवेदी के आचार्यत्व में अध्ययन करते हुए मात्र ११ मास में ही चार वर्षों के मध्यमा के पाठ्यक्रम को उन्होंने पूरा कर लिया। षड्दर्शनाचार्य श्री विश्वेश्वराश्रम जी से मात्र १३ मास में उन्होंने वेदान्त और व्याकरण का

पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया। अत्यल्प काल में ही ग्रन्थों को कंठस्थ करने की प्रखर प्रतिभा उन्हें जन्मजात मिली थी। २० वर्ष की अवस्था में एक झोपड़ी में रहते हुए, सद्-गृहस्थ विप्रों के यहाँ से माँगने से जो मिल गया, उसे खाकर उन्होंने उपवास, योग साधना, अध्ययन और 'श्रीमद्भागवत कथा' के प्रवचन की नित्य नैमित्तिक दिनचर्या का बड़े ही धैर्य और मनोयोग से निर्वाह किया और तत्पश्चात् हिमालय की तलहटी में जाकर घोर तप भी किया।

२३ वर्ष की अवस्था में उन्होंने संन्यास-दीक्षा लेकर 'परमहंस' की उपाधि धारण की और न्यायशास्त्र का गहन अध्ययन किया। फिर अपने सखातुल्य श्रीशङ्करानन्द के परामर्श पर पात्रादि का त्याग कर, मिट्टी की हंडिका (हाँड़ी) में भिक्षावृत्ति से प्राप्त भोजन को लेकर और उसे हथेली पर रखकर खाने का नियम बना लिया। यही उनका 'करपात्री' नामकरण का रहस्य है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों समय का प्रवाह आगे बढ़ा, स्वामी जी की विद्वत्ता, तपस्या और वैराग्यवृत्ति की ख्याति बढ़ती चली गई। सन् १९३७ में ३० वर्ष की अवस्था में प्रयाग में अपनी इन उपलब्धियों की धाक जमाते हुए वे काशी में आये। यहाँ विद्वानों और संन्यासियों पर उनकी विद्वत्ता का बड़ा प्रभाव पड़ा। दण्डी स्वामी न होने के कारण संन्यासियों ने उनकी विद्वत्ता के बावजूद दूरी बनाये रखी। अन्ततः उन्हें पूर्व गुरु एवं मार्ग निर्देशक स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती ने उन्हें 'दंड' धारण कराया और उनके दंडी संन्यासी न होने की कमी को दूर किया तथा यहाँ के संन्यासियों से सम्मानित कराया। विजयादशमी सन् १९४० ई० के दिन 'धर्मसङ्घ' की काशी में स्थापना हुई और दो-तीन वर्षों के भीतर ही सारे देश में इसकी सैकड़ों शाखायें हो गईं।

श्री स्वामी जी की सारस्वत देन

पूज्य स्वामी जी की दिनचर्या में प्रतिदिन तीन-चार घंटे का समय लेखन-कार्य के लिए निर्धारित था। तभी यह सम्भव हो सका कि वे इतनी विपुल और वैविध्यपूर्ण सारस्वत निधि समाज को भेंट दे पाये। उसकी मात्र एक सांकेतिक एवं नामोल्लेखपरक झलक ही दे पाना यहाँ सम्भव हो पा रहा है, जो द्रष्टव्य है—

(अ) ग्रन्थ-प्रणयन :

१. वेदार्थ पारिजात (दो खंडों में, पृ० सं० ११००)।
२. रामायणमीमांसा (एक समग्र दर्शन)।
३. विचार-पीयूष (तीन खंडों में, पृ० सं० ६५०)।
४. भक्तिसुधा (श्री दत्तात्रेयानन्द नाथ द्वारा संपादित एवं श्रीविद्यासाधना पीठ, नगवा, वाराणसी द्वारा पुनर्प्रकाशित)।
५. मार्क्सवाद और रामराज्य (पृ० सं० ३२०)।
६. संघर्ष और शान्ति (पृ० सं० २५५)।

७. पूँजीवाद, समाजवाद और रामराज्य (पृ० सं० २६५)।

८. विदेशयात्रा : एक शास्त्रीय़ पक्ष (पृ० सं० २६५)।

९. क्या संभोग से समाधि ? (आचार्य रजनीश की पुस्तक पर प्रतिक्रिया-पृ० सं० १०५)।

१०. रामायण-महाभारत-कालमीमांसा (पृ० सं० ५६)।

११. संकीर्तन मीमांसा और वर्णाश्रम मर्यादा (पं० सं० १११)।

१२. पिबत भागवतं रसमालयम् (पृ० सं० ९६)।

१३. भागवतसुधा (पृ० सं० २९४)।

१४. श्री राधासुधा (पृ० सं० २८५)।

१५. बदलती दुनियाँ (इतिहास का ग्रन्थ, पृ० ११२)।

१६. धर्मकृत्योपयोगि तिथ्यादि निर्णय कुम्भपर्वनिर्णयश्च।

१७. गीता जयन्ती और भीष्मोत्क्रान्ति (पृ० सं० २२३)।

१८. धर्म और राजनीति (पृ० सं० २६)।

१९. श्रीभगवत‌तत्त्व (स्वामी जी के १० लेखों का संग्रह, पृ० सं० ७२२)।

२०. श्रीशाङ्कर सिद्धान्तों पर किये गये आक्षेपों का समाधान (पृ० सं० २५८)।

२१. हिन्दू कोड बिल-प्रमाण की कसौटी पर (पृ० सं० २५८)।

२२. अहमर्थ और परमार्थसार (पृ० सं० २७०)।

२३. वेद-स्वरूप-विमर्श (पृ० सं० ४४७)।

२४. भक्तिरसार्णव (संस्कृत भाषा में, पृ० सं० २४९)।

२५. वेद का स्वरूप और प्रामाण्यमीमांसा (दो भागों में, पृ० सं० ७१४)।

२६. रामराज्य (पृ० सं० ४०)।

२७. वाजसनेयी माध्यंदिनी शुक्ल यजुर्वेद भाष्य (पृ० सं० २९६)।

२८. विचारपीयूष (गुरु श्री गोलवलकर जी की पुस्तक 'विचार नवनीत' की आलोचना के सहित अन्य लेखों का संग्रह)।

२९. श्रीविद्यावरिवस्या (संस्कृत भाषा में, पृ० सं० २६४, श्रीविद्या साधना पीठ, नगवा, वाराणसी द्वारा पुनर्प्रकाशित)।

३०. श्रीविद्यारत्नाकरः (संस्कृत भाषा में, पृ० सं० ४७० , श्री विद्या साधना पीठ, नगवा वाराणसी द्वारा पुनर्प्रकाशित)।

३१. श्रीललितात्रिशती (संस्कृत भाषा में, पृ० सं० ४७०)।

३२. चातुर्वर्ण्यसंस्कृतिविमर्श (पृ० सं० ३२४)।

३३. गम्भीर विचार की आवश्यकता (पृ० सं० २०)।

स्वामी करपात्री जी की वे पुस्तकें, जो अब अप्राप्य हैं—

१. राहुल जी की भ्रान्ति (श्री राहुल सांस्कृत्यायन की पुस्तक पर स्वामी जी की प्रतिक्रिया)।

२. जाति, राष्ट्र और संस्कृति।

३. रामराज्य परिषद् और अन्य दल।

४. राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और हिन्दू धर्म।

५. आधुनिक राजनीतिक और रामराज्य परिषद्

६. राजनीति में भी ईमानदारी।

७. गीता और हुक्मनामा।

८. महात्रिपुरसुन्दरीवरिवस्या।

समाचार-पत्र :

१. सन्मार्ग (दैनिक) दिल्ली, काशी और कलकत्ता से प्रकाशित।

२. सिद्धान्त (पाक्षिक)।

लेखन और आन्दोलन की भूमिका :

पूजनीय स्वामीजी महाराज को सनातन धर्म पर किये जाने वाले किसी भी प्रकार के प्रहार असह्य थे। ऐसा प्रहार चाहे जिसके द्वारा हुआ हो या हो रहा हो, प्रहार करने वाला चाहे जिस पद पर हो, जिस हैसियत का हो, देशी हो या विदेशी, चाहे महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, राममनोहर लोहिया, श्री दयानन्द सरस्वती, पं० मदनमोहन मालवीय या फिर गोलवरकरजी ही क्यों न हों, स्वामी जी किसी को भी नहीं छोड़ते थे; मुँहतोड़ उत्तर देते थे और तर्कों की सबल झड़ी और प्रमाणों की अकाट्य बाढ़ से सबका मुँह बन्द कर देते थे। उन्हें किसी का भी भय नहीं था, कोई लोभ नहीं था, किसी से कुछ लेना-देना नहीं, वे सर्वविधि निरंकुश थे। उनकी सोच कुछ इस प्रकार थी—

"धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जुलहा कहौ कोई।
काहू की बेटी से बेटा न व्याहब, काहू की जाति बिगारि न सोई॥"

स्वामी जी स्वयं तो ग्रंथों और लेखों द्वारा समाज को शिक्षित कर ही रहे थे, उन्होंने संतो-मंहतों-सन्यासियों-विद्वानों की एक सेना ही खड़ी कर दी थी, जिसके ज्ञानी जन समाज में घूम-घूम कर, जहाँ-

जहाँ डेरा डालकर और मेलों-ठेलों में सर्वत्र स्वामी जी के संदेशों का अपने-अपने ढंग से प्रसारण कर रहे थे। फलतः समाज पर बहुत अनुकूल प्रभाव पड़ रहा था।

स्वामीजी हिन्दू समाज में वर्णव्यवस्था के प्रबल समर्थक थे, जबकि हिन्दुओं में 'जातीय समरसता' के समर्थक पं० मदनमोहन मालवीय, 'हिन्दू महासभा', 'आर्य समाज' तथा 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' आदि सनातन वर्णव्यवस्था की कट्टरता एवं संकीर्णता से अनुपालन किये और कराये जाने के विरोधी थे। वे मानते थे कि हिन्दुओं में सामाजिक विघटन का प्रमुख कारण वर्ण-व्यवस्था ही है। इसी से देश को एक हजार वर्ष तक पराधीन रखा और विगत १० शताब्दियों में व्यापक धर्मान्तरण भी इसी के कारण हुआ। हिन्दूधर्मावलम्बियों की एक बड़ी संख्या प्रतिवर्ष ईसाई बन रही है। इस धारा को उल्टा बहा कर ईसाइयों का हिन्दूकरण तो ये सभी संगठन चाहते ही थे, परन्तु करपात्री जी इसे वर्णव्यवस्था को क्षति पहुँचाने के मूल्य पर होने की अनुमति नहीं दे रहे थे।

धर्मसम्राट् स्वामी करपात्री जी महाराज के लगभग ५० लघु-दीर्घकाय ग्रन्थों और लगभग ३०० लेखों के विषय पर यदि दृष्टिपात किया जाय तो पायेंगे कि समसामयिक विषयों, समस्याओं, आन्दोलनों और उनके औचित्य-अनौचित्य पर शास्त्र-सम्मत अपने विचारों को निर्भय होकर व्यक्त करने से वे कभी नहीं चूके। उनकी लेखनी ने जहाँ निगमागम से जुड़े विषयों पर विद्वत्तापूर्ण, अकाट्य एवं सप्रमाण समाधान प्रस्तुत किये, वहीं देश, समाज और विशेषकर हिन्दू सनातन मान्यताओं की पुनर्प्रतिष्ठा में उन्होंने न केवल पुस्तकों का सृजन किया या लेखों के माध्यम से खंडन-मंडनात्मक सुझाव प्रस्तुत किया वरन् तत्तद् आवश्यकताओं के लिए उन्होंने अनेकानेक संस्थाओं की स्थापना की, आन्दोलनों को जन्म दिया या नेतृत्व किया और साथ ही धरना, प्रदर्शन, अनशन और कारागार की पीड़ाजनक निरुद्धि की यातना को भी झेला। अपनी बात उन्होंने जिन प्रतिष्ठित एवं समर्थक संस्थाओं के मंचों से उठाया और उनके प्रभाव से प्रभावित हजारों-लाखों व्यक्तियों का सक्रिय समर्थन प्राप्त किया, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

१. गोवध विरोधी आन्दोलन मंच।

२. हिन्दू कोड बिल-विरोधी मंच।

३. देश-विभाजन का प्रखर विरोध और अन्य विभाजन विरोधियों का नेतृत्व।

४. पाश्चात्यीकरण और अंग्रेजियत का हिन्दुओं पर पड़ रहे प्रभाव के प्रति ग्रंथों, लेखों, प्रवचनों और जनजागरणात्मक आन्दोलनों के माध्यम से विरोध।

५. विविध प्रकार के बड़े-छोटे शास्त्रीय यागों का देशव्यापी आयोजन और उसके माध्यम से समाज और देश के समक्ष अपने प्रौढ़ एवं शास्त्रसम्मत विचारों का प्रस्तुतीकरण।

६. ऐसे सभी प्रकार के उपाय, जिनसे 'प्राणियों में सद्भावना' स्थापित हो।

७. वेदों की प्रामाणिकता और वास्तविकता का तर्क एवं प्रमाणपुष्ट प्रतिष्ठापन।

८. भ्रूण-हत्या तथा नपुंसकता-हेतु सरकार द्वारा किये जा रहे उपायों का घोर विरोध। इन्हें शास्त्र-विरुद्ध घोषित करके आन्दोलन खड़ा करने की दृष्टि से अनेक उपाय स्वामी जी ने किये थे।

९. वर्णव्यवस्था को स्थायी श्रम-विभाजन सिद्ध करते हुए इसके समर्थन करने वाले तथा इसके विरोध द्वारा इसे छिन्न-भिन्न करने वाले देशी-विदेशी विद्वानों एवं समाजसेवियों द्वारा सुधार के उद्देश्य से स्थापित तथाकथित संगठनों द्वारा वर्णव्यवस्था को ध्वस्त करने हेतु किये जा रहे प्रयास के घोर विरोधी मंचों की स्थापना, जिसमें सभी संतों एवं सनातनियों का सक्रिय सहयोग था।

१०. बंगलादेश के निर्माण की प्रक्रिया में लाखों हिन्दू कुमारियों और नारियों को धर्म-भ्रष्ट किया गया। ऐसी पतिताओं का उद्धार एवं शुद्धिकरण करके हिन्दू धर्म की मुख्य धारा में जोड़ने के लिए स्वामी जी ने शास्त्र-प्रमाण पुरस्सर जो प्रयत्न किया उसने व्यापक जन-जागृति उत्पन्न की और समाज में नई सोच का संचार हुआ, संकुचित मनोवृत्ति का उन्मूलन हुआ तथा हिन्दूधर्म ने इस दिशा में उदारीकरण को अपना नया कलेवर ग्रहण किया।

११. हिन्दुओं में ईसाईकरण और इस्लामीकरण के विरुद्ध छेड़े गये धर्मयुद्ध का स्वामी जी ने प्रबल नेतृत्व किया। साथ ही उनकी गृह-वापसी की अर्थात् उन्हें पुनः हिन्दू बनाये जाने की स्वीकृति देकर अपनी समयोजित प्रगतिशीलता का भी परिचय दिया।

१२. शिक्षा की अधोगति से कोई भी शिक्षित अनभिज्ञ नहीं है। लेकिन बिल्ली के गले में घंटी कौन बाँधे? कौन अगुवाई करे? यह यक्ष प्रश्न सदा से रहा है। परन्तु स्वामी करपात्री जी से अनीति, अनाचार और देश की संस्कृति को विखंडित करने की कोई भी नीति या योजना सहन नहीं होती थी। उस सर्वस्वत्यागी संन्यासी पर किसका अंकुश था? उलटे वह हर बुराई के विरुद्ध संघर्ष-हेतु कटिबद्ध था। अतः पाश्चात्य पद्धति की शिक्षा के विरुद्ध विधिवत् मंच बनाकर संघर्ष करने का उनका प्रयास शिक्षा-परिष्कार के साथ देश की संस्कृति को बचाने का भी पक्षधर प्रमाणित हुआ।

स्वामी जी के अन्य कार्य :

१. ज्योतिषपीठ—बद्रीनाथ स्थित यह पीठ कई कारणों से १६५ वर्ष तक खाली रहा। फिर सन् १९४१ में धर्मसम्राट् करपात्री जी ने अपने दीक्षा-गुरु १००८ श्रीस्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती को जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य के इस पीठ पर अधिष्ठित कराया, परन्तु सन् १९५३ ई० में उनके ब्रह्मलीन होने के उपरान्त यह पीठ पुनः रिक्त हो गया। स्वामी करपात्री जी को वह पद प्रदान करने का बहुत प्रयत्न हुआ परन्तु स्वयं स्वीकार न करते हुए उन्होंने परम वीतराग स्वामी श्रीकृष्ण बोधाश्रम जी महाराज को उक्त पीठ पर अभिषिक्त कराया। सन् १९७३ में पुनः एक बार वह पीठ रिक्त हुआ और तब स्वामी जी ने श्रीस्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती का समर्थन करके, उक्त पीठ के शङ्कराचार्य के रूप में प्रतिष्ठित कराया। यह व्यवस्था अभी पूर्ववत् चल रही है।

२. बुद्धजयन्ती का विरोध—भगवान् बुद्ध की २४०० वीं जयन्ती (सन् १९५६ ई०) के उपलक्ष्य में भारत की धर्म-निरपेक्ष सरकार ने विधिवत् अस्थि-पूजन आयोजित किया परन्तु भगवान् श्रीरामचन्द्र जी के मन्दिर-निर्माण की दिशा में कुछ नहीं किये जाने और जो लोग इस दिशा में कुछ करना

चाहते थे उनका विरोध करने की सरकारी प्रवृत्ति पर तथा भगवान् बुद्ध के अस्थि-पूजन जैसे अशास्त्रीय आयोजन पर करोड़ों रुपये पानी की तरह बहाने के सरकारी उपक्रम पर उन्होंने कड़ा विरोध जताया।

३. साधु संघ की स्थापना—सरकार द्वारा जिस 'अ० भा० साधु समाज' का गठन किया गया, उसका विरोध और सरकार के ऐसे प्रयत्न की कुत्सा करते हुए स्वामी जी ने 'अ० भा० साधु संघ' की स्थापना की और इसके माध्यम से सरकारी साधुओं की बातों पर ध्यान न दिये जाने का परामर्श जनता में प्रचारित कराया और अन्य माध्यमों एवं मंचों से ऐसी गति-विधि का घोर विरोध किया।

इसी प्रकार जब कहीं निर्दोष स्त्री-बच्चों पर लाठी चार्ज किया जाता, शांतिपूर्ण धरना-प्रदर्शनों के विरुद्ध सरकारी बल-प्रयोग होता, या जब साधु रजिस्ट्रेशन बिल पास करके हिन्दू मठ-मन्दिरों के अधिग्रहण और साधु-संन्यासियों पर नियन्त्रण का सरकारी प्रयास किया जाता, मन्दिरों में हरिजनों का राजनीति से प्रेरित होकर बलात् प्रवेश का प्रयत्न किया-कराया जाता तो स्वामी जी इनके विरुद्ध संघर्ष का आह्वान अवश्य करते थे। द्रविड़ मुंनेत्र कडगम सहित अन्यान्य का विभाजनवादी आन्दोलन आदि का भी स्वामी जी ने जमकर विरोध किया। समाजवादी एवं साम्यवादी साहित्य का तर्कपूर्ण खंडन, हिन्दी रक्षा आन्दोलन का नेतृत्व, 'विश्वविद्या मन्दिर' की स्थापना, वैदिक विद्वानों का सम्मेलन करके वेद की शाखाओं-प्रशाखाओं का निर्धारण तथा 'भारतीय शिक्षा परिषद्' का गठन आदि ऐसे अनेक अन्य उल्लेखनीय कार्य स्वामी जी महाराज द्वारा सम्पन्न किये गये, जिनसे भारतीय समाज प्रभावित, आन्दोलित एवं लाभान्वित हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्मसम्राट् करपात्री जी एक व्यक्ति न होकर अपने आप में एक बहुआयामी एवं विराट् संस्था थे, एक देवदूत थे और हिन्दू धर्म, हिन्दू राष्ट्र, हिन्दी और भारत की परम्परागत संस्कृति तथा संस्कृत भाषा-शिक्षा के सजग प्रहरी थे। जिस प्रकार भगवान् शिव, भगवान् विष्णु और आद्याशक्ति पराम्बा महात्रिपुरसुन्दरी के संयुक्त अंशीभूत स्वरूप आचार्य शङ्कर थे, वैसे ही उक्त तीनों देव शक्तियों और स्वयं स्वामी श्रीशङ्कराचार्य जी की सम्मिलित शक्तियों के स्वामी करपात्री जी साक्षात् प्रतिरूप थे।

श्री स्वामी जी द्वारा स्थापित संगठन

१. अखिल भारतीय धर्मसंघ—यह स्वामी जी द्वारा स्थापित बड़ा ही संघटित, सबल और जागरूक उपक्रम था और कुछ ही काल में इसकी शाखायें पूरे देश के शहरों और ग्रामीण-क्षेत्रों तक स्थापित हो गयीं। हिन्दूसंस्कृति और समाज को इसकी जो देन प्राप्त हुई, वह किसी से छिपी नहीं, वरन् आज भी प्रत्यक्ष है।

२. अखिल भारतीय रामराज्य परिषद—पूज्य स्वामी जी द्वारा स्थापित यह ऐसा राजनीतिक दल था, जो उनके द्वारा छेड़े गये विविध आन्दोलनों को विधान मण्डलों और लोकसभा के मंचों से राष्ट्रव्यापी स्वर दे सका एवं निर्णायक शक्ति के साथ उन्हें सुपरिणाम तक पहुँच सका। लगभग एक

दशक तक यह कांग्रेस सहित प्रायः समाजवाद का दम भरने वाले सभी दलों के लिए चुनौती बना रहा। इसके अनेक सांसदों और विधायकों ने तत्कालीन सरकारों की तथाकथित धर्म-निरपेक्षता की आड़ में हिन्दू धर्म के विध्वंस की नीति का प्रखर विरोध करके प्रभावी परिणाम दिलाया। संक्षेप में राजनीतिक मंच से स्वामी जी के संदेशों को क्रियात्मक एवं निर्णायक परिणामों तक पहुँचने का यह सुविचारित एवं निर्णायक माध्यम बना।

३. अखिल भारतीय महिला मण्डल—यह प्रकारान्तर से देश की प्रबुद्ध महिलाओं का 'धर्मसंघ' था। इसने भी अपनी प्रभावी भूमिका निभायी। महिलाओं में भारतीय सनातन आचार-विचारों की मान्यता के प्रति आकर्षण बढ़ाने में इसका योगदान महत्त्वपूर्ण है। नारी-मर्यादा विरोधी आचरणों पर अंकुश लगाने की दिशा में भी इस संस्था की देन उल्लेखनीय रही।

४. अखिल भारतीय गोरक्षासमिति—गाय, गंगा, गायत्री और गीता—ये चारों ही भारतीय संस्कृति के मूलाधार हैं, पहचान हैं और भारत के पुरातनकालीन विश्वगुरुत्व की धुरी हैं। इनमें से गाय का स्थान सर्वोपरि है। इसलिए पराजित-पराधीन हिन्दू संस्कृति पर कुठाराघात के लिए ही गोवध को प्रबल अस्त्र-शस्त्र के रूप में प्रयुक्त किया गया था। अतः इसका विरोध गोवंश की रक्षा के साथ ही भारतीय संस्कृति-रक्षा और अर्थव्यवस्था की सुदृढ़ता से भी जुड़ा हुआ था। इसके विरुद्ध स्वामी जी द्वारा स्थापित सामाजिक-राजनीतिक संस्थाओं और धार्मिक सङ्गठनों ने एक साथ मिलकर कितना बड़ा, कितना दीर्घकालीन और विकट सङ्घर्ष किया, इसकी गाथा अभी भी लोगों के स्मृतिपटल पर अंकित है। इनमें कितनी जाने गयीं, कितने अपङ्ग हुए, कितने लोगों ने जेल की यातनायें झेलीं, इसका वृत्त भी प्रायः सर्वज्ञात ही है। इन्हीं संघर्षों का फल है कि अब कई प्रान्तों ने गो-वध और गोवंश के उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। माननीय अटल बिहारी वाजपेयी की केन्द्रीय सरकार की इस दिशा में एक दृढ़ संकल्प की न्यूनता खलने वाली दुर्बलता सिद्ध हुई, जिससे इस देश पर देश-व्यापी प्रतिबन्ध नहीं लग सका। लेकिन इतना अवश्य है कि इसे अब कतिपय कारणों से अधिक दिन तक चालू रख पाना कठिन होगा।

५. अखिल भारतीय धर्मवीर दल—परमपूज्य स्वामी जी के द्वारा स्थापित भारतीय संस्कृति के उत्थानमूलक सभी संगठनों और उनकी गतिविधियों को संबल प्रदान करने के लिए स्वयंसेवकों की बड़ी संख्या आवश्यक थी। साथ ही यज्ञादि और धार्मिक आयोजनों में शान्तिव्यवस्था तथा अन्य धार्मिक-सांस्कृतिक क्रियाकलापों के लिए कार्यकर्त्ताओं का बड़ी मात्रा में योगदान भी आवश्यक था। ऐसे ही अनेक प्रयोजनों की सिद्धि के लिए इस 'धर्मवीर दल' की भूमिका उल्लेखनीय रही।

श्रीविद्योपासक स्वामी करपात्रीजी महाराज

अभिनव शङ्कर, धर्मसम्राट् स्वामी करपात्री जी महाराज श्रीविद्या के अनन्य उपासक थे। भगवत्स्वरूप आदिशङ्कराचार्य ने 'पंचदशाक्षरी' मंत्र के एक-एक अक्षर पर १५-१५ श्लोकों की रचना करके जिस मन्त्र का विस्तार किया था और जिसका नाम 'त्रिशती' था, उसका श्री स्वामी जी स्वयं तो पाठ करते ही थे, साथ ही अन्य देवीभक्तों को भी इसके पाठ का निर्देश देते रहते थे। यदि उनकी

उल्लिखित दिनचर्या पर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट होता है कि वे रात्रि में दो बजे ही उठ जाते थे। एक घंटे में नित्यक्रियादि से निवृत्त होकर तीन बजे साधना में बैठ जाते थे और 'रश्मिमाला' तथा 'वाञ्छा-कल्पलता' का पाठ करते थे। भोर में ४ बजे ही वे भ्रमण को निकलते थे और चलते-चलते ही 'वाञ्छा-कल्पलता' के पाठ की आवृत्तियाँ कर लेते थे। साथ में 'चंडीपीठ' भी चलता रहता था। फिर सात बजे महाराजश्री 'श्रीविद्या' की पूजा में बैठते थे और उनकी षोडशोपचार पूजा प्रातः ९.३० बजे तक चलती थी। इस प्रकार श्रीविद्या (पराम्बा ललिता महात्रिपुर सुन्दरी) की साङ्गोपाङ्ग पूजा ढाई घंटे में पूर्ण होती थी। इसी बीच 'खड्गमाला', 'त्रिशती' और 'श्रीललिता सहस्रनाम' का अर्चन भी वे पूरा कर लेते थे। १२ बजे पुनः स्नान के पश्चात् स्वामीश्रीविद्या यन्त्र की 'पञ्चोपचार' पूजा तथा रुद्राभिषेक करते थे।

स्वामीजी ने अपने 'भक्तिसुधा' नामक ग्रंथ में 'शिव तत्त्व', 'श्रीविष्णु तत्त्व', 'मानसी आराधना' और 'पञ्चदेवोपासना' आदि विषयों से सम्बद्ध लेखों के साथ ही 'श्रीभगवती तत्त्व', 'श्रीगणपति तत्त्व' तथा 'श्रीगायत्री तत्त्व' में 'श्रीतत्त्व' का सुन्दर निदर्शन किया है।

श्रीविद्या-साधना पर स्वामी जी का सारस्वत कृतित्व :

१. श्रीविद्यारत्नाकर—श्री करपात्री जी महाराज 'श्रीविद्योपासना' के अधिकारी विद्वान् और साधक थे। इस परम विद्या में उनकी अबाध गति थी। श्रीविद्या में उनका दीक्षानाम 'श्रीषोडशानन्द नाथ' था। उन्होंने इस ग्रन्थ को १२ प्रकरणों में विभाजित करके श्रीविद्या के समस्त पूजा-विधान का शास्त्रसम्मत निरूपण किया है। परिशिष्ट में इस पूजा से सम्बद्ध अन्य कई विषयों का समावेश कर देने से इस ग्रन्थ की उपयोगिता और भी बढ़ गयी है। 'क्रमोपासकों' के लिए प्रातःकाल से लेकर रात्रि-पूजा के जितने भी नैमित्तिक साङ्गोपाङ्ग उपचार तथा होमादि विधान हैं, उन सबका उन्होंने संग्रहण करके एक ही ग्रंथ में श्रीयंत्रार्चन की सारी जानकारी दे दी है। इस रूप में श्रीविद्या-साधना का यह एक गोप्य एवं रहस्यमयी विद्या है, परन्तु स्वामी जी ने उपासकों पर महती कृपा करके उनके कल्याणार्थ इसे ग्रन्थ रूप में प्रकाशित करने में संकोच नहीं किया है। यह आद्याशक्ति के दिव्य मार्ग के उपासक एवं साधकों के लिए अनुपम प्रसाद है।

२. श्रीविद्यारत्नाकरः—वेद-शास्त्रसम्मत तांत्रिक आधार पर लिखित श्री स्वामी जी का श्रीविद्योपासना से सम्बन्धित यह ग्रन्थ श्रीविद्योपासकों में खूब लोकप्रिय हुआ। श्रीविद्या की श्रेष्ठता शास्त्रानुमोदित है। इसके द्वारा परमशिव और पराम्बा में अनुग्रह से साधक ऐहिकपरिलौकिक सुखोपलब्धि के साथ ही परमानन्द स्वरूप मोक्ष की भी उपलब्धि कर सकता है। श्री स्वामी जी का तान्त्रिक ग्रन्थों पर अबाध अधिकार था। वे इस युग के महान् तन्त्र सिद्ध महात्मा थे। अतः ४७० पृष्ठों के इस ग्रन्थ में उपासकों के लिए दीक्षा-क्रम, श्री गुरु-पादुकामंत्र, षोडशोपचार पूजा, षडंग पूजा, 'श्रीमहागणपति क्रम', 'श्रीक्रम', ब्राह्ममुहूर्त कृत्य, श्रीचक्र न्यास, श्रीगणपति अर्चा, सूर्यपूजा, विष्णु पूजा, शिव पूजा, श्रीचक्र महिमा, 'श्यामा क्रम', चक्रदेवी पूजा, रुद्राक्षमाला संस्कार, देवी-ध्यान तथा चक्र में देवी-पूजा आदि अनेक विषयों का उनके द्वारा शास्त्रसम्मत प्रतिपादन हुआ है। 'परिशिष्ट' में

श्रीविद्यामन्त्र का भाष्य, पूर्णाभिषेक, सर्वतोभद्रमण्डल का पूजन, त्रिपुरसुन्दरी के मानस पूजन का स्तोत्र, श्रीसूक्त, सौन्दर्यलहरी स्तोत्र, श्रीललितासहस्रनामावली और त्रिपुरसुन्दरीहृदयस्तोत्र आदि के समावेश से इस ग्रन्थ की साङ्गोपाङ्गता बढ़ गई है।

३. महात्रिपुरसुन्दरीवरिवस्या—यह पराम्बा त्रिपुरसुन्दरी की साधना पर लिखा गया स्वामी जी का ग्रन्थ अप्राप्त होने के कारण यहाँ मात्र उल्लेख करके ही संतोष करना पड़ रहा है। संभव है कि गुरुदेव श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी द्वारा संपादित श्रीविद्यारत्नाकर में परमपूज्य स्वामी जी के उक्त ग्रन्थ के कतिपय विषय समाविष्ट हों। यदि ऐसी स्थिति हो तो उक्त ग्रन्थ का अप्राप्त होना चिन्ता का कारण नहीं है।

श्रीविद्या-साधना

'श्रीविद्या' सभी विद्याओं में श्रेष्ठ कही गई है। यह मूलतः ब्रह्मविद्या और पराविद्या है। साथ ही आध्यात्मिक शास्त्रों का एक पूंजीभूत रहस्यात्मक एवं गोप्य साधना पद्धति भी है। इसका प्रकटीकरण एकान्त साधना से ही सम्भव बताया गया है। यह गुरु-शिष्य परम्परा से दीक्षा-विधान के माध्यम से संक्रमणीय एवं प्रचार्य हैं। तात्पर्य यह है कि उपचार-विधि और तत्त्व-संज्ञान के लिए एक सिद्ध गुरु की इसमें अपेक्षा रहती है। इस विद्या के पूर्ण ग्रहण और तदनुसार आचरण के लिए दृढ़ इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति की समवेत समरस स्थिति का होना अति आवश्यक है।

दर्शन की दृष्टि से शाक्त सिद्धान्त एक विशिष्ट दार्शनिक अभिज्ञान क्षेत्र है। वेदों में जो बातें सूक्ष्म एवं सांकेतिक शैली में निरूपित हैं, तन्त्रशास्त्र उनकी व्याख्या है। यह शाक्त दर्शन के आगमों तथा तन्त्रशास्त्रों में विधिवत् निरूपित है। तन्त्र मूलतः बन्धनों से मुक्ति दिलाने वाले शास्त्रों की संज्ञा है। इस साधना का मुख्य उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम-समन्वित लौकिक सुख और तदुपरान्त मोक्ष-पद प्राप्ति है। यह उपलब्धि निष्ठापूर्ण साधना से ही सम्भव है।

आराध्य—इस साधना में परमाराध्य का पद श्रीललिता महात्रिपुरसुन्दरी को प्राप्त है। इनके अपर अभिधान हैं—'पराभट्टारिका' तथा 'महाषोडशी'। आदि शङ्कराचार्य जी ने अपनी अनुपम कृति 'सौन्दर्य लहरी' के माध्यम से आगम-निरूपित शाक्तोपासना का मार्ग प्रशस्त किया था। विद्यारण्यस्वामीप्रणीत 'श्रीविद्यार्णव' के अनुसार इस मत के प्रचारार्थ पाँच सन्यासी और नौ गृहस्थ शिष्यों को उनके द्वारा नियोजित किया गया था। इस सिद्धान्त का मूलाधार तर्क यह है कि शक्ति और शक्तिमान दोनों एक होकर भी कार्य सम्पादन के लिए द्विधा रूप में विभक्त हो जाते हैं। इस तथ्यानुसार शक्ति का ही आधार लेकर ब्रह्मा सृष्टि करते हैं, विष्णु पोषण करते हैं और शिव संहार करते हैं। तात्पर्य यह है कि शक्ति ही इन सबके कार्यों की उत्प्रेरिका और कार्यसंपन्नकर्त्तृ है। इस प्रकार यह मान्यता अकाट्य है—

''शक्तिः करोति ब्रह्माण्डं, सा वै पालयतेऽखिलम्।
इच्छया संहरत्येषा, जगदेतच्चराचरम्॥''

चूँकि अद्वैतसिद्धान्त सर्वसाधारण के लिए अग्राह्य और मात्र ज्ञानकाण्ड पर आधारित है, इसलिए सर्वजनकल्याणार्थ श्रीशङ्कराचार्य जी ने 'श्रीविद्या' का प्रतिपादन किया था।

यह विद्या किसे देय है ?—जो सज्जन-निन्दक, उद्धत, कामलोलुप, मन-वाणी कार्य से गुरु के प्रति भक्तिहीन, पराये गुरु के शिष्य और नास्तिक हैं, उनको यह विद्या और साधना अदेय है और जो ऐसे नहीं हैं और इस साधना की अर्हता से युक्त हैं, मात्र उन्हें ही देय है। ब्रह्मविद्या कुलवधू की भाँति मर्यादायुक्त है न कि वाराङ्गना की भाँति सर्वभोग्या। इसलिए विद्या पाने वाले को सुपात्र होना आवश्यक है। श्रीविद्योपासना के तीन स्तर हैं (१) स्थूल, (२) सूक्ष्म और (३) पराविद्या। प्रथम में श्रीचक्रार्चन, द्वितीय में श्रीविद्यामन्त्र का जप और तृतीय में काया में 'ही श्रीचक्र' की भावना का विधान है।

श्रीयन्त्र क्या है ?—यह ऐसा यन्त्र है जिसमें देवी को यन्त्रित या समाविष्ट माना जाता है। इस प्रकार यह शिव-शिवा का विग्रहस्वरूप है। इसमें बिन्दु, त्रिकोण, अष्टकोण, अन्तर्दशार, बहिर्दशार, अष्टदल, षोडशदल, वृत्तत्रय आदि का समावेश होता है। इस प्रकार इस यन्त्र में ४३ कोण, नौ आवरण और ९ चक्रेश्वरियों की स्थति मानी जाती है। अतः श्रीविद्या की सिद्धि के लिए कुल ९८ देवियों के अर्चन का विधान है। यह अर्चन इतना जटिल है कि इसके लिए मन-बुद्धि-अहङ्कार और दशों इन्द्रियों का निग्रहण तथा शास्त्र-निर्धारित पूजा के साधन एवं विधान परमावश्यक है।

श्रीविद्या का दार्शनिक पक्ष—पराशक्ति, त्रिपुरसुन्दरी से ही शब्द (मातृका) एवं अन्य सांसारिक वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है। शिव ही परम तत्त्व हैं। शक्ति के स्फूर्त रूप धारण करने पर शिव ने तेजस रूप धारण करके उसमें प्रवेश किया। तब 'बिन्दु' का प्रादुर्भाव हुआ। शिव में शक्ति के प्रवेश से नारीतत्त्व 'नाद' व्यक्त हुआ। ये ही दोनों मूल तत्त्व हैं। इनमें पुंतत्व श्वेत और नारीतत्त्व लाल है। दोनों से 'कला' की उत्पत्ति हुई। काम और कला, नाद और बिन्दु के योग से ही सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ। किन्तु मूल तत्त्व तो अनन्त एवं अव्यक्त ही है। आराधना के लिए महाशक्ति के ये १० महाविद्यारूप हैं—१. महाकाली, २. उग्रतारा, ३. षोडशी, ४. भुवनेश्वरी, ५. छिन्नमस्ता, ६. भैरवी, ७. धूमावती, ८. बगलामुखी, ९. मातङ्गी और १०. कमला।

इसी प्रकार परमतत्व के भी इतने ही प्रतिरूप हैं, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. महाकाल, २. अक्षोभ्य, ३. पञ्चवक्त्र रुद्र, ४. त्र्यम्बक, ५. कबन्ध, ६. दक्षिणामूर्ति, ७. एक वक्त्र, ८. मतङ्ग, ९. सदाशिव और १०. विष्णु।

श्रीविद्या के तीन भाव हैं—१. पशुभाव, २. वीरभाव और ३. दिव्य भाव।

श्रीशाक्ती साधना के दो मार्ग हैं—१. वाम मार्ग और २. दक्षिण मार्ग।

इसकी सप्त भूमिकायें हैं—१. आरम्भोल्लास, २. तरुणोल्लास, ३. यौवनोल्लास, ४. प्रौढोल्लास, ५. तदन्तोल्लास, ६. उन्मनोल्लास और ७. अनवस्योल्लास।

तदनुसार श्रीविद्या के पञ्च कृत्य हैं—१. सृष्टि, २. स्थिति, ३. संहार, ४. निग्रह और ५. अनुग्रह।

संसारी जीव के तीन मल हैं—१. आणव, २. मायिक और ३. कार्मण।

इसमें साधकदीक्षा के तीन प्रकार—१. शाक्ती, २. शाम्भवी और ३. मान्त्री।

'शाक्ती' के लिए शिष्य की कुण्डलिनी जागृत होनी चाहिए। जबकि 'शांभवी' दीक्षा में शक्तिपात से पाप-राशि के भस्म हो जाने के उपरान्त अवशिष्ट राख की धुलाई के लिए इस दीक्षा की आवश्यकता होती है। तीसरी दीक्षा अर्थात् 'मान्त्री' के लिए पूजा सामग्री के साथ सविधि कलशपूजनोपरान्त नये वस्त्रों से वेष्ठित करके बाला के बीजों से षडङ्ग पूजा आदि के भी विधान हैं।

श्रीविद्या-परिकर के अर्चन का क्रम—१. महागणपति क्रम—रहस्य के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए और दीक्षित शिक्ष्य को देवबल प्राप्त करने के लिए तथा विघ्नों के निवारणार्थ महागणपति (जो सूर्यरूपी ही हैं) की उपासना आवश्यक है। यह श्री ललिताजी की पूजा का प्रारम्भिक चरण है।

२. श्रीक्रम—कुल ९ चक्रों की अधिष्ठात्री पराम्बा ललिता देवी की अर्चन द्वितीय क्रम में विहित है। इनमें से ५ शक्ति चक्र हैं और ४ शिवचक्र हैं।

३. श्रीललिताक्रम—इसमें अनाहत में स्थित श्रीविद्या का आवाहन होता है। इसमें शास्त्रीय अनेकानेक उपचारों से आद्याशक्ति की अर्चा का विधान है।

४. श्रीललितानवावरणपूजाक्रम—

५. श्यामाक्रम—सिंहासनेश्वेरी महात्रिपुरसुन्दरी की अनुकम्पा पाने हेतु साम्राज्ञी के मुख्य सचिव का भार वहन करने वाली देवी 'मातङ्गी' श्यामा देवी की कृपा भी आवश्यक है। इसके लिए निम्न नियमों का पालन विहित है—

१. ब्राह्म मुहूर्त में उठकर गुरुपादुकास्मरण, प्राणायाम और ध्यान।

२. मूलाधार से द्वादशान्त पर्यन्त प्रकाशमान परासंविद् का चिंतन।

३. तत्पश्चात् नित्यकर्म, संख्या, पूजन और शिवचैतन्योत्कर्षप्रक्रिया।

४. बालान्यास, श्रीविद्यान्यास, मदिरार्चन आदि।

५. श्यामाचक्रलेखन, अर्घ्य, पात्रासादन, आवरणपूजा और बलिकर्म।

६. वाराहीखण्ड—सङ्गीत मातृकारुपिणी मन्त्रिणी को प्रसन्न कर साम्राज्ञी की 'दण्डनायिका' बाराही देवी की उपासना अनाहतनाद से, फिर चक्र बनाकर तत्त्वन्यास से फिर आवरणपूजा और बलिकर्म से करने का क्रम विधान है।

कालाक्रमानुसार पूजा-विधान—किस देव-देवी का अर्चन किस क्रम से और कैसे होगा, इसका विधान सुनिश्चित करने के पश्चात् किस देव या देवी का पूजन दिन या रात्रि में कब और कैसे करने से वह अधिक फलप्रद होगा, इसका भी निर्धारण कर दिया गया है। 'श्रीविद्यारत्नाकरः' में स्वामीजी ने इस पूजा का विधान विस्तार से बताया है। तदनुसार यह विधान निम्न प्रकार है—

१. प्रातः – श्रीगणपति क्रम।

२. पूर्वाह्न – श्रीक्रम।

३. अपराह्न – श्रीश्यामलाक्रम।

४. रात्रि – वार्तालीक्रम।

५. उषःकाल –पराक्रम।

अन्त में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि ऐसे श्री करपात्र स्वामी अपने ८० वर्षों की जीवनावधि में भगवत्पाद श्री आद्य शङ्कराचार्य जी के समान ही ज्ञानक्षेत्र, शास्त्रसृजन और अध्यात्मसाधनाक्षेत्र में 'गागर में सागर' की उक्ति चरितार्थ करते हुए अपने अलौकिक व्यक्तित्व की जो झलक दे गये वह सब प्रकार से स्तुत्य एवं अवर्णनीय है। गूँगा व्यक्ति जिस प्रकार उपभुक्त सुस्वादु मोदक के स्वाद का जो भी अनुभव करता है, उसके यथावत् वर्णन में वह सर्वथा अक्षम होता है और केवल संकेतों से कुछ आभास दे पाता है वैसे ही ब्रह्मलीन श्री स्वामी जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व अप्रमेय तथा वर्णनातीत है।

उनकी ऐसी गरिमामयी पुण्यस्मृति को शत-शत नमन।

✿✿✿

Human Rights in the light of Vedas

Dr. Mitali Deb
Lecturer-Sanskrit
Mahila Mahavidyalaya,
B.H.U., Varanasi.

In Order to promote peace, eauality and harmony in our society, it is important to respect and protect the fundamental rights of human beings. Vedic seers were conscious about human rights. As such we find all the aspects of human rights imbibed in the Vedas.

The fact that human beings belong to one family is the greatest* In Atharvsved the earth is described like a single entity with various kinds of humen beings, having different dialectics and religions.

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्। (अथर्ववेद १२.१.४५)

The entire universe is declared as an abode of all living beings.

यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। (यजुर्वेद ३२.८)

Vedic seers believed in a Supreme God and stated that all are the offsprings of the one and the same immortal being :

श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः। (यजुर्वेद ११.५)

In line with the above vedic views, every human being is a member of one and the same family. Therefore every individual should protect others everywhere as per following mantra :

पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः। (यजुर्वेद २९.५१)

Here lies the basic concept of human rights which must be appreciated and supported to save humanity.

Right to live is obviously the vital and prime right of every individual. Therefore vedic seers aspired hundred years of life for every human being and that too, with prosperity., in various hymns :

(अ) जीवेम शरदः शतम् .... शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्। (यजुर्वेद ३६.२४)

(ब) स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत्, प्रण आयूंषि तारिषत्। (ऋग्वेद १.२५.१२)

Vedic Seers believed in a Happy life for all. They made a noble prayer for peace and prosperity in various mantras for every body, irrespective of caste, race and sects

शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे। (यजुर्वेद ३६.८)

"May there be peace and pleasure for all of our two legged (human beings) and four legged (all other living being) creatures. To lead a happy life, a suitable abode and

good health are the most essential things for a man, and the same are desired fo every body in ved mantra:

स्वावेशो अनमीवो भवा नः। (ऋग्वेद ७.५४.१)

All the things like - longevity, vitality, offsprings, assets, name and eatables required for a happy and prosperous life, are also begged through various Mantras :

(अ) वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय। (आश्वलायन गृह्यसूत्र १.१०.२)

(ब) आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय। (अथर्ववेद १९.६३.१)

Right to move anywhere without fear is most important for a worthy existence and the same is solicited in Atharvaved.

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु॥ (ऋग्वेद ७.५४.१)

It means—"O lord! May we, with your grace, ever remain fearless everywhere. May we, be fearless for the sky, the heaven and the earth. May we remain fearless from the front, back, above and below".

The idea of **right to happiness** is inculcated in a small beautiful stanza as a most prevalent prayer. :

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

"Let all people be happy, Let all be free from diseases,
Let all see auspicious things, Let no body suffer from grief."

This prayer is a guiding force of the generosity of the Indian outlook regarding human rights, the guiding of which is implied in vedas.

Freedom is the birth-obtained right of a man which should be respected and protected by everybody. According to Vedic poets, there is nothing superior to freedom in the world :

यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत्स्वराज्यमियाय।
यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम्॥ (अथर्ववेद १०.७.३१)

Keeping in mind the importance of independence, a strong regard for the same is expressed in the following hymn :

व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये॥ (ऋग्वेद ५.६६.६)

It means-let us strive for a comprehensive independence which is to be nurtured and protected by the majority. Here we can see a clear-cut glimpse of democracy also. The most excellent idea of freedom evolved in Vedas, really inspired the people of our country to get rid of the foreign rule.

Uneven-ness and segregration is the root cause of all evils like violence and depression in society. Taking into context this reality, Vedic poets clearly stated :

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय। (ऋग्वेद ५.६०.५)

"No one is superior and no one is inferior. All are sibling. Everyone should strive for the interest of all and should progress and prosper collectively"

We find a universal principle of equality in nature which has blessed water and food to all irrespective of caste, creed and race. But this universal law had been generated thousands of year's ago.

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥ (अथर्ववेद ३.३०.६)

"All have same rights over the articles of water and food. The yoke of the chariot of life is placed equally on the shoulders of every individual. All should worship God together, living in cordially with and helping one another like the spokes of wheel of the chariot connecting its rim and Hub"

Only the equality of the means of material enjoyment is not the end. It cannot fulfill the purpose of human happiness. Therefore the eauality in discussion, equality in expressing views in assembly and equality in analysis is also suggested.

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्। (ऋग्वेद १०.१९१.३)

Here we can also see a glimpse of the equal right to express and equal right to think for all human beings.

Primordialy, the idea of the eauality of human rights is based on the vedic theory of universal brotherhood, which means that all are blood reated siblings and hence all are the product of one and the same God. All are equally valuable and dignified.

According to vedic culture, male and female are wheels of the same chariot of familial or the conjugal life :

रथी ह भूत्वा रथयान ईयते। (अथर्ववेद ४.३४.४)

Hence, both are equaly important and have even rights. In Atharvaveda women are demarcated by special features like :

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमाः। (अथर्ववेद ६.१२२.५)

It means "the women are pure, pious and vulnerable by birth." This is a strong reference of the grace of Vedic ladies, that some of them like Ghosha, Apala and Lopamudra etc. are labelled to be the seers of various vedic hymns.

In vedic period, equal rights were given to the young girls and boys, to observe the calibre and than to choose their better half as husband, to enjoy conjugal life. Such type of declaration is made clearly in Atharvaved.

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। (अथर्ववेद ११.५.१८)

After being imbibed in the household she was expectd to be the moniter of all the members of the family including father-in-law, mother-in-law, sister-in-law and borther-in-law.

सम्राज्ञी श्वशुरे भव साम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि साम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु॥ (ऋग्वेद १०.८५.४६)

Besides this, she was the source of happiness, flourishment and novelty of all the members of the family.

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव॥ (अथर्ववेद १४.२.२७)

Such was the respect of the vedic lady that she was designated with title of Grihalakshmi i.e. the Goddess of the house. In Brahman period, Vedic women was the origin of all the sacred deeds. Even a husband had no right to perform sacrifice without his wife as per the following shruti :

अयज्ञो वा एष योऽपत्नीकः। (तैत्तिरीयब्राह्मणम् - २.२.२.६)

Actually, women were given special rights in Dharmashastras not to speak of equal rights alone. The vedic concept of special rights to women was also followed by Smriti's. The statement made by Manu is significant in this respect.

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। (मनुस्मृतिः ३.५६)

It means—"Where ladies are worshiped, God prefers to remian there."

As far as the women's right to property is concerned, it remained unchallenged in ancient time because as a mother she was far superior to a father i.e. the head of the family as well as the owner of the property. Revealing the dignity of the women as a mother Manu said :

सहस्त्रं तु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यते। (मनुस्मृति २.१४५)

"A mother is thousand times excellent in dignity than a father."

Vedic lady was not restricted only to house. She was equally empowered to attend ritual functions, to address academic gatherings and even to go to the battle fields as per following verses :

(अ) सं होत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति। (अथर्ववेद २०.१२६.१०)

(ब) वशिनी त्वं विददमा वदासि। (अथर्ववेद १४.१.२०)

It is proved beyond doubt with above reference that vedic seers were aware of the fact that treatment of equality between man and woman is the basis of peace, happiness, harmony and prosperity is society.

RIGHT TO EDUCATION

In ancient India, Vedas were the basis of education. Learning of Vedas and Vedangas was mandatory for everybody in the first stage of life i.e. Brahmancharyshram, which was exclusively meant for education of a scholar without any discrimination. It means education was accessible for all during Vedic period. In Yajurved

(26-72) is is clearly declared "the auspicious speech of Veda is uttered for all human beings."

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।

Similarly Saraswati, the goddess of learning is described as : "the purifier of all bounteous with wealth and intelligence as well as inspirer and philosopher of the entire intelligentia :

(अ) पावका नः सरस्वती वाजेभि र्वाजिनीवती। (ऋग्वेद १.३.१०)

(ब) चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। (ऋग्वेद १.३.११)

In Vedic age, the position of a man was judged by his nobility and virtues. Even an individual, born in the lowest caste i.e. Shudra, was conferred the right to attain the highest position as a Brahman by virtue of knowledge and noble deeds and for the deficiency of the same, Brahman had to come down to the lowest stage as that of Shudra. This aspect has been highlightened by Manu (10-65) as follows :

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। (मनुस्मृति १०.६५)

According to Vedic hymns, all the natural resources including five elements are bestowed on all by the supreme God without discrimination. Here we can visualise the original sense of natural justice. We can also get a glimpse and inspiration from vedmantras to appreciate and protect the human rights to justice.

ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधोः (ऋग्वेद ७.६६.१३)

It means that entire universe is based on Rit i.e. the universal law of nature and moral values. Therefore every human being should follow the same so as to enforce peace and harmony in the world.

In Rigveda the king has been made responsible to do justice differentiating between Rit and Anrit so as to maintain his soverreignity :

ऋतेन राजन्ननृतं विविञ्चन् मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि। (ऋग्वेद १०.१२४.५)

The right to justice was so highlighted be Vedic seers that they prescribed, for everybody daily worship, in which God is prayed "O God, if anybody becomes hostile towards us or we become hostile towards him, we place the same case in the jaws of your judical system, subject to your impartial justice" :

योस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः। (अथर्ववेद ३.२७, १-६)

Protection of an individual has become an important aspect of human rights today, particularly in the present sociopolitical scenario where nobody is secured. But Vedic poets were very much concerned regarding the protection of human beings. Therefore they invoked God to protect all human beings and to kill the foes and enemies of humanity :

मघवंश्छग्धि तव त्वं न ऊतिभिर्विद्विषो विमृधो जहि। (अथर्ववेद १९.१५.१)

They also prayed to save the life of all creatures from the demons, cunning, and injurious person :

पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहित धूर्तेररावणः।
पाहि रीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठय॥ (ऋग्वेद १.३६.१५)

In Yajurved, the sage has clearly derected to cut the neck of demons :

इदमहं रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि। (यजुर्वेद ६.१)

In Vedic India the king was responsible to protect the life of the people who was named as "Kshatriya", which means "preserver from destruction". This is evident from Manusmriti which laid down that the highest duty of a Kshatriya i.e. king is to protect his people.

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम्। (मनुस्मृति ७.१४३-४४)

The Great poet Kalidas has also elaborated this fact while describing king Dileep in Raghuwanshamahaakaavyam :

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥ (रघुवंश १.२४)

"He (King Dileep) was father of the people in real sense by education portecting and nourishing them."

In this way, people's right to protection was a moral and pious duty of an king, but the original concept of this fundamental human right has already been envolved in Vedas centuries ago.

Ref : - * Contribution of vedic wisdom.

✿

The Gaudiya Vaisnava Sampradaya and the Acintya Bhedabheda Siddhanta

Eva Puksic
(BHU)

In addition to Sri Sankaracarya's interpretation of the Vedanta-sutras, there exist equally convincing Vaisnava theistic interpretations of it, and one of them is

the "acintya-bhedabheda-siddhanta" of Sri Caitanya (1486-1533). The present article defines the place of the Gaudiya-sampradaya within the circle of the four traditional Vaisnava sampradayas, and gives a short historical account of the development of the Gaudiya-parampara.

The philosophy of Caitanya is termed the "acintya-bhedabheda-siddhanta" since it neither limits the jiva to a position completely different from that of Brahman, nor does it equate it fully with Brahman, which would make service and love towards God futile. It is a concept of simultaneous oneness and difference between the jiva and Brahman, which is rightly termed "acintya", or inconceivable.

Alongside the *Advaita-vedanta* of Sri Sankaracarya, ever since the early medieval times many Vaisnava acaryas have also tried to give meaning to the terse *sutras* of Badarayana. Scholars of philosophy go even as far as saying that sometimes, these theistic interpretations may seem closer to the original meaning of the *sutras* than the interpretations of Sahkaracarya. This is not a small compliment, let us therefore say a few words to introduce them. Historically, there exist four disctinct *Vaisnava sampradayas,* each with their own founder, and with later *acaryas* who may have revived the *sampraddya* or may have given it the flavour of their own realization and intuition.

The *Sri-sampradaya* found its able protagonist in Ramanuja (1017-1137), and the Sri Vaisnavas are up to the present day extremely influential in the South of India. Their teachings have spread also to the North, especially through Ramananda, who was a disciple of Ramanuja. Ramanuja's system of interpretation has come to be known as *Visistddvaita,* or qualified monism.

The main *acarya* of the *Kumara-sampradaya* was Nimbarka (he probably lived in the 12th century A.D.) In his views, he follows the earlier propounders of the doctrine of *Bhedabheda* like Bhaskara, Asmarathya and Audulomi. Nimbarka's philosophy is termed the *Dvaitadvaita-siddhdnta.*

Following these two teachers as far as opposition to Sankara goes, and pronouncing an even more stark difference between the *jiva* and *Brahman* was Madhva or Anandatlrtha (1238-1317). He is related to the *Brahma-sampradaya,* and his views are termed the *Dvaita-vdda,* or *Tattva-vada.*

The main teacher of the *Rudra-sampradaya* was Visnusvami, about whom not much is known, but one of his later influential followers was Vallabhacarya (1479-1532). His interpretation of the *Vedanta* is called *Suddhadvaita* or pure monism, in contrast to Sarikara's monism which, as Vallabha argues, allows *maya* (or *avidya)* to contaminate the ever pure *Brahman.*

What is the relation of the *Gaudiya-sampradaya* to these other *Vaisnava sampradayas^* The main *acarya* of the *Gaudiya-sampradaya* is Sri Caitanya. His teacher, Isvara Purl, was a disciple of Madhavendra Purl, who was a *sannyasl* from the Madhva line. The *Gaudiya-sampradaya* is therefore also called the *Brahma-*

Madhva-Gaudiya-sampradaya. The term *"Gaudiya"* of course simply means that its motherland was Gauda, or Bengal. But the *Gaudiya Vaisnavas* are also extremely numerous in the area of Braj, developed by the respected Six GosvamTs, the closest disciples of Caitanya.

Sri Caitanya did not leave behind any writings, rather, he instructed his close disciples, Rupa, Sanatana and JIva GosvamTs to wnte a theological basis for the *sampradaya.* The labour of their whole lifetime constitutes a vast library of extremely valuable Sanskrit works. Since the *Gaudiyà Vaisnavas* understand the *Srimad Bhdgavata Purana* to be the natural, ripe commentary of Vyasadeva himself on the *Veddnta-sutras,* there was no need felt for the writing of a separate commentary. But as time passed, the Vaisnavas from other *sampraddyas* demanded that the *Gaudiyas* should also define their position about the issues raised in the *Vedanta-sutra,* and place themselves into relation to other *Vaisnava sampraddyas.* The challenge was successfully answered by Baladeva Vidyabhusana in the 18th century, who wrote the celebrated Govinda-bhasya, a regular *Veddnta* commentary of the *Gaudiya-sampradaya.*

What are the main peculiarities in the viewpoint of the *Gaudiya* line? As all other *Vaisnava sampraddyas,* the *Gaudiya-sampradaya* also seeks to establish a personal relationship of every *jiva* with the Divine, and cherishes an eternal individuality of the *jiva,* even after its liberation.

tha yasya barer ddsye karmand manasd gird
nikhilasv apy avastlidsu jivan-muktah sa ucyate
(Bhakti-rasdmrta-sindhu 1.2.187)

Such a stance is confirmed also in the Kapila-siksa, in the Trtiya-skandha of the *Bhagavata:*

salokya-sdrsti-sdmlpya- sdrupyaikatvam apy uta
diyamanam na grhnanti vind mat-sevanam janah
(Bhag. 3.21.13)

Another similar statement is found in the *Ndrada-pahcardtra :*
sarvopddhi-vinirmuktam tai-paratvena nirmalam
hrsikena hrsikesa- sevanam bhaktir ucyate
(quoted in the Bhakti-rasamrta-sindhu 1.1.12)

The most important scripture of the *sampradaya* is the *Bhakti-rasamrta-sindhu,* composed by Sri Rupa Gosvami, where he succinctly states the definition *of bhakti:*

anydbhilasiia-sunyam jaana-karmady-anavrtam
anukulyena-krsnanu-silanam bhaktir uttama
(Bhakti-rasamrta-sindhu 1.1.11)

klesa-ghni subhada moksa-laghuta-krt sudurlabhd
sandrananda-visesatma sri-krsnakarsinl ca sd

(Bhakti-rasamrta-sindhu 1.1.17)

The philosophical categories of existence according to the view of Caitanya are based on a well-known verse from the *Bhdgavata Purdna:*

vadanti tat tattva-vidas tattvamyaj jndnam advayam
brahmeti paramatmeti bhagavan iti sabdyate

(Bhag. 1.2.11)

The *advaya-tattva* has three aspects: Brahman, Paramatma and Bhagavan. According to the *Gaudiya* school, Bhagavan is the highest aspect, and is the full manifestation of the qualities *sat, cit* and *ananda*. Paramatma is the manifestation of the qualities *sat* and eft, while Brahman is the manifestation of the quality of *sat* only.

Bhagavan is Saktiman, and His *saktis* are simultaneoulsy the same and different from Him. His *saktis* can be divided into three main categories:

- *antaranga-sakti* : the spiritual potiencies *sandhini, samvit, and hlddini*
- *bahirahga-sakti* : *maya,* the mundane existence
- *tatastha-sakti:* the jivas **(under the influence of either *bahirahga* or *antaranga-sakti*).**

These three categories are the basis of the *acintya-bhedabheda-siddhdnta.* The example usually cited for the relationship between the *jiva* and Brahman is that of the sun and the sun rays: while the rays of the sun are certainly nothing else but the sun, they are nevertheless considerably different from it in quantity. They can never be equal to the potency of the actual sun, although it is true that their essential nature is the same as that of the sun. The yFva surely is spiritual by nature and it can uncover its hidden spiritual potential of the qualities of *sat, cit* and *ananda.* But according to the *Gaudiya* view it can never be fully equal to Isvara who is the only creator and maintainer of tike whole creation, both spiritual and material.

The *Gaudiya* line agrees with Sankara as far as the necessity of overcoming illusion goes: but here, the similarity ends. The practicioner of the *advaita* school would consider *saguna* worship as just a part of his *vyavahdrika* practice which is to be given up at the time of attaining the actual, *paramarthika* level, but for a *bhakti-yogi* the acts of worship are both the means and the end of his practice. It is like stepping up the stairs made of gold, having heard that on the top of the stairs a big treasury is waiting. But after reaching the treasury full of gold, one may look back at the stairs and realize that they were also golden, and so just as precious as the treasury on the top floor. That is how the *Gaudiya acaryas* explain the apparent difference between *bhakti* before perfection and *bhakti* after perfection.

While an *advaitin* engages in spiritual practices with the aim of realizing his

ultimate oneness with *Brahman,* a *Gaudiya Vaisnava* attempts to overcome *maya* so that he can uncover his spiritual identity of an eternal servant of Bhagavan. The *saguna* worship therefore does not end with liberation for a *bhakti-yogi,* it is there that it really begins. An example which nicely illustrates the point is that a *bhakti-yogi* does not wish to become sugar, but wishes to be able to taste it. In the celebrated words of Bilvamangala in his *Krsna-karnamrta:*

bhaktis tvayi sthiratard bhagavan yadi syda daivena nah phalati divya-kisora-murtih muktih svayam mukulitdnjalih sevate 'sman dharmdrtha-kdma-gatayah samaya-pratiksah (Krsna-karnamrta 107)

If the *Gaudlyas* insist that real spiritual perfection lies beyond *mukti,* it is well worth asking what exactly that perfection is like. The *Bhakti-rasdmrta-sindhu* makes a hierarchy of possible perfections in *bhakti,* a ladder towards higher and more intimate relationships with Bhagavan. The world of *maya* is full of so many different relationships, and the same variety is available to the *jivas* also at the time of their spiritual perfection. The only difference is that now, Bhagavan becomes the center and focus of all relationships, something that is sorely missing in the mundane world.

The *Bhakti-rasdmrta-sindhu* presents us the following options : *a yogi* with a very slight attachment to Bhagavan might feel comfortable within what is termed the *santa-bhakti-rasa*. This is the stage immeditely following *mukti.*

But the journey may not be over. There is a higher relationship possible, with an increased intimacy and desire to be closer to Bhagavan. That is *Ōprita-bhakti-rasaẓ,* enjoyed by the servants and subordinates of Bhagavan.

And even here, the journey of the purified soul may not be over. The next relationship possible is called *preyo-bhakti-rasa* and it is enjoyed by the comrades and intimate friends of Bhagavan. The awareness of His God-hood disappears, or rather gives place to sincere, warm friendship.

And even here, there is a next, even higher stage. That is the position of the protectors of Bhagavan who lose themselves in the *Ōvdtsalya-bhakti-rasaẓ*. (In the case of Sri Krsna it means the role of His mother and father, Nanda and Yasoda.)

And even more intimate than that is the glorious position of the *gopis* of Vraja who disregarded and forgot everything else if they only happened to hear the alluring sound of Sri Krsna's flute. Sri Rupa Gosvami terms their relationship with the Lord *madhurya-bhakti-rasa*, to distinguish it sharply from the mundane *srngdra-rasa.*

Let us conclude with a famous verse of the *Bhakti-rasdmrta-sindhu:*

smeram bhangl-traya-paricitam sdci-vistima-drstim
vamsi-nyastadhara-kisalayam ujjvaldm candrakena

govindakhyam hari-tanum itah kesi-tirthopakanthe
ma preksisthas tava yadi sakhe bandhu-sange 'sti rangah

(Bhakti-rasamrta-sindhu 1.2.239)

O friend, if you want to be happy among your friends and family members, then just don't ever look at the smiling Govinda, who stands on the bank of the Yamuna at Kesi Ghat, illumined by moonlight. His body is bent in three places, and he looks from the corner of His eyes. He holds a flute to his lips which appear like newly blossomed twigs.

The trickz of spiritual success according to the *Gaudiya-ssampradaya* is therefore to simply transfer our feelings and attachments to Bhagavan, the best friend and our true benefactor. In the joy of an ever fresh relationship with the Lord, *mukti* ceases to matter.

The gist of the philosophy of Sri Caitanya and his followers has been nicely summarized in the following verse:

aradhyo bhagavan vrajesa-tanayas tad-dhama vrndavanam
ramad kdcid upasana vraja-vadhu-vargena ya kalpita
srimad bhagavatam pramanam amalam prema pum-artho mahan
sri-caitanya-mahaprabhor matam idam tatradaro na parah

✿

परिशिष्ट-१

श्रीविद्यासाधनापीठ—गतिविधि

धर्मसम्राट् स्वामी करपात्रीस्मृति पुरस्कार एवं श्रीविद्यासाधना पुरस्कार

श्रीविद्यासाधना पीठ के अध्यक्ष देशिकप्रवर आचार्य श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी महाराज ने श्रीविद्या साधनापद्धति के उत्कर्ष हेतु अधोलिखित दो पुरस्कार स्थापित किये हैं—

१. धर्मसम्राट स्वामी करपात्रीस्मृति पुरस्कार—

यह पुरस्कार धर्मसम्राट् स्वामी करपात्री जी के विराट् व्यक्तित्व के जुड़े विविध आयामों यथा—गोरक्षा आन्दोलन, रामराज्य परिषद् स्थापना के उद्देश्य, भारतीय राजनीति की अवधारणा, भारतीय धर्म, दर्शन, अध्यात्म, भक्तियोग, तप करपात्री जी की रचनाओं को आधारित कर लिखे गये मौलिक निबन्ध पर दिया जायेगा। मौलिक निबन्ध की भाषा संस्कृत या हिन्दी मान्य होगी।

इस पुरस्कार की निम्नलिखित दो श्रेणियाँ होंगी—

(क) आचार्य-वर्गपुरस्कार— रु० ११,०००.०० मात्र

(ख) कनिष्ठ-वर्गपुरस्कार— रु० ०९,०००.०० मात्र

आचार्यवर्ग के अन्तर्गत सेवारत या सेवानिवृत्त विद्वान्/विदुषी अथवा परम्परागत विद्वान्/विदुषी सम्मिलित होंगे।

कनिष्ठ वर्ग के अन्तर्गत स्नातक, स्नातकोत्तर एवं अनुसन्धानरत छात्र सम्मिलित होंगे।

उपर्युक्त पुरस्कारहेतु प्राप्त निबन्धों का समीक्षण विद्वत्समिति द्वारा किया गया जिसके निम्नलिखित सदस्य थे—

१. आचार्य श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी

२. प्रो० कैलासपति त्रिपाठी जी

३. प्रो० युगल किशोर मिश्र जी

४. डॉ० श्री वायुनन्दन पाण्डेय जी

५. प्रो० श्रीकिशोर मिश्र जी

समिति के सम्मुख संस्कृत भाषा में निबद्ध तीन लेख और हिन्दी भाषा में निबद्ध तीन लेख प्राप्त हुए। विचारोपरान्त अधोलिखित विद्वान् पुरस्कार हेतु चयनित हुए—

1. आचार्य रमाशङ्कर मिश्र

2. डॉ० शरदिन्दु कुमार तिवारी

3. डॉ० शिवराम शर्मा

4. डॉ० श्यामसुन्दर शुक्ल

2. श्रीविद्यासाधना पुरस्कार—

यह पुरस्कार श्रीविद्या साधना पीठ द्वारा प्रकाशित श्रीविद्यावरिवस्या, श्रीविद्या रत्नाकर—ग्रन्थ को पूर्ण कण्ठस्थ कर उसके प्रयोगात्मक ज्ञान की दक्षता प्राप्त क्रियानिष्ठ किसी भी साधक/साधिका को दिया जायेगा।

इस पुरस्कार की अधोलिखित दो श्रेणियाँ होंगी—

(क) श्रीविद्या आचार्य सम्मान—रु० २०,०००.०० (एक पुरस्कार)

(ख) श्रीविद्या साधक सम्मान—रु० ३०,०००.०० (तीन पुरस्कार, १००००×३)

(क) श्रीविद्या आचार्यसम्मान हेतु श्री पूज्य स्वामी करपात्री जी द्वारा प्रणीत श्रीविद्यारत्नाकर के माध्यम से श्रीविद्यासाधना के सम्पूर्ण प्रायोगिक एवं सैद्धान्तिक पक्षों के विशिष्ट अध्ययन एवं ज्ञान के सम्पन्न साधक विद्वान् अधिकारी होंगे।

(ख) श्रीविद्या साधक सम्मान हेतु श्रीविद्यावरिवस्या ग्रन्थ के आधार पर श्रीविद्या के प्रायोगिक पक्ष के सर्वविध अभ्यासी एवं साधनामार्ग में संलग्न साधक/साधिका अधिकारी होंगे।

इस वर्ष आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा (गुरुपूर्णिमा) को निम्नलिखित ५ व्यक्तियों को श्रीविद्या साधना पुरस्कार प्रदान किया गया—

१. श्री शेषनाथ तिवारी

२. श्री हिमांशु कुमार, (आई० ए० एस०)

३. श्री द्वारिकानाथ टंडन

४. सुश्री श्यामला कुमारी

५. सुश्री पल्लवी कुमारी

✿✿✿

परिशिष्ट-२

॥ श्रीगुरुमण्डलरूपिण्यै नमः॥

चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः

अमृतमहोत्सव

श्रीललितां कोट्यर्चन सत्रयाग

श्रीविद्या साधना पीठ

शिवसदन, नगवा, वाराणसी–०५

(दि. ३ मार्च से १३ मार्च २००६)

दिनांक ....

सम्पर्कसूत्र–
दूरभाष : (०५४२) २३६६६२२, २२००१३६, २२०४४०३
चलदूरभाष : ९४१५२२४७१३, ९३३६९०२३३३

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्गुरोरमृतकुम्भमहोत्सवेऽस्मिन्
विद्वत्सभाजन-सुशास्त्रविचारपूर्वैः।
देव्यर्चनैः विविधसाधकशिष्यवृन्दै-
र्वन्द्योऽत्र सद्गुरुरशीतितमाब्दपूर्तौ॥

इत्थं विचिन्त्य सुरवाग्भरणाभिरामं
श्रीमन्तमद्य सुधियं विनिवेदयामः।
लेखं स्वशास्त्रविषयोपचितिं दधानं
नूत्नं प्रकाशनधिया प्रददातु सद्यः॥

तल्लेखबन्धगुणसत्कृतिमादधातुं
कश्चित् सहस्त्रमितराशिमथो भवत्सु।
स्वल्पं समर्प्य नतिभावगणैः सुपूर्णं,
धन्या भवेम परमां मुदमावहेम॥

तत्सारसंग्रहमहो स्वमतैर्गभीरं
कृत्वा च शास्त्रनिचयैर्भवतो वचोभिः।
विद्वत्सभाप्रगुणतां कलयन् सपर्या-
मङ्गीकरिष्यति भवानिति कामयामः॥

भवदीयाः

श्रीकिशोरमिश्रः
आचार्यः, संस्कृतविभागे
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः

विनोददूबे
उपाध्यक्षः
से. नि. अधिकारी
विश्व बैंक (अमेरिका)

युगलकिशोरमिश्रः
संयोजकः
आचार्योऽध्यक्षश्च–वेदविभागस्य
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः

विषयः —

व्याख्यानतिथिः —